जैन-दर्शन

['जैनदर्शन' की षट्खण्डात्मक अन्तिम गुजराती आवृत्ति का हिन्दी अनुवाद]

: मूल लेखक :

न्या. न्या. मुनि श्रीन्यायविजयजी

— अनुवादक —

जैनदर्शनाचार्य, जैनागम-प्राचीनन्यायशास्त्री

श्री. शान्तिलाल मणिलाल बी. ए.

मूल्य : चार

लेखक मुनिजी के गुरुदेव
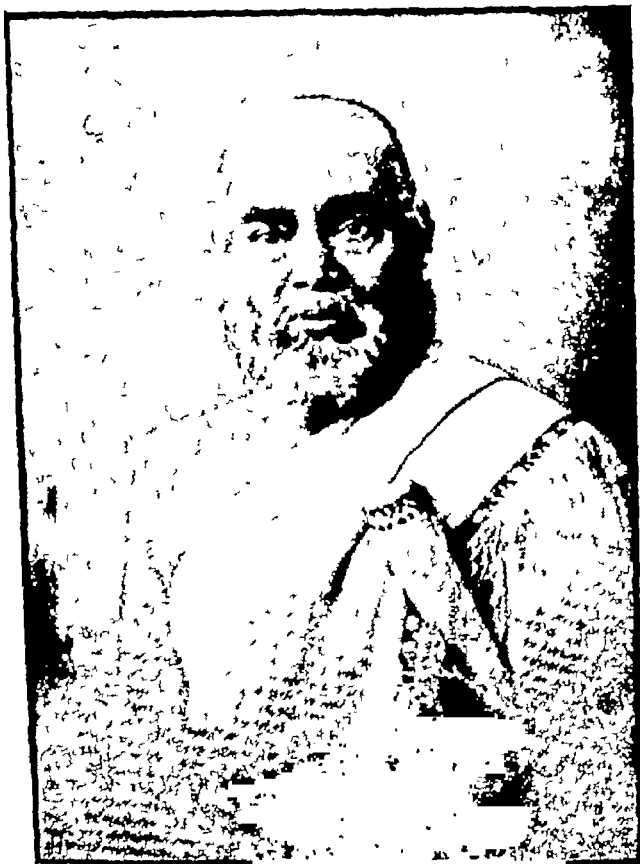
स्वर्गत सुप्रसिद्ध महान् जैनाचार्य

श्री विजयधर्मसूरिजी महाराज

जन्म सन् १८६८ | आचार्यपद सन् १९०८
दीक्षा सन् १८८७ | निर्वाण सन् १९२२

समर्पण

जो उत्तर व पूर्व भारत, मारवाड़, मेवाड़ आदि हिन्दी-भाषाभाषी प्रदेशों में विहार (जैनमुनि के आचार के अनुसार पैदल प्रवास) कर वहाँ की भाषा (आज की राष्ट्रभाषा) में आम जनता के समक्ष अपनी उपदेशगङ्गा बहाते हुए अहिंसा और मानवता, मैत्री और सेवा के सन्मार्ग पर समुद्बोधक प्रवचन करते रहे हैं, जिन्होंने उस भाषा में ग्रन्थरचना करके लोकहितावह तत्त्वज्ञान एवं नीति-धर्म पर सुरोचक प्रकाश डाला है, जिन्होंने प्राचीन संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों को तथा प्राचीन गुजराती काव्यों को प्रकाशित करवाकर साहित्यिक क्षेत्र में विकासवृद्धि का सुप्रशस्त प्रयत्न किया है जिन्होंने विख्यात विद्याधाम काशी में संस्कृत-प्राकृतविद्यालय खोलकर विद्यानुरागी विद्यार्थियों के लिये विद्याध्ययन का मार्ग सुलभ कर दिया था और विद्याक्षेत्र से सम्बन्धित विशाल सेवाओं से प्रभावित होकर भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वज्जन जिनसे साहित्यिक साहाय्य का लाभ उठाने के लिए उत्साहित रहते थे

उन महामहिमशाली जैनाचार्य

स्वर्गत **श्री विजयधर्मसूरिजी महाराज** की

पुण्यप्रभा को सप्रणामाञ्जलि

समर्पित

आश्विनपौर्णमासी,
वि स २०१२,
पाटन (गुजरात)

श्री हेमचन्द्राचार्य जैन सभा,
पाटन ।

साधुवाद

इस पुस्तक के मुद्रण में बम्बई की प्रसिद्ध जैन संस्था 'सेठ मोतीशा-लालबाग-चेरिटीज़ फण्ड' ने जो उत्साहपूर्वक द्रव्यदान किया है वह उसका विद्याप्रेम एवं औदार्य सूचित करता है, जिसके लिये मैं अपना हार्दिक सन्तोष अभिव्यक्त करता हूँ। साथ ही आशा करता हूँ कि विद्योन्नति तथा साहित्य प्रकाशन के सुपवित्र और श्रेयस्कर कार्यों में इस संस्था का दानस्रोत बढ़ता रहे।

श्रीहेमचन्द्राचार्य जैन सभा मेरी पुस्तकों का प्रकाशन आज कई अरसे से करती आई है। मेरे 'जैनदर्शन' की कई आवृत्तियाँ इस संस्था ने प्रकाशित की हैं और यह अनुवाद भी आज इसी सुविख्यात संस्था की ओर से प्रकाशित किया जा रहा है, यह बड़े हर्ष की बात है और इसके लिये सभा अवश्य ही अभिनन्दनीय है। इस सभा के प्राणभूत मन्त्री श्री भोगीलाल चूनीलाल कापड़िया की सतत जागरूक कार्यशीलता, जो सभा को अधिकाधिक दीप्तिमान् बनाती आ रही है, अविस्मरणीय सेवा का प्रशंसनीय उदाहरण है।

श्रीयुत शान्तिलालभाई ने 'जैनदर्शन' का हिन्दी अनुवाद करके उसके प्रूफ देखने में शान्तता तथा सौम्यता का जो परिचय दिया है वह सौजन्य उन महानुभाव के पाण्डित्य के विशेष सौरभरूप है। मैं आशा करता हूँ कि समाज साहित्यिक कार्यों में ऐसे शासनभक्त शान्तमना विद्वानों से काम ले।

महोदय प्रि. प्रेस के अधिपति श्रीमान् गुलाबचंद लल्लुभाई ने इस पुस्तक के मुद्रण में जो सौजन्य दिखलाया है और सम्यक् रूप से मुद्रित किया है, एतदर्थ वे सुश्रावक गृहस्थमहोदय धन्यवाद के पात्र हैं।

—मुनि न्यायविजय

प्रकाशक का निवेदन

यह तो सुविदित ही है कि पूज्य मुनिमहाराज न्याय न्या श्रीन्यायविजयजी की अध्यात्मतत्त्वालोक, सुबोधवाणीप्रकाश, जैनदर्शन आदि पुस्तकें प्रकाशित करने का सुयोग हमें प्राप्त हुआ है। जैनदर्शन की दो आवृत्तियों के प्रकाशन के बाद उसकी अन्तिम नवीं आवृत्ति विशेष संवर्धित रूप से हमने प्रकट की है, जो ठीक ठीक प्रचार में आई और लोकप्रिय भी इतनी हुई कि इसके हिन्दी संस्करण की मांगें अनेक सम्मानित साक्षरों की ओर से आने लगीं, जिससे हमारी भावना उसका हिन्दी संस्करण निकालने की कई अरसे से आन्दोलित हो रही थी। सुयोग से हमें बम्बई के 'सेठ मोतीशा लालबाग चेरिटीज फण्ड' की तरफ से प्रोत्साहन मिला। परिणामस्वरूप हम उस संस्था की आर्थिक सहायता से जैनदर्शन का यह हिन्दी संस्करण प्रकाशित करके वाचकवर्ग के सम्मुख सहर्ष उपस्थित कर रहे हैं। इस औदार्य के लिये हम उस संस्था के कृतज्ञ हैं। इस अनुसन्धान में उस संस्था के सेक्रेटरी श्रीयुत जी के भाव का भी सौजन्यपूर्ण व्यवहार हम उल्लेखनीय समझते हैं।

जैनदर्शन के अनुवाद के कार्य में पाटन के 'सागर का उपाश्रय' की तरफ से रु० ५००) की सहायता मिली है जो धन्यवादार्ह है।

आशा है पू. मुनिजी के सम्मानित 'जैनदर्शन' का सुमन विद्वान् श्री शान्तिलालभाईकृत यह हिन्दी अनुवाद भी सम्मानित होगा।

१ दिसम्बर १९५९
पाटन
(उ. गुजरात)

निवेदक
श्रीहेमचन्द्राचार्य जैन सभा
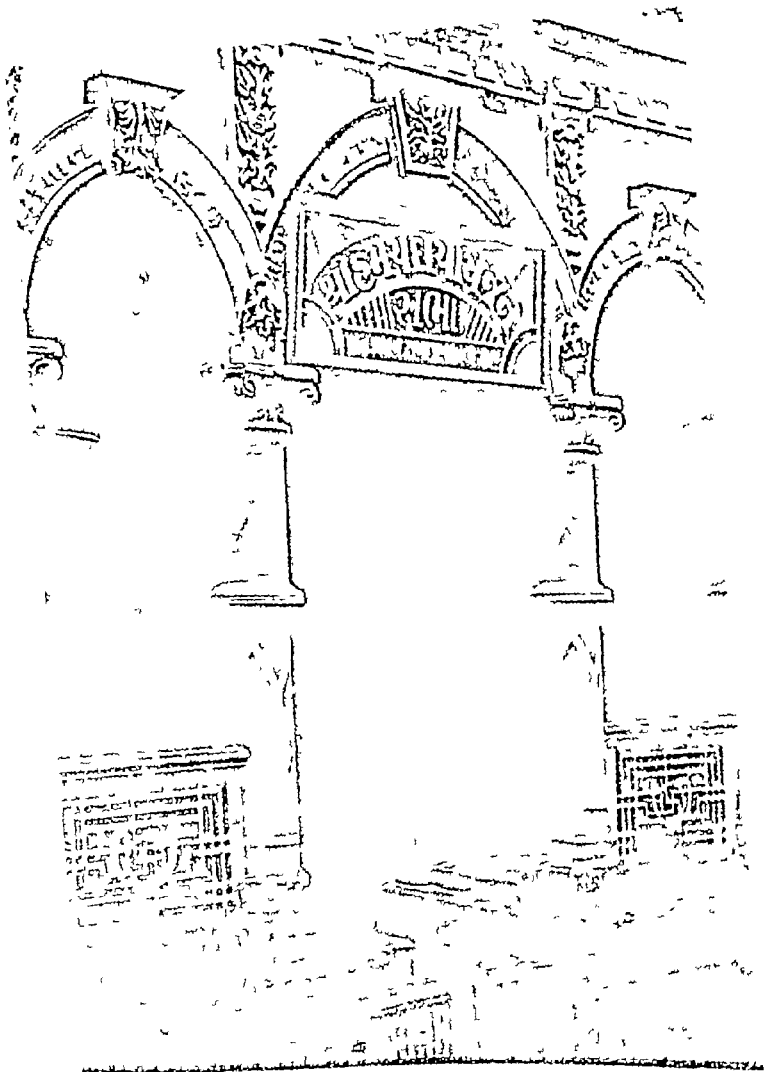
पाटन की सुप्रसिद्ध ग्रन्थप्रकाशनसंस्था
श्री हेमचन्द्राचार्य जैन सभा का भवन

प्राक्कथन

मानव विचारधारा का गांगेय प्रवाह अपने पथ में आनेवाली पर्वतमालाओं से अवरुद्ध होने पर भी, बीच में आनेवाली चट्टानों से टकराता-इठलाता हुआ अपने उद्गमस्थान से निरन्तर आगे बढ़ता ही जाता है। वह रुकना नहीं जानता। आगे बढ़ना उसका स्वभाव है। यह विचारधारा—मानव-मन की यह अनन्त जिज्ञासा हमारी और सब की बाह्य एवं अन्तरंग सब प्रवृत्तियों का आदि, मध्य और अन्तिम जीवातुभूत तत्त्व है। इसके बिना कोई स्थूल या सूक्ष्म कृति सम्भव नहीं।

आदिमानवने सुषुप्त अवस्थामें से प्रथम बार आँखें खोल जब चारों ओर देखा होगा तब 'यह क्या, वह क्या, ऐसा क्यों, वैसा क्यों' की अनन्त-अज्ञात-अनिर्वाच्य प्रश्नमाला ने उसके अन्तःकरण को भर दिया होगा। उसे इन प्रश्नों का जवाब चाहिए था। वह इन प्रश्नों का जवाब पाने के लिये बेताब हो उठा, और इसी बेताबी में से उसने, न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त की भाँति ही, एक सिद्धान्त स्थापित किया। वह था कार्यकारणभाव का। रात और दिन की यह पुनरावृत्ति सतत और अविच्छिन्नरूप से चालू है। ऐसा क्यों? इसका क्या कारण है? कारणरूप से उसने ढूँढ़ निकाले सूर्य और चन्द्र। परन्तु ये भी तो नियमबद्ध प्रतीत होते हैं; सूर्य-चन्द्र ही क्यों,

समस्त चेतन-अचेतन वस्तु नियमबद्ध है। तो इस नियमबद्धता के पीछे कोई-न-कोई कारण अवश्य होना चाहिए। इस कारण की खोज में मानवबुद्धि लग गई, क्योंकि खोज उसका सनातन और कभी नष्ट न होनेवाला स्वभाव था। इस खोज में आगे बढ़ी हुई बुद्धि दो धाराओं में विभक्त हो गई एक धारा को हम धार्मिक चेतना से अभिभूत कार्यकारणभाव कह सकते हैं, जहाँ प्रत्येक चेतन-अचेतन प्रवृत्ति का नियामक कोई अदृश्य चेतन-तत्त्व माना जाता है। उसे वरुण प्रजापति, विश्वकर्मा या ईश्वर कहते हैं। दूसरी धारा प्रवृत्तिमात्र का नियामक चेतन को न मानकर अचेतन को ही मानती है। इसे हम भौतिक या वैज्ञानिक दृष्टि कह सकते हैं। इन दो विचारधाराओं में से अन्य समस्त धाराएँ एक-दूसरे के कमोवेश मिश्रण स्वरूप प्रस्फुटित हुई हैं। अचेतन कारणवाद का प्रकर्ष भारतीय तत्त्व चिन्ता में यदि हम चार्वाक दर्शन के रूप में पाते हैं तो चेतनवाद के प्रकर्ष का अवलोकन हम औपनिषद् अद्वैत ब्रह्मवाद और बौद्ध विज्ञानवाद में करते हैं। पूर्व का—अचेतन कारणवाद का नियामकतत्त्व सृष्टिदृष्टिवाद (जैसी सृष्टि वैसी दृष्टि) है तो अपर का—चेतन कारणवाद का नियामकतत्त्व दृष्टिसृष्टिवाद (जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि) है।

आधुनिक विज्ञान की प्रतिष्ठा उसकी प्रयोगनिष्ठा में है। उसकी सत्य संशोधनवृत्ति ने मानवजीवन के ऊपर अनेक वरदानों की वृष्टि की है। संस्कृति व सभ्यता के वितरण एवं विस्तरण

में उसका प्रस्थान अद्भुत और अभूतपूर्व है। गति उसका वाहन है, गति उसका मार्ग है और गति ही उसका गन्तव्य लक्ष्य है। इस गति ने इस विशाल पृथ्वी को छोटी व सकुल बनाकर मानव-जाति को एक-दूसरे के निकट और निकटतर सम्पर्क में ला दिया है। इच्छा हो या न हो, मनुष्य को एक-दूसरे के सम्पर्क में आए विना कोई चारा ही नहीं है। और इस तरह एक विश्व की भावना में विज्ञान ने, द्राविड़ प्राणायाम की भाँति ही सही, अपना योग प्रदान किया है, इसे हमें स्वीकार करना ही चाहिए। विज्ञान की, समग्र मानवजाति की दृष्टि से, यही सर्वोत्कृष्ट देन है।

और भारतीय तत्त्वज्ञान की भी तो यही देन है। औपनिषद तत्त्वज्ञान एक ब्रह्म और उसके सिवाय दूसरा कुछ भी इस विश्व में सत्य नही है ऐसा हमें जताता है। द्वैतवादी न्याय-वैशेषिक या जैन-बौद्ध आदि दर्शन-परम्पराएँ जीवभेद मानने पर भी आत्मौपम्य की उद्घोषणा करती हैं; अर्थात् तत्त्वज्ञान की किसी भी शाखा को हम क्यों न लें, उसमें हमें मानव–मानव के बीच रही हुई एकत्व की भावना ही पुष्ट होती प्रतीत होती है। तत्त्वज्ञान यदि अन्तरग एकत्व की ओर अंगुलिनिर्देश करता है तो विज्ञान बहिरंग एकत्व की ओर हमें ले जाता है। इस तरह हम देखते हैं कि मानव की समग्र मानवता की अभिव्यक्ति के लिये विज्ञान और तत्त्वज्ञान न केवल अपेक्षणीय हैं, वरन् वे एक-दूसरे के पूरक भी हैं। एक के बिना दूसरा पगु है तो, दूसरे के बिना पहला अन्ध है। इसलिये हमारे लिये—हमारे

समग्र व्यक्तित्व के विकास के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि हम विज्ञान और अध्यात्म दोनों को आत्मसात् करें। विज्ञान में अध्यात्म और अध्यात्म में विज्ञान—ऐसा हमारा सतत जागरूक दृष्टिकोण रहे।

मानव-व्यक्तित्व के समग्र विकास के प्रस्थान में जैनदर्शन का क्या स्थान है, इसका हम विहगावलोकन करें।

द्वैतवादी जैनदर्शन तपोभूमिका एवं अरण्यवास में से निकलकर ग्रामभूमिका तथा लोकसम्पर्क में आया तब उसे अपनी तपोजीर्ण काया में खड़े होने जितनी और खड़े होकर पाँव जमाने जितनी शक्ति की आवश्यकता महसूस होने लगी। केवल अशन-त्याग से शरीर तो जीर्ण होता ही है ज्ञान भी जीर्ण, कृशकाय और मरणासन्न हो जाता है—यह प्रतीति जैन पुराण पुरुष को दूसरों की अपेक्षा बहुत विलम्ब से हुई। मैं यह कह नहीं सकता कि ऐसी अनुभूति कब हुई। इस अनुभूति की अभिव्यक्ति के अल्प-स्वल्प प्रयत्न महावीर के बाद से होते रहे, परन्तु सुनिश्चित रूप से तो हम उमास्वाति को ही इसके आद्य सीमाचिह्न के तौर पर गिना सकते हैं। यहाँ से हम कह सकते हैं कि जैन-देह में दर्शनात्मा ने प्रवेश किया, उसमें कुछ ज्ञान की चेतना प्रस्फुटित हुई जो आगे सिद्धसेन, कुन्दकुन्द, अकलंक, विद्यानन्द, हरिभद्र, हेमचन्द्र और यशोविजय आदि के रूप में सविशेष विकसित होती गई। जैन-चेतना को ज्योतिर्मय करने

वाले इन ज्योतिर्धरों ने पुरानी जड़ता को जड़मूल से उखाड़ फेंकने के लिये जी जान से कोशिश की। उनकी इस कोशिश की अन्तःप्रेरणा थे: अनेकान्त और अहिंसा—विचार में समन्वय और आचार में ईषद् बाष्प से आर्द्र करुणापूर्ण नेत्र !

परन्तु हमें यह सदैव और सतत ध्यान में रखना चाहिए कि समन्वय सन्तुलित प्रखर बुद्धि तथा विशाल व गहन अध्ययन की अपेक्षा रखता है। इनका और समन्वय का अनन्यथासिद्ध व्याप्तिसम्बन्ध है। धूम और अग्नि की व्याप्ति कोई प्रखर तार्किक शायद खण्डित कर सके, परन्तु समन्वय और मनन-निदिध्यासन का व्याप्तिसम्बन्ध खण्डित नहीं हो सकता। इनका पारस्परिक ऐसा सायुज्य सम्बन्ध है कि हम इन्हें अलग कर ही नहीं सकते। जैनदर्शन के इन ज्योतिर्धरों में विद्या के साथ का यह सायुज्यभाव हम देखते हैं और जिन्होंने इस सायुज्यभाव का थोड़ा सा भी रसास्वाद किया है उन्हें ब्रह्मानन्दसहोदर आनन्द की अनुभूति होती है।

परन्तु जिसने ऐसा रसास्वाद किया है उसके लिये यह बात है, बाकी के लिये क्या ?

बात यह है कि जिसने लड्डू खाया हो उसे ही उसका स्वाद मालूम हो सकता है, दूसरे को नहीं। ठीक यही बात आनन्दानुभूति की है। जो ज्ञान के रस का आस्वाद करता है उसे ही उसका आनन्द आ सकता है, दूसरे को नहीं। माता

ही अपनी गोद में खेलनेवाले पुत्र की प्राप्ति से मिलनेवाली धन्यता का अनुभव कर सकती है, वन्ध्या नहीं। सामान्यतः जैनसमाज की पृष्ठभूमिका, अपने पुरातन संस्कार के कारण, तपोनिष्ठ रही है और वह तप भी आम तौर पर स्थूल ही। स्वाध्याय को आभ्यन्तर तप में स्थान मिला है तो सही परन्तु ऐसा मालूम होता है कि कुछ लाचारी से ही उसे वह स्थान दिया गया है और कुछ बीमार मनोवृत्ति के साथ ही उसका आरम्भ होता है। अन्यथा सामान्य जनवर्ग में तात्त्विक विचार के नाम पर जो भयंकर दारिद्र्य देखा जाता है वह कैसे सम्भव होता?

वैदिक परम्परा में रामायण, महाभारत और श्रीमद्भागवत की कथाओं तथा उनमें आए हुए अवान्तर आख्यान व आख्यायिकाओं द्वारा इतिहास एवं कथानकों के साथ साथ कथाकार मूलभूत तत्त्वज्ञान का ऐसा पुट मिला देते हैं कि तत्त्वज्ञान और आचार की बड़ी बड़ी पोथियाँ न उलटने पर भी जनता को मूलभूत तत्त्वों का तथा जीवन के ऊर्ध्वीकरण के लिये आवश्यक सदाचार का सामान्य ज्ञान मिल जाता है। ब्रह्म और माया का—ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है ऐसा तत्त्वज्ञान का गूढ़ रहस्य उनकी जीभ पर नाचा करता है। मैक्समूलर के शब्दों में कहें तो—' उससे इस सान्त जगत् की बात कहो वह कहेगा अनन्त के बिना सान्त जगत् निरर्थक है, असम्भव है, उससे मृत्यु की बात कहो, वह तुरन्त उसे जन्म की पूर्वावस्था कह देगा, उससे काल की बात कहो, वह उसे

सनातन परम तत्त्व की छाया बता देगा। हमारे (यूरोपियनों के) निकट इन्द्रियाँ साधन हैं, शस्त्र हैं, ज्ञानप्राप्ति के शक्तिशाली इंजिन है, किन्तु उसके निकट वे अगर सचमुच धोखा देनेवाले नहीं तो कमसे कम सदैव जबरदस्त बन्धन तो अवश्य हैं, वे आत्मा की स्वरूपोपलब्धि में बाधक हैं। हमारे लिये यह पृथ्वी, यह आकाश, यह जो कुछ हम देख, छू और सुन सकते हैं निश्चित हैं; हम समझते हैं, यहीं हमारा घर है, यहाँ हमें कर्तव्य करना है, यही हमें सुख-सुविधा प्राप्त हैं, लेकिन उसके लिये यह पृथ्वी एक ऐसी चीज है जो किसी समय थी ही नही और ऐसा भी एक समय आयगा जब यह नहीं रहेगी; यह जीवन एक छोटासा सपना है जिससे शीघ्र ही हमारा छुटकारा हो जायगा, हम जाग जाएँगे। जो वस्तु औरों के लिये नितान्त सत्य है उससे अधिक असत्य उसके निकट और कुछ है ही नही और जहाँ तक उसके घर का सम्बन्ध है वह निश्चित जानता है कि वह और चाहे जहाँ कहीं भी हो, इस दुनिया में नहीं है।' हिन्दू समाज के सामान्य मनुष्य का वह वर्णन क्या जैन समाज के सामान्य सदस्य को लागू हो सकता है? क्या उसके वचन और व्यवहार में से जीवन की ऐसी गूढता अभिव्यक्त होती दिखाई देती है? और क्या कभी वह अपने जीवन को इतनी गम्भीरता से कभी देखने का प्रयत्न तक करता है?

कर्मवाद जैनदर्शन का प्राणभूत तत्त्व माना जाता है।

'जैसा करेंगे वैसा पायेंगे' यह कर्मवाद का सर्वमान्य सूत्र है। यह सूत्र हम आज प्रत्येक जैन के मुंह से सुनते हैं। परन्तु प्रश्न तो यह है कि महावीर द्वारा प्रस्थापित कर्म-सिद्धान्त का और इस समय सामान्य जनता में प्रचलित कर्मवाद का कोई सम्बन्ध है? महावीर पुरुषार्थवादी थे। भावी जीवन के ऊर्ध्वीकरण को लक्ष्य में रखकर ही वे कर्मवाद की प्ररूपणा करते थे। उनके जैसे महामानव की चेष्टा तो सामान्य समाज के ऊर्ध्वीकरण की ही हो सकती है। मानव के प्राचीन इतिहास के या गत जीवन के पन्ने पलटने में उन्हें खास रस नहीं होता, वे तो अभिनव मानव जीवन और मानव-इतिहास का निर्माण करना चाहते थे, और इसीमें उनकी तथा उनके जैसे इतर महापुरुषों की महत्ता सन्निहित है। इसीलिये वे अपने को क्रियावादी कहने में गौरव का अनुभव करते हैं। परन्तु सामान्य जैन के मुख से निकलनेवाली कर्मवाद की बातों में क्या यह भाव कभी प्रतीत होता है? निश्चिन्त एकान्त में स्वस्थ और तटस्थभाव से सामान्य जैन-मानस का विश्लेषण करने पर मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इतर बातों की भाँति कर्मवाद के मर्म का मार्ग भी हम भूल गए हैं और हमारी स्थूलगामिनी दृष्टि ने हमें दूसरी बातों में तो जाने दें पर कर्मवाद के मूल सिद्धान्त के बारे में भी, महावीर से दूर हटाकर गोशालक की ओर—गोशालक की विचारधारा की ओर आगे बढ़ाया है। गोशालक नियतिवादी कहा जाता है। हम भी नियतिवादी हो गए हैं। जो आगे की ओर दृष्टि

न रखकर अतीत की ओर दृष्टि रखेगा वह अन्ततः नियतिवादी ही हो जायगा। 'जैसा करेंगे वैसा पाएँगे'—यह हमें हमारे भावी मार्ग का निर्देश करता है कि जैसा हम बनना चाहेंगे वैसा बन सकेंगे। रावण बनना चाहें तो रावण भी बन सकते हैं और राम बनना चाहें तो राम भी बन सकते हैं। इसमें आशा का तंतु ओतप्रोत है और इसीलिये यह सुभग है। इसके विपरीत नियतिवाद में अतीत की ओर ही सर्वदा दृष्टि रहती है। पहले से जो नियत है वह इस समय हो रहा है और आगे भी होता जायगा। इसमें मानव-प्रयत्न के लिये अवकाश नहीं। हमारे आधुनिक कर्मवाद का रुख भी सामान्यतः कुछ ऐसा ही है। जो रास्ता तै किया है उसी की ओर मुँह करके वह पीछे की ओर आगे बढ़ना चाहता है। पीछे क्या है इसका उसे भान नहीं। वह तो समझता है कि जैसा किया वैसा पाया और आगे भी पाते रहेंगे। हमारे नसीब में जो बदा होगा उसे कौन रोक सकता है? होनी अनहोनी नहीं हो सकती! किन्तु हमें यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि ऐसा भाग्यवाद कर्मवाद नहीं है। वह तो इससे कोसों दूर है। एक में आशा है, दूसरे में निराशा घुली है; एक में प्रगति की ओर अंगुलि-निर्देश है, दूसरे में औंधे मुँह पीछेहट है!

सामान्य जैन-जन का तत्त्वज्ञान इस तरह कर्मवाद की उलटी समझ में परिसमाप्त हो जाता है। न उसे जैनदर्शनसम्मत तत्त्वों के नाम तक आते हैं और न तो आगम व तत्त्वज्ञान के

अध्ययन अध्यापन करे जिन्होंने अपनी बपौती मिलकत मान ली है वे ही इसकी ओर विशेष दत्तचित्त दिखाई देते हैं। अलबत्ता, इसमें अपवाद हैं, पर ये इनेगिने अपवाद ही हमारी तत्त्वज्ञान के प्रति जो उदासीनता है उसे, मैली-कुचैली चद्दर में इधर उधर रहे हुए दो चार सफ़ेद धागों की तरह, विशेष स्पष्ट करते हैं।

जैन समाज के तत्त्वज्ञानविषयक स्तर को ऊपर उठाने में, लोगों की अभिरुचि उस ओर बढ़ाने में और उसे कुछ दृढमूल करने में जिन दो-चार अपवादों ने अपना हाथ बँटाया है उनमें मुनि श्री न्यायविजयजी के प्रस्तुत 'जैनदर्शन' का अपना विशिष्ट स्थान है। 'जैनदर्शन' की लोकप्रियता तो इसके गुजराती में जो नौ संस्करण निकले हैं उसी से स्पष्ट है। सरल व प्रसादपूर्ण शैली, गम्भीर विषय को भी रोचक बनाने की कला तथा आधुनिक व समन्वयात्मक दृष्टिकोण—इन सबने मुनिजी के 'जैनदर्शन' को स्कूल तथा कालेज तक के छात्रों में अत्यधिक लोकप्रिय बना दिया है। गुजराती 'जैनदर्शन' के अन्तिम संशोधित-परिवर्धित नवें संस्करण का यह हिन्दी अनुवाद है। मुझे आशा है गुजराती की भाँति यह अनुवाद भी लोकादर प्राप्त करेगा।

श्रीहेमचन्द्राचार्य जैन सभा, पाटन तथा उसके मंत्री आदरणीय श्री भोगीलाल चूनीलाल कापड़िया ने जिस उत्साह से इस हिन्दी संस्करण के प्रकाशन में योग प्रदान किया है उसके लिये मैं उक्त संस्था तथा श्री भोगीभाई का हार्दिक आभारी हूँ।

—शान्तिलाल

प्रस्तावना

पदार्थ-तत्त्व का ज्ञान कराए वह दर्शन अथवा दर्शन-शास्त्र, अर्थात् दर्शनशास्त्र का विषय पदार्थ-तत्त्व है और धर्मशास्त्र का विषय धर्म है। धर्म का अर्थ है आचरणीय मार्ग। इस प्रकार ये दोनों शास्त्र वस्तुतः पृथक् पृथक् होने पर भी दर्शनशास्त्र में धर्मशास्त्र के विषय का — धर्म का थोड़ा-बहुत निरूपण आता ही है, यह दर्शनशास्त्र के अभ्यासी से अज्ञात नहीं है। इसका कारण यह है कि दर्शनशास्त्र के विषय का ज्ञान कर लेने मात्र से कुछ जीवन का अर्थ सिद्ध नहीं होता। दर्शनशास्त्र अथवा चाहे जिस विषय का ज्ञान प्राप्त करने के बाद भी धर्म का ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता रहती ही है, क्योंकि जीवन का कल्याण धर्म के पालन से होता है। अतः धर्म को उसके सच्चे रूप में समझना प्रत्येक व्यक्ति के लिये नितान्त आवश्यक है।

धर्मशास्त्र के विषय(धर्म) का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयोजन निःश्रेयस है, क्योंकि धर्म का सच्चा ज्ञान होने पर ही धर्म यथार्थ रूप से आचरण में रखा जा सकता है और तभी निःश्रेयस की सिद्धि हो सकती है। परन्तु जब दर्शनशास्त्र के ज्ञान का प्रयोजन

भी निःश्रेयस बतलाया जाता है, जैसा कि न्यायदर्शन, वैशेषिक दर्शन आदि दर्शनशास्त्रों के प्रारम्भ में बतलाया गया है, तब इसका अर्थ यही है कि धर्मशास्त्र के ज्ञान के साथ दर्शनशास्त्र के ज्ञान का विशिष्ट सम्बन्ध है, जो पहले को सतेज बनाने में उपयोगी हो सकता है। पातञ्जल योगदर्शन को जिस प्रकार दर्शनशास्त्र कह सकते हैं उसी प्रकार धर्मशास्त्र भी कह सकते हैं, क्योंकि उसमें जिस तरह दार्शनिक तत्त्वज्ञान का वर्णन आता है उसी तरह अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, तप, सन्तोष, स्वाध्याय 'ईश्वरप्रणिधानाद् वा', 'यथाभिमत ध्यानाद् वा' आदि धार्मिक उपदेश भी बिखरा हुआ है। इसी प्रकार धर्मशास्त्र अथवा अध्यात्मशास्त्र रूप से प्रसिद्ध ऐसे बहुत से ग्रन्थ हैं जो दार्शनिक चर्चाओं से भरे हुए होने से दार्शनिकतामिश्र कहे जा सकते हैं। श्रीहरिभद्रसूरि का 'धर्मसंग्रहणी' ग्रन्थ अपने नाम से धर्म का संग्रह सूचित करता है, फिर भी दार्शनिक चर्चाओं से ही वह अधिकांशतः भरा है। उनका 'योगबिन्दु' योगविषयक होने पर भी दार्शनिक विचारों से पूर्ण है। वस्तुतः धार्मिक और दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक और तात्त्विक विषय परस्पर इतने घनिष्ठ सम्बन्धवाले हैं कि एक के ग्रन्थ में दूसरे का प्रवाह सहजरूप से अथवा अनिवार्यरूप से आ ही जाता है।

प्रस्तुत पुस्तक के 'जैनदर्शन' नाम में जो 'दर्शन' शब्द है वह दार्शनिक तत्त्वज्ञान का सूचक दर्शन शब्द नहीं है, परन्तु

धर्म-सम्प्रदाय का सूचक 'दर्शन' शब्द है। अतः इस समूचे नाम का अर्थात् 'जैनदर्शन' का अर्थ होता है जैनधर्म-सम्प्रदाय की, उसके धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों की, जानकारी करानेवाला।

सम्यग् रूप से पवित्र ज्ञान-सम्पत्ति अथवा शुद्ध विचार-धारा प्रदान करनेवाली परम्परा को सम्प्रदाय [सम्+प्र+दाय अर्थात् सम्यग् रूप से प्रदान करनेवाला] कहते हैं। इस (सच्चे) अर्थ में दुनिया में सम्प्रदाय एक ही हो ऐसा मान लेने का नहीं है। और शुद्ध ज्ञानमार्ग बतलानेवाले सम्प्रदाय जितने अधिक जगत् को मिले उतना अधिक सद्भाग्य जगत् का समझना चाहिए। एक से अधिक दीपक जले तो उतना अधिक प्रकाश मिले। परन्तु जब संकीर्ण दृष्टि तथा संकुचित वृत्तिवाले सम्प्रदाय मतान्धता अथवा मतावेश के वशीभूत होकर, राग-द्वेष के कालुष्य के आवेश में पागल होकर परस्पर लड़ते हैं, लड़ पड़ते हैं तब वे सम्प्रदाय सम्प्रदाय न रहकर सम्प्रदाह [सम् + प्र + दाह अर्थात् ख़ूब जलानेवाले] बन जाते हैं।

विश्व में कोई 'सम्प्रदाय' न रहे इसका इतना दुःख नहीं है, परन्तु 'सम्प्रदाह' तो हर्गिज़ नहीं चाहिए। और गम्भीर रूप से विचार करनेवाला तो बिना किसी झिझक के यह कह सकता है कि सब धर्म-सम्प्रदायों के पास से दूसरा कोई

ज्ञान भले न मिले, सिर्फ सत्य, अहिंसा, मैत्री, परोपकार, संयम—इतना ही बोध पाठ अच्छी तरह से मिले तो ऐहिक एवं पारलौकिक सुख के लिये तथा जीवनकल्याण के लिये इतना ही पर्याप्त है। परन्तु जनता के बौद्धिक विकास अथवा ज्ञानविनोद के लिये उन्हें दूसरा कुछ यदि देना हो तो परस्पर झगड़े बिना ही सभ्यता से, मध्यस्थता से, एवं वात्सल्य भाव से दें।

वैदिक एवं श्रमण संस्कृति महावीर और बुद्ध के समय में परस्पर खूब संघर्ष में आई और इन महापुरुषों को उनके प्रखर तपोबल ने अच्छी जय भी दिलाई। बड़े बड़े वैदिक विद्वानों में से कई ने महावीर के शासन को अपनाया, तो कई ने बुद्ध के शासन को अपनाया। श्रमणसंस्कृति के धुरन्धरों में महावीर और बुद्ध के अतिरिक्त पाँच दूसरे भी थे। इनमें से गोशालक का नाम साहित्य के पन्नों पर अधिक चढ़ा है। इसके नियतिवाद ['यद् भाव्यं तद् भविष्यति'—जो होने का है वह होगा] का नाद आज भी कितने ही भारतीयों के हृदय में गूंज रहा है।

महावीर के क्रान्तिकारक उपदेश का संक्षिप्त सार इस पुस्तक के २९ वें पृष्ठ से पाठक देख सकते हैं। इस वीतराग

---

१ बाकी के चार ये—पूरणकाश्यप अजितकेशकम्बली पकुधकात्यायन और संजयवेलट्ठीपुत्त। इनके तथा गोशालक के पन्थ नामशेष हो गए हैं।

सन्त की सम्भावित कार्यरेखा का सक्षिप्त उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है—

लोगों में प्रचलित अन्धविश्वास को हटाना, हिंसा का वातावरण मिटाना, अहिंसा–मैत्रीभाव का प्रचार करना, विवेकबुद्धि के उद्‌घाटन द्वारा धर्म एव दर्शनों के वारे में समन्वयदृष्टि उपस्थित करना और सबसे बडी बात तो यह कि मनुष्यों को यह बतलाना कि तुम्हारा सुख तुम्हारी मुट्ठी में है, धन-वैभव में–परिग्रह मे यदि असली सुख देखने का प्रयत्न करोगे तो असफल रहोगे, असली सुख तो स्वयं हमारे भीतर ही है। जनता मे सत्य का अधिक प्रचार और प्रसार हो इसलिये इस सन्त ने विद्वद्‌भाषा समझी जानेवाली सस्कृत का त्याग करके लोक(प्राकृत)भाषा में अपनी उपदेश-गंगा बहाई। [बुद्ध ने भी यही मार्ग लिया था। दोनों की भाषा एव भाव दोनों में साम्य है। प्राचीन बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में समान रूपरंग का, समान कल्याण–सस्कृति का उपदेश हम देख सकते हैं।] महावीर ने ख़ूब बलपूर्वक कहा है कि मनुष्य अपना भला, अपना आत्महित, अपना जीवनशोधन जितना अधिक साधता है उतना ही अधिक वह दूसरे का भला–दूसरे का हित कर सकता है।[1] आगमों में उपलब्ध होनेवाली इनकी वाणी के उत्तमोत्तम झरनों के कुछ अमृतबिन्दु नमूने के

---

१. 'Let him that would move the world, first

ज्ञान भले न मिले, सिर्फ सत्य, अहिंसा, मैत्री, परोपकार, संयम—इतना ही बोध पाठ अच्छी तरह से मिले तो ऐहिक एवं पारलौकिक सुख के लिये तथा जीवनकल्याण के लिये इतना ही पर्याप्त है। परन्तु जनता के बौद्धिक विकास अथवा ज्ञानविनोद के लिये उन्हें दूसरा कुछ यदि देना हो तो परस्पर झगड़े बिना ही सभ्यता से, भव्यता से, एवं वात्सल्य भाव से दें।

वैदिक एवं श्रमण संस्कृति महावीर और बुद्ध के समय में परस्पर खूब संघर्ष में आई और इन महापुरुषों को उनके प्रखर तपोबल ने अच्छी जय भी दिलाई। बड़े बड़े वैदिक विद्वानों में से कई ने महावीर के शासन को अपनाया, तो कई ने बुद्ध के शासन को अपनाया। श्रमणसंस्कृति के धुरन्धरों में महावीर और बुद्ध के अतिरिक्त पाँच दूसरे भी थे।[1] इनमें से गोशालक का नाम साहित्य के पन्नों पर अधिक चढ़ा है। इसके नियतिवाद ['यद् भाव्यं तद् भविष्यति'—जो होने का है वह होगा] का नाद आज भी कितने ही भारतीयों के हृदय में गूँज रहा है।

महावीर के क्रान्तिकारक उपदेश का संक्षिप्त सार इस पुस्तक के २९ वें पृष्ठ से पाठक देख सकते हैं। इस वीतराग

---

१ बाकी के चार थे—पूरणकाश्यप अजितकेशकम्बली पकुधकात्यायन और संजयबेलट्ठीपुत्त। इनके तथा गोशालक के पन्थ नामशेष हो गए हैं।

सन्त की सम्भावित कार्यरेखा का संक्षिप्त उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है—

लोगों में प्रचलित अन्धविश्वास को हटाना, हिंसा का वातावरण मिटाना, अहिंसा–मैत्रीभाव का प्रचार करना, विवेकबुद्धि के उद्‌घाटन द्वारा धर्म एवं दर्शनों के बारे में समन्वयदृष्टि उपस्थित करना और सबसे बड़ी बात तो यह कि मनुष्यों को यह बतलाना कि तुम्हारा सुख तुम्हारी मुट्ठी में है, धन-वैभव में–परिग्रह में यदि असली सुख देखने का प्रयत्न करोगे तो असफल रहोगे, असली सुख तो स्वय हमारे भीतर ही है। जनता मे सत्य का अधिक प्रचार और प्रसार हो इसलिये इस सन्त ने विद्वद्‌भाषा समझी जानेवाली सस्कृत का त्याग करके लोक(प्राकृत)भाषा में अपनी उपदेश-गंगा बहाई। [बुद्ध ने भी यही मार्ग लिया था। दोनों की भाषा एव भाव दोनों में साम्य है। प्राचीन बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में समान रूपरंग का, समान कल्याण–सस्कृति का उपदेश हम देख सकते हैं।] महावीर ने ख़ूब बलपूर्वक कहा है कि मनुष्य अपना भला, अपना आत्महित, अपना जीवनशोधन जितना अधिक साधता है उतना ही अधिक वह दूसरे का भला–दूसरे का हित कर सकता है।[१] आगमों में उपलब्ध होनेवाली इनकी वाणी के उत्तमोत्तम झरनों के कुछ अमृतबिन्दु नमूने के

१. 'Let him that would move the world, first move himself'—Socrates

तौर पर आगे (इस प्रस्तावना के बाद) दिए हैं। इन परसे पाठक को इस सन्त की विकासगामी और क्रान्तिकारी प्रकृति का कुछ ख्याल आ सकेगा।

ईस्वी सन पूर्व ५९९ वर्ष में जन्मे हुए और ७२ वर्ष की आयुवाले प्रभु महावीर से पूर्व जिन पार्श्व हुए हैं। वे भी ऐतिहासिक व्यक्ति के[1] रूप में इतिहासप्रसिद्ध हैं। इन पार्श्व के निर्वाण के २५० वर्ष पश्चात् महावीरका निर्वाण

---

१ प्रसिद्ध भारतीयसाहित्यविद् डॉ गेरिनो (Dr Guerinot) लिखते हैं कि—

There can no longer be any doubt that Parshva was a historical personage According to Jaina Tradition he must have lived a hundred years and died 250 years before Mahavira. His period of activity therefore corresponds to the 8th century B C

The parents of Mahavira were followers of the religion of Parshva There have appeared 24 prophets of Jainism They are ordinarily called Tirthankaras With the 23rd Pārshvanatha we enter into the region of history and reality]
[Introduction to his Essay on Jaina Bibliography]

अर्थात्-यह निःसन्देह बात है कि पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक पुरुष थे। जैनपरम्परा के अनुसार उनका आयुष्य सौ वर्ष का था और उनका निर्वाण महावीर से (महावीर के निर्वाण से) ढाई सौ

हुआ। इस पर से समझ में आ सकता है कि महावीर ने—ढाई हज़ार वर्ष पूर्व होनेवाले तीर्थंकर महावीर ने किसी नए धर्म की स्थापना नहीं की है, किन्तु उनके पूर्ववर्ती पार्श्वनाथ आदि केवलज्ञानी महापुरुषों ने (तीर्थङ्करों ने) जिस धर्ममार्ग का प्रकाशन किया है उसी धर्ममार्ग को पुनः प्रकाश में लाकर विकसित रूप से उन्होंने जनवर्ग के सम्मुख उपस्थित किया है। यह धर्म-सम्प्रदाय सकुचित चौके में सीमित सम्प्रदाय नहीं है, किन्तु इसके वास्तविक तत्त्वाभ्यास पर से ज्ञात हो सकता है कि यह तो मानवमात्र के—प्राणीमात्र के हितसाधन या कल्याणसाधन का मार्गदर्शक [पवित्र ज्ञान-सम्पत्ति अथवा विचारधारा का सम्प्रदाता] सम्प्रदाय है। विद्वन्मूर्धन्य ब्राह्मण में से श्रमण होनेवाले तथा निर्ग्रन्थमार्ग का स्वीकार करनेवाले महान् जैनाचार्य श्रीहरिभद्र जब 'यस्मादेते महात्मानो भवव्याधिभिषग्वराः' (कपिल, बुद्ध आदि महात्मा ससाररूपी व्याधि के लिये महान् वैद्य थे) ऐसी उदार एवं उज्ज्वल वाणी का उच्चारण और समर्थन करते हैं तब हम क्षणभर के लिये स्तब्ध हो जाते हैं कि ऐसी वाणी के उद्गार के

वर्ष पहले हुआ था। इस प्रकार उनका (पार्श्वनाथ का) जीवनकाल ईस्वी सन पूर्व की आठवीं शताब्दी है।

महावीर के माता-पिता पार्श्वनाथ के धर्म के अनुयायी थे। जैनधर्म में जिन्हें तीर्थङ्कर कहते हैं वैसे परमात्मा २४ हुए हैं। २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय से वास्तविक ऐतिहासिक प्रदेश में हमारा प्रवेश होता है।

समय इस आत्मा में कितनी शान्ति होगी ! सम्प्रदाय-व्यवहार में प्रवर्तमान होने पर भी और दार्शनिक वाद पक्षों में जबरदस्त भाग लेने पर भी इस आत्मा में इतनी मध्यस्थवृत्ति तथा लोक मैत्री को जगानेवाला और उसे वीतरागता की ओर ले जानेवाला जो कोई दृष्टिसंस्कार होगा वह वस्तुतः वन्दनीय है।

जैनधर्म का साहित्य बहुत विशाल है। वह प्रत्येक विषय के ग्रन्थों से समृद्ध है। जैनों के संस्कृत-साहित्य की महत्ता बतलाते हुए जर्मन विद्वान् डॉ. हर्टल ने लिखा है कि—

Now what would Sanskrita Poetry be without the large Sanskrita literature of the Jainas ! The more I learn to know it the more my admiration rises

—Jainashasana Vol I No 21.

अर्थात्—जैनों के महान् संस्कृत साहित्य को यदि अलग कर दिया जाय तो संस्कृत-कविता की क्या दशा होगी ? इस विषय में मुझे जैसे जैसे अधिक जानकारी मिलती जाती है वैसे वैसे मेरे आनन्दयुक्त आश्चर्य में अभिवृद्धि होती जाती है।

जैनधर्म के अनुयायियों में मुख्य दो भेद पड़े हुए हैं : श्वेताम्बर और दिगम्बर। क्रियाकाण्ड और आचारव्यवहार विषयक मतभेदों को एक ओर रखने पर इन दोनों परम्पराओं का

धार्मिक एवं दार्शनिक साहित्य प्रायः पूर्णतः समान है[1]।

जैनदर्शन के बारे में स्वर्गीय जर्मन विद्वान् डॉ. हर्मन जेकोवी ने कहा है कि—

'In conclusion let me assert my conviction that Jainism is an original system, quite distinct and independent from all others and that, therefore, it is of great importance for the study of philosophical thought and religious life in ancient India' (Read in the Congress of the History of Religions.)

---

१ 'शेषं श्वेताम्बरैस्तुल्यमाचारे दैवते गुरौ।
श्वेताम्बरप्रणीतानि तर्कशास्त्राणि मन्वते॥
स्याद्वादविद्याविद्योतात् प्रायः साधर्मिका अमी॥'

—षड्दर्शनसमुच्चय, राजशेखरसूरि

इसका भावार्थ यह है कि 'स्त्री को मुक्ति नहीं मिलती', 'देहधारी केवलज्ञानी भोजन नहीं करता' इत्यादि बातों के तथा 'वस्त्र न पहनना' इत्यादि साधु के आचार-व्यवहार के अतिरिक्त बाकी प्राय सब दिगम्बर-श्वेतांबर सम्प्रदायों में समान हैं। एक-दूसरे के तर्कशास्त्रों को वे मान्य रखते हैं। जैनधर्म के मुख्य सिद्धान्त स्याद्वाद का वे दोनों एक जैसे उत्साह से समर्थन करते हैं। इससे वे परस्पर साधर्मिक हैं।

[दोनों में महाविद्वान् और पूजनीय पुरुष हुए हैं, दोनों का साहित्य विशाल एव समृद्ध है, दोनों सहोदर की भाँति असाधारण प्रेम से मिल-जुलकर रहें ऐसी सब वस्तु विद्यमान है, फिर भी बहुत दु ख की बात है कि ये बहुत जुदाई रखते हैं। दोनों यदि मिलकर रहें तो ये अपने संयुक्त बल से महावीरदेव के पवित्र शासन की उन्नति बहुत अच्छी कर सकते हैं।

अर्थात्–अन्त में मुझे अपना निश्चय सूचित करने दो कि जैनधर्म एक मौलिक धर्म है, दूसरे सब धर्मों से पृथक् और स्वतन्त्र है तथा प्राचीन भारत के तत्त्वज्ञान एवं धार्मिक जीवन के अभ्यास के लिये वह अत्यन्त महत्त्व का है।

महावीर के उपदेशरूप आगमों में कर्मविचार, गुणस्थानविचार जीवों की गति आगति आदि बातों का विचार, लोक की व्यवस्था तथा रचना का विचार, जड परमाणु पुद्गलों की वर्गणा तथा पुद्गल-स्कन्धों का विचार, षड्द्रव्य तथा नौ तत्त्वों का विचार—इन सब विचारों का व्यवस्थित निरूपण देखने पर ऐसा कहा जा सकता है कि जैन तत्त्व विचारधारा भगवान् महावीर से पहले की कितनी ही पीढ़ियों की ज्ञान साधना का फल है। यह विचारधारा उपनिषदों आदि से भिन्न, स्वतन्त्र तथा मौलिक है।

प्राकृतभाषा के साहित्य के बारे में डॉ. हर्मन जेकोबी ने जो कुछ कहा है वह भी ज्ञातव्य है। वे कहते हैं कि—

Had there not been Jaina Books belonging to the Prakrita literature we should not be able now to form an idea of what Prakrita literature was which once was the rival of Sanskrita literature and certainly more popular than Sanskrita literature.. We are much indeted to the Jainas for all the glimpses we get of the popular Prakrita literature

अर्थात्–प्राकृतसाहित्यविषयक जैन ग्रन्थ यदि न होते तो प्राकृत साहित्य क्या है इसका ख्याल हमें न आता। प्राकृत साहित्य एक समय संस्कृत साहित्य का प्रतिस्पर्द्धी साहित्य था और सचमुच ही संस्कृत साहित्य की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय था। लोकप्रिय प्राकृत साहित्य की जो झलक हमें मिलती है उसके लिये हम जैनों के बहुत ऋणी हैं।

डॉ. वार्नेट् कहते हैं कि—

'Some day, when the whole of the Jaina Scriptures will have been critically edited and their contents lexically tabulated, together with their ancient glosses, they will throw many lights on the dark places of ancient and modern Indian languages and literature'

अर्थात्—किसी दिन जब समग्र जैनशास्त्र उनकी प्राचीन टीकाओं के साथ यथास्थित आलोचना-विवेचना के साथ सम्पादित होंगे और उन सब के विषय शब्दकोष की पद्धति की तरह व्यवस्थित रूप से रखे जायेंगे तब वे (शास्त्र) प्राचीन एवं अर्वाचीन भारतीय भाषाओं तथा साहित्य के अन्धेरे प्रदेशों पर बहुत प्रकाश डालेंगे।

इटालियन विद्वान् डॉ. एल. पी. टेसीटोरी ने अपने एक व्याख्यान में जैनदर्शन की श्रेष्ठता बतलाते हुए कहा था कि—

'जैनदर्शन बहुत ही ऊँची कोटि का है। इसके मुख्य

वस्त विज्ञानशास्त्र के आधार पर रचे हुए हैं—ऐसा मेरा अनुमान ही नहीं, पूर्ण अनुभव है। ज्यों ज्यों पदार्थविज्ञान आगे बढ़ता जाता है, जैनधर्म के सिद्धान्तों को पुष्ट करता है।'

केवल जैन संस्कृत-प्राकृत वाङ्मय ही नहीं, जैन शिला लेख आदि भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। भारतीय इतिहास की खोज और उसके संशोधन में इन लेखों का गौरवपूर्ण स्थान है। डॉ गेरिनो अपने Jaina Inscriptions and Indian History नामक लेख में लिखते हैं कि—

These notes are short But they are sufficient I believe to show how many historical documents are contained in the Jaina inscriptions A systematic study of these inscriptions as well as of the Jaina profane literature will largely contribute to the knowledge of Indian *History*

अर्थात्—मैं समझता हूँ कि ये संक्षिप्त नोट्स यह बतलाने के लिये पर्याप्त हैं कि जैन लेखों में (शिला आदि पर उत्कीर्ण लेखों में) ऐतिहासिक ज्ञान और वृत्तान्त कितने अधिक भरे हुए हैं। इन लेखों का तथा जैनों के लौकिक-व्यावहारिक साहित्य का सुव्यवस्थित अभ्यास यदि किया जाय तो वह भारतीय इतिहास के ज्ञान में बहुत बड़ा हिस्सा प्रदान करेगा। अस्तु।

जैन साहित्य अन्धेरे में पड़ा हुआ होने से और प्रकाश में आनेवाले या आए हुए ग्रन्थों का जैसा चाहिए वैसा प्रचार न

होने से बड़े बड़े विद्वान् भी जैनधर्म के तत्त्वों से अपरिचित अथवा अल्पपरिचित दिखाई देते हैं। इसके अतिरिक्त ऐसा भी देखा जाता है कि अपने अनुचित पक्षमोह में फँसे हुए कुछ लोग अपनी सकुचित दृष्टि के परिणामस्वरूप, दूसरों के तत्त्वग्रन्थों का अवलोकन करने की उदारवृत्ति उनमें न होने से, जैन-ग्रन्थों के तत्त्वबोधक पठन–पाठन से वंचित रह जाते है।

परन्तु मैं कह सकता हूँ कि भारतीय दर्शन एव साहित्य का अभ्यास जैनदर्शन के और जैन-साहित्य के अभ्यास के विना बहुत अपूर्ण रहने का, और तटस्थभाव से यह भी कहा जा सकता है कि जैनधर्म के तात्त्विक ग्रन्थों का अध्ययन ज्ञानवर्धक होने के साथ ही आत्मशान्ति का मार्ग खोजने में उपयोगी हो सके ऐसा है।

तत्त्वज्ञान के क्षेत्र पर किसी के मालिकी-हक़ की मुहर नहीं लगी है, इसका किसी ने ठेका नहीं ले रखा है। कोई भी व्यक्ति चिन्तन–मनन द्वारा किसी भी समाज के कहे जानेवाले तत्त्वज्ञान के क्षेत्र को अपना बना सकता है। कुल-धर्म के तत्त्वज्ञान का सम्मान करना और अन्य तत्त्वज्ञान के क्षेत्र पर दृष्टिक्षेप भी न करना यह उदारवृत्ति नहीं कही जा सकती। ज्ञान के विकास और सत्य की उपलब्धि का आधार ‘ सच्चा सो मेरा ’ इस भावना पर और तदनुसार विशाल स्वाध्याय पर अवलम्बित है। सत्य सर्वत्र अनियन्त्रित और

निरावाधरूप से व्यापक है। सत्य किसका? जो उसे पाए उसका। जो जो वाङ्मय सत्यपूत होता है वह संसारभर की सम्पत्ति है। उसका उपभोग करने के लिये जगत् का कोई भी मनुष्य हकदार है।

—न्यायविजय

महावीर के उपदेश-वचन

सच्चा यज्ञ

सुसंवुडा पंचहिं संवरेहिं इह जीविअं अणवकंखमाणा ।
वोसट्ठकाया सुइ-चत्तदेहा महाजयं जयइ जण्णसिट्ठं ॥

—उत्तराध्ययन १२, ४२.

—अहिंसा आदि पाँच यमों से सवृत, वैषयिक जीवन की आकांक्षा नहीं रखनेवाले, शरीर ऊपर की मोह-ममता से रहित तथा कल्याणरूप सत्कर्मों में शरीर का समर्पण करनेवाले सच्चारित्रशाली ऐसा सच्चरितरूप विजयकारक श्रेष्ठ यज्ञ करते हैं।

तवो जोई जीवो जोइठाणं जोगा सुआ सरीरं कारिसंगं ।
कम्मे एहा संजमजोगसंती होमं हुणामि इसिण पसत्थं ॥

—उत्तराध्ययन १२, ४४.

—तप ज्योति (अग्नि) है, जीवात्मा अग्निकुण्ड है, मन-वचन-काय की प्रवृत्ति कलछुल है और अपने कर्मों को (पापों को) जलाना है। यही यज्ञ है, जो पवित्र सयमरूप होने से शान्तिदायक तथा सुखकारक है और जिसकी ऋषियों ने प्रशंसा की है।

सच्चा ब्राह्मण

जहा पउमं जले जायं नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तं कामेहिं तं वयं बूम माहणं॥

—उत्तराध्ययन २५, २६

—जिस प्रकार पानी में पैदा हुआ कमल पानी से लिप्त नहीं होता उसी प्रकार जो कामवृत्ति से [वैषयिक वासना से] लिप्त नहीं होता उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

जायरूवं जहामट्ठं निद्धन्तमलपावगं।
रागद्दोसभयाईयं तं वयं बूम माहणं॥

—उत्तराध्ययन २५, २१

—जो राग-द्वेष भय आदि से मुक्त होकर सुतप्त विशुद्ध सुवर्ण की भाँति निर्मल-उज्ज्वल है उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

स्नान

धम्मे हरए बंभे संतितित्थे अणाविले अत्तपसन्नलेसे।
जहिंसि ण्हाओ विमलो विसुद्धो सुसीइभूओ पजहामि दोसं॥

—उत्तराध्ययन १२, ४६

—धर्म ह्रद (जलाशय) है और ब्रह्मचर्य निर्मल एवं प्रसन्न शान्तितीर्थ है। उसमें स्नान करने से आत्मा शान्त, निर्मल और शुद्ध होता है।

दान

जो सहस्सं सहस्साणं मासे मासे गवं दए ।
तस्सावि संजमो सेओ अदितस्सावि किंचण ॥

—उत्तराध्ययन ९, ४०.

—प्रतिमास दस लाख गायों का दान करना उससे भी–किसी (बाह्य) वस्तु का दान न करनेवाले मनुष्य का भी–संयम श्रेय है ।

युद्ध

जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे ।
एगं जिणिज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ ॥

—उत्तराध्ययन ९, ३४.

—हजारों दुर्जय संग्रामों को जीतनेवाले की अपेक्षा एक अपने आत्मा को जीतनेवाला बड़ा है । सब प्रकार के बाह्य विजयों की अपेक्षा आत्मजय श्रेष्ठ है ।

अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ ।
अप्पाणमेव अप्पाणं जइत्ता सुहमेहए ॥

— उत्तराध्ययन ९, ३५.

---

१ बौद्ध धम्मपद ग्रन्थ के सहस्सवग्ग में चौथी गाथा इसी प्रकार की है । उत्तराध्ययनसूत्र की अनेक गाथाएँ धम्मपद में थोड़े परिवर्तन के साथ मिलती हैं । दूसरे भी जैन आगमों के वचन समानरूप से धम्मपद में मिलते हैं ।

—अपने आप के (आत्मा के) साथ युद्ध कर। बाह्य युद्ध करने से क्या ? अपने आप को–आत्मा को जीतने से परम सुख प्राप्त होता है।

'से असइं उच्चागोए, असइं नीआगोए, नो हीणे, नो अइरित्ते, × × × को गोयावाई ? को माणावाई ?'

—आचारांगसूत्र १-२-७७

—जीव अनेक बार उच्च गोत्र में, अनेक बार नीच गोत्र में गया है। अतः उच्च कौन और नीच कौन ? कौन गोत्रवादी ? और कौन अभिमानवादी (गोत्र पर घमण्ड रखनेवाला) ?

'जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ; जहा तुच्छस्स कत्थइ तहा पुण्णस्स कत्थइ।'

—आचारांगसूत्र १-६-१ १

—सन्त अथवा मुक्त पुरुष पुण्यशाली के (धनाढ्य अथवा धराधीश जैसे के) आगे जैसा वाणीव्यवहार करता है वैसा ही दीन-हीन-गरीब के आगे वाणीव्यवहार करता है, और जैसा दीन-हीन-गरीब के आगे वाणीव्यवहार करता है वैसा ही पुण्यशाली के आगे वाणीव्यवहार करता है।

'पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि। सच्चस्स आणाए से उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ।'

—आचारांगसूत्र १-३-११८

--मनुष्यो ! सत्य को समझो । सत्य की आज्ञा पर चलनेवाला मेधावी मृत्यु को तैर जाता है ।

' सव्वओ पमत्तस्स भयं, सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं । '

—आचारांगसूत्र ३-४-१२३.

—प्रमादी को सर्वत्र भय है, अप्रमत्त को कहीं भी भय नहीं है ।

ग्रन्थ का उपदेशसार

सभी महापुरुष सत्यशोधक तथा सत्यग्राहक होते हैं, फिर भी उन सब की सत्य की खोज एवं उसके निरूपण की पद्धति एक जैसी नहीं होती। बुद्ध की[1] जो निरूपणशैली है उसकी अपेक्षा महावीर की निरूपणशैली भिन्न है। महावीर की इस विशिष्ट शैली का नाम है 'अनेकान्तवाद'। वस्तु का पूर्णरूप से यथार्थ दर्शन होना कठिन है। जिन्हें वह होता है उनके लिये भी उसका उसी रूप में शब्द द्वारा ठीक ठीक कथन करना कठिन ही है। देश, काल, परिस्थिति भाषा शैली आदि के

---

1 बुद्धदेव की प्रकृति तत्कालीन परस्पर विरोधी वादों से अलिप्त रहने की थी। इसलिये वे तत्कालीन दार्शनिक प्रश्नों को जो उनके सम्मुख उपस्थित होते थे एक तरह से अस्पृश्य [अव्याकृत अर्थात् जिनका खुलासा अथवा विवेचन न किया जा सके ऐसे] कह देते थे। दृष्टान्त के तौर पर जीव को नित्य भी वे नहीं कह सकते थे और यदि अनित्य कहें तो चार्वाक जैसे भौतिकवादिसम्मत उच्छेदवाद पक्ष पर सवार हो जाय। अतः ऐसे प्रश्नों को वे अव्याकृत कहकर जन्म-मरण के उच्छेद की बात को अपने उपदेश का विषय बतलाते थे। इसके विपरीत महावीर देव की प्रकृति सभी विरोधी वादों को भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से देखने की थी। वे ऐसे प्रश्नों का हल सापेक्षरूप से करते थे। उदाहरणार्थ वे जीव को नित्य और अनित्य, लोक को शाश्वत और अशाश्वत, जीव एवं शरीर को भिन्न और अभिन्न—इस तरह भिन्न भिन्न दृष्टिबिन्दुओं से बतलाकर उनका समर्थन करते थे। ऐसे प्रामाणिक (तथाकथित)

भेद के कारण उन सब के कथन मे कुछ-न-कुछ भिन्नता, विरुद्धता दिखाई दे यह अनिवार्य है।

पूर्णदर्शी महापुरुषों की बात जाने दें और लौकिक जगत् की बात करें तो लौकिक मनुष्यों में भी अनेक सत्यप्रिय यथार्थ-वादी होते हैं, परन्तु वे अपूर्णदर्शी होते है और अपने अपूर्ण दर्शन को दूसरों के समक्ष उपस्थित करने की भी उनमे अपूर्णता होती है। अतः सत्यप्रिय मनुष्यों की समझ में भी कभी कभी परस्पर भिन्नता आ जाती है और संस्कारभेद उसमे और अधिक पारस्परिक टक्कर पैदा कर देता है। इस तरह, पूर्णदर्शी तथा अपूर्णदर्शी सभी सत्यवादियों द्वारा अन्त में भेद और विरोध की सामग्री स्वतः प्रस्तुत हो जाती है, अथवा दूसरे लोग उनके पास से अथवा उनके द्वारा ऐसी सामग्री पैदा कर लेते हैं।

यह वस्तुस्थिति देखकर तत्त्वद्रष्टा महावीर ने विचार किया कि कोई ऐसा मार्ग निकालना चाहिए जिससे कि वस्तु का पूर्ण

विरोधों का वे युक्तिपुरस्सर समाधान करते थे। ऐसे अनेक प्रश्नों के सापेक्षरूप से महावीर द्वारा किए गए ख़ुलासे आज भी उनके मूल आगमों में मिलते हैं, जो उस महापुरुष की व्यापक प्रतिभा के द्योतक हैं।

बुद्ध की दृष्टि समन्वयात्मक नहीं थी ऐसा नहीं है। वे भी 'विभज्यवाद' के नाम से अनेकान्तवादी थे—अमुक अश में। 'सिंह' सेनापति ने जब उनसे पूछा कि लोग आप को अक्रियावादी कहते हैं, तो यह क्या ठीक है? तब उन्होंने कहा था कि शुभ-क्रिया करने का उपदेश देता हूँ अत. क्रियावादी हूँ और अकुशल क्रिया न करने का उपदेश देता हूँ अतः अक्रियावादी हूं।

अथवा अपूर्ण सत्यदर्शन करनेवाले के साथ अन्याय न होने पाए। दूसरे का दर्शन अपूर्ण और हमारे अपने दर्शन से विरुद्ध होने पर भी यदि सत्य हो, और इसी प्रकार, हमारा अपना दर्शन अपूर्ण और दूसरे से विरुद्ध होने पर भी यदि सत्य हो तो इन दोनों को न्याय मिले ऐसा मार्ग निकालना चाहिए। इसी मार्ग का नाम अनेकान्तदृष्टि है। इस कुंजी से उस सत्यपुरुष ने वैयक्तिक और सामूहिक जीवन की व्यावहारिक एवं पारमार्थिक समस्याओं के ताले खोल दिए। उन्होंने जीवनोपयोगी विचार और आचार के निर्माण करने के समय इस अनेकान्तदृष्टि को, नीचे की शर्तों के साथ, प्रकाश में रखा और उसके अनुसरण का उपदेश दिया—

(१) राग-द्वेष की वृत्ति के वश न होकर सात्त्विक माध्यस्थ्य रखना।

(२) जबतक माध्यस्थ्य का पूर्ण विकास न हो तबतक उस लक्ष्य की ओर ध्यान रखकर केवल सत्य की जिज्ञासा रखना।

(३) जैसे हमारे अपने पक्ष पर वैसे दूसरों के विरोधी लगनेवाले पक्ष पर भी आदरपूर्वक विचार करना और जैसे विरोधी पक्ष पर वैसे खुद अपने पक्ष पर भी तीव्र समालोचक दृष्टि रखना।

(४) अपने तथा दूसरों के अनुभवों में से जो जो अंश ठीक मालूम हों फिर वे चाहे विरोधी ही क्यों न प्रतीत

होते हों, उन सब का विवेकबुद्धि से समन्वय करने की उदारता का अभ्यास करना और जैसे जैसे अनुभव बढ़ता जाय वैसे वैसे पहले के समन्वय में जहाँ भूल मालूम पड़ती हो वहाँ मिथ्याभिमान का त्याग कर के सुधार करना और इस तरह आगे बढ़ना।

अनेकान्तदृष्टि मे से नयवाद और सप्तभंगीवाद फलित हुए। विचार की जितनी पद्धतियाँ उस समय प्रचलित थीं उनको नयवाद में स्थान मिला और किसी एक ही वस्तु के बारे में प्रचलित विरोधी कथनों अथवा विचारों को सप्तभंगीवाद में स्थान मिला।

अपना भला हो—इस बात की कोशिश मनुष्य जीवन के अन्तिम क्षण तक करता रहता है। सतत परोपकारनिरत महात्माओं की भी इच्छा परोपकारव्यापार द्वारा अपने परमात्मत्व को प्रकट करने की ही रहती है। परकल्याण-व्यापार में आत्म-कल्याण की सहज भावना का स्थान प्रमुख-रूप से होता है। स्थिरचेता शान्त प्रज्ञावान् योगी भी इसी विचार से अपनी साधना में सलग्न रहते हैं कि इस जन्म में न सही तो अगले जन्म में कभी परमात्मभाव को प्राप्त कर ही लेंगे।

शरीर के नाश के पश्चात् यदि चेतन का अस्तित्व न माना जाय तो व्यक्ति का उद्देश कितना सकुचित बन जाता है? और कार्यक्षेत्र भी कितना अल्प रह जाता है? ' इस जन्म में

नहीं तो भावी जन्म में भी मेरा लक्ष्य मैं सिद्ध करूँगा '—यह भावना मानव हृदय में जितना बल प्रकट कर सकती है उतना बल दूसरा कोई प्रकट नहीं कर सकता। यह सब ध्यान में लेने पर नित्य सनातन स्वतन्त्र चेतन तत्त्व का अस्तित्व प्रतीत हो सकता है। यह (चेतन आत्मा) जानबूझ कर अथवा अनजान में जो अच्छा बुरा कर्म करता है उसका फल उसे मिलता है और कर्मबन्ध के कारण उसे पुनर्जन्म के चक्कर में घूमना पड़ता है।

श्री हरिभद्राचार्य योगबिन्दु में कहते हैं कि—

दैवं नामेह तत्त्वेन कर्मैव हि शुभाशुभम्।
तथा पुरुषकारश्च स्वव्यापारो हि सिद्धिदः ॥ ३१९ ॥

—शुभ-अशुभ कर्म ही दैव है और अपना उद्यम ही पुरुषकार (पुरुषार्थ) है।

व्यापारमात्रात फलदं निष्फलं महतोऽपि च।
अतो यद् कर्म तद् दैवं चित्रं ज्ञेयं हिताहितम् ॥३२१॥

—जो कर्म अल्प उद्यम करने पर भी फलदायक होता है और महान् उद्यम करने पर भी निष्फल जाता है, उस कर्म को दैव कहते हैं और वह शुभ अशुभरूप से नानाविध है।

एवं पुरुषकारस्तु व्यापारबहुलस्तथा।
फलहेतुर्नियोगेन ज्ञेयो जन्मान्तरेऽपि हि ॥ ३२३ ॥

अन्योन्यसंश्रयावेवं द्वावप्येतौ विचक्षणैः ॥ ३२४ ॥

इसी प्रकार पुरुषार्थ प्रचुरप्रयत्नरूप है और यह आगामी जन्म में भी अवश्य फलदायक होता है।

ये (कर्म और पुरुषार्थ) दोनों परस्पर आश्रित हैं।

इसके बाद ३२६ वें श्लोक वे में बतलाते हैं कि कर्म जीव के प्रयत्न के बिना फलसाधक नहीं होता।

दैवं पुरुषकारेण दुर्बलं ह्युपहन्यते।
दैवेन चैषोऽपीत्येत × × × ॥ ३२७ ॥

—पुरुषार्थ से दुर्बल दैव का नाश होता है और प्रबल दैव से पुरुषार्थ का नाश होता है। जो बलवत्तर होता है उससे दूसरे का नाश होता है।

मनुष्य की मूर्खतापूर्ण प्रवृत्ति अथवा बरताव के कटु फल उसकी वैसी प्रवृत्ति अथवा बरताव के कारण चखने पड़ते हैं। अपनी भोगासक्ति, दुर्व्यसनिता अथवा प्रमादशीलता से जो शारीरिक आदि दुर्दशा अपने पर या दूसरे पर आ पड़ती है वह उस भोगासक्ति आदि के कारण है ऐसा मानना सुयोग्य तथा शास्त्रानुमोदित है। अतएव किसी मनुष्य को, जिस व्यक्ति की बेवकूफी, अन्याय अथवा घातक दुष्टता से, दुःख और आफ़त सहन करने पड़ें उसमें उस व्यक्ति की बेवकूफ़ी अथवा दुष्टता बराबर जवाबदेह है और उस दुष्कृत्य के लिये वह बराबर अपराधी है—ऐसा कर्मशास्त्र का निवेदन है।

इसी प्रकार धर्मशास्त्र अपनी अथवा दूसरे की संकट परिस्थिति को दूर करने के लिये यथोचित प्रयत्न करने की भी उद्घोषणा करता है। उसका यह उद्घोष अपने लिये स्वहित और दूसरे के लिये कर्तव्यरूप दयाधर्म के पालन का उद्घोष है। घर में आग लगने पर उसे बुझाने के बदले यदि कोई मनुष्य बैठा बैठा प्रार्थना करे कि 'हे भगवन्, बरसात भेजना!' तो यह कैसा कहा जायगा? क्या भगवन् को भी ऐसी बात पसन्द आवगी? God helps those who help themselves अर्थात् ईश्वर उन्हें मदद करता है जो अपने आप को मदद करते हैं।

दीन हीन-दुःखी-दलित को और बदमाश, गुण्डे, लुटेरे अथवा हत्या करनेवाले के शिकंजे में फँसे हुए को उसके कर्म पर छोड़ देना—ऐसा नृशंसतापूर्ण तो कोई धर्मशास्त्र कहता ही नहीं। ऐसों को शान्ति देने का, उनके कष्ट दूर करने का अथवा उन्हें आफत से बचा लेने का प्रयत्न करने का ही धर्मशास्त्र का आदेश है और यह धर्मशास्त्रप्रस्थापित धर्म है।

ऊँचे से नीचे गिर पड़ने के कारण जिसके हाथ पैर आदि टूट गए हों अथवा चोट लगी हो, शस्त्राघात से घायल साँप आदि से काटे हुए अथवा बीमार—ऐसे अपने स्वजन अथवा मित्र को स्वस्थ करने के लिये हम फौरन प्रयत्न करते हैं न? वहाँ पर हम क्या उनके पूर्वकर्म को देखने बैठते हैं? नहीं। इसी प्रकार

दारिद्र्य, रुग्णता, अनाथता, निराधारता के दुःख मे अथवा पीड़ित, ताड़ित, पतित, दलित, शोषित दशा मे पड़े हुओं का उद्धार करने का प्रयत्न करना वस्तुतः आवश्यक पुण्यरूप कर्तव्य है और ऐसे दुःखार्तों की ओर उपेक्षा धारण करना—शक्ति होने पर भी लापरवाह स्वभाव के कारण अथवा ऐसा समझकर कि वह अपने पूर्वकर्मों के कारण दुःखी है—पाप है। दुःख और आफत में फँसे हुए का उद्धार करने का यथायोग्य प्रयत्न यदि किया जाय तो [कर्मशास्त्र के नियम के अनुसार उसके इन दुःखद कर्मों पर प्रहार पड़ने के परिणामस्वरूप] उसे इस दुःख में से मुक्त किया जा सकता है, अथवा कम से कम उसकी दुःखमात्रा को तो शक्ति-अनुसार अवश्य कम किया जा सकता है। यह स्पष्ट पुण्यकर्म है, पवित्र धर्माचरण है।

मानवधर्म के इस पवित्र तत्त्व को ख्याल में रखकर उस पर यथाशक्ति अमल करने में ही धर्म है, धर्म का आराधन है, वैयक्तिक तथा सामुदायिक कल्याण है।

सचमुच ही—

नहीदृशं संवननं त्रिषु लोकेषु विद्यते।
दया मैत्री च भूतेषु दानं च मधुरा च वाक्॥

[महाभारत, आदिपर्व, अ ८७ १२]

—ऐसा वशीकरण तीनों जगत् में दूसरा कोई नहीं है: प्राणियों पर दया, मैत्री, दान और मधुर वाणी।

अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड : तत्त्वविचार

अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड : तत्त्वविचार

चतुर्थ खण्ड : कर्मविचार

पंचम खण्ड : न्यायपरिभाषा

जैनदर्शन

प्रथम खण्ड

उपक्रम

जगत् क्या है ?, इसका स्वरूप कैसा है ?, यह किन तत्त्वों का बना है ?–इन प्रश्नों पर विचार करने पर यह जगत् केवल दो ही तत्त्व– जड़ एवं चैतन्यरूप प्रतीत होता है। इन दो तत्त्वों के अतिरिक्त विश्व में तीसरा कोई तत्त्व नहीं है। समग्र विश्व के सारे पदार्थ इन दो तत्त्वों में ही समाविष्ट हो जाते हैं। सामान्यतः इन दो मूलभूत पदार्थों के लिये 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग होता है।

जिसमें चैतन्य नहीं है–अनुभूति नहीं है वह जड़ है। इससे विपरीत चैतन्यस्वरूप– संवेदनशील आत्मा है। आत्मा, जीव, चेतन–ये सब एक ही अर्थ के द्योतक पर्यायवाची शब्द हैं। आत्मा का मुख्य लक्षण ज्ञानशक्ति है। जैन शास्त्रकारोंने चेतन एवं जड़ अथवा जीव एवं अजीव इन दो तत्त्वों पर आध्यात्मिक दृष्टि से विशेष प्रकाश डालने के लिये इन्हीं के अवान्तर भेदरूप अन्य तत्त्वों को अलग करके समझाया है

और उनका विशद प्रतिपादन किया है। सामान्यतः नौ तत्त्वों पर जैनदर्शन का विकास हुआ है।

जिन और जैन

'जिन' शब्द पर से 'जैन' शब्द निष्पन्न हुआ है। राग-द्वेषादि सम्पूर्ण दोषों से रहित परमात्मा का सर्वसाधारण नाम 'जिन' है। 'जीतना' अर्थवाले 'जि' धातु से बना हुआ 'जिन' नाम राग द्वेषादि समग्र दोषों को जीतनेवाले परमात्माओं को यथार्थ रूप से लागू होता है। अर्हत्, वीतराग, परमेष्ठी आदि 'जिन' के पर्यायवाची शब्द हैं। 'जिन' के भक्त जैन और जिनप्रतिपादित धर्म 'जैन-धर्म' कहलाता है। जैन धर्म का आर्हत धर्म, अनेकान्तदर्शन, निर्ग्रन्थशासन, वीतरागमार्ग आदि अनेक नामों से व्यवहार होता है।

तीर्थङ्कर

जिस भव (जन्म) में आत्मस्वरूप का विकास करने का अभ्यास पराकाष्ठा पर पहुँचने पर सभी आवरण विच्छिन्न हो जाने के कारण जिनका चैतन्यविकास पूर्ण रूप से सिद्ध हुआ है वे उस भव में परमात्मा कहे जाते हैं। जैन शास्त्रों में ऐसे परमात्माओं के दो विभाग किए गए हैं। पहले विभाग में तीर्थङ्कर आते हैं। वे जन्म से ही विशिष्ट ज्ञानवान् और लोकोत्तरसौभाग्यसम्पन्न होते हैं। तीर्थङ्करों

के बारे में अनेक विशेषताओं का उल्लेख मिलता है। राज्य नहीं मिलने पर भी भविष्य में राज्य मिलनेवाला है, इसलिये राजकुमार को राजा कहा जाता है उसी प्रकार तीर्थंकर भी बाल्यावस्था से ही केवलज्ञानधारी नहीं होते और इसीलिये उनमें वास्तविक तीर्थंकरत्व नहीं होता, फिर भी उसी जीवन में वे तीर्थंकर पद प्राप्त करते हैं, इसलिये वे 'तीर्थंकर' कहे जाते हैं। वे जब गृहवास का त्याग करके चारित्रमार्ग अंगीकार करते हैं और योगसाधना की पूर्णता पर पहुँचने पर सम्पूर्ण 'घाती' कर्मावरणों का क्षय हो जाने के कारण जब उनमें केवलज्ञान प्रगट होता है तब वे 'तीर्थ' की स्थापना करते हैं। 'तीर्थ' शब्द का अर्थ साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका रूप चतुर्विध संघ है। तीर्थंकर के उपदेश के आधार पर उनके साक्षात् मुख्य शिष्य, जो 'गणधर' कहे जाते हैं, शास्त्रों की रचना करते हैं। वे शास्त्र बारह विभागों में विभक्त होते हैं। उन्हीं को 'द्वादशाङ्गी' कहते हैं। द्वादशांगी का अर्थ है बारह अंगोंका समूह। 'अंग' इन बारह विभागों–सूत्रों में से प्रत्येक के लिये प्रयुक्त होनेवाला एक पारिभाषिक नाम है। 'तीर्थ' शब्द से यह द्वादशांगी (श्रुत) भी ली जाती है। इस प्रकार तीर्थ के करनेवाले (उक्त चतुर्विध संघके व्यवस्थापक तथा द्वादशांगी के प्रयोजक) होने से वे तीर्थंकर कहलाते हैं।

इस प्रकार की विशेषताओं से रहित केवलज्ञानधारी

वीतराग परमात्मा, तीर्थंकरों के विभाग से अलग पड़ते हैं। अतः ये सामान्यकेवली कहे जाते हैं।

वैदिक परम्परा के धर्मशास्त्रों में जिस प्रकार काल के कृतयुग आदि चार विभाग किए गए हैं उसी प्रकार जैन शास्त्रों में काल के विभागरूप से छह आरों का उल्लेख है[1]। तीर्थङ्कर तीसरे-चौथे आरे में होते हैं। जो तीर्थङ्कर अथवा केवलज्ञानी आयुष्य पूर्ण होने पर मुक्त हो जाते हैं वे पुनः संसार में नहीं आते। इस पर से यह समझने का है कि जो जो जीव इस विश्व में तीर्थङ्कर होते हैं वे किसी परमात्मा के अवताररूप नहीं होते, किन्तु सब तीर्थङ्कर पृथक् पृथक् आत्मा हैं। मुक्त होने के पश्चात् संसार में पुनः अवतार लेने की बात जैनसिद्धान्त को मान्य नहीं है।

---

1. जैन शास्त्रों में उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी के नामसे काल के दो मुख्य विभाग किए गये हैं। इन उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी में जिसकी संख्या ही गिनी न जा सके उतने-असंख्येय वर्ष व्यतीत हो जाते हैं। उत्सर्पिणी काल में रूप रस गन्ध शरीर आयुष्य बल आदि वैभव क्रमशः बढ़ते जाते हैं जब कि अवसर्पिणी काल में वे सब घटते जाते हैं। प्रत्येक उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी के छह विभाग किये गये हैं। इनमें से प्रत्येक विभाग को आरा (संस्कृत शब्द अर) कहा जाता है। उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी को कालचक्र के एक परिपूर्ण रूप में कल्पना करें तो इसके बारह विभागों को आरा कह सकते हैं। एक के छह आरे पूर्ण होने पर दूसरे के आरों का आरम्भ होता है। इस समय भारतवर्ष आदि क्षेत्रों में अवसर्पिणी का पाँचवाँ आरा चल रहा है। इसे कलियुग भी कह सकते हैं।

नौ तत्त्व जैनशास्त्रों का प्रतिपाद्य विषय है-यह ऊपर कहा गया है। वे नौ तत्त्व ये हैं-१ जीव, २ अजीव, ३ पुण्य, ४ पाप, ५ आस्रव, ६ संवर, ७ बन्ध, ८ निर्जरा और ९ मोक्ष।

जीव

जिस प्रकार दूसरे पदार्थ प्रत्यक्ष दिखते हैं उस प्रकार जीव प्रत्यक्ष नहीं दिखता, परन्तु वह स्वानुभव-प्रमाण से जाना जा सकता है। 'मैं सुखी हूं', 'मैं दुःखी हूं' ऐसा संवेदन शरीर को नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो पृथ्वी आदि पञ्चभूतों[1] का बना हुआ है। यदि शरीर को आत्मा माना जाय तो मृत शरीर में भी ज्ञान का प्रकाश क्यों न माना जाय? मृत शरीर को भी सजीव शरीर क्यों न कहा जाय? परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि इच्छा, अनुभूति आदि गुण मृतक शरीर में नहीं होते। इससे सिद्ध होता है कि इन गुणों का उपादान शरीर नहीं, किन्तु कोई दूसरा ही तत्त्व है और उसीका नाम आत्मा है। शरीर पृथ्वी आदि भूतसमूह का बना हुआ होने के कारण भौतिक है अर्थात् वह जड़ है; और जिस प्रकार भौतिक घट, पट आदि जड़ पदार्थों में ज्ञान, इच्छा आदि धर्मों का अस्तित्व नहीं है उसी प्रकार जड़ शरीर भी ज्ञान, इच्छा आदि गुणों का उपादानरूप आधार नहीं हो सकता।

---

१ पृथ्वी, जल, तेज और वायु।

शरीर में पांच इन्द्रियां हैं, परन्तु इन इन्द्रियों को साधन बनानेवाला आत्मा इन इन्द्रियों से भिन्न है; क्योंकि इन्द्रियों द्वारा आत्मा रूप, रस आदि जानता है। वह चक्षु से रूप देखता है, जीभ से रस ग्रहण करता है, नाक से गन्ध लेता है, कान से शब्द सुनता है, त्वचा (चमड़ी) से स्पर्श करता है। उदाहरणार्थ, जिस प्रकार चाकू से कलम बनाई जाती है, परन्तु चाकू और बनानेवाला दोनों भिन्न हैं; हँसुए से घास आदि काटा जाता है परन्तु हँसुआ और काटनेवाला दोनों भिन्न हैं; दीपक से देखा जाता है परन्तु दीपक और देखनेवाला दोनों जुदा जुदा हैं, उसी प्रकार इन्द्रियों से रूप, रस आदि विषय ग्रहण किए जाते हैं, परन्तु इन्द्रियग्राम और विषयों को ग्रहण करनेवाला दोनों भिन्न ही हैं। साधक को साधन की अपेक्षा होती है, परन्तु इससे साधक और साधन ये दोनों एक नहीं हो सकते। इन्द्रियां आत्मा को ज्ञान प्राप्त कराने में साधनभूत हैं। अतः साधनभूत इन्द्रियां और उनके द्वारा ज्ञान प्राप्त करनेवाला आत्मा दोनों एक नहीं हो सकते। मृत शरीर में इन्द्रियों का अस्तित्व होने पर भी मृतक को उनसे किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होता— इसका क्या कारण है? इस परसे यही प्रतीत होता है कि इन्द्रियां और उनसे ज्ञान प्राप्त करनेवाला आत्मा दोनों पृथक् ही हैं। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इन्द्रियों को यदि आत्मा माना जाय तो एक शरीर में पांच आत्मा मानने पड़े और यह असंगत ही है।

दूसरी दृष्टि से देखें तो जिस मनुष्य की आंख नष्ट हो गई है उसे भी पहले अर्थात् आंख के अस्तित्वकाल में देखे हुए पदार्थों का स्मरण होता है। किन्तु इन्द्रियों को आत्मा मानने पर यह सम्भव नहीं हो सकता। इन्द्रियों से आत्मा को पृथक् मानने पर ही यह घट सकता है, क्योंकि आंख से देखी हुई वस्तु का स्मरण आंख के अभाव में न तो आंख से ही हो सकता है और न दूसरी इन्द्रियों से ही। दूसरी इन्द्रियों से स्मरण न होने में कारण यह है कि जिस प्रकार एक मनुष्य द्वारा देखी हुई वस्तु का स्मरण दूसरा नहीं कर सकता उसी प्रकार आंख से देखे हुए पदार्थ का स्मरण दूसरी इन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता। एक का अनुभव दूसरे को स्मरण करने में कारणभूत नहीं हो सकता—यह समझी जा सके ऐसी सुगम बात है। इससे यही फलित होता है कि आंख से देखी हुई वस्तुओं का, आंख के नष्ट होने पर भी, स्मरण करनेवाली जो शक्ति है वह चैतन्यस्वरूप आत्मा ही है। आत्माने चक्षुरिन्द्रिय द्वारा जिन वस्तुओं को पहले देखा था उन्हीं वस्तुओं का चक्षुरिन्द्रिय के अभाव में भी पूर्व अनुभव से उत्पन्न संस्कार के उद्बोधन के द्वारा वह स्मरण कर सकता है। इस प्रकार अनुभव एवं स्मरण के (जो अनुभव करता है वही स्मरण करता है–इस प्रकार के) घनिष्ट सम्बन्ध से भी स्वतंत्र चैतन्यस्वरूप आत्मा सिद्ध होता है।

'अमुक वस्तु देखने के पश्चात् मैंने उसका स्पर्श किया, तदनन्तर मैंने वह सूंघी, फिर चक्खी'–ऐसा अनुभव मनुष्य को हुआ करता है। इस अनुभव के ऊपर विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस वस्तु को देखनेवाला, छूनेवाला, सूंघनेवाला और चखनेवाला भिन्न नहीं, किन्तु एक ही है। परन्तु वह एक कौन है? वह आंख नहीं हो सकती, क्योंकि उसका कार्य केवल देखने का ही है, छूने आदि का नहीं। वह स्पर्शन-इन्द्रिय (त्वचा) भी नहीं हो सकती, क्योंकि उसका कार्य सिर्फ छूने का ही है, देखने आदि का नहीं। इसी प्रकार वह नाक अथवा जीभ भी नहीं हो सकती, क्योंकि नाक का कार्य केवल सूंघने का और जीभ का कार्य केवल चखने का ही है। इससे यह निःशंक सिद्ध होता है कि वस्तु को देखनेवाला, छूनेवाला, सूंघनेवाला और चखनेवाला जो एक है वह इन्द्रियों से भिन्न आत्मा ही है।

आत्मा में कृष्ण, श्वेत, पीत आदि कोई वर्ण नहीं है, अतः वह दूसरी वस्तुओं की भांति प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता। प्रत्यक्ष न होने के कारण वह कोई वस्तु ही नहीं है ऐसा नहीं माना जा सकता। परमाणु भी चर्मचक्षु से नहीं दिखते फिर भी अनुमान प्रमाण से उनका अस्तित्व माना जाता है। स्थूल कार्य की निष्पत्ति के लिये सूक्ष्म–परम सूक्ष्म अणुओं के अस्तित्व की सिद्धि अनुमान प्रमाण पर ही अवलम्बित है। परमाणु मूर्त–रूपी होने पर भी यदि प्रत्यक्ष

गम्य नहीं हैं तो फिर अमूर्त — अरूपी आत्मा कैसे प्रत्यक्ष दीख सकता है ? ऐसा होने पर भी यह एक समझने की बात है कि संसार में कोई सुखी तो कोई दुःखी, कोई विद्वान् तो कोई मूर्ख, कोई सेठ तो कोई नौकर — इस प्रकार की अनन्त विचित्रताएं दृष्टिगोचर होती हैं। यह तो प्रत्येक व्यक्ति समझ सकता है कि बिना कारण ये विलक्षणताएं सम्भव नहीं हो सकतीं। शतशः प्रयत्न करने पर भी बुद्धिशाली मनुष्य को इष्ट वस्तु प्राप्त नहीं होती, जब कि दूसरे मनुष्य को बिना प्रयत्न के ही अभीष्ट लाभ मिल जाता है। ऐसी अनेकानेक घटनाएँ हमारी दृष्टि के सामने ही होती हैं। एक ही स्त्री की कुक्षि से साथ ही उत्पन्न युगल में से दोनों प्राणी एक-जैसे नहीं होते। उनकी जीवनचर्या एक-दूसरे की अपेक्षा अत्यन्त भिन्न होती है। तो प्रश्न यह होता है कि इन सब विचित्रताओं का कारण क्या है ? ऐसा नहीं हो सकता कि ये सब घटनाएँ अनियमित हों। इनका कोई-न कोई नियामक-प्रयोजक होना चाहिए। इस परसे तत्त्वज्ञ महात्माओंने कर्म का अस्तित्व सिद्ध किया है; और कर्म के अस्तित्व के आधार पर आत्मा स्वतः सिद्ध होता है, क्योंकि आत्मा को सुख-दुःख देनेवाला कर्मपुञ्ज आत्मा के साथ अनादिकाल से संयुक्त है और इसीके कारण आत्मा संसार में परिभ्रमण करता है। कर्म एवं आत्मा की सिद्धि हो जाने पर परलोक की सिद्धि के लिये कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता। जैसा शुभ

अथवा अशुभ कार्य जीव करता है वैसा ही परलोक (पुनर्जन्म) उसे मिलता है। जिस प्रकार की शुभ अथवा अशुभ क्रिया की जाती है उसी प्रकार की 'वासना' आत्मा में स्थापित हो जाती है। यह वासना विभिन्न प्रकार के परमाणुसमूहों का एक समुच्चय ही है। इसीको दूसरे शब्द में 'कर्म' कहते हैं। इस प्रकार के नए नए कर्म आत्मा के साथ बंधते रहते हैं और पुराने कर्म अपना समय पूर्ण होने पर झड़ते जाते हैं। शुभ अथवा अशुभ क्रिया द्वारा बंधनेवाले शुभ अथवा अशुभ कर्म परलोक तक, अरे! अनेकानेक जन्मों तक फल दिए बिना ही आत्मा के साथ संयुक्त रहते हैं और फल-विपाक के उदय के समय अच्छे या बुरे फलों का अनुभव आत्मा को कराते हैं। फल-विपाक के उपभोग की जब तक अवधि होती है तब तक आत्मा उस फल का अनुभव करता है और अनुभव हो जाने के पश्चात् वह कर्म आत्मा पर से झड़ जाता है। इस पर से यही फलित होता है कि वर्तमान जीवन और परलोक की गति इस 'कर्म' के बल पर अवलम्बित है।

उपर्युक्त युक्ति प्रमाणों द्वारा तथा 'मैं सुखी हूं,' 'मैं दुःखी हूं' ऐसी शरीर में नहीं, इन्द्रियों में नहीं, किन्तु हृदय के अन्तस्तम प्रदेश में अर्थात् अन्तरात्मा में सुस्पष्ट अनुभूयमान जो संवेदना, जो कि प्रत्यक्ष प्रमाणरूप है, उसके द्वारा भी शरीर एवं इन्द्रियों से भिन्न स्वतंत्र आत्मतत्त्व सिद्ध होता है।

संसार में जीव अनन्त हैं

यहां पर एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि इस संसार में विद्यमान जीवराशि में से कर्म क्षय करके जीव मुक्ति में गए हैं, जाते हैं और जाएँगे, इस प्रकार प्रतिक्षण संसार में से जीव कम होते जा रहे हैं, ऐसी स्थिति में भविष्य में कोई समय ऐसा क्यों नहीं आ सकता जब यह संसार जीवों से खाली हो जाय ?

इस प्रश्न के समाधान का विचार करने से पूर्व एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि संसार जीवों से रहित हो जाय यह किसी भी शास्त्र को मान्य नहीं है। हमारी विचारदृष्टि में भी यह बात नहीं आती। दूसरी ओर मुक्ति में से जीव संसार में वापिस लौटे यह बात भी मानी जा सके ऐसी नहीं है; क्योंकि यह तो सब कोई मानते हैं कि सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होने पर ही मोक्ष मिलता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जिसके कारण संसार में जन्म लेना पड़ता है वह कर्म-सम्बन्ध किसी भी रूप में जब मुक्त जीवों के साथ नहीं होता तो फिर वे संसार में वापिस कैसे आ सकते हैं ? यदि मोक्ष में से वापिस लौटना माना जाय तो फिर मोक्ष का महत्त्व ही लुप्त हो जायगा। जहां से पुनः पतन का प्रसंग उपस्थित हो उसे मोक्ष ही नहीं कह सकते। अतएव प्रस्तुत प्रश्न का समाधान करते समय

यह ध्यान में रखना आवश्यक प्रतीत होता है कि संसार जीवों से शून्य नहीं होता और मोक्ष में से जीव वापिस लौटते भी नहीं—इन दो सिद्धान्तों को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचने पाए। शास्त्र कहते हैं कि जितने जीव मोक्ष में जाते हैं उतने जीव संसार में से अवश्य कम होते जाते हैं; फिर भी जीवराशि अनन्त होने के कारण संसार जीवों से शून्य हो ही नहीं सकता। संसारवर्ती जीवराशि में नए जीवों का समावेश सर्वथा न होने पर भी और संसार में से जीवों की निरन्तर कमी होती रहने पर भी भविष्य में किसी भी समय जीवों का अन्त न आए इतने अनन्त जीव समझने चाहिए। इस प्रकार की 'अनन्त' शब्द की व्याख्या शास्त्र करते हैं। सूक्ष्म से सूक्ष्म (अविभाज्य) काल को जैनशास्त्रों में 'समय' कहते हैं। 'समय' इतना सूक्ष्म काल है कि एक सेकण्ड में से कितने बीत जाते हैं यह हम जान ही नहीं सकते। ऐसे समग्र भूत भविष्य काल के समय अनन्तानन्त हैं, इसी प्रकार संसारवर्ती जीव भी अनन्तानन्त हैं जिनकी किसी भी काल में समाप्ति होने की संभावना ही नहीं है। [प्रस्तुत दृष्टान्त से जीवों की अनन्तता की कुछ कल्पना आ सकती है।]

जीव के विभाग

सामान्यतः जीव के दो भेद हैं—संसारी और मुक्त। संसार में भ्रमण करनेवाले जीव संसारी कहलाते हैं। संसार

शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'सृ' धातु से बना है। 'सृ' धातु का अर्थ गमन, भ्रमण होता है। 'सम्' उपसर्ग उसी अर्थ को पुष्ट करनेवाला है। अतः 'संसार' शब्द का अर्थ हुआ भ्रमण। ८४ लाख जीवयोनियों में अथवा चार गतियों में[1] परिभ्रमण करने का नाम संसार है और परिभ्रमण करने-वाला जीव संसारी कहलाता है। दूसरी तरह संसार शब्द का अर्थ ८४ लाख जीवयोनि अथवा चार गति भी हो सकता है। शरीर का नाम भी संसार है। इस प्रकार संसार में आबद्ध जीव संसारी कहे जाते हैं। आत्मा की कर्मबद्ध अवस्था ही 'संसार' शब्द का मूलभूत अर्थ है। इस पर से संसारी जीव का यह लक्षण बराबर समझ में आ सकता है।

संसारी जीवों के अनेक प्रकार से भेद किए जा सकते हैं। परन्तु मुख्य दो भेद हैं—स्थावर एव त्रस। दुःख दूर करने की तथा सुख प्राप्त करने की प्रवृत्तिचेष्टा—गतिचेष्टा जहां पर नहीं है वे स्थावर और जहां पर है वे त्रस। पृथ्वीकाय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय इन पांच का स्थावर में समावेश होता है। ये पृथ्वीकाय आदि पांच एक स्पर्शन (त्वचा) इन्द्रियवाले होने के कारण एकेन्द्रिय कहलाते हैं। इनके भी दो भेद हैं—सूक्ष्म और बादर। सूक्ष्म पृथ्वीकाय, सूक्ष्म जलकाय, सूक्ष्म तेजस्काय, सूक्ष्म वायुकाय

---

1. देवगति, मनुष्यगति, तिर्यंचगति और नरकगति।

और सूक्ष्म वनस्पतिकाय जीव सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं। ये अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण अपनी चक्षु से हम इन्हें देख नहीं सकते। बादर[1] (स्थूल) पृथ्वीकाय, बादर अप्काय, बादर तेजस्काय, बादर वायुकाय तथा बादर वनस्पतिकाय प्रत्यक्ष देखने में आते हैं। घर्षण, छेदन आदि प्रहार जिस पर न हुआ हो ऐसी मिट्टी, पत्थर आदि पृथ्वी जिन जीवों के शरीरों के पिण्ड हैं उन जीवों को बादर पृथ्वीकाय समझना। जिस जल को अग्नि आदि से आघात न पहुंचा हो अथवा अन्य किसी वस्तु के मिश्रण का जिस पर प्रभाव न पड़ा हो वैसा जल कुआं, नदी, तालाब आदि का जिन जीवों के शरीरों के पिण्ड हैं वे बादर जलकाय जीव हैं। इसी प्रकार दीपक, अग्नि, बिजली आदि जिन जीवों के शरीरों के पिण्ड हैं वे बादर तेजस्काय जीव हैं। अनुभूयमान वायु जिन जीवों के शरीरों के पिण्ड हैं वे बादर वायुकाय हैं। और वृक्ष, शाखा, प्रशाखा, पत्र, पुष्प, कन्द आदि बादर वनस्पतिकाय हैं।[2]

उपर्युक्त सचेतन पृथ्वी को छेदन भेदन आदि आघात

---

१ 'सूक्ष्म' अथवा 'बादर' शब्द जैनशास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है।

२. सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक श्री जगदीशचन्द्र बसुने वैज्ञानिक प्रयोग द्वारा वनस्पति में जीव के अस्तित्व को विश्व के सम्मुख सिद्ध कर दिखाया है।

यहाँ पर प्रसंगत इतना लिखना उपयोगी प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण आकाश—आभास सूक्ष्म जीवों से व्याप्त है ऐसा आधुनिक वैज्ञानिकों का मत

लगने से उनमें रहे हुए जीव उनमें से च्युत हो जाते हैं और इस प्रकार वह पृथ्वी अचेतन (अचित्त) बन जाती है। इसी प्रकार पानी को गरम करने से अथवा उसमें शक्कर आदि पदार्थों का मिश्रण करने से वह पानी अचेतन हो जाता है। इसी प्रकार वनस्पति भी अचेतन बन सकती है।

दो इन्द्रियां–त्वचा और जीभ जिन्हें होती हैं वे द्वीन्द्रिय कहे जाते हैं। कृमि, केंचुआ, जोंक, शङ्ख आदि का द्वीन्द्रिय में समावेश होता है। जूं, खटमल, चींटी, इन्द्रगोप आदि त्वचा, जीभ और नाक इन तीन इन्द्रियोंवाले होने के कारण त्रीन्द्रिय कहे जाते हैं। त्वचा, जीभ, नाक और आंख–इन चार इन्द्रियोंवाले मक्खी, मच्छर, भौंरे, टिड्डी, बिच्छू आदि चतुरिन्द्रिय कहलाते हैं। त्वचा, जीभ, नाक, आंख और कान इन पांच इन्द्रियोंवाले जीव पंचेन्द्रिय कहे जाते हैं। पंचेन्द्रिय जीव के चार भेद हैं–(१) मनुष्य, (२) पशु, पक्षी, मत्स्य, सर्प, नकुल आदि तिर्यंच, (३) स्वर्ग में रहनेवाले देवता, तथा (४) नरक में रहनेवाले नारक।

है। यह बात जैनदर्शन के मन्तव्य से मिलती है। वैज्ञानिकों ने यह भी शोध की है कि सब से छोटा प्राणी थेक्सस नाम का है। ये जन्तु एक सूई के अग्रभाग पर एक लाख जितने हों तब भी आराम से बैठ सकते हैं। ऐसे निरूपण सूक्ष्म जीवों का वर्णन करनेवाले जैन शास्त्रों के मन्तव्यों के अनुरूप समझे जा सकते हैं।

यहां पर धर्म और अधर्म ये दो तत्त्व पुण्य और पाप-रूप समझने के नहीं हैं, किन्तु इन नामों के ये दो भिन्न ही पदार्थ हैं। ये पदार्थ (द्रव्य) आकाश की भांति सम्पूर्ण लोक में व्यापक हैं, और अरूपी हैं। इन दो पदार्थों का उल्लेख किसी भी जैनेतर दर्शन में नहीं है। जैनशास्त्रों में ही इनका प्रतिपादन है। जिस प्रकार अवकाश देने के कारण आकाश का अस्तित्व सब विद्वान् मानते हैं उसी प्रकार ये दो पदार्थ भी जैनशास्त्रों में सहेतुक माने गए हैं।

धर्म (द्रव्य)

गमन करनेवाले प्राणिओं को तथा गति करनेवाली जड़ वस्तुओं को उनकी गति में सहायता करनेवाला 'धर्म' पदार्थ है। पानी में तैरने में मछलियों को जिस प्रकार सहायता करनेवाला पानी है उसी प्रकार जड़ पदार्थों की तथा जीवों की गति में सहायकरूप से 'धर्म' नामक पदार्थ माना गया है। जिस प्रकार अवकाश प्राप्त करने में आकाश सहायक माना जाता है उसी प्रकार गति में सहायकरूप से 'धर्म' तत्त्व माना जाता है।

अधर्म (द्रव्य)

जिस प्रकार श्रान्त पथिक को विश्राम लेने में वृक्ष की छाया निमित्तभूत होती है उसी प्रकार 'अधर्म' पदार्थ का

उपयोग स्थिति करनेवाले जीवों एवं जड़ पदार्थों को उनकी स्थिति में सहायक होना है। गति करने में सहायक जिस प्रकार से 'धर्म' तत्त्व मानना पड़ता है उसी प्रकार स्थिति में सहायक 'अधर्म' तत्त्व भी मानना पड़ता है।

हलन चलन तथा स्थिति में स्वतंत्र कर्ता तो स्वयं जीव एवं अजीव पदार्थ ही हैं, अपने ही व्यापार से वे हलन चलन करते हैं अथवा स्थिर होते हैं, परन्तु इसमें सहायक रूप से किसी शक्ति की अपेक्षा होनी चाहिए ऐसा मानने तक तो आधुनिक वैज्ञानिक भी आए हैं। जैन शास्त्रकारोंने इस सम्बन्ध में 'धर्म' तथा 'अधर्म' ऐसे दो तत्त्वों का प्रतिपादन किया है—जड़ एवं जीव पदार्थों के प्रेरक के रूप में नहीं, किन्तु उदासीनभाव से (संयुक्तभाव से) सहायक के रूप में।

आकाश

आकाश पदार्थ प्रसिद्ध है। दिशा का समावेश भी आकाश में हो जाता है। लोकसम्बन्धी आकाश को लोकाकाश और अलोकसम्बन्धी आकाश को अलोकाकाश कहते हैं। लोक एवं अलोक के इस विभाजन में यदि कोई विशिष्ट कारण हो तो वह उपर्युक्त 'धर्म' और 'अधर्म' पदार्थ ही हैं। ऊपर, नीचे और चारों ओर जहाँ तक धर्म और अधर्म पदार्थ स्थित हैं वहाँ तक के प्रदेश को 'लोक' संज्ञा

दी गई है। लोक के बाहर का प्रदेश 'अलोक' कहलाता है। इन दो पदार्थों के सहयोग से ही लोक में जीव एवं पुद्गल पदार्थों की क्रिया हो रही है। अलोक में ये दो पदार्थ न होने के कारण वहाँ एक भी अणु अथवा एक भी जीव नहीं है और लोक में से कोई भी अणु अथवा जीव अलोक में जा नहीं सकता, क्योंकि अलोक में 'धर्म' और 'अधर्म' पदार्थ नहीं हैं। तब प्रश्न होता है, तो फिर अलोक में क्या है? इसका उत्तर यही है कि वहाँ कुछ भी नहीं है। वह केवल आकाशरूप ही है। जिस आकाश के किसी भी प्रदेश में परमाणु, जीव अथवा अन्य कोई वस्तु न हो ऐसा शुद्ध मात्र आकाश ही अलोक है। आकाश द्रव्य विस्तार में अनन्त है अर्थात् उसका कहीं अन्त ही नहीं है।

ऊपर कहा उस तरह 'धर्म' तथा 'अधर्म' पदार्थ द्वारा लोक एवं अलोक का विभाग सिद्ध होने में एक दूसरा प्रमाण भी समझ में आ सके ऐसा है। जैनशास्त्रों का सिद्धान्त है कि सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होते ही मुक्त जीव ऊर्ध्व–ऊपर की ओर गति करता है। इसके बारे में तुंबे का उदाहरण दिया जाता है। मिट्टी से लिपटाकर पानी मे डाला हुआ तुंबा मिट्टी दूर होने पर जिस प्रकार पानी के ऊपर एकदम आ जाता है, उसी प्रकार आत्मा के ऊपर लगा हुआ कर्मरूपी सम्पूर्ण मैल दूर होते ही वह विदेह मुक्त आत्मा स्वतः–स्वभावतः ऊर्ध्व-गति करता है–ऊपर की ओर जाता है। परन्तु वह ऊर्ध्वगति

कहाँ तक होती रहेगी ? कहाँ जा कर यह ठहरेगा ?—यह खास विचारणीय प्रश्न है। इस प्रश्न का निर्णय 'धर्म' एवं 'अधर्म' पदार्थ द्वारा लोक एवं अलोक का विभाग माने बिना किसी प्रकार से हो नहीं सकता। इस लोक अलोक के विभाग को यदि मान्य रखें तो यह प्रश्न सुलझ सकता है, क्योंकि उस समय ऐसा खुलासा किया जा सकता है कि गति करने में सहायक 'धर्म' पदार्थ ऊपर जहाँ तक है वहीं तक—लोक के उस अग्रभाग तक कर्मरहित आत्मा पहुँच कर वहाँ ठहर जाता है। वहाँ उसकी गति रुक जाती है और वहीं पर वह टिक जाता है—स्थिर हो जाता है। वहाँ से आगे अलोक में 'धर्म' पदार्थ का अभाव होने के कारण उसकी गति नहीं हो सकती। यदि धर्म अधर्म पदार्थ और उनसे निष्पन्न लोक अलोक का विभाग न हो तो कर्मरहित मुक्त आत्मा ऊपर जा कर कहाँ रुकेगा ? और कहाँ पर वह टिकेगा ?—यह उलझन सुलझ नहीं सकती।

पुद्गल

परमाणु से लेकर स्थूल—अतिस्थूल—महास्थूल सभी रूपी पदार्थ 'पुद्गल' कहे जाते हैं। 'पूर्' और 'गल्' इन दो धातुओं के संयोग से 'पुद्गल' शब्द बना है। 'पूर्' का अर्थ संश्लेष—मिलन और 'गल्' का अर्थ छूट जाना—अलग होना होता है। यह बात हमारे अपने शरीर में तथा दूसरी प्रत्यक्ष वस्तु में प्रत्यक्ष अनुभूत होती है। अर्थात्

अणुसंघातरूप छोटे-बड़े प्रत्येक पदार्थ में परमाणुओं का बढ़ना-घटना हुआ करता है। परमाणुओं का संश्लेष-विश्लेष प्रत्येक मूर्त वस्तु में हुआ करता है। एक परमाणु भी दूसरे के साथ संयुक्त अथवा उससे वियुक्त हुआ करता है। इस प्रकार परमाणु में भी 'पुद्गल' संज्ञा अर्थयुक्त सिद्ध हो सकती है।

पुद्गल का मूल तत्त्व परमाणु है। परमाणुओं के पारस्परिक संश्लेष से बननेवाला पदार्थ स्कन्ध कहा जाता है।

स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण–इन चारों से युक्त होना पुद्गल का स्वरूप है। यही इसका मूर्तत्व है। मूर्तत्व अर्थात् वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श–इन सबका सामुदायिक परिणमन। मूर्त को रूपी भी कहते हैं, परंतु इस रूपी (मूर्त के पर्याय शब्द 'रूपी') का अर्थ केवल वर्णयुक्त नहीं, किन्तु वर्णादिसमुदायरूप होता है। इस परसे यह सहज ही समझा जा सकता है कि पुद्गल सिवाय के दूसरे सब द्रव्यों को जो अरूपी कहा गया है उसका यह अर्थ नहीं है कि उनका कोई स्वरूप ही नहीं है। यदि उनका कोई स्वरूप ही न हो तो वे खरविषाण की भाँति असत् ही सिद्ध होंगे। अवश्य उनका प्रत्येक का निश्चित स्वरूप है ही; किन्तु उनमें वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श गुणों का अभाव होने के कारण (इस अभाव के अर्थ में) वे अरूपी कहे गए हैं।

स्पर्श आठ प्रकार का है—कठिन और मृदु, गुरु तथा लघु, शीत और उष्ण, स्निग्ध (चिकना) व रूक्ष (रूखा)। रस पाँच प्रकार का है—कडुआ, तीखा, कषाय (कसैला), खट्टा और मीठा। गन्ध दो प्रकार की है—सुगन्ध और दुर्गन्ध। वर्ण के पाँच भेद हैं—काला, पीला, हरा, लाल और सफेद। इस प्रकार स्पर्श आदि के कुल बीस भेद होते हैं। परन्तु तरतमभाव की अपेक्षा से उनमें से प्रत्येक के संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद हो सकते हैं। सो इस तरह—

जो जो वस्तु मृदु होती है उन सबके मृदुत्व में कुछ-न-कुछ तारतम्य तो होता ही है। इस अपेक्षा से सामान्यतः मृदुत्व एक होने पर भी तारतम्य के अनुसार उसके संख्यात,

---

१ स्वादुरम्लोऽथ लवणः कटुकस्तिक्त एव च।
कषायश्चेति षट्कोऽयं रसानां संग्रहः स्मृतः॥

—चरकसंहिता अ० १ श्लो० ६५

चरकसंहिता के उपर्युक्त श्लोक में मीठा, खट्टा, नमकीन, कडुआ, तीखा और कसैला इस तरह छह प्रकार के रस बतलाए गए हैं। लोक-व्यवहार में भी छह रस प्रसिद्ध हैं। तो फिर प्रश्न होता है कि शास्त्र में रस के पाँच ही भेद क्यों गिनाए हैं? उनमें एक अधिक लवणरस का निर्देश क्यों नहीं किया गया? इसके उत्तर में तत्त्वार्थसूत्र पर की सिद्धसेन गणी की वृत्ति (पंचम अध्याय के २३ वें सूत्र की वृत्ति) में तथा हरिभद्राचार्य के षड्दर्शनसमुच्चय ग्रन्थ पर की गुणरत्नसूरि की वृत्ति (श्लोक ४९ की वृत्ति) में लिखा है कि "लवणो मधुरान्तर्गत इत्येके। संसर्गज इत्यपरे।" अर्थात् लवण रस का मधुर रस में कोई अन्तर्भाव करते हैं तो कोई उसे संसर्गजन्य [illegible] हैं।

असंख्यात और अनन्त तक भेद हो सकते हैं। इसी प्रकार कठिन आदि अन्य स्पर्शों तथा रसादि पर्यायों के बारे में समझना।

शब्द, प्रकाश, धूप, छाया व अन्धकार भी पुद्गल ही हैं।

काल

काल को सभी जानते हैं। नई वस्तु पुरानी होती है, पुरानी जीर्ण होती है और जीर्ण नष्ट हो जाती है। बालक युवा होता है, युवा वृद्ध होता है और वृद्ध मृत्यु प्राप्त करता है। भविष्य में होनेवाली वस्तु किसी समय वर्तमान में आती है और वर्तमानकालीन वस्तु भूतकाल के प्रवाह में प्रवाहित हो जाती है। यह सब काल की वजह से है। नए नए रूपान्तर, भिन्न-भिन्न वर्तन-परिवर्तन, विभिन्न परिणाम काल पर अवलम्बित हैं।

प्रदेश

उपर्युक्त धर्म, अधर्म, आकाश एवं पुद्गल ये चार अजीव पदार्थ तथा आत्मा अनेकप्रदेशवाले हैं। प्रदेश का अर्थ है परम सूक्ष्म (सबसे अन्तिम–अविभाज्य) अंश। घट, पट आदि पुद्गल पदार्थों के अंतिम अविभाज्य सूक्ष्म अंश परमाणु हैं यह तो सब कोई समझते हैं। ये परमाणु जब तक संयुक्त होते हैं–अवयवी के साथ सम्बद्ध होते हैं तब तक

उनका 'प्रदेश' के नाम से व्यवहार होता है और जब उसी से अलग हो जाने पर वे ही 'परमाणु' नाम से व्यवहृत होते हैं। परंतु धर्म, अधर्म, आकाश और आत्मा के प्रदेश तो विलक्षण प्रकार के हैं। ये प्रदेश परस्पर अत्यन्त घनरूप–पूर्ण एकतावाले हैं। जिस प्रकार घट के प्रदेश–सूक्ष्म अंश घट से अलग हो सकते हैं उस प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश और आत्मा के प्रदेश एक-दूसरे से अलग हो ही नहीं सकते। ये एकद्रव्यात्मक, अखण्ड, ऐक्यरूप तत्त्व हैं।

अस्तिकाय

आत्मा, धर्म और अधर्म इन तीन के असंख्यात[1] प्रदेश हैं। आकाश अनन्तप्रदेशवाला है। लोकसम्बन्धी आकाश असंख्यातप्रदेशवाला और अलोकसम्बन्धी आकाश अनन्त प्रदेशवाला है। पुद्गल के संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश होते हैं। इस प्रकार प्रदेशसमूहात्मक होने के कारण ये पाँच 'अस्तिकाय' कहलाते हैं। 'अस्तिकाय' शब्द का अर्थ 'अस्ति' अर्थात् प्रदेश और 'काय' अर्थात् समूह, अर्थात् प्रदेशसमूहात्मक होता है। धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव के साथ अस्तिकाय शब्द लगाकर धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्ति

---

१ जिसकी गणना की गिनती ही न हो सके वह असंख्यात–ऐसा सामान्य अर्थ समझने के अतिरिक्त जैनशास्त्रों में उल्लिखित विशेष अर्थ भी जानना चाहिए।

काय और जीवास्तिकाय – इस प्रकार से भी इन द्रव्यों का नामनिर्देश होता है।

धर्म, अधर्म एवं आकाश एक-एक व्यक्तिरूप हैं। जीव अनन्त हैं। जितने जीव उतने वे पृथक्‌व्यक्तिरूप हैं। पुद्गल द्रव्य अनेक व्यक्तिरूप है। पुद्गल परमाणु अनन्त हैं।

काल को अस्तिकाय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बीता हुआ समय नष्ट हो गया है और भविष्य का समय इस समय असत् है, जबकि चालू समय अर्थात् वर्तमान क्षण ही सद्भूत काल है। मुहूर्त, दिवस, रात्रि, महीना, वर्ष आदि रूपसे काल के जो विभाग किए गए हैं वे सब विभाग असद्भूत क्षणों को बुद्धि में एकत्रित करके किए गए हैं। अतः काल क्षणमात्र का होने से उसके साथ प्रदेशसमूहसूचक 'अस्तिकाय' शब्द संगत नहीं हो सकता।

उपर्युक्त पाँच अस्तिकाय और काल ये जैनदर्शनसम्मत षड् (छह) द्रव्य हैं।

पुण्य–पाप

यदि तत्त्वतः सब जीव समान हैं तो फिर उनमें परस्पर इतनी विषमता क्यों? कालभेद से भी एक ही जीव में दिखाई देनेवाली विषमता का क्या कारण है? इस प्रश्न

के उदर में से ही कर्मविपाक प्रगट होती है। तीनों काल की जीवनयात्रा की पारस्परिक संगति कर्मवाद पर ही अवलम्बित है। यही पुनर्जन्मवाद का आधार है। आत्मवादी सभी परम्पराओंने पुनर्जन्म के कारणरूपसे कर्मतत्त्व को मान्य रखा है।

शुभ कर्म 'पुण्य' और अशुभ कर्म 'पाप' कहलाता है। आरोग्य, सम्पत्ति, रूप, कीर्ति, सुकुटुम्ब परिवार, दीर्घ आयुष्य आदि सुख के साधन जिन कर्मों के कारण उपलब्ध होते हैं वे शुभ कर्म 'पुण्य' कहलाते हैं और इनसे विपरीत अर्थात् दुःख की सामग्री के कारणभूत अशुभ कर्म 'पाप' कहलाते हैं।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय—इन आठ कर्मों का उल्लेख आगे आयगा। इनमें से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय एवं अन्तराय ये चार कर्म अशुभ होने के कारण पापकर्म हैं, क्योंकि ज्ञानावरण ज्ञानशक्ति को दबाता है, दर्शनावरण दर्शनशक्ति का अवरोधक है, मोहनीय कर्म मोह उत्पन्न करता है अर्थात् यह कर्म तत्त्वश्रद्धान तथा संयम में बाधक होता है, और अन्तराय कर्म इष्टसाधन में विघ्न उपस्थित करता है। इन चार कर्मों के अतिरिक्त शुभ तथा अशुभ इन दो प्रकार के नाम कर्म की अशुभ प्रकृतियाँ, आयुष्य कर्म में से नारक

आयुष्य, गोत्रकर्म की नीचगोत्र प्रकृति और वेदनीयकर्म का असातवेदनीय भेद इतने -कर्मों के- भेद अशुभ होने के कारण पापकर्म हैं। वेदनीय कर्म का सातवेदनीय भेद, नाम कर्म की शुभ प्रकृतियाँ, उच्च गोत्र और देव आयु, मनुष्य आयु तथा तिर्यंच आयु - इतने कर्म पुण्य कर्म हैं।[1]

आस्रव

जिन कारणों से आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध होता है वे कारण 'आस्रव' कहलाते हैं। जिन व्यापारों से- जिन प्रवृत्तियों से कर्म के पुद्गल आकृष्ट हों—आत्मा की ओर आकृष्ट हों वे व्यापार-वे प्रवृत्तियाँ 'आस्रव' कहलाती हैं। जिस अध्यवसाय से कर्मप्रवाह (कार्मिक पुद्गलप्रवाह) आत्मा में प्रविष्ट हो वह अध्यवसाय 'आस्रव' कहलाता

---

१ यह तो सब जानते ही हैं कि कर्मकी पुण्य-प्रकृतियों को पुण्य कहा जाता है, परन्तु विशेष ज्ञातव्य तो यह है कि कर्म की निर्जरा अथवा कर्म के लाघव (दुर्बल अथवा पतला होना) को भी पुण्य कहा गया है। श्री हेमचन्द्राचार्य योगशास्त्र के चतुर्थ प्रकाश के १०७ वें श्लोक की वृत्ति में लिखते हैं कि—

"निर्जरा सैव रूपं यस्य तस्मात्, 'पुण्याद्' इति पुण्यं न प्रकृति-रूपं किन्तु कर्मलाघवरूपं, तस्मात्।"

इसके बाद के १०८ वें श्लोक की वृत्ति में भी वे इसी प्रकार लिखते हैं कि—

"पुण्यतः—कर्मलाघवलक्षणात्, शुभकर्मोदयलक्षणाच्च।"

इन दोनों उल्लेखों का अर्थ ऊपर आ गया है।

है। ऐसा कार्य जिससे आत्मा कर्मों से बद्ध हो वह 'आस्रव' है। मन, वचन और शरीर के व्यापार यदि शुभ हों तो शुभ कर्म और अशुभ हों तो अशुभ कर्म का बन्ध होता है। अतएव मन, वचन एवं शरीर के व्यापार आस्रव हैं। मन के व्यापार दुष्ट चिन्तन अथवा शुभ चिन्तन, वचन के व्यापार दुष्ट भाषण अथवा शुभ भाषण और शरीर के व्यापार हिंसा, असत्य, चोरी आदि दुराचरण अथवा जीव दया, ईश्वरपूजन, दान आदि सदाचरण हैं।

पुण्यकर्म एवं पापकर्म के बन्धन में मुख्य कारण मनो व्यापार है, जबकि वचनव्यापार और शारीरिक प्रवृत्ति तो मनोयोग के सहकारी अथवा पोषक रूप से कर्मबन्ध के हेतु होते हैं।

संवर

मनोयोग, वचनयोग तथा शरीरयोग रूपी आस्रव से आकृष्ट हो कर बँधनेवाले कर्मों को रोकनेवाला आत्मा का निर्मल भाव परिणाम 'संवर' कहलाता है। 'संवर' शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'वृ' धातु से बना है। 'सम्' पूर्वक 'वृ' धातु का अर्थ रोकना, अटकाना होता है। कर्म बँधता रुक जाय वह 'संवर' है। जिस उज्ज्वल आत्मपरिणाम से कर्म बँधता रुक जाय वह उज्ज्वल परिणाम 'संवर' है। इस प्रकार 'रुकना' और 'जिससे रुके' ये दोनों संवर कह

लाते हैं। 'स्रु' धातु का अर्थ बहना, टपकना होता है। अतः 'आ-स्रव' का अर्थ कर्मपुद्गलों का आत्मा में बहना अथवा बहने के द्वार-ऐसा होता है। कर्मपुद्गलों के इस बहाव की रुकावट को 'संवर' कहते हैं। जैसे जैसे आत्म-दशा उन्नत होती जाती है वैसे वैसे कर्मबन्ध कम होते जाते हैं। आस्रव का निरोध जैसे जैसे बढ़ता जाता है वैसे वैसे गुण-स्थान की भूमिका भी उन्नत और उन्नततर होती जाती है।

बन्ध

कर्म का आत्मा के साथ दूध और पानी की भाँति सम्बन्ध होने का नाम 'बन्ध' है। कर्म कहीं से लेने नहीं जाने पड़ते। इस प्रकार के पुद्गल द्रव्य सारे लोक में ठूस ठूसकर भरे हैं। इन्हें जैनशास्त्रकार 'कर्म-वर्गणा' कहते हैं। ये द्रव्य मोहरूप (राग-द्वेष-मोहरूप) चिकनाहट के कारण आत्मा के साथ चिपकते हैं।

यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि विशुद्ध आत्मा में मोह अथवा राग द्वेष की चिकनाहट ही कैसे उत्पन्न हो सकती है? इसके समाधान के लिए सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने की आवश्यकता है। आत्मा में रागद्वेषरूपी चिकना-हट अमुक समय में उत्पन्न हुई हो ऐसा तो कहा ही नहीं जा सकता, क्योंकि ऐसा कहने पर आत्मा में रागद्वेष की चिकनाहट जिस समय उत्पन्न हुई उससे पहले वह शुद्ध

स्वरूपवाला सिद्ध होता है और शुद्ध स्वरूपवाले आत्मा में रागद्वेष के परिणाम उत्पन्न होने का कोई कारण ही नहीं है। शुद्धस्वरूप आत्मा में भी यदि रागद्वेष के परिणाम का प्रारम्भ माना जाय तो फिर मुक्त आत्माओं में—पूर्ण शुद्ध आत्माओं में भी पुनः रागद्वेष के परिणाम क्यों न पैदा हों? यदि ऐसा मानें कि भूतकाल में पहले कभी आत्मा पूर्ण शुद्ध था और पीछे से उसमें रागद्वेष का प्रादुर्भाव हुआ तो फिर भविष्य में मुक्त अवस्था की शुद्ध स्थिति पर पहुँचने के बाद भी पुनः रागद्वेष के प्रादुर्भाव की खड़ी होती आपत्ति किस प्रकार दूर की जा सकेगी? इस पर से यह सिद्ध होता है कि आत्मा में रागद्वेष का परिणाम अमुक समय से प्रारम्भ नहीं हुआ है, किन्तु वह अनादि है।

जिस प्रकार अनादिकाल से मिट्टी के साथ मिले हुए सुवर्ण का उज्ज्वल चाकचिक्य स्वभाव ढँका हुआ है उसी प्रकार आत्मा का शुद्ध चैतन्य स्वरूप भी अनादिसंयुक्त कर्मप्रवाह के आवरण से ढँका हुआ है। जिस प्रकार मलिन दर्पण को माँजने से वह उज्ज्वल हो जाता है और चमकने लगता है उसी प्रकार आत्मा पर का कर्म मल धुल जाने से—दूर हो जाने से आत्मा उज्ज्वल बनता है और अपने विशुद्ध स्वरूप में प्रकाशमान होता है।

इस पर से हम देख सकते हैं कि 'पहले आत्मा और बाद में कर्म का सम्बन्ध' ऐसा मानना यथार्थ नहीं है।

'कर्म पहले और बाद में आत्मा' ऐसा तो कहा ही नहीं जा सकता, क्योंकि ऐसा कहने में आत्मा उत्पन्न होनेवाला और इसीलिये विनाशी सिद्ध होगा। इसके अतिरिक्त आत्मा के अभाव में 'कर्म' वस्तु ही नहीं घट सकती। इस प्रकार जब ये दोनों पक्ष घट नहीं सकते तब आत्मा और कर्म ये दोनों हमेशा से साथ ही हैं, अर्थात् इन दोनों का अनादि सम्बन्ध है – यही तीसरा पक्ष अर्थात् सिद्ध होता है।

जैनशास्त्रों में कर्म के मुख्य आठ भेद कहे गए हैं–१ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयु, ६ नाम, ७ गोत्र और ८ अन्तराय। आत्मा वस्तुतः परमज्योतिःस्वरूप, शुद्ध सच्चिदानन्दमय है, परन्तु उपर्युक्त कर्मों के आवरण से उसका मूलस्वरूप आच्छादित है। इसी कारण वह संसार में परिभ्रमण करता है, और इसी कारण भवचक्र की अनेकानेक विडम्बनाएँ उसे लगी हुई हैं।

अब हम आठ कर्मों का स्वरूप संक्षेप में देखें।

१ ज्ञानावरण कर्म आत्मा की ज्ञानशक्ति को आच्छादित करता है। जैसे जैसे इस कर्म का ज़ोर बढ़ता जाता है वैसे वैसे यह ज्ञानशक्ति को अधिकाधिक दबाता जाता है। बुद्धि का अधिकाधिक विकास होने का मुख्य कारण इस कर्म का शिथिल होना है। विश्व में दृश्यमान

बौद्धिक विभिन्नता का कारण इस कर्म की भिन्न भिन्न मात्रा है। इस कर्म का सम्पूर्ण क्षय होने पर केवलज्ञान (पूर्ण प्रत्यक्षज्ञान) प्रकट होता है।

२ दर्शनावरण कर्म दर्शनशक्ति को आवृत करता है। ज्ञान और दर्शन में विशेष भेद नहीं है। प्रारम्भ में होनेवाले सामान्य आकार के ज्ञान को 'दर्शन' कहते हैं। किसी मनुष्य या वस्तु के दृष्टिगोचर होने पर पहले उसका सामान्य प्रकार से जो भान होता है वह दर्शन है और पीछे उसका विशेष प्रकार से बोध होना वह ज्ञान है। निद्रा, अन्धत्व, बधिरत्व आदि इस कर्म के फल हैं।

३ वेदनीय कर्म का कार्य सुख-दुःख का अनुभव कराना है। सुख का अनुभव करानेवाले को सातवेदनीय और दुःख का अनुभव करानेवाले को असातवेदनीय कर्म कहते हैं।

४ मोहनीय कर्म मोह उत्पन्न करता है। स्त्री पर मोह, पुत्र पर मोह, मित्र पर मोह, अच्छी अच्छी लगनेवाली वस्तुओं पर मोह—यह सब मोहनीय कर्म का परिणाम है। मोह में अन्ध व्यक्ति को कर्तव्य अकर्तव्य का भान नहीं रहता। जिस प्रकार एक शराबी वस्तु को वास्तविकरूप में समझ नहीं सकता और उन्मत्त होकर उत्पथगामी बनता है उसी प्रकार मोहान्ध जीव तत्त्व को सम्यग्दृष्टि से समझ

नहीं सकता और अज्ञान तथा झूठी समझ में गोते लगाता रहता है। मोह की लीला अपार है। उसके चित्र-विचित्र अनन्त उदाहरण संसार में सर्वत्र दिखाई देते हैं। आठों कर्मों में यह कर्म आत्मस्वरूप को हानि पहुँचाने में सबसे अधिक और मुख्य भाग लेता है। इस कर्म के दो भेद हैं– (१) तत्त्वदृष्टि को आवृत करनेवाला 'दर्शनमोहनीय' और (२) चारित्र का अवरोधक 'चारित्रमोहनीय'।

५ आयुष्य कर्म के चार भेद हैं—(१) देवता का आयुष्य, (२) मनुष्य का आयुष्य, (३) तिर्यंच का आयुष्य और (४) नारक जीवों का आयुष्य। जिस प्रकार पैरों में जंज़ीर पड़ी हो तब तक मनुष्य बन्धन से छूट नहीं सकता उसी प्रकार देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक इन चार गतियों के जीव जब तक आयुष्य पूर्ण न हो तब तक वहाँसे छूट नहीं सकते।

६ नाम कर्म के अनेक भेद-प्रभेद हैं परन्तु संक्षेप में अच्छा या बुरा शरीर, अच्छा या बुरा रूप, सुस्वर अथवा दुःस्वर, यश अथवा अयश आदि अनेक बातें इस कर्म पर अवलम्बित हैं। भिन्न भिन्न एकेन्द्रियादि जाति और मनुष्यादि गति आदि नामकर्म के विपाक हैं। जिस प्रकार एक चित्रकार भिन्न भिन्न प्रकार के अच्छे-बुरे चित्र बनाता है उसी प्रकार प्राणियों के विविध देहाकारों, रूपा-

कारों तथा रचनाकारों का निर्माण करनेवाला यह कर्म है। शुभ नामकर्म के उदय से शरीर आदि अच्छे मिलते हैं और अशुभ नामकर्म के उदय से खराब।

७ गोत्र कर्म के दो भेद हैं—उच्च गोत्र और नीच गोत्र। प्रशस्त अथवा गर्हित स्थान में, सस्कारी अथवा असंस्कारी कुटुम्ब में जन्म होना इस कर्म का परिणाम है।

८ अन्तराय कर्म का कार्य विघ्न उपस्थित करने का है। सुविधा हो और धर्म की समझ भी हो फिर भी मनुष्य दान न दे सके—यह इस कर्म का फल है। वैराग्य अथवा त्यागवृत्ति न होने पर भी मनुष्य अपने धन का उपभोग न कर सके—यह इस कर्म का प्रभाव है। अनेक प्रकार के बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करने पर भी व्यापार-रोजगार में सफलता न मिले अथवा हानि उठानी पड़े—यह इस कर्म का कार्य है। शरीर पुष्ट होने पर भी कोई उद्यमशील न हो यह इस कर्म का परिणाम है।

इस प्रकार कर्मविषयक यह संक्षिप्त वर्णन हुआ। जिस प्रकार के अध्यवसाय होते हैं, कर्म भी उसी प्रकार के चिकने बँधते हैं और फल भी वैसा ही भोगना पड़ता है। कर्म के बन्ध के समय ही उसकी स्थिति अर्थात् कर्म कितने समय तक जीव के साथ बद्ध रहेगा—यह कालमर्यादा भी निश्चित हो जाती है। कर्म का बन्ध होने के बाद तुरंत ही

वह उदय में आता है ऐसा नहीं समझना। जिस प्रकार बीज बोने के बाद तुरंत ही उसका फल नहीं मिलता उसी प्रकार कर्म बँधने के पश्चात् अमुक समय व्यतीत होने पर ही उदय में आता है। उदय में आनेके बाद भी इसका कोई नियम नहीं है कि कर्म कब तक भोगना पड़ेगा, क्योंकि पहले (कर्मबन्ध के समय) बँधे हुए स्थिति-काल में भी आत्मपरिणाम के अनुसार परिवर्तन हो सकता है।

कर्म का बन्धन एक ही प्रकार का नहीं होता। कोई कर्म गाढ़ बँधता है तो कोई अतिगाढ़, कोई मध्यम प्रकार का तो कोई शिथिल प्रकार का। जिन कर्मों का बन्ध अतिगाढ़ होता है उन्हें जैनशास्त्रों में 'निकाचित कर्म' कहते हैं। इस दर्जे का कर्म प्रायः अवश्य भोगना पड़ता है। दूसरे कर्म भावना एवं साधना के पर्याप्त बल से बिना भोगे भी छूट सकते हैं।

यहाँ पर हम 'आस्रव' से उत्पन्न 'बन्ध' के बारे में कुछ अधिक स्पष्ट और विस्तार से विचार करें।

पुद्गल की वर्गणाएँ (समूह) अनेक हैं। उनमें से जिस वर्गणा में कर्मरूप में परिणत होने की योग्यता होती है उसीको ग्रहण करके जीव उसे अपने सम्पूर्ण प्रदेशों के साथ विशिष्टरूप से मिला लेता है। अर्थात् जीव स्वभाव से अमूर्त होने पर भी अनादिकाल से कर्म से आबद्ध होने की वजह से

यह मूर्त जैसा हो गया है, अतः यह मूर्त कर्मपुद्गलों को ग्रहण करता है। मन, वचन और काय के व्यापारों को 'आस्रव' कहते हैं। इस प्रकार के आस्रव से कर्मपुद्गल आकर्षित होकर, जिस प्रकार पवन से उड़ कर भीगे चमड़े पर पड़ी हुई धूल उसके साथ चिपक जाती है उसी प्रकार, कषाय के कारण आत्मा के साथ जुड़ जाते हैं—नीरक्षीरवत् आत्मा के साथ घुलमिल जाते हैं। इसीको—ऐसे घनिष्ठ सम्बन्ध को 'बन्ध' कहते हैं। जिस समय कर्मपुद्गल जीव द्वारा गृहीत होकर कर्मरूप में परिणत होते हैं उस समय उनमें चार अंशों का निर्माण होता है। ये ही अंश बन्ध के भेद हैं और ये भेद हैं—प्रकृति, स्थिति, अनुभाव तथा प्रदेश।

कर्मरूप से परिणत पुद्गलों में प्रकृति अर्थात् स्वभाव के बंधने को 'प्रकृतिबन्ध' कहते हैं; जैसे कि ज्ञान को ढंकने का स्वभाव, सुख दुःख अनुभव कराने का स्वभाव इत्यादि। इस प्रकार प्राणी पर होनेवाले असंख्य असरों को पैदा करनेवाले स्वभाव असंख्य होने पर भी संक्षेप में उनका वर्गीकरण करके उन सब को आठ भागों में विभक्त किया गया है और इसी कारण कर्म की संख्या आठ कही गई है; जैसे कि ज्ञान को आवृत करने के स्वभाववाला कर्मपुद्गल 'ज्ञानावरण कर्म' है, सुख दुःख अनुभव कराने के स्वभाव वाला कर्मपुद्गल 'वेदनीय कर्म' है।

प्रकृति अर्थात् स्वभाव बंधन के साथ ही साथ कर्मपुद्गल

जीव के साथ कब तक चिपके रहेंगे इसकी काल-मर्यादा भी बँध जाती है। इस काल-मर्यादा के निर्माण को 'स्थिति-बन्ध' कहते हैं।

प्रकृति के बन्ध अर्थात् स्वभाव के निर्माण के साथ ही उसमें तीव्र अथवा अतितीव्र, मन्द अथवा मध्यम रूप से फल चखाने की शक्ति भी निर्मित हो जाती है। इस प्रकार की शक्ति अथवा विशेषता को 'अनुभाव-बन्ध' कहते हैं।

जीव के साथ न्यूनाधिक मात्रा में कर्मपुद्गल के समूह का बँधना 'प्रदेश-बन्ध' है। जीव के द्वारा ग्रहण किए जाने के पश्चात् भिन्न भिन्न स्वभाव में परिणत होनेवाला कर्मपुद्गलों का समूह अपने अपने स्वभाव के अनुसार अमुक अमुक परिमाण में विभक्त हो जाता है।

बन्ध के इन चारों प्रकारों में से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योग (मन-वचन-काय के व्यापार) के कारण होते हैं, क्योंकि अकषायी आत्मा को भी उसके केवल 'योग' के कारण ही कर्म का बँध होता है, परन्तु वह क्षणिक होता है। स्थितिबन्ध तथा अनुभावबन्ध कषाय के कारण होते हैं। इस प्रकार कषाय एवं योग ये दो कर्मबन्ध के हेतु हैं।

विशेष ब्योरे से विचार करने पर कर्मबन्ध के हेतु

आत्मा के विषय में अश्रद्धा, अथवा आत्मभावना के अभाव को 'मिथ्यात्व' कहते हैं। हिंसादि दोषों से विरत न होना और भोगों में आसक्ति होना इसे 'अविरति' कहते हैं। 'प्रमाद' यानी आत्मा का विस्मरण अर्थात् कुशल कार्यों में आदर न रखना, कर्तव्य-अकर्तव्य की स्मृति में सावधान न रहना। क्रोध, लोभ आदि विकार 'कषाय' हैं और मन-वचन काय की प्रवृत्ति को 'योग' कहते हैं।

जिस प्रकार नहर आदि के द्वार खुले रहने पर तालाब में पानी बह कर आता है और उन द्वारों को बन्द कर देने पर पानी का आना रुक जाता है, अथवा जलयान में छिद्रों द्वारा पानी भीतर आता है और उन छिद्रों को बन्द कर देने से पानी का भीतर आना रुक जाता है उसी प्रकार मनोवाक्कायकर्मरूपी आस्रव द्वारों से कर्मद्रव्य आकृष्ट हो कर आत्मा में प्रविष्ट होते हैं, परन्तु यदि वे मार्ग (कर्मप्रवेश के मार्ग) बन्द कर दिए जायँ तो कर्मद्रव्य का आना बन्द हो जाता है। जिस प्रकार खिड़की आदि बन्द कर देने पर घर में रखे हुए कपड़े आदि पदार्थों पर धूल नहीं जमने पाती उसी प्रकार मनोवाक्कायकर्मरूपी आस्रव-द्वार जब बन्द हो जाते हैं तब आत्मा के साथ कर्म बिलकुल नहीं चिपकते। ऐसी स्थिति जीवन्मुक्त के निर्वाणकाल के अन्तिम क्षण में प्राप्त होती है। निर्वाण से पूर्व शरीर का सम्बन्ध होने से मन वचन-काय के योग विद्यमान होते हैं, जिससे उन

'योग' रूपी आस्रव द्वारा उस जीवन्मुक्त एवं अकषायी आत्मा के साथ कर्मद्रव्य का किंचित् सम्बन्ध होता है। परन्तु वे कर्मद्रव्य निष्कषाय एवं प्रमादरहित केवल 'योग' द्वारा आकृष्ट होने के कारण, बिलकुल सूखी लकड़ी पर पड़ी हुई धूल की तरह, लगते ही क्षणमात्र में झड़ जाते हैं। मन-वचन-काय के योग यदि कषाय आदि से दूषित हों तो कर्मद्रव्य आत्मा के साथ चिपक जाते हैं, अन्यथा नहीं।

इस प्रकार कषाय एवं योग ये दो ही यद्यपि कर्मबन्ध के हेतु हैं, फिर भी आध्यात्मिक विकास की उच्चावच भूमिकारूप गुणस्थानों में बँधनेवाली कर्म-प्रकृतियों के तरतमभाव का कारण विशेष स्पष्टरूप से जताने के लिये मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और योग ये चार बन्धहेतु भी कहे गए हैं। जिस गुणस्थान में इन चार में से जितने अधिक बन्ध-हेतु, उस गुणस्थान में कर्मप्रकृतियों का उतना अधिक बन्ध और जिस गुणस्थान में बन्ध-हेतु कम, वहाँ कर्म प्रकृतियों का बन्ध भी कम। इन चार के साथ 'प्रमाद' को जोड़ देने पर बन्ध के हेतु पाँच होते हैं, परन्तु असंयम रूप प्रमाद का समावेश यदि अविरति अथवा कषाय में किया जाय तो बन्ध के उपर्युक्त चार हेतु गिनाए जा सकते हैं। इसी प्रकार मिथ्यात्व और अविरति इन दोनों का स्वरूप कषाय से जुदा न मानने पर कषाय एवं योग ये दो ही मुख्यतया बन्धहेतु समझे जा सकते हैं।

इन कर्मबन्ध के हेतुओं का निरोध उनके विरोधी गुणों के उत्कर्ष से ही शक्य है। 'मिथ्यात्व' का निरोध सम्यग्दर्शन से अर्थात् आत्मा की सच्ची ज्ञानदृष्टि से, 'अविरति' का विरति से अर्थात् पापाचरण से विरत होने से, 'प्रमाद' का अप्रमादभाव से अर्थात् कर्तव्यसाधन में जागरूकता से, और क्रोध मान माया-लोभरूपी 'कषायों' का अनुक्रम से क्षमा मृदुता ऋजुता-सन्तोष से होता है। मन-वचन-काय के व्यापाररूप योग मन वचन काय के सदुपयोग तथा संयम-संस्कार से शुभ एवं निर्मल बनते हैं और उनके निरोध के समय उनका निरोध होता है।

इस प्रकार कर्मबन्ध के हेतुओं को रोकने का नाम 'संवर' है और बँधे हुए कर्मों के अंशतः नाश का नाम है—

निर्जरा

यह निर्जरा दो प्रकार से होती है। उच्च आशय से किए जानेवाले तप से—आत्मस्पर्शी उत्कृष्ट साधना से कर्म का जो क्षय होता है यह पहले प्रकार की निर्जरा है और उपभोग के अनन्तर कर्म जो स्वतः झड़ जाते हैं वह दूसरे प्रकार की निर्जरा है। पहले प्रकार की निर्जरा सकाम निर्जरा कहलाती है, जबकि दूसरे प्रकार की अकाम निर्जरा। जिस प्रकार वृक्ष के फल वृक्ष के ऊपर समय आने पर स्वतः पक जाते हैं और अन्य उपायों से भी उन्हें पकाया जाता है उसी

प्रकार कर्म भी समय आने पर स्वतः पक कर अर्थात् उनका उपभोग हो जाने के बाद झड़ जाते हैं और तप-साधन के बल से भी उन्हें (कर्मों को) पका कर क्षीण किया जाता है।

आत्मा बँधे हुए कर्मों को अपने तपसाधन के बल से यदि झाड़ डाले तो वे झड़ सकते हैं, अन्यथा समय पूरा होने पर अपना फल चखा कर अर्थात् उनका उपभोग होने के पश्चात् स्वतः झड़ जाना तो उनका स्वभाव ही है। परन्तु इसके साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इनके भुगतने में यदि काषायिक आवेश, अशान्ति अथवा दुर्ध्यान हो जाय तो इनसे पुनः कर्म का बन्ध होता है। इस प्रकार कर्मबन्ध की एक लम्बी – अनन्त परम्परा चल सकती है। कर्म का फल यदि आत्मशान्ति से सहन किया जाय और पुनः कर्मबन्ध के पाश बँधने न पाए ऐसे शमभाव और समभावसे जीवनयात्रा चलाई जाय तो (इस प्रकार की आध्यात्मिकता का विकास होता रहे तो) सब कर्मों और सब दुःखों से मुक्त ऐसी मोक्षावस्था प्राप्त की जा सकती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि ‘संवर’ का अर्थ है ‘आस्रव’ को अर्थात् कर्मबन्ध के व्यापार को रोकनेवाला आत्मा का शुद्ध भावपरिणाम। यह संवर ‘गुप्ति’ आदि साधनों से साध्य है। मन-वचन-काय के सम्यग् निग्रहरूप ‘गुप्ति’, विवेकशील प्रवृत्तिरूप ‘समिति’, क्षमा-मृदुता-

ऋजुता शौच सत्य-संयम-तप त्याग आकिंचन्य ब्रह्मचर्य रूप 'धर्म,' 'भावना' अर्थात् वस्तुस्थिति के कल्याणप्रेरक चिन्तन, शान्तभावयुक्त सहिष्णुता रूप 'परीषहजये' और समभाव परिणतिरूप 'सामायिक' आदि चारित्र–इतनी बातों से 'संवर' (कर्मबन्ध का निरोध) साध्य है। और, 'निर्जरा' तप से साध्य है। अन्तर्मुख बाह्यतप से और 'प्रायश्चित्त' (दोषशोधन की क्रिया), 'विनय,' 'वैयावृत्त्य' (सेवा–भक्ति), 'स्वाध्याय,' 'व्युत्सर्ग' (ममत्व एवं काषायिक विकारों को हटाना) तथा मानसिक एकाग्रतारूप 'ध्यान'–इस प्रकार के आभ्यन्तर तप से निर्जरा होती है। तप से जिस प्रकार निर्जरा होती है उसी प्रकार उससे संवर भी होता है। इसी प्रकार संवरसाधन के उपर्युक्त 'गुप्ति' आदि भेद भी तपोगर्भित होने से 'निर्जरा' के साधक होते हैं।

यह तो ऊपर कहा जा चुका है कि अपनी स्थिति पूर्ण होने पर कर्म पक कर झड़ जाते हैं, किन्तु इस प्रकार की 'निर्जरा' का क्रम तो सम्पूर्ण संसार (भवचक्र) के समग्र जीवों में सतत चालू है, परन्तु कल्याणी 'निर्जरा' तो वही

---

१ भूख-प्यास सर्दी-गरमी मान अपमान रोग-पीड़ा आदि को शान्तभाव से सहना, प्रलोभन के समय क्षुब्ध न होना, बुद्धि अथवा विद्वत्ता का घमण्ड न करना, बुद्धिमान्द्य के कारण उद्विग्न न होना इत्यादि परीषहजय है।

है जो पुण्य भाव के सहयोग से सम्पन्न हो। संवर एवं निर्जरा जब अपने पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँचते हैं तब मोक्ष प्राप्त होता है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अन्तराय ये चार कर्म 'घाती कर्म' कहलाते हैं, क्योंकि वे आत्मा के केवलज्ञान आदि निजस्वरूपात्मक मुख्य गुणों का घात करनेवाले (उन गुणों के आवारक) हैं। इन चार घाती कर्मों का क्षय होने पर केवलज्ञान प्रकट होता है। इस ज्ञान के प्रकट होने के साथ ही आत्मा पूर्णद्रष्टा-पूर्णज्ञानी बनता है। बाद में वह आयुष्य पूर्ण होने के समय अवशिष्ट चार कर्म, जो 'अघाती[1]' अथवा 'भवोपग्राही[2]' कहलाते हैं, उनका क्षय करता है और उसी क्षण सीधा ऊर्ध्वगमन करता हुआ वह क्षणमात्र में लोक के अग्रभाग पर अवस्थित हो जाता है। इस अवस्था को कहते हैं—

मोक्ष

बन्धहेतुओं के अभाव तथा निर्जरा से कर्म का आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है। मोक्ष अर्थात् सभी कर्मों का क्षय। समग्र कर्मों का क्षय होने पर ऊर्ध्वगमन करना यह आत्मा का स्वभाव है यह बात तुम्बे का दृष्टान्त दे कर पहले

---

१ घाती से विपरीत अघाती।

२ 'भव' अर्थात् संसार अथवा शरीर, उसे टिकानेवाला— यह 'भवोपग्राही' शब्द का अर्थ है।

कही जा चुकी है। यहाँ पर भी कहा जा चुका है कि ऊर्ध्वगमन करता हुआ आत्मा लोक के अग्रभाग में पहुँच कर रुक जाता है और वहीं स्थिर हो जाता है, वहाँ से वह आगे गमन नहीं कर सकता, क्योंकि लोक के अग्रभाग से आगे गति करने में सहायभूत 'धर्मास्तिकाय' पदार्थ वहाँ पर नहीं है। और आत्मा में गुरुत्व तथा कोई कर्मजन्य प्रेरणा के न होने से वहाँ से वापिस नीचे अथवा तिरछा तो वह जा ही नहीं सकता।

उपर्युक्त मुक्तावस्था में कर्मों की कोई उपाधि न रहने से शरीर, इन्द्रिय एवं मन का वहाँ सर्वथा अभाव ही हो जाता है। इससे जो सुख निर्बन्धन, निरुपाधि, मुक्त आत्मा अनुभव करता है वह अनिर्वाच्य, अनुपमेय है। इस स्वभावसिद्ध परमसुख के आगे समग्र त्रिलोक का वैषयिक आनन्द कुछ भी बिसात में नहीं। बहुत से लोग कहा करते हैं कि मोक्ष में शरीर नहीं है; बाग बगीचे, मोटर-गाड़ी, स्त्री पुत्रादि आमोद प्रमोद के साधन नहीं हैं तो फिर वहाँ सुख क्या हो सकता है? परन्तु यह क्यों भुलाया जाता है कि आत्मा की दुर्गति का एकमात्र कारण विषयवासना ही है। विषयवासना का दुःख ही संसार का दुःख है। खाज-खुजली खुजाने में जो आनन्द प्रतीत होता है उसका कारण सिर्फ भूख की पीड़ा ही है। पेट भरा हो तो अमृततुल्य भोजन भी अच्छा नहीं लगता। सर्दी की

पीड़ा दूर करने के लिए जो वस्त्र पहने जाते हैं वे ही वस्त्र ग्रीष्म की उष्णता में पहनने अच्छे नहीं लगते। बहुत बैठे रहनेवाले को चलने-फिरने का मन होता है और बहुत चलने-फिरनेवाले को बैठने का, आराम लेने का मन होता है। कामभोग प्रारम्भ में जितने अच्छे लगते हैं उतने ही अन्त में वे प्रतिकूल प्रतीत होते हैं। संसार की यह सब स्थिति कैसी है? जो सुख के साधन समझे जाते हैं वे सिर्फ क्षणिक शान्ति के अतिरिक्त दूसरा कौनसा सुख देने-वाले हैं? पका हुआ फोड़ा जब फूट जाता है तब 'हा ...श' कर के जिस सुख का अनुभव होता है वह क्या वस्तुतः सुख है? नहीं, वह तो मात्र वेदना की शान्ति है। विषया-नुषंग में भी जो सुख दीखता है वह वेदना की शान्ति के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं है। और वह शान्ति भी कितने समय की? क्षणभर में तो वह विलीन हो जाती है

---

१. तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादु सुरभि
क्षुधार्तः सन् शालीन् कवलयति शाकादिवलितान्।
प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमाश्लिष्यति वधू
प्रतीकारं व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः ॥

—महात्मा भर्तृहरि—वैराग्यशतक

अर्थात्—प्यास से मुँह सूखने पर मनुष्य मीठा पानी पीता है, भूख लगने पर शाक आदि के साथ भात खाता है और कामाग्नि प्रज्वलित होने पर स्त्रीसंग करता है। इस प्रकार व्याधि (कष्ट) का जो प्रतीकार है उसे वह सुख समझता है किन्तु यह उसकी भ्रान्ति ही है।

और पुनः अशान्ति का संसावात पैदा हो जाता है। यह अल्पकालीन शान्ति भी कुछ ठोस नहीं होती, खोखली और ग्लानियुक्त होती है। संसार में राग द्वेष की विडम्बना और काम क्रोध का सन्ताप क्या कुछ कम है! रोग-शोक के आक्रमण क्या थोड़े हैं! यह सब परिस्थिति क्या सुखरूप है? शान्ति अथवा तृप्ति की मात्रा की अपेक्षा अशान्ति अथवा अतृप्ति की मात्रा क्या कितनी ही गुनी अधिक नहीं है!

जिसे खाज आती हो उसे ही खुजलाने में कुछ आनन्द मालूम होता है, दूसरे को उस ओर रुचि ही कैसे हो सकती है? इसी प्रकार जो लोग मोहवासना में निरत हैं उन्हीं को मोह चेष्टा अच्छी लगती, दूसरों को (विरक्त अथवा मुक्तात्माओं को) वह कैसे अच्छी लगेगी? वैषयिक मोह वृत्ति, वस्तुतः, खाज की भाँति प्रारम्भ में कुछ आनन्ददायी परन्तु पीछे से परिताप पैदा करनेवाली होती है। मोहरूपी खाज जिनकी सर्वथा शान्त हो गई है ऐसे मुक्त परमात्मा अपने निर्मल चिद्रूप में सदानन्दित हैं। इस प्रकार का—आत्मजीवन की पूर्ण निर्मल दशा का जो सुख है वही पारमार्थिक सुख है। ऐसे परमब्रह्म परमज्योति, परमानन्द परमात्माओं के लिए बुद्ध, शुद्ध, सिद्ध, निरञ्जन, परमब्रह्म आदि नाम शास्त्रकारोंने रखे हैं।

मोक्ष की प्राप्ति मानव शरीर द्वारा ही होती है। इस

स्वर्गीयस्वभावानुसार विरतिरहित होते हैं, अतः वे देवगति में से मुक्ति का परमधाम प्राप्त नहीं कर सकते। जो मोक्ष के योग्य होता है वह भव्य कहलाता है। अभव्यदशावाला मोक्ष के योग्य नहीं होता।

ईश्वर

जैन-शास्त्र के अनुसार ईश्वर का लक्षण है—"परिक्षीण-सकलकर्मा ईश्वरः"—अर्थात् जिसके सम्पूर्ण कर्मों का निर्मूल क्षय हुआ है वह ईश्वर है। पूर्वोक्त मुक्तावस्था जिन्होंने प्राप्त की है उन परमात्माओं से ईश्वर भिन्न प्रकार का नहीं है। ईश्वरत्व का लक्षण और मुक्ति का लक्षण एक ही है। मुक्ति प्राप्त करना ही ईश्वरत्व की प्राप्ति है। 'ईश्वर' शब्द का अर्थ 'समर्थ' होता है। अतः अपने ज्ञानादि पूर्ण शुद्ध स्वरूप में पूर्ण समर्थ होनेवाले के लिये 'ईश्वर' शब्द बराबर लागू हो सकता है।

जैन-शास्त्र कहते हैं कि मोक्षप्राप्ति के कारणभूत सम्यग्-ज्ञान और सम्यक् चारित्र का अभ्यास बढ़ता बढ़ता जब पूर्ण स्थिति पर पहुँच जाता है तब आवरण-बन्ध सर्वथा दूर हो जाता है और आत्मा का ज्ञान आदि सम्पूर्ण स्वरूप पूर्णरूप से प्रकाशित होता है। इस स्थिति पर-पहुँचना ही ईश्वरत्व है। कोई भी आत्मा अपने स्वरूपविकास

---

१ सामान्य केवलज्ञानियों की अपेक्षा तीर्थंकर पुण्यप्रकृतियों के महत्तर प्रभाव के कारण तथा धर्म के एक महान् प्रभावशाली प्रकाशक की

क अभ्यास में आगे बढ़े, परमात्मस्थिति पर पहुँचने का यथायोग्य प्रयत्न करे तो वह जरूर ईश्वर हो सकता है ऐसा जैनशास्त्रों का सिद्धान्त है। ईश्वर कोई एक ही व्यक्ति है ऐसा जैन सिद्धान्त नहीं है। ऐसा होने पर भी परमात्म स्थिति पर पहुँचे हुए सब सिद्ध एक-जैसे निराकार होने के कारण, दीप-ज्योति की भाँति परस्पर मिल जाने से, समष्टि रूप से—समुच्चयरूप से उन सब का 'एक' शब्द से कथंचित् व्यवहार हो सकता है। जिस प्रकार भिन्न भिन्न नदियों का अथवा भिन्न भिन्न कुओं का इकट्ठा किया हुआ पानी एक दूसरे में मिल जाता है—उनमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रहता और एकरूप से उनका व्यवहार होता है, उसी प्रकार प्रकृत में भी भिन्न भिन्न जलों की भाँति एक दूसरे में मिले हुए सिद्धों के बारे में 'एक ईश्वर' अथवा 'एक भगवान्' का व्यवहार होना भी असंगत अथवा अघटित नहीं है।

मोक्ष का शाश्वतत्व

यहाँ एक शंका हो सकती है और वह यह कि 'जिस वस्तु की उत्पत्ति होती है उस वस्तु का विनाश भी होता है'—इस नियम के अनुसार मोक्ष की भी उत्पत्ति

दृष्टि से बहुत उच्च कोटि पर हैं परन्तु आत्मविकास इन दोनों का एक-जैसा ही है। निरावरणता से प्रादुर्भूत ज्ञानपूर्णता अथवा परमात्मदशा इन दोनों प्रकार के केवलियों में सर्वथा समान होती है। अतः ये दोनों (तीर्थंकर और सामान्यकेवली) परमात्मा हैं।

होने से उसका भी अन्त होना चाहिए। इस प्रकार मोक्ष शाश्वत सिद्ध नहीं हो सकता।

इसके समाधान में यह जानना चाहिए कि मोक्ष कोई उत्पन्न होनेवाली वस्तु नहीं है। केवल कर्म-बन्ध से छुट जाना अथवा आत्मा पर से कर्मों का हट जाना ही आत्मा का मोक्ष है। इससे आत्मा में कोई नई वस्तु उत्पन्न नहीं होती जिससे उसके अन्त की कल्पना करनी पड़े। जिस प्रकार बादल हट जाने से जाज्वल्यमान सूर्य प्रकाशित होता है उसी प्रकार कर्म के आवरण हट जाने से आत्मा के सब गुण प्रकाशित होते हैं, अथवा ऐसा कहो कि आत्मा अपने मूल ज्योतिर्मय चित्स्वरूप में पूर्ण प्रकाशित होता है। इसी का नाम है मोक्ष। कहिए, इसमें क्या उत्पन्न हुआ?

सर्वथा निर्मल मुक्त आत्मा पुनः कर्म से बद्ध नहीं होता और इस कारण उसका संसार में पुनरावर्तन[1] भी नहीं होता। महर्षि उमास्वातिने तत्त्वार्थसूत्र में कहा है—

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः॥

अर्थात्—जिस प्रकार बीज सर्वथा जल जाने पर

१ "न स पुनरावर्तते, न स पुनरावर्तते।"—छान्दोग्योपनिषद्।

उसमें से अंकुर उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार कर्मरूपी बीज सर्वथा जल जाने पर संसाररूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता।

संसार का सम्बन्ध कर्मसम्बन्ध के अधीन है और कर्म का सम्बन्ध राग-द्वेष मोह की चिकनाहट के अधीन है। जो पूर्ण निर्मल हुए हैं, जो कर्म के लेप से सर्वथा रहित हो गए हैं उनमें राग द्वेष की चिकनाहट हो ही कैसे? और इसीलिये उनके साथ कर्म के पुनः सम्बन्ध की कल्पना भी कैसी? अतएव संसारचक्र में उनका पुनरवतरण असम्भव है।

सब कर्मों का क्षय हो सकता है

यहाँ पर एक ऐसा प्रश्न होता है कि 'आत्मा के साथ कर्म का संयोग जब अनादि है तब अनादि कर्म का नाश कैसे हो सकता है?, क्योंकि ऐसा नियम है कि अनादि वस्तु का नाश नहीं होता।' इस प्रश्न के समाधान में यह समझने का है कि आत्मा के साथ नए नए कर्म बँधते जाते हैं और पुराने झड़ते जाते हैं। इस स्थिति में कोई भी कर्मपुद्गल-व्यक्ति आत्मा के साथ अनादिकाल से संयुक्त नहीं है, किन्तु भिन्न भिन्न कर्मों के संयोग का प्रवाह अनादिकाल से चलता आता है। यद्यपि संसारी आत्मा के साथ सदा से भिन्न भिन्न कर्म-पुद्गलों का संयोग सतत होता रहता है, और अतएव कर्मबन्ध का प्रवाह अनादि है, फिर भी प्रत्येक कर्मपुद्गल-व्यक्ति का संयोग

आदिमान् है। कर्म बँधा, अतः वह कर्मबन्ध सादि हुआ और सादि हुआ इसलिये वह कर्म कभी-न-कभी जीव पर से दूर तो होनेका ही। अतएव व्यक्तिरूप से कोई भी कर्म-पुद्गल आत्मा के साथ शाश्वतरूप से संयुक्त नहीं रहता। तो फिर शुक्लध्यान के पूर्ण बल से नए कर्मों का बन्ध रुक जाने के साथ ही पुराने कर्म यदि झड़ जायँ तो क्या यह शक्य नहीं है? इस प्रकार सब कर्मों का सम्पूर्ण क्षय हो सकता है—आत्मा कर्मरहित हो सकता है।

इसके अतिरिक्त संसार के मनुष्यों की ओर दृष्टिक्षेप करने पर ज्ञात होता है कि किसी मनुष्य में राग-द्वेष की मात्रा अधिक होती है तो किसी में कम। इतना ही नहीं, एक ही मनुष्य में भी राग-द्वेष का उपचय-अपचय होता है। तब, यह तो सहजरूप से समझा जा सकता है कि राग-द्वेष की इस प्रकार की कमी-बेशी बिना कारण सम्भव नहीं। इस परसे ऐसा माना जा सकता है कि कमी-बेशीवाली वस्तु जिस हेतु से घटती है उस हेतु का यदि पूर्ण बल मिले तो उसका सर्वथा नाश ही हो। जिस प्रकार पूस महीने की प्रबल ठंडी बाल-सूर्य के मन्द-मन्द ताप से घटती घटती अधिक ताप पड़ने पर बिलकुल उड़ जाती है उसी प्रकार कमी-बेशीवाले राग-द्वेष दोष जिस कारण से कम होते हैं वह कारण यदि पूर्णरूप से सिद्ध हो तो वे दोष [illegible]

भावनाओं के बल से घटते हैं और ये शुभ भावनाएँ अब अधिक प्रबल बनती हैं और आगे बढ़कर आत्मा जब श्रेष्ठ समाधियोग पर पहुँचता है तब राग-द्वेष का पूर्ण क्षय होता है। इस प्रकार राग द्वेष का क्षय होने पर निरावरणदशा आत्मा को प्राप्त होती है। इस दशा की प्राप्ति होते ही केवलज्ञान का प्रादुर्भाव होता है, क्योंकि राग द्वेष का क्षय होते ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय इन तीनों कर्मों का क्षय हो जाता है। सम्पूर्ण संसाररूपी महल केवल दो ही स्तम्भों पर टिका हुआ है और वे हैं राग द्वेष। मोहनीय कर्म का (मोह का) सर्वस्व राग द्वेष हैं। ताड़ वृक्ष के सिर पर सुई भोंक देने से जिस प्रकार सारा ताड़ वृक्ष धस जाता है उसी प्रकार सब कर्मों के मूलरूप राग द्वेष पर प्रहार करने से, उनका उच्छेद करने से सारा कर्म-वृक्ष धस जाता है—नष्ट हो जाता है।

केवलज्ञान की सिद्धि

राग द्वेष के क्षय से (मोहनीय कर्म के क्षय के बाद तत्क्षण ही शेष तीन 'घाती' कर्मों का क्षय हो जाने से) प्रादुर्भूत केवलज्ञान के सम्बन्ध में जो स्पष्टीकरण किया जाता है वह इस प्रकार है। ज्ञान की मात्रा मनुष्यों में न्यूनाधिक देखी जाती है। यह क्या सूचित करती है? यही कि आवरण जितनी मात्रा में हटता जाता है उतनी

मात्रा में ज्ञान प्रकट होता है। आवरण जैसे जैसे अधिक हटता है, ज्ञान भी वैसे वैसे अधिकाधिक प्रकाशित होता है। और वह आवरण यदि सर्वथा हट जाय तो पूर्ण ज्ञान प्रकट हो सकता है। यह बात एक दृष्टान्त से समझाई जाती है। वह दृष्टान्त इस प्रकार है। छोटी-बड़ी वस्तुओं में जो लम्बाई-चौड़ाई एक की अपेक्षा दूसरी में अधिक अधिक दीख पड़ती है, उस बढ़ती हुई लम्बाई-चौड़ाई का पूर्ण प्रकर्ष जिस प्रकार आकाश में होता है उसी प्रकार ज्ञान की मात्रा भी बढ़ती बढ़ती किसी पुरुष-विशेष में पूर्ण कला पर पहुँच सकती है। ज्ञान के वर्धमान प्रकर्ष की पूर्णता जिसमें प्रकट होती है वह (पूर्ण ज्ञान-प्रकाश प्राप्त करनेवाला) सर्वज्ञ, सर्वदर्शी कहलाता है और उसका जो ज्ञान वह केवलज्ञान। जब आत्मा का रागद्वेषरूपी मालिन्य पूर्णतया दूर हो सकता है और जब वह पूर्ण शुद्धि प्राप्त कर सकता है तब पूर्ण शुद्धि में से प्रकट होनेवाला पूर्ण ज्ञान-प्रकाश भी, जिसे केवलज्ञान कहते हैं, उसे प्राप्त हो सकता है।

ईश्वर जगत् का कर्त्ता नहीं है

जैनधर्म का एक सिद्धान्त यह है कि ईश्वर जगत् का कर्ता नहीं है। जैनशास्त्रों का ऐसा कथन है कि कर्मबल से घूमते हुए संसारचक्र में निर्लेप, परम वीतराग और परम कृतार्थ ऐसे ईश्वर का कर्तृत्व कैसे सम्भव हो सकता है?

चेतन अचेतनरूप अखिल जगत् प्रकृति नियम से ही संचालित है। प्रत्येक प्राणी के सुख-दुःख अपने अपने कर्म-संस्कार के ऊपर अवलम्बित हैं। पूर्ण शुद्ध वीतराग ईश्वर न तो किसी पर प्रसन्न होता है और न किसी पर अप्रसन्न। ऐसा होना वीतरागस्वरूप निरञ्जन परमेश्वर में संभव नहीं।

ईश्वरपूजन की आवश्यकता

'ईश्वर जगत् कर्ता नहीं है' इस सिद्धान्त के अनुसन्धान में यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि, तो फिर ईश्वर पूजन करने से क्या लाभ? ईश्वर जब वीतराग है, वह तुष्ट अथवा रुष्ट नहीं होता तब उसके पूजन का क्या उपयोग? परन्तु जैन शास्त्रकारों का ऐसा कहना है कि ईश्वर की उपासना ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए नहीं है, किन्तु अपने हृदय की-अपने चित्त की शुद्धि करने के लिए है। सभी दुःखों के उत्पादक राग-द्वेष को दूर करने के लिए राग द्वेषरहित परमात्माका अवलम्बन लेना परम उपयोगी एवं आवश्यक है। मोहवासना से भरा हुआ आत्मा स्फटिक के जैसा है अर्थात् स्फटिक के पास जैसे रंग का फूल रखा जायगा वैसा रंग स्फटिक अपने में धारण कर लेता है, ठीक वैसे ही राग द्वेष के जैसे संयोग आत्मा को मिलते हैं वैसे ही संस्कार आत्मा में शीघ्र उत्पन्न हो जाते हैं। अतः अच्छा, पवित्र संसर्ग प्राप्त करने की और वैसे संसर्ग में रहने

की विशेष आवश्यकता समझी जा सकती है। वीतरागदेव का स्वरूप परम निर्मल और शान्तिमय है। राग-द्वेष का रंग किंवा उनका तनिकसा भी प्रभाव उसके स्वरूप में बिलकुल नहीं है। अतः उसका आलम्बन लेने से, उसका ध्यान करने से आत्मा में वीतरागभाव का संचार होता है। सब कोई समझ सकते हैं कि एक रूपवती रमणी के संसर्ग से एक विलक्षण प्रकार का भाव उत्पन्न होता है, पुत्र को देखने से अथवा मित्र को मिलने से स्नेह की जागृति होती है और एक प्रसन्नात्मा मुनि के दर्शन से हृदय में शान्तिपूर्ण आह्लाद का अनुभव होता है। सज्जन की संगति सुसंस्कार और दुर्जन की संगति कुसंस्कार का वातावरण पैदा करती है। इसीलिए कहा जाता है कि 'जैसी संगत वैसी रंगत।' तब वीतराग आत्मा का सत्संग कितना कल्याणकारक सिद्ध हो सकता है इसकी तो कल्पना ही करनी रही। वीतरागदेव की संगत उसका भजन, स्तवन या स्मरण करना है। इससे (इसके सबल अभ्यास के परिणाम-स्वरूप) आत्मा में ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है कि राग द्वेष की वृत्तियाँ शान्त होने लगती हैं। यह ईश्वरपूजन का मुख्य और तात्त्विक फल है।

पूज्य परमात्मा पूजक की ओर से किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं रखता। पूज्य परमात्मा का पूजक की ओर से कुछ भी उपकार नहीं होता। पूज्य परमात्मा को पूजक के

पास से कुछ भी नहीं चाहिए। पूजक सिर्फ अपने आत्मा के उपकार के लिए पूज्य परमात्मा की पूजा करता है और उसके (परमात्मा के) आलम्बन से – उसके तरफ की एकाग्र भावना क बल स वह स्वय अपना फल प्राप्त कर सकता है।

अग्नि क पास आनवाल मनुष्य की सर्दी अग्नि के सान्निध्य से जिस प्रकार स्वतः उड़ जाती है, अग्नि किसी को यह फल लेने के लिए अपन पास नहीं बुलाती और प्रसन्न होकर किसी को यह फल देती भी नहीं, इसी प्रकार वीतराग परमेश्वर क प्रणिधान से रागादिदोषरूप ठंडी स्वतः भागन लगती है और आत्मविकास का फल मिलता जाता है। परमात्मा के सद्गुणों क स्मरण से भावना वि कसित होती जाती है, चित्त का शोधन होने लगता है और आत्मविकास बढ़ता जाता है। इस प्रकार परमात्मा की उपासना का यह फल उपासक स्वय अपने आध्यात्मिक प्रयत्न स ही प्राप्त करता है।

यह सही कि वेश्या का संग करनवाले मनुष्य की दुर्गति होती है, परन्तु यह दुर्गति देनेवाला कौन ?– यह विचारने जैसा है। वेश्या को दुर्गति दनेवाली मानना यह उचित नहीं; क्योंकि एक तो वेश्या को दुर्गति का भान नहीं है और इसके अतिरिक्त कोई किसी को दुर्गति में

ले जाने के लिए समर्थ भी नहीं है। तब दुर्गति में ले जाने-वाली वस्तु मन की मलिनता के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं यह बात निःसंकोच गले से नीचे उतरे ऐसी है। इस पर से यह सिद्धान्त स्थिर हो सकता है कि सुख-दुःख के कारण-भूत कर्म का आधार मन की वृत्तियाँ हैं और उन वृत्तियों को शुभ बनाने का, उसके द्वारा आत्मविकास साधने का तथा सुख-शान्ति प्राप्त करने का प्रशस्त साधन भगवद्-उपासना है। भगवद्-उपासना से वृत्तियाँ शुभ होती हैं, आगे बढ़ कर शुद्ध होती हैं। इस प्रकार वह (भगवद्-उपासना) कल्याणसाधन का मार्ग बनती है।
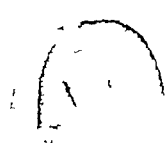
द्वितीय खण्ड

मोक्षमार्ग

नौ तत्त्वों का संक्षिप्त वर्णन पूरा हुआ। इनमें मुख्य तत्त्व जीव और अजीव ये दो ही हैं। आस्रव जीव का कर्मबन्धक अध्यवसाय है, बन्ध जीव और अजीव (कर्मपुद्गल) का पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है, संवर और निर्जरा (उच्च कोटि की) आत्मा की उज्ज्वल दशा है और मोक्ष आत्मा की पूर्ण शुद्धता का नाम है। इस प्रकार आस्रवादि पाँचों तत्त्व जीव अजीव में ही समाविष्ट हो जाते हैं। पुण्य पाप आत्मसम्बद्ध कर्मपुद्गल हैं। पुण्य-पाप का यदि बन्ध-तत्त्व में अन्तर्भाव करें तो सात तत्त्व होते हैं। जिस प्रकार नौ तत्त्वों की परम्परा है उसी प्रकार सात तत्त्वों की भी परम्परा है।[1] आस्रव और बन्ध संसार के कारण हैं जब कि संवर और निर्जरा मोक्ष के। सत्पुण्यरूप शुभ आस्रव मोक्षप्राप्ति के साधन जुटानेवाला होने से प्रशस्त है, अतएव उसे 'धर्म' भी कहा जा सकता है।[2] मोक्षार्थी के आत्मविकास के

---

१ श्री उमास्वातिवाचकविरचित तत्त्वार्थसूत्र में सात पदार्थों का निर्देश है।

२ "धर्मः शुभास्रवे संवरे [निर्जरायां] चाऽन्तर्भवति।"
—श्रीहेमचन्द्राचार्य योगशास्त्र के दूसरे प्रकाश के दूसरे श्लोक की वृत्ति।

मार्ग में इन नौ वस्तुओं का ज्ञान अत्यन्त उपयोगी होने से ये 'तत्त्व' कहे गए हैं। इन तत्त्वों में आए हुए जीव एवं अजीव (जड़) तत्त्व द्वारा निखिल विश्व के अखिल पदार्थों का निर्देश करके जीव का मुख्य साध्य मोक्ष सूचित किया और उसके बाधक-साधक मार्ग दिखलाए। बाधक में बन्ध और बन्ध का कारण आस्रव, साधक में संवर तथा निर्जरा।

नौ तत्त्वों के प्रकरण में आत्मा, पुण्य-पाप, परलोक, मोक्ष और ईश्वर सम्बन्धी जैन विचारों का दिग्दर्शन किया गया है। कल्याणसाधन का मार्ग आत्मा, परमात्मा, पुण्य-पाप और पुनर्जन्म पर श्रद्धा रखने से सरल बनता है। एक

"सामान्येन तावद्धर्मस्य त्रीण्येव रूपाणि द्रष्टव्यानि भवन्ति। तद्यथा—कारण, स्वभाव, कार्य च। तत्र सदनुष्ठान धर्मस्य कारणम्। स्वभावः पुनर्द्विविध - साश्रवोऽनाश्रवश्च। तत्र साश्रवो जीवे परमाणूपचयरूप, अनाश्रवस्तु पूर्वोपचितकर्मपरमाणुविलयमात्रलक्षण। × × × कार्य पुनर्धर्मस्य यावन्तो जीवगता सुन्दरविशेषा।"

—उपमितिभवप्रपचकथा, प्रथम प्रस्ताव, मुद्रित पुस्तक पत्र ७२।

इस पाठ का अर्थ इस प्रकार है—

सामान्यत धर्म के तीन रूप हैं—कारण, स्वभाव और कार्य। इन में से सदनुष्ठान यह धर्म का कारण है। स्वभाव दो प्रकार का है: आश्रवरूप और अनाश्रवरूप। जीव में होनेवाले शुभ कर्मपरमाणुओं के उपचय को आश्रवरूप स्वभाव और पूर्वोपार्जित कर्मपरमाणुओं के झड जाने को अनाश्रवरूप स्वभाव कहते हैं। × × × और जीव में जो विशेप सुन्दरताएँ हैं वह धर्म का कार्य है।

मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण मानने से नहीं चलता। केवल प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर सत्यशोधन का कार्य शक्य नहीं है। केवल प्रत्यक्षप्रमाणवादी को भी धूम के दर्शन से अग्नि होने का अनुमान स्वीकारना पड़ता है। नहीं दीखने से वस्तु का अभाव मानना न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। बहुत सी वस्तुओं का अस्तित्व होने पर भी वे दृष्टिगोचर नहीं होतीं, इससे उनका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता। आकाश में उड़ता हुआ पक्षी इतना ऊँचा गया कि वह आँखों से ओझल हो गया, इससे उस पक्षी का अभाव सिद्ध नहीं होता। हमारे पूर्वज हमें नहीं दिखते, अतः वे नहीं थे ऐसा कहने का साहस कोई नहीं कर सकता। दूध में मिलाया गया पानी नहीं दिखाई देता इससे उसका अभाव नहीं माना जा सकता। सूर्य के प्रकाश में तारे नहीं दीखते, अतः वे नहीं हैं ऐसा कहने का कोई साहस नहीं कर सकता। इस पर से ऐसा समझा जा सकता है कि इस विश्व में जिस प्रकार इन्द्रियगोचर पदार्थ हैं उसी प्रकार इन्द्रियातीत (अतीन्द्रिय) पदार्थों का भी अस्तित्व है। जिस बात का अपने को अनुभव हुआ हो उसे तो मानना और दूसरे के अनुभव की बात को अविचारपूर्वक मिथ्या कह देना उचित नहीं। जिस मनुष्यने लंदन, पेरिस, बर्लिन अथवा न्यूयॉर्क जैसे शहर नहीं देखे वह, उन शहरों के वैभव का अनुभव कर के आए हुए अन्य किसी निष्पक्ष सज्जन के मुख से उन शहरों के वैभव

का वर्णन सुन कर उसे, अपने से अप्रत्यक्ष होने के कारण, यदि असत्य मानने के लिए तैयार हो जाय तो यह जिस प्रकार अघटित है उसी प्रकार हम साधारण मनुष्यों की अपेक्षा अनुभवज्ञान में आगे बढ़े हुए महापुरुषों के सिद्धान्तों को 'नहीं दीखते' अथवा 'नही जान पड़ते'– इसी एक मात्र हेतु से अवगणना करना अथवा उन्हें झूठा कह देना यह भी अयुक्त है। इस पर से यही फलित होता है कि पुण्य-पाप की प्रत्यक्ष दृश्यमान लीलाओं को ध्यान में ले कर, जगत् की विचित्रता और मोहवासना की विषमता को समझ कर, काम-क्रोधादि विकार दोषों को दूर करने के लिए मनुष्य को प्रयत्नशील होना चाहिए; आत्मकल्याण का श्रेष्ठ आदर्श लक्ष में रख कर जीवनशोधन के सच्चे पथ पर अपना प्रवास सदा व्यवस्थित रूप से चालू रखना चाहिए। चाहे धीरे धीरे ही सही परन्तु मार्ग पर–सच्चे मार्ग पर चलनेवाला प्राणी दुःखी नहीं होता, क्रमशः आगे बढ़ता जाता है और अन्त में अपने साध्य तक पहुँच जाता है। मोक्ष अर्थात् आत्मा का पूर्णविकासरूप साध्य प्रत्येक साधु अथवा गृहस्थ को अपनी दृष्टिसम्मुख रखना चाहिए और इस साध्य को सिद्ध करनेवाला मार्ग भी जानना चाहिए। दुराग्रह का त्याग करके और गुणानुरागी बन कर शास्त्रों का मर्म ढूँढना चाहिए। शुद्ध जिज्ञासाबुद्धि

सामान्यतः चारित्र के दो विभाग किए गये हैं— साधुओं का चारित्र और गृहस्थों का चारित्र। साधुओं के चारित्र को 'साधुधर्म' और गृहस्थों के चारित्र को 'गृहस्थधर्म' कहते हैं। इन दोनों प्रकार के धर्मों के बारे में जैनशास्त्रों में काफी अच्छा विवेचन किया गया है।

साधु धर्म

"साध्नोति स्वपरहितकार्याणीति साधुः"—अर्थात् स्वहित और परहित के कार्य जो साधे वह साधु। संसार के कांचन कामिनी आदि सब प्रकार के भोगोपभोगों का त्याग कर, गृह कुटुम्ब-परिवार के दुनियाई सम्बन्ध से सर्वथा विमुक्त होकर आत्मकल्याण की उच्च भूमि पर आरूढ होने की परम पवित्र आकांक्षा से जो असंगव्रत ग्रहण किया जाता है वह साधुधर्म है। राग द्वेष की वृत्तियों को दबाना—उन्हें जीतना ही साधु के धर्मव्यापार का मुख्य विषय है। प्राणातिपात विरमण, मृषावादविरमण, अदत्तादानविरमण[1], मैथुनविरमण और परिग्रहविरमण ये साधुओं के पांच महाव्रत हैं। इन पांच महाव्रतों का पालन ही साधु जीवन की साधना है। मनोगुप्ति[2], वचनगुप्ति[3] और कायगुप्ति[4] होना साधु-जीवन का प्रधान लक्षण है। साधुधर्म विश्वबन्धुत्व का व्रत है। जिसका फल जन्म-जरा-मृत्यु, आधि-व्याधि-उपाधि आदि सब

---

१ नहीं दी हुई वस्तु न लेना। २-३-४ मन वचन और शरीर के दुष्प्रयोग संयम में एकाग्रता।

दुःखों से रहित और परमानन्दस्वरूप मोक्ष हो वह साधुधर्म कितना उज्ज्वल, कितना विकट होना चाहिए, इसकी तो कल्पना ही की जा सकती है। ऐसा मुनिधर्म, जब संसार की विचित्रता (भवचक्र की निस्सारता) का यथार्थ भान हुआ हो, उस पर से तात्त्विक वैराग्य उत्पन्न हुआ हो और मोक्ष प्राप्त करने की प्रबल उत्कण्ठा जागरित हुई हो तभी प्राप्त हो सकता है – तभी वह पाला जा सकता है।

जो साधुधर्म के अधिकारी नहीं हैं वे गृहस्थधर्म का पालन करने से अपना जीवन कृतार्थ कर सकते हैं। धनोपार्जन में प्रामाणिकता तथा व्यवहार में नीति एवं सच्चाई गृहस्थधर्म के योग्य होने में प्राथमिक आवश्यकता रखते हैं। धर्मभावना को सतेज रखने के लिये सत्संग के श्रेयस्कर मार्ग का आलम्बन लेकर आत्मभान के बल पर निर्भयता गुण का सम्पादन करना और समुचित संयम के पालन में जाग्रत् रहना गृहस्थ के लिये नितान्त आवश्यक है।

गृहस्थधर्म

जैनशास्त्रों में गृहस्थधर्म का दूसरा नाम 'श्रावकधर्म' कहा है। गृहस्थधर्म का पालन करनेवाला पुरुष 'श्रावक' और स्त्री 'श्राविका' कहलाती है। 'श्रावक' शब्द श्रवण अर्थवाले 'श्रु' धातु पर से बना है। श्रवण करे अर्थात्

अवलोकन किया जाय तो उनमें से मोक्ष प्राप्त करने का निष्कलंक मार्ग जाना जा सकता है। जानने के पश्चात् आचरण में रखने की आवश्यकता है। क्रियारूप ज्ञान अर्थात् जो ज्ञान आचरण में नहीं रखा जाता वह फल दायक नहीं हो सकता, यह बात प्रत्येक व्यक्ति समझ सकता है। पानी में तैरने की क्रिया जानने पर भी यदि वह क्रिया करने में न आए—हाथ पैर पछाड़े न जायँ तो पानी में तैरा नहीं जा सकता। ठीक इसी प्रकार भवसागर से पार होने का उपाय जानने पर भी यदि उस उपाय को आचरण में न रखें तो भवसागर कैसे पार किया जा सकता है? इसीलिए शास्त्रकारों ने 'सम्यग्ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' इस सूत्र से सम्यग् ज्ञान और सम्यक् क्रिया (आचरण) दोनों के सहयोग से ही मोक्ष की साधना शक्य है—ऐसा कहा है। गन्तव्य स्थल के मार्ग की जानकारी हो अथवा अमुक औषध की रोगघ्नता का निश्चय हो, परन्तु यदि उस मार्ग पर न चलें अथवा उस औषध का सेवन न करें तो इष्टसिद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है? ज्ञान एवं श्रद्धा की नींव डाल कर के ही यदि मनुष्य रुक जाय और चारित्र-मंदिर की रचना न करे (अर्थात् आचरण में न रखे) तो कल्याण-मन्दिर कैसे प्राप्त कर सकता है?

सम्यग् ज्ञान

आत्मतत्त्व को अथवा वास्तविक कल्याणसाधन के मार्ग को पहचानना ही सम्यक् ज्ञान (Right Knowledge)

है। आत्मा को जानने के लिए उसके साथ सम्बद्ध जड़ (कर्म-) द्रव्यों के आवरणों को जानना भी आवश्यक है। इन्हें बराबर जाने विना एक तो आत्मा की यथायोग्य स्थिति समझ में नहीं आ सकती और दूसरे आत्मकल्याण की साधना का मार्ग भी सरल नहीं बनता। वस्तुतः आत्मज्ञान, आत्मदृष्टि एवं आत्मभावना के विना जगत् की सम्पूर्ण विद्वत्ता निःसार और निरर्थक है। संसार के सब क्लेश मात्र आत्मा की अज्ञानता पर अवलम्बित हैं। इस अज्ञानता को दूर करने का साधन आत्मबोध के अभ्यास के अतिरिक्त दूसरा क्या हो सकता है? आत्माभिमुख होना ही अखिल आध्यात्मिक वाङ्मय का एकमात्र रहस्यभूत तात्पर्य है।'[1]

सम्यक् चारित्र

तत्त्वज्ञान (तत्त्वस्वरूप जानने) का फल पापकर्मों से दूर रहना है। यही सम्यक् चारित्र (Right Conduct) है। अपने जीवन को पाप के संयोग से दूर रख कर निर्मल बनाना और यथाशक्ति परहितसाधनपरायण रहना यही 'सम्यक् चारित्र' शब्द का वास्तविक अर्थ है। इस विषय में शास्त्र में उल्लिखित सदुपदेश का अनुसरण उपयोगी होता है।

---

१ " आत्मा वा अरे! द्रष्टव्य , श्रोतव्यो, मन्तव्यो, निदिध्यासितव्य । आत्मनो वा अरे! दर्शनेन, श्रवणेन, मत्या, विज्ञानेन इद सर्वं विदितं भवति।"

—बृहदारण्यकोपनिषद्

सामान्यतः चारित्र के दो विभाग किये गये हैं— साधुओं का चारित्र और गृहस्थों का चारित्र। साधुओं के चारित्र को 'साधुधर्म' और गृहस्थों के चारित्र को 'गृहस्थधर्म' कहते हैं। इन दोनों प्रकार के धर्मों के बारे में जैनशास्त्रों में काफी अच्छा विवेचन किया गया है।

साधु धर्म

"साध्नोति स्वपरहितकार्याणीति साधुः" — अर्थात् स्वहित और परहित के कार्य जो साधे वह साधु। संसार के कांचन कामिनी आदि सब प्रकार के भोगोपभोगों का त्याग कर, गृह कुटुम्ब-परिवार के दुनियाई सम्बन्ध से सर्वथा विमुक्त होकर आत्मकल्याण की उच्च भूमि पर आरूढ़ होने की परम पवित्र आकांक्षा से जो संयमव्रत ग्रहण किया जाता है वह साधुधर्म है। राग द्वेष की वृत्तिओं को दबाना — उन्हें जीतना ही साधु के धर्मव्यापार का मुख्य विषय है। प्राणातिपात विरमण, मृषावादविरमण, अदत्तादानविरमण[1], मैथुनविरमण और परिग्रहविरमण ये साधुओं के पांच महाव्रत हैं। इन पांच महाव्रतों का पालन ही साधु जीवन की साधना है। मनोगुप्त[2], वचनगुप्त[3] और कायगुप्त[4] होना साधु-जीवन का प्रधान लक्षण है। साधुधर्म विश्वबन्धुत्व का व्रत है। जिसका फल जन्म जरा मृत्यु, आधि-व्याधि-उपाधि आदि सब

१ नहीं दी हुई वस्तु न लेना। २-३-४ मन वचन और शरीर को दुर्योग से संयम में रखनेवाला।

दुःखों से रहित और परमानन्दस्वरूप मोक्ष हो वह साधुधर्म कितना उज्ज्वल, कितना विकट होना चाहिए, इसकी तो कल्पना ही की जा सकती है। ऐसा मुनिधर्म, जब संसार की विचित्रता (भवचक्र की निस्सारता) का यथार्थ भान हुआ हो, उस पर से तात्त्विक वैराग्य उत्पन्न हुआ हो और मोक्ष प्राप्त करने की प्रबल उत्कण्ठा जागरित हुई हो तभी प्राप्त हो सकता है – तभी वह पाला जा सकता है।

जो साधुधर्म के अधिकारी नहीं हैं वे गृहस्थधर्म का पालन करने से अपना जीवन कृतार्थ कर सकते हैं। धनोपार्जन में प्रामाणिकता तथा व्यवहार में नीति एवं सच्चाई गृहस्थधर्म के योग्य होने में प्राथमिक आवश्यकता रखते हैं। धर्मभावना को सतेज रखने के लिये सत्संग के श्रेयस्कर मार्ग का आलम्बन लेकर आत्मभान के बल पर निर्भयता गुण का सम्पादन करना और समुचित संयम के पालन में जाग्रत् रहना गृहस्थ के लिये नितान्त आवश्यक है।

गृहस्थधर्म

जैनशास्त्रों में गृहस्थधर्म का दूसरा नाम 'श्रावकधर्म' कहा है। गृहस्थधर्म का पालन करनेवाला पुरुष 'श्रावक' और स्त्री 'श्राविका' कहलाती है। 'श्रावक' शब्द श्रवण अर्थवाले 'श्रु' धातु पर से बना है। श्रवण करे अर्थात्

आत्मकल्याण के मार्ग को रसपूर्वक सुने वह 'श्रावक' अथवा 'श्राविका'। श्रावक के अर्थ में 'उपासक' शब्द भी प्रयुक्त होता है। गृहस्थधर्म में बारह व्रतों का निरूपण किया गया है। वे बारह व्रत इस प्रकार हैं: १ स्थूल प्राणातिपातविरमण, २ स्थूल मृषावादविरमण, ३ स्थूल अदत्तादानविरमण, ४ स्थूल मैथुनविरमण, ५ परिग्रह परिमाण, ६ दिग्व्रत, ७ भोगोपभोगपरिमाण, ८ अनर्थ दण्डविरति, ९ सामायिक, १० देशावकाशिक, ११ पौषध, और १२ अतिथिसंविभाग। इनमें से प्रारम्भ के पाँच मर्यादित होने के कारण 'अणुव्रत' कहलाते हैं। मर्यादितता सूचित करने के लिये उनके साथ 'स्थूल' शब्द लगाया गया है।

१ स्थूल प्राणातिपातविरमण

प्राणातिपात का अर्थ है प्राणों का अतिपात अर्थात् प्राणी के प्राण लेना। इससे विरत होने का नाम है प्राणातिपातविरमण। प्राणातिपात अथवा हिंसा स्वयं करने से, दूसरे से कराने से और उसका अनुमोदन करने से (इस प्रकार करना, कराना और अनुमोदन—इन तीन प्रकारों से) होती है। इसी प्रकार मृषावाद आदि भी इन तीन प्रकारों से होते हैं। दूसरे के आरम्भ-समारम्भ से बनी हुई वस्तु के भोगोपभोग में भी उस आरम्भ समारम्भ का अनुमोदन

रहा ही है। भोगोपभोग आरम्भ-समारम्भ का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से थोड़ा या बहुत अवश्य उत्तेजक होता है। अतः भोगोपभोग करनेवाले को आरम्भजन्य दोष तो लगता ही है। पुण्य अथवा पाप कार्य करनेवाला मनुष्य स्वयं तो उसके परिणामरूप पुण्य अथवा पाप कर्म बाँधता ही है, परन्तु उसे उस कार्य में प्रवृत्त करनेवाला भी बाँधता है और उस कार्य का अनुमोदन करनेवाला भी बाँधता है। अलबत्ता, पुण्य अथवा पाप कार्य करनेवाले की अपनी मनोवृत्ति उस कार्य को करानेवाले अथवा उसका अनुमोदन करनेवाले की अपेक्षा अधिक सबल हो सकती है, परन्तु यह एकान्त नहीं है। विवश हो कर जिसे कार्य करना पड़ता है उसके मन के अध्यवसाय की अपेक्षा करानेवाले के अध्यवसाय अधिक तीव्र हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, किसी मनुष्य को पुलिस द्वारा पिटवानेवाले अफसर की मानसिक रौद्रता, विवश बनकर पीटनेवाले पुलिस की अपेक्षा अधिक उग्र होती है। इसी प्रकार प्रचाररसिक अनुमोदक के मन के अध्यवसाय करने-करानेवाले के अध्यवसाय की अपेक्षा कदाचित् अधिक तीव्र हो सकते हैं। किसका अध्यवसाय अधिक तीव्र है यह अपूर्ण मानव जान नहीं सकता। सिद्धान्त की बात इतनी ही है कि इन तीनों में से जिसके जैसे अध्यवसाय होते हैं उसे वैसे ही कर्म का बन्ध होता है।

मन वचन-काय (३), पाँच इन्द्रियाँ (८), आयुष्य (९),

तथा श्वासोच्छ्वास (१०) ये कुल दस प्राण हैं। दूसरे के या अपने इनमें से किसी एक अथवा एकाधिक प्राण को प्रमाद अथवा दुर्बुद्धि से आघात पहुँचाना अथवा उसका नाश करना हिंसा है। इस पर से यह समझा जा सकता है कि प्रमाद से अथवा दुर्बुद्धि या द्वेष से किसी को बुरा लगाना, किसी का अपमान करना, किसी की निन्दा करना, किसी की चुगली खाना, किसी को सन्तप्त करना, कष्ट किसीको देना—संक्षेप में किसी का बुरा करना या किसी का मन दुखाना हिंसा है। इतना ही नहीं, दूसरे के प्राणों को आघात पहुँचाने की अथवा दूसरे का बुरा करने की स्थूल क्रिया न हो तब भी दूसरे का बुरा सोचनमात्र से भी हिंसा का दोष लगता है। झूठ, चोरी, बेईमानी, धूर्तता और क्रोध, लोभ, छल, दम्भ, मद, मत्सर, द्वेष आदि विकार भरपूर हिंसारूप होने से पाप हैं। वस्तुतः अहिंसा की उपासना इन दोषों को तथा मन के दुश्चिन्तन को दूर कर के चित्तशोधन के व्यापार में उद्यत रहने में है।

"प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा"[1]—हिंसा के इस लक्षण-सूत्र से यह बतलाया गया है कि प्रमत्तयोग से—प्रमाद से अर्थात् राग द्वेष की वृत्ति से प्राणी के प्राणों का विनाश करना हिंसा है। और अपनी असावधानता के

---

१ महर्षि उमास्वाति-रचित तत्त्वार्थसूत्र अ० ७ सू० ८

कारण प्राणी के प्राण की हिंसा हो तो वह भी प्रमत्तयोग-वाली हिंसा ही है। प्रमत्तदशा भाव-हिंसा है और प्राणी के प्राणों का विनाश द्रव्य-हिंसा है। भाव-हिंसा (प्रमत्त योग) स्वयं दोषरूप (पापरूप) हिंसा है, जबकि द्रव्य-हिंसा भाव-हिंसा के साथ मिलकर पापरूप हिंसा बनती है। हिंसा का सर्वथा त्याग गृहस्थावस्था में शक्य न होने से गृहस्थ के लिये उसका त्याग मर्यादित कर के दिखलाया गया है। वह मर्यादा 'निरपराध स्थूल (त्रस) जीवों को संकल्प से न मारूँ'— इस प्रकार की बतलाई गई है। इस बात का विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति— ये स्थावर जीव स्वाभाविक भोगोपभोगरूप हैं तथा जीवनचर्या में उनका उपयोग सतत अपेक्षित है, अतः गृहस्थ के अहिंसा-व्रत में उनकी हिंसा के त्याग का समावेश न कर के 'स्थूल (त्रस–द्वीन्द्रियादि) जीवों का वध न करूं' इस प्रकार से इस व्रत की मर्यादा अंकित की गई है। परन्तु घर-मकान, खेती-बाड़ी-कुआं-तालाब आदि आरम्भ-समारम्भ के कार्यों में कीड़े-मकोड़े आदि स्थूल (त्रस) जीवों की भी हिंसा का सम्भव रहता ही है। अतः 'स्थूल जीवों की

---

१ पङ्गुकुष्ठिकुणित्वादि दृष्ट्वा हिंसाफलं सुधी ।
निरागस्त्रसजन्तूनां हिंसां संकल्पतस्त्यजेत् ॥
—आचार्य हेमचन्द्र, योगशास्त्र २–१९.

हत्या न करूँ '–इतने से न चलने के कारण इस व्रत में 'संकल्प से' (अर्थात् जानबूझकर) का समावेश किया गया है। इस प्रकार 'स्थूल जीवों की जानबूझकर हत्या न करूँ'– इस प्रकार का यह व्रत हुआ। ऐसा होने से आरम्भ-समारम्भ के कार्यों में जो स्थूल जीवों की हिंसा होती है वह जानबूझकर यदि न हो तो वह हिंसा इस व्रत में बाधक नहीं होती। इतना होने पर भी एक प्रश्न तो रहा ही कि विकट परिस्थिति के समय यदि अपराधी का वध करना पड़े तो उसका क्या ? इसलिए इसकी भी छूट का समावेश करने के लिये इस व्रत के उल्लेख में 'निरपराध' शब्द रखकर 'अपराधी के अतिरिक्त दूसरे स्थूल जीवों की जानबूझकर हिंसा न करूँ'– इस तरह व्रत का स्वरूप पूर्ण किया गया है।

इस पर से यही फलित होता है कि स्थूल हिंसा चार प्रकार की है–(१) संकल्पी, (२) आरम्भी, (३) उद्योगी और (४) विरोधी। किसी निरपराध प्राणी की जानबूझ कर हिंसा करना 'संकल्पी' हिंसा है। घर, दूकान, खेत आदि के आरम्भ-समारम्भ में, रसोई आदि प्रवृत्तियों में यत्नाचार (सावधानी) रखने पर भी त्रस जीवों की जो हिंसा होती है वह 'आरम्भी' हिंसा है। द्रव्योपार्जन में इस प्रकार की जो हिंसा होती है वह 'उद्योगी' हिंसा है। दुष्ट नराधम के हमले से बचने के लिये तथा स्व-पर की रक्षा के लिये

उसका जो वध किया जाता है वह 'विरोधी' हिंसा है। इन चार प्रकार की हिंसाओं में से संकल्पी हिंसा तो गृहस्थ के लिये सर्वथा वर्ज्य है। अवशिष्ट तीन में से आरम्भी और उद्योगी तो स्वाभाविक रूप से गृहस्थ के साथ सम्बन्ध रखती हैं और अन्तिम विरोधी हिंसा का भी कभी कभी उसे आश्रय लेना पड़ता है।

आरम्भी और संकल्पी हिंसा में यही अन्तर है कि आरम्भी हिंसा में गृहनिर्माण, रसोई, खेतीबाड़ी आदि कार्यों की प्रधानता होती है। इन कार्यों के करने में यद्यपि जीव अवश्य मरते हैं, परन्तु इनमें जीवों की सीधी हिंसा नहीं होती अर्थात् जानबूझकर इनमें जीवों की हिंसा नहीं की जाती, किन्तु कार्यप्रवृत्ति के अनुसन्धान में जीवों की हिंसा हो पाती है। परन्तु संकल्पी हिंसा में जीववध की मुख्यता होती है। इसमें खास तौर पर जानबूझकर जीववध की प्रवृत्ति की जाती है। जीवहिंसा के संकल्प से अर्थात् जानबूझकर की जानेवाली हिंसा 'संकल्पी हिंसा' है। विकट परिस्थिति में विरोधी का जो वध करना पड़ता है उसमें यद्यपि विरोधी के वध का संकल्प तो होता ही है, परन्तु वह न्याय्य एवं सकारण होने से उसका निर्देश 'विरोधी हिंसा' के पृथक् नाम से किया गया है और इसीलिए गृहस्थ के अहिंसा व्रत में इस विरोधी हिंसा का त्याग नहीं लिया गया।

इरादा न होने पर भी अज्ञातरूपसे—असावधानी से

हिंसा न करने के स्थान में यदि हिंसा हो जाय तो यह प्रामादिक हिंसा है, अतः उसका भी वर्जनीय कक्षा में समावेश होता है, यह समझ लेना चाहिए।

उपर्युक्त अहिंसा की मर्यादा के निर्देशवाक्य में रखे हुए 'निरपराध' शब्द की उपयोगिता के बारे में कुछ विशेष कहना प्रासंगिक है। आततायी नराधम का, उसकी ओरसे होनेवाले अनीति, अत्याचार अथवा उत्पीड़न का, अहिंसा की रीति से शक्य न हो तो दूसरे प्रकार से योग्य सामना अथवा प्रतीकार करने से गृहस्थधर्म को आँच नहीं आती; बल्कि उस समय ऐसा करना उसके लिए न्याय्य-धर्म्य-कर्तव्य हो जाता है। ऐसे विकट संकट के समय यदि साधु भी लोकहित के लिये योग्य कदम उठाए तो वह मुनासिब समझा जायगा।

विश्व सर्वत्र जीवों से खचाखच भरा हुआ है, प्रवृत्ति मात्र में जीवहिंसा है, फिर भी योग्य सावधानता (यत्नाचार) रखकर प्रवृत्ति करनेवाला अहिंसकबुद्धि मनुष्य, प्रवृत्ति-क्रिया में अनिवार्य रूप से हिंसा होने पर भी हिंसा के दोष से मुक्त रहता है; जबकि प्रमादी मनुष्य की प्रमाद युक्त प्रवृत्ति में कदाचित् हिंसा (स्थूल हिंसा) न होने पर भी प्रमाद के कारण उसे हिंसा का दोष लगता ही है।

प्रवृत्तिमात्र में हिंसा होने के कारण ही शायद निवृत्ति

पर अधिक भार दिया गया है। इसके पीछे का तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि प्रवृत्तिमात्र में हिंसा होने के कारण प्रवृत्ति जितनी कम होगी उतनी हिंसा भी कम ही होगी। परन्तु इस तरह हिंसा कम हो इसलिए कर्तव्यरूप प्रवृत्ति का अथवा लोककल्याण की प्रवृत्ति का संकोच कैसे किया जा सकता है ? हिंसा के डर से ऐसी प्रवृत्ति कम नहीं की जा सकती। विवेकपूर्वक यत्नाचार से ऐसी प्रवृत्ति यदि की जाय तो देहयात्रासुलभ सहज-साधारण जीवहिंसा होने पर भी उस हिंसाका दोष नगण्य है, बल्कि प्रशस्त कर्तव्यपालन के पुण्यप्रवाह में ऐसा तनिकसा दोष कहीं विलीन हो जाता है।

और निवृत्ति लेने मात्र से अहिंसा की साधना हो जायगी ऐसा कहाँ निश्चित है ? निवृत्ति लेने से मन शान्त हो जायगा ऐसा कोई नियम नहीं है। शारीरिक स्थिरता के समय भी मन तो अस्थिर-चंचल बना रहता है। एक ओर शारीरिक संयम प्रबल होने पर भी दूसरी ओर मन की रौद्रता घोर नरक के कर्म का उपार्जन कर सकती है। (इस विषय में प्रसन्नचन्द्र राजर्षि आदि के शास्त्रोक्त उदाहरण प्रसिद्ध हैं।)

और भोजन-पान आदि की प्रवृत्ति यदि चालू रखी जा सकती हो तो अपनी योग्य ज़िम्मेदारी एवं लोकहित की प्रवृत्ति क्योंकर बन्द की जाय ?

बन्ध-मोक्ष का आधार मन के भाव पर है। मन का अच्छा भाव वचन एवं काय को शुभ की ओर प्रवृत्त करता है। अतः मन को सतत जाग्रत् रखना यही एक महत्त्व की बात है।

समाज के धारण पोषण एवं सुख-समृद्धि के लिये आवश्यक हों ऐसी अनेक प्रवृत्तियाँ समाज की व्यक्तियों को करनी पड़ती हैं और इरादा न होने पर भी ऐसी प्रवृत्तियों में जीवहिंसा (द्रव्यहिंसा) हो ही जाती है, ऐसी स्थिति में सामाजिक सौख्य के लिये ऐसी प्रवृत्तियाँ चलानी पड़े तो वे कैसे चलाई जायँ ? इसका स्पष्टीकरण धर्मशास्त्रानुसार इस प्रकार किया जा सकता है कि जिसका निवारण हो सकता हो ऐसी जीवहिंसा न होने पाए—इस बातकी योग्य सावधानता रखकर यदि प्रवृत्ति की जाय तो उसमें हिंसा हो जाने पर भी उस प्रकार की हिंसा पापरूप हिंसा नहीं कही जा सकती। परन्तु ऐसी प्रवृत्ति, जीवहिंसा के निवारण के लिये आवश्यक ऐसी उचित सावधानता के बिना ही यदि की जाय तो असावधानता रखने के कारण वह हिंसादोष से दूषित होती है।

योग्य सावधानता किसे कहना ? यह बात तो उस उस व्यक्ति के स्थिति-संयोगों पर आधार रखती है। यह तो स्पष्ट ही है कि एक सन्तपुरुष अपने आश्रम अथवा

निवासस्थान में रह कर जितनी सावधानता रख सकता है उतनी सावधानता एक किसान खेती करते समय नहीं रख सकता। यह तो सब मानते हैं कि खेती करते समय अनेक छोटे-बड़े जीव-जन्तुओं की हिंसा हो जाती है। फिर भी खेती के उत्पन्न के अभाव में होनेवाली अतिविपुल एवं अतिदारुण हिंसा की घोर आपत्ति को रोकने के लिये खेती अवश्यकर्तव्य बन जाती है। ऐसे कार्य में होनेवाली हिंसा अल्प होने के कारण क्षन्तव्य है। इसमें हिंसा होने पर भी उसके साथ यदि लोकोपकार की भावना भी हो तो वह पुण्य एवं प्रशस्त कार्यरूप बन जाती है। (हिंसा की तरतमता की बात जानने के लिये देखो तृतीय खण्ड का चतुर्थ लेख।)

यद्यपि स्थावर (एकेन्द्रिय) जीवों की हिंसा का वर्जन शक्य न होने से इस व्रत में उसका समावेश नहीं किया गया है फिर भी इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि जहाँ तक हो सके वहाँ तक उनकी व्यर्थ हिंसा न हो। इसके अतिरिक्त अपराधी के बारे में भी विचारदृष्टि

---

१ भगवान् महावीर के 'आनन्द' आदि बारह व्रतधारी श्रावकों ने परिग्रहपरिमाण व्रत में पाँच सौ हल और पाँच सौ छकड़े देशान्तर के लिये तथा पाँच सौ छकड़े खेत वगैरह से घर, कोठार आदि स्थानों पर घास, धान्य, लकड़ी आदि लाने के लिये छूटे रखे थे; तथा दस हजार गायों का एक व्रज, ऐसे व्रज किसी श्रावकने चार, किसी ने छह तो किसी ने आठ रखे थे। इसके बारे में विशेष जानने के लिये देखो 'उवासगदसा' सूत्र।

रखने की है। साँप, बिच्छू आदि के काटने से उन्हें अपराधी समझकर मार डालना अनुचित है। हृदय में दयाभाव पूरेपूरा होना चाहिए और सर्वत्र विवेकबुद्धि से लाभालाभ का विचार कर के उचित प्रवृत्ति करनी चाहिए। हमें यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि प्राणीमात्र के प्रति सद्भाव रखना मानवता का मुख्य तत्त्व है और यही अहिंसा का हार्द है।

२ स्थूल मृषावादविरमण

सूक्ष्म असत्य भी नहीं बोलने की प्रतिज्ञा का पालन न कर सकनेवाले गृहस्थ के लिये स्थूल असत्यों का त्याग करना यह दूसरा अणुव्रत है। वर-कन्यादि मनुष्य के सम्बन्ध में, गाय भैंस-घोड़ा बैल आदि पशुओं के सम्बन्ध में, घर मकान-खेत बाग-बगीचे आदि भूमि के सम्बन्ध में असत्य नहीं बोलने का, दूसरे की धरोहर गबन नहीं करने का, झूठी गवाही नहीं देने का तथा झूठे दस्तावेज आदि लेख नहीं लिखने का यह व्रत है।[1] धन्धे-रोजगार में दगाबाजी करनेवाला तथा प्रलोभनवश झूठी गप्पें फैलानेवाला अपने व्रत अथवा धार्मिक क्रियाकाण्ड को दूषित करता है। ऐसा करनेवाला स्वयं तो जनता की दृष्टि में तिरस्कृत

१ कन्यागोभूम्यलीकानि न्यासापहरणं तथा।
कूटसाक्ष्यं च पंचेति स्थूलासत्यान्यकीर्तयन्॥
—आ हेमचन्द्र योगशास्त्र २-५४

होता ही है, साथ ही वह धर्म की तथा अपने धार्मिक क्रिया-काण्ड की भी हँसी कराता है—यह बात इस व्रत के व्रती को ध्यान में रखने की है। यह कभी न भूलना चाहिए कि विश्वासघात, झूठी सलाह तथा झूठा दोषारोपण महापाप है। थोड़े में, मनुष्य को समझ लेना चाहिए कि अर्थोपार्जन के उपायों का रहस्य न्याय (नैतिकता) में है। इसी में सुख-शान्ति, मानसिक स्वास्थ्य तथा परलोकहित का मूल रहा हुआ है।

३. स्थूल अदत्तादानविरमण

सूक्ष्म भी चोरी न करने के नियम का पालन न कर सकनेवाले गृहस्थ के लिये स्थूल चोरी के त्याग का यह व्रत[1] है। चुराने की बुद्धि से दूसरे की वस्तु उठा लेना चोरी है। डकैती, ताला तोड़कर ले जाना, जेब काटना, महसूल में चोरी करना, कम देना, अधिक लेना तथा राज्य की ओर से दण्डित होना पड़े अथवा लोगों की निगाह में अपमानित होना पड़े ऐसी चोरी न करने का यह व्रत है। रास्ते में पड़ा हुआ किसी का द्रव्य ले लेना, ज़मीन में गाड़ा हुआ किसी का धन निकाल लेता, किसी की धरोहर को हड़प कर जाना, किसी की वस्तु चुरा लेना—इन सबका इस व्रत में अच्छी तरह त्याग किया जाता है। किसी के लेख को चोरी से अपने नाम पर छपवाना, दूसरे के पैसे से

1. पतित विस्मृत नष्ट स्थित स्थापितमाहितम्।
अदत्तं नाददीत स्वं परकीयं क्वचित् सुधी ॥
—आचार्य हेमचन्द्र, योगशास्त्र २-६६.

कोई अच्छा कार्य कर के उसे अपने नाम से जाहिर करना— ऐसी सब प्रकार की चोरी त्याज्य है। किसी के बालक का अथवा किसी मनुष्य का अपहरण करना बहुत अधम प्रकार की चोरी है। किसी की कन्या अथवा स्त्री का अपहरण करना भयंकर बदमाशी से भरी हुई चोरी है। चोर को छुपाना अथवा चोरी का माल रखना यह चोरी के माल में मुँह डालना है। वस्तुतः यह चोरी ही है और इसीलिए यह त्याज्य है। जीवन में भले साधारण चोरी हो, परन्तु उससे मनुष्य झूठा और अप्रामाणिक होकर जननिन्द्य बनता है, और अपने व्रत की हँसी कराता है तथा दूसरों की धर्मश्रद्धा घटाने में स्वयं निमित्तभूत बनता है—यह बात इस व्रत के धारण करनेवाले को विशेष रूप से लक्ष्य में रखनी चाहिए।

४ स्थूल मैथुनविरमण

परस्त्री का त्याग करना इस व्रत का अर्थ है। वेश्या, विधवा और कुमारी की संगति का त्याग भी इस व्रत में आ जाता है। अपनी पत्नी की मर्यादित संगति के अतिरिक्त

---

१ मर्यादित संगति का अर्थ है— सामान्यतः वीर्यरक्षण का ध्येय रख कर प्रजोत्पत्ति की इच्छा से और इसी ध्येय को सम्मुख रख कर स्त्री-पुरुष के बीच होनेवाला शारीरिक संसर्ग। वीर्य का उपयोग केवल प्रजोत्पत्ति में ही सीमित नहीं है परन्तु मनोबल एवं शरीरबल बढ़ाने में संकल्पशक्ति दृढ़ करने में आरोग्य की सुरक्षा में— इस प्रकार शारीरिक, मानसिक आध्यात्मिक तथा भौतिक उन्नति करने में भी वीर्य का उपयोग असाधारणरूप से अपेक्षित है। अतएव में अन्य बच कर अतिशय विषयसेवन करने से

प्रत्येक प्रकार की कामचेष्टा हेय [1]है। इसी प्रकार स्त्री के

शरीर एव मन की शक्तियों का विनाश होता है तथा भौतिक सुख एव प्रजोत्पत्ति के लिये भी मनुष्य अयोग्य बन जाता है। अतिविषयसेवन सकल्पबल को, जो किसी भी कार्य के लिये और मोक्ष के लिये भी अत्यन्त आवश्यक है, नष्टप्राय कर देता है और मनुष्य को अवनति के गहरे गड्ढे में ढकेल देता है। वीर्य में सर्जनशक्ति है और उसका उपयोग प्रजोत्पत्ति के अतिरिक्त अन्य उच्च कार्यों में भी हो सकता है यह खास ध्यान में रखने योग्य है। जो लोग साहित्य एव विभिन्न शास्त्रों के अभ्यास में, अभिनव साहित्य के निर्माण में, ज्ञान विज्ञान की खोज में अथवा लोकोपयोगी सेवाकार्यों में सतत रत रहते है अथवा उच्च आदर्श के ध्यान में निमग्न रह कर उस आदर्श तक पहुँचने के मार्ग की विचारणा करने में तथा तदनुसार आचरण करने में सदा तल्लीन रहते हैं उन्हें विषयसेवन का विचार करने का अवकाश ही नहीं मिलता और जो ऐसे होते हैं वे ही महानुभाव सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर सकते हैं। किसी भी शक्ति को (वासना भी एक शक्ति है) अकुश में रखना हो तो उसे दबाने का प्रयत्न करना यह उसका रामबाण उपाय नहीं है। दबी हुई कमानी की तरह वह फिर दुगुनी ताकत से उछलती है। अत उसका वास्तविक एव समुचित उपाय तो उसे अन्य उपयोगी कार्य में लगाने में है। जिस प्रकार नदी की बाढ का पानी नुकसान पहुँचाए उससे पहले ही यदि नहर आदि खोद कर उसे दूसरी ओर ले जाया जाय तो वह नुकसान करने के बदले उलटा उपयोगी हो जाता है उसी प्रकार वासना का नियन्त्रण करके उसे यदि उपयोगी कार्य में लगाया जाय तो वह भी कल्याणकारी हो सकती है। परन्तु यदि वह दूसरी ओर न लगाई जाय तो उसकी बाढ में वह जाने की पूरी सम्भावना रहती है।

१ षण्ढत्वमिन्द्रियच्छेद वीक्ष्याऽब्रह्मफल सुधी ।
भवेत् स्वदारसन्तुष्टोऽन्यदारान् वा विवर्जयेत् ॥
—आचार्य हेमचन्द्र, योगशास्त्र २-७६

लिये भी अपने विवाहित पति को छोड़ कर परपुरुष का त्याग कर्तव्य है।

५. परिग्रहपरिमाण

इच्छा अपरिमित है, उसे नियमन में रखने का यह व्रत है। धन-धान्य, सोना चाँदी, जमीन-जायदाद, पशु पक्षी आदि बाह्य पदार्थों का परिग्रह द्रव्यपरिग्रह और उन पदार्थों पर की मूर्च्छा अर्थात् मोह-ममत्व भावपरिग्रह कहलाता है। दोषरूप एवं बन्धनरूप इस भावपरिग्रह को शिथिल करने के लिये द्रव्य-परिग्रह का समुचित परिमाण करना आवश्यक है। जब एक मनुष्य अपनी अथवा अपने अधिकार की वस्तुओं में से कुछ अपने, अपने कुटुम्बी जनों के तथा आश्रितों के भोगोपभोग के लिये रखता है तब वह उन वस्तुओं की अपेक्षा से परिग्रही—भावपरिग्रही है, परन्तु उन वस्तुओं के सिवाय की जो अन्य वस्तुएँ वह दूसरों के उपयोग के लिए अलग रखता है और जब कभी दूसरे किसी को आवश्यकता होने पर उन्हें भोगोपभोग के लिये देता रहता है तब उन वस्तुओं के बारे में उसे परिग्रही (भाव परिग्रही) न मानकर एक ट्रस्टी ही समझना चाहिए। क्योंकि उन वस्तुओं के ऊपर उस मोह—ममत्व नहीं होता, वह तो दूसरों के उपकार के लिये ही उन वस्तुओं को रखता है और स्वयं तो एक प्रामाणिक संरक्षक जैसा ही बना रहता है।

कोई मनुष्य निर्धन अथवा दरिद्र क्यों न हो परन्तु उसके मन में यदि राग-रँग उड़ाने के आशय से अधिक मात्रा में धन एकत्रित करने की इच्छा–तृष्णा प्रज्वलित हो तो वह परिग्रही (भावपरिग्रही) है। द्रव्य-परिग्रह का अतिसंग्रह पाप है और वैसी इच्छा रखना भी पाप ही है। जीवन की सामान्य आवश्यकता एवं सुख-सुविधा के लिये आवश्यक द्रव्य-परिग्रह पर की ममता की गणना यद्यपि भाव-परिग्रह में होती है तो भी वैसी ममता गृहस्थाश्रम की परिस्थिति के साथ अनिवार्यरूपेण संयुक्त होने से तथा अनर्थदण्डरूप न होने से पापरूप गिनने योग्य नहीं है।

जीवन की सामान्य आवश्यकता तथा सामान्य सुख-सुविधा का अर्थ है अतिधनिक नहीं और अतिदरिद्र भी नहीं ऐसा मध्यम स्थिति का मनुष्य जिन आवश्यकताओं का और सुख-सुविधा का शान्तिपूर्वक उपभोग कर सके वैसी आवश्यकता और सुख-सुविधा। ऐसी मध्यमस्थिति में सन्तोष एवं शान्ति लभ्य हैं और इस स्थिति में आत्म-विकास तथा आत्मकल्याण के लिये अनुकूल परिस्थिति सामान्यतः मिल सकती है। ऐसे सन्तोषी सज्जन को सौभाग्यवश यदि अधिक धन मिले तो भी उसका उपयोग वह अपने परिग्रह की अभिवृद्धि में न कर के लोककल्याण के कार्यों में ही करेगा।

जीवननिर्वाह के योग्य साधन जो प्राप्त कर चुका है और जिसे कमाने की चिन्ता नहीं है उसे धन्धे-रोजगार से छुट्टी मिल जाने पर अकर्मण्य न बनना चाहिए। अकर्मण्यता जीवन के लिये अत्यन्त हानिकारक है, अतः उसे अपनी शक्ति के अनुसार लोकसेवा में लग जाना चाहिए। ऐसा उद्यमी जीवन उसके लिये बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार से कल्याणकारी तथा अपने और दूसरों के लिये हितावह सिद्ध होगा। जीवन निर्वाह की चिन्ता न होने पर भी यदि वह अपना धन्धा-रोजगार चालू रखना चाहता हो तो प्रामाणिक रूप से व्यापार कर के जो कुछ कमाए वह निश्चित किए हुए परिग्रहपरिमाण से तनिक भी अधिक न रखकर लोकहित के कार्यों में खर्च करे। अपने आप को एक अलग और स्वतन्त्र व्यक्ति न समझकर समाज के एक घटक अथवा अंश के रूप में ही अपने आप को समझना चाहिए और इसी दृष्टि से स्वपरहित के सत्कार्य करने चाहिए। परिग्रह पर का ममत्व भाव कम होते ही लोभवृत्ति पर कार्यसाधक अंकुश आ जाता है और द्रव्योपार्जन के कारण होनेवाली हिंसा आदि पाप प्रवृत्तियों का रस तीव्र न बनकर निर्बल होन लगता है। परिग्रह का परिमाण न करने से लोभ-तृष्णा का दबाव बढ़ने लगता है और इस तरह विशेष आरम्भ-समारम्भ एवं कषायों में पड़ने स आत्मा की अधोगति होती है। इसीलिये

इस व्रत की आवश्यकता है। तृष्णा का यदि समुचित नियन्त्रण हो तो परिग्रह की उपाधि कम हो सकती है। यह उपाधि जितनी कम होती है उतनी अधिक आत्मा में शान्ति स्थापित होती है और परोपकार, सेवा, स्वाध्याय तथा भगवत्स्मरण का अधिकाधिक लाभ लिया जा सकता है। इस प्रकार धर्मसाधन द्वारा आत्माकी कल्याण सिद्धि होती है।

परिग्रहपरिमाण यदि सामाजिक दृष्टि और सामाजिक सिद्धान्त बन जाय तो साम्यवाद अथवा समाजवाद का विवाद सरलता से शान्त हो सकता है। वस्तुतः यह धर्मव्रत अच्छी से अच्छी समाजव्यवस्था का सर्जन करनेवाला भी व्रत है।

६. दिग्व्रत

पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण ये चार दिशाएँ, ईशान, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य ये चार विदिशाएँ तथा मस्तक के ऊपर की ऊर्ध्व दिशा और पैरों के नीचे की अधोदिशा इस प्रकार कुल दस दिशाएँ हैं। भिन्नभिन्नप्रवृत्तिविषयक कार्यक्षेत्र को सीमित बनाने के लिये दिशाओं की मर्यादा बाँधना इस व्रत का अर्थ है। इस दिग्व्रत से मर्यादित क्षेत्र

---

१ असन्तोषमविश्वासमारम्भं दुःखकारणम्।
मत्वा मूर्च्छाफलं कुर्यात् परिग्रहनियन्त्रणम्॥
आ॰ हेमचन्द्र, योगशास्त्र २-१०६,

में जाने आने की, व्यापार धंधा करने की, व्याह शादी करने कराने की तथा मर्यादित क्षेत्र में उत्पन्न एवं पैदा की गई वस्तुओं के उपयोग आदि की प्रवृत्तियाँ नियमित हो जाती हैं। तृष्णा को अनियन्त्रित रूपसे बढ़ती हुई रोकने का, व्रत का अभाव होने पर मर्यादित क्षेत्र से बाहर होनेवाली फैलनेवाली हिंसादि प्रवृत्तियों से बचने का तथा पड़ोसी धर्म के पालन को पुष्ट करने का इस व्रत का उद्देश है। वस्तुतः मनुष्य के बहुत से झंझट, बहुत से टण्टे फिसाद इससे कम हो जाते हैं और विश्राम एवं शान्ति मिलने के साथ ही साथ जीवन का विकास साधने के लिये आवश्यक ऐसा अवकाश भी प्राप्त होता है।

७ भोगोपभोगपरिमाण

एक ही बार जिनका उपयोग किया जाता है वे पदार्थ 'भोग' कहलाते हैं; जैसे कि अन्न, जल आदि। बार बार उपभोग में आनेवाले वस्त्रादि पदार्थों को 'उपभोग' कहते हैं। इनका परिमाण करना – आवश्यकतासे अधिक भोगोपभोग से विरत होना इस व्रत का तात्पर्य है। इस व्रत से तृष्णा–लोलुपता पर कैसा अंकुश रहता है यह तो इस व्रत के अनुभव पर से ही ज्ञात हो सकता है। मांस, मदिरा आदि अभक्ष्य और अपेय वस्तुओं का, जिनकी बिलकुल आवश्यकता ही नहीं है प्रस्तुत जीवन के लिये जो हानि

कारक तथा आत्मा की दुर्गति करनेवाली हैं, निषेध इस व्रत में आ जाय यह स्वाभाविक ही है। इसी प्रकार जिनमें बहुत अधर्म की संभावना हो वैसी अभोग्य अथवा अनुपभोग्य वस्तुओं का भी त्याग इस व्रत में आ जाता है, यह खयाल में रखने योग्य है। शान्ति के पथ पर अग्रसर होने की अभिलाषा से ऐसा त्यागमार्ग ग्रहण किया जाता है, अतः पापमय अधम व्यापार-धन्धोंका भी इस व्रत में त्याग किया जाता है। पुण्य-पाप का विवेक करनेवाले मनुष्य को यदि हानिकारक मार्गों में से ही किसी एक का चुनाव करना पड़े तो वह कम हानिकारक मार्ग ही ग्रहण करेगा।

मनुष्य की इच्छाओं पर किसी प्रकार का अंकुश नहीं है, इसी कारण इतनी बेकारी, इतनी विकट महंगी और इतना दारुण दुःख दारिद्र्य देश में फैला हुआ है। जहाँ एक ओर धन का ढेर व्यर्थ ही एकत्रित हो रहा है और उद्भट भोगविलास में तथा अपने वैभव के प्रदर्शन में धनी लोग निरर्थक ही अपरिमित व्यय कर रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर सामान्य जनता के विशाल प्रदेश में दरिद्रता की भयंकर आँधी छाई हुई है। इस घोर विषमता में जनता का शोषण होने से स्वतंत्र देश भी बरबाद हो जाता है। भोगोपभोग में उचित समता और संयमभाव यदि मनुष्य रखे तो जीवननिर्वाह के मार्ग की सब प्रकार की विषमता दूर हो जाय और एक प्रकार की विराट् समानता उत्पन्न

होने से सबके जीवन में सुख शान्ति का अनुभव हो। मानव सुखी बने और मानवता के पथ पर गतिमान् हो यही उद्देश इस व्रत के पीछे है। इसका झुकाव आध्यात्मिक कल्याणकी ओर तो स्पष्ट है ही।

८ अनर्थदण्डविरमण

'अनर्थ' का अर्थ है निरर्थक और 'दण्ड' का अर्थ है पाप। इस प्रकार 'अनर्थदण्ड' का अर्थ हुआ निरर्थक (निष्प्रयोजन) पापाचरण। इसका त्याग अनर्थदण्डविरमण है। गृहस्थजीवन के साथ उद्योगी एवं आरम्भी हिंसा तो लगी हुई है, विरोधी हिंसा भी उसे कभी कभी करनी पड़ती है। कुटुम्ब के निर्वाह के लिये धनोपार्जनका कोई व्यवसाय और उचित परिग्रह भी उसके लिए आवश्यक है। इस प्रकार गृहस्थ जीवन अत्यधिक आरम्भ से भरा हुआ है। फिर भी उपर्युक्त अणुव्रतों तथा दूसरे उपकारक व्रतों का पालन ही उसके लिए श्रेयोपाय है। गृहस्थजीवन के मार्ग में जो विविध आरम्भ समारम्भ अनिवार्यरूप से लगे हुए हैं, जिन्हें करना उसके लिए कर्तव्यरूप है अथवा जो करने आवश्यक हो जाते हैं, उनके बारे में पूरा ध्यान रखकर शास्त्रकारोंने इस व्रत से विवेकशाली रचना करते हुए कहा है कि व्यर्थ पाप न करो। बस, इस व्रतका यही तात्पर्य है। परन्तु व्यर्थ पाप किसे कहते हैं? इसकी स्पष्टता करना बहुत

कठिन है। व्यर्थ ही किए गए अपने पाप को सहेतुक बताना क्या कुछ मुश्किल है ? प्रमादी एवं संघर्षपूर्ण जीवनयात्रा में इसका स्पष्ट विवेचन कैसे किया जा सकता है ? इसीलिये शास्त्रकारोंने स्थूल सूचनाओं द्वारा इस बारे में कुछ स्पष्टता करने का प्रयत्न किया है। वे कहते हैं—

(१) पापोपदेश न देना—दुर्व्यसन में फँसा हुआ मनुष्य अपने दुर्व्यसन का चस्का यदि दूसरे को लगाने का प्रयत्न करे तो वह अनर्थदण्ड पापोपदेश होगा। यदि मनुष्य अपना दुर्व्यसन छोड़ न सके तो भी उसकी प्रशंसा न कर के उसे उसकी निन्दा ही करनी चाहिए। प्रशंसा करके पापाचरण का उपदेश देना, प्रचार करना यह अनर्थदण्ड अनर्थकारक है। परन्तु रसोई कैसे बनानी ?, खेती कैसे करनी ?, गृहरचना कैसे करनी ? इत्यादि जीवनोपयोगी बातें दूसरों को सिखलानी पड़ती हैं और ऐसी बातें उदार हृदय से किसी भी जिज्ञासु को सिखलाने–समझाने में अनर्थदण्ड नहीं है। "उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्" (उदारचरित मनुष्य के लिये जगत् कुटुम्बसदृश है) अर्थात् किसी भी मनुष्य को उसकी भलाई के लिये भली बुद्धि से सांसारिक अथवा व्यावहारिक उपयोगी विषयों की समझ देना अनर्थदण्ड नहीं है। दूसरे की पापारम्भपूर्ण प्रवृत्ति में व्यर्थ ही अपनी चतुराई दिखलाना, निरर्थक उपदेश

देना अथवा पचायत करने के लिये निकल पड़ना बेशक अनर्थदण्ड ही है।

(२) हिंसोपकरण न देना—इसका अभिप्राय यह है कि चाकू, छुरी अथवा आग आदि दूसरे को पनिमल बनाने, शाक काटने अथवा रसोई बनाने के लिये देना अनर्थदण्ड नहीं है, परन्तु इनका दुरुपयोग करने के लिये देना अनर्थ दण्ड है। सम्बन्धियों को ही देना और दूसरों को न देना वस्तुतः संकुचित मनोदशा का सूचक है। किसी पराए मनुष्य को रोटी बनाने के लिये आग न देना यह वस्तुतः चित्त की कठोरता ही है। उपर्युक्त श्लोकार्ध ' उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ' ध्यान में रखने योग्य है। भलाई के लिये पारस्परिक व्यवहार का क्षेत्र सम्पूर्ण विश्व है। किसी निरपराध प्राणी के ऊपर कोई अन्यायपूर्ण आक्रमण करे और उस निरपराध को बचाने के लिये यदि अपना शस्त्र देना पड़े तो वह अनर्थदण्ड नहीं है। परन्तु किसी आक्रामक को केवल हिंसा के लिये ही हिंसा का उपकरण देना अनर्थदण्ड है।

(३) दुर्ध्यान न करना – दूसरे का बुरा करने का विचार, अनीति अन्याय का विचार, निरर्थक मोह-रस में अपने मन को बहकने देना तथा व्यर्थ दुःखाक्रन्दन के विचार करते रहना अनर्थदण्ड ही है। अनिष्ट की प्राप्ति और इष्ट की

अप्राप्ति तथा रोगविषयक व्यर्थ चिन्ता-ज्वाला दुर्ध्यानरूप होनेसे अनर्थदण्ड है। व्यापार-रोज़गार और गृहस्थाश्रम की व्यवस्था के यथोचित विचार अनर्थदण्ड में नहीं आते। राम जैसे न्यायी के जय और रावण जैसे अन्यायी के पराजय के बारे में विचार करना दुर्ध्यानरूप अनर्थदण्ड नहीं है, क्योंकि न्याय के रक्षण एवं अन्याय के विनाश का विचार जनहित के लिये उपयोगी है, अतः उसका समावेश अनर्थदण्ड में नहीं होता। इसी प्रकार व्याधि को दूर करने का और आरोग्य की साधना का योग्य विचार अनर्थदण्ड में नहीं आता तथा इष्टप्राप्ति अथवा अनिष्टपरिहार की उचित विचारणा अनर्थदण्ड में नहीं आती।

(४) प्रमादचर्या—निरर्थक ज़मीन खोदनी या कुरेदनी, व्यर्थ आग सुलगानी आदि प्रमादचर्या अनर्थदण्ड है। रास्ते में खड़े हुए किसी जानवर को विना कारण दण्डे से फटकारना बेवकूफ़ी ही है। ऐसे अनर्थदण्ड के बहुत से पाप मनुष्य करता है, परन्तु ध्यान रखकर इनसे विरत होना चाहिए। अहिंसा के अणुव्रत में 'स्थावर' जीवों की हिंसा का त्याग यद्यपि नहीं आता, फिर भी उनकी निरर्थक हिंसा, जिसका समावेश अनर्थदण्ड में होता है, न करने का इस व्रतका आदेश है। इसी प्रकार साधारण कक्षा के असत्य आदि, जिनका निषेध ऊपर कहे हुए स्थूल मृषावादविरमण आदि व्रतों में नहीं आता, उनका भी निरर्थक आचरण

न करने का इस व्रत का आदेश है। दूसरे को दुःख कारक हँसी मजाक, निन्दा-चुगली करने का इस व्रत में निषेध है। मोहवर्धक खेल-तमाशे देखना आदि प्रमादाचरणों का यथाशक्ति त्याग इस व्रत में आ जाता है। परन्तु वायु सेवन के लिये बाहर घूमने जाना तथा आरोग्य के लिये उपकारक योग्य व्यायाम आदि प्रवृत्तियाँ, योग्य भोजन पान की भाँति शरीर एवं मन के लिए उपकारक तथा स्वास्थ्य के लिये उपयोगी होनेसे, अनर्थदण्ड में नहीं आतीं। सफ़ाई–स्वच्छता रखना और बीमारी में योग्य चिकित्सा कराना उसका तथा निष्पाप मनोविनोद एवं आमोद प्रमोद के लिये योग्य मर्यादा में और उचित प्रमाण में यदि कोई कार्य किया जाए तो उसका समावेश अनर्थदण्ड में नहीं होता। गन्दगी कर के अथवा स्वयं गन्दा रहकर निरर्थक जीवो त्पत्ति बढ़ाना वस्तुतः जीवहिंसा का मार्ग ही खोल देना है।

इस स्थान पर यह सूचित कर देना उचित प्रतीत होता है कि शाकाहार से जीवननिर्वाह हो सकने पर भी स्वाद के लिये अथवा शरीर की पुष्टि के लिये मांसाहार करना न केवल अनर्थदण्ड ही है, अपितु उसका समावेश संकल्पी हिंसा में होता है जो कि गृहस्थ के लिये सर्वथा वर्ज्य ही है।

९ सामायिक व्रत

राग द्वेषरहित शान्त स्थिति में दो घड़ी अर्थात् ४८

मिनट तक एक आसन पर बैठे रहने का नाम 'सामायिक' है। इतने समय में आत्म-तत्त्व की विचारणा, जीवन-शोधन का पर्यालोचन, जीवनविकासक धर्मशास्त्रों का परिशीलन, आध्यात्मिक स्वाध्याय अथवा परमात्मा का प्रणिधान, जो अपने को पसन्द हो, किया जाता है।

१०. देशावकाशिक व्रत

छठे व्रत में ग्रहण किए गए दिशा के नियम का एक दिन के लिये अथवा अधिक समय के लिये संक्षेप करना और इसी भाँति दूसरे व्रतों में रही हुई–रखी गई छूट का संक्षेप करना इस व्रत का अर्थ है। इसमें विरति की अभिवृद्धि का मुख्य तात्पर्य है।

११. पोषध व्रत

धर्म का पोषण करनेवाला होने से यह व्रत 'पोषध' व्रत कहलाता है। उपवास या एकाशन कर के चार अथवा आठ प्रहर के लिये अथवा इससे अधिक समय तक साधु-जीवन की भाँति धर्मपरायण रहने का नाम पोषध व्रत है। सब प्रकार की सांसारिक उपाधियों से दूर हट कर सर्वविरति (साधु) धर्म की बानगी का मधुर रसास्वाद लेने के लिये यह पोषध व्रत है। इसमें सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य के साथ यथाविधि धर्मक्रिया की जाती है और क्रियाविधिसे

बचा हुआ समय स्वाध्याय अथवा आत्महित की ज्ञान गोष्ठी में व्यतीत किया जाता है।

१२ अतिथिसंविभाग

आत्मा की उच्च प्रकार की उन्नति की साधना के लिये जिन्होंने गृहवास का त्याग कर के विरतिपरायण संन्यास का मार्ग स्वीकार किया है उन अतिथि अर्थात् मुमुक्षु मुनिमहात्माओं की तथा परोपकारपरायण लोकसेवक सज्जनों की आवश्यकताओं को पूर्ण करना और दीन-दुःखियों को योग्य सहायता करना इस व्रत का तात्पर्य है।

इन बारह व्रतों में प्रारम्भ के पाँच व्रत 'अणुव्रत' कहलाते हैं, क्योंकि साधु-जीवन के महाव्रतों के आगे ये व्रत अणु अर्थात् अल्प हैं। इनके बाद के तीन व्रत 'गुणव्रत' कहलाते हैं, क्योंकि ये तीन व्रत अणुव्रतों के गुणरूप अर्थात् उपकारक हैं—पोषक हैं। इनके बाद के अवशिष्ट चार व्रत 'शिक्षाव्रत' कहलाते हैं। शिक्षाव्रत का अर्थ है अभ्यास करनेका व्रत।

इन व्रतों के विषय में उपयोगी विचार आगे दूसरे खण्ड के 'गृहस्थों का आचार' शीर्षक लेख में प्रकट किए गए हैं।

बारह व्रत ग्रहण करने का सामर्थ्य यदि न हो तो जितने शक्य हों उतने व्रत लिए जा सकते हैं।

अब हम धर्मसिद्धि के मूलाधाररूप 'सम्यक्त्व' को देखें। सम्यक्त्व का अर्थ है विचारपूत आत्मश्रद्धा।

सम्यक्त्व

सम्यक्त्व का शब्दार्थ है सम्यक्पना अथवा अच्छाई। परन्तु प्रस्तुत में अच्छाई क्या है? सच्चाई अथवा निर्मलता। किसकी सच्चाई अथवा निर्मलता? दृष्टि की। अतः यहाँ पर 'सम्यक्त्व' शब्द दृष्टि की सच्चाई अथवा दृष्टि की निर्मलता में रूढ़ है, अर्थात् सच्ची अथवा निर्मल तत्त्वदृष्टि को 'सम्यक्त्व' कहते हैं। तत्त्वदृष्टि का क्या अर्थ है? यह भी यहाँ पर स्पष्ट करना आवश्यक है। तत्त्वदृष्टि अर्थात् आत्मकल्याण के तत्त्वविषयक दृष्टि। यह दृष्टि जब सच्ची अथवा निर्मल बनती है तब उसे 'सम्यक्त्व' कहते हैं। इस कल्याणी दृष्टि के संगम से धर्मान्धता, मत-दुराग्रह तथा संकुचित साम्प्रदायिकता दूर हो जाती है और काषायिक भावावेश ठण्डा पड़ जाता है। सम्यग्दृष्टि शुद्ध जिज्ञासुता को प्रकट करती है और इसके प्रकाश में वस्तु एकांगी नहीं किन्तु अनेकांगी प्रतीत होती है। इससे समन्वयदृष्टि खिलती है जिसके परिणामस्वरूप आत्मा का विवेकपूत समभाव विकासगामी बनता है।

सम्यक्त्व का दूसरा नाम 'सम्यग्दर्शन' है। यह भी इसी अर्थ का द्योतक है। इन दोनों शब्दों का सुगम अर्थ

सच्ची श्रद्धा होता है। सच्ची श्रद्धा का अर्थ अन्ध श्रद्धा नहीं किन्तु विवेकपूत श्रद्धा होता है। अन्ध-श्रद्धा अन्धी अर्थात् विचाररहित — कार्यकारणभाव के नियम की समझ से शून्य होती है, जबकि विवेकपूत श्रद्धा में कार्यकारणभाव के याथार्थ्य का भान होता है। इस युक्तिक्षम एवं न्यायपूत श्रद्धा में बुद्धिविरुद्ध तत्त्व न तो स्थान ही ले पाता और न टिकने ही पाता है। ऐसी श्रद्धा एक प्रकार का विशिष्ट बल रखनेवाली दृष्टि है। कर्तव्य अकर्तव्य अथवा हेयोपादेयविषयक विवेकदृष्टि का सामर्थ्य, जोकि कल्याण साधन के सन्मार्ग में निर्मल श्रद्धारूप — अटल विश्वासरूप है, प्रकट होते ही थोड़ासा भी ज्ञान, अल्प भी श्रुत, साधारण बुद्धि अथवा परिमित अभ्यास 'सम्यग्ज्ञान' बन जाता है। इस पर से समझ में आ सकता है कि विवेकदृष्टिरूप तत्त्व श्रद्धा ही 'सम्यक्त्व' अथवा 'सम्यग्दर्शन' है जिसके सम्यक्पन पर ज्ञान का सम्यक्पना अवलम्बित है। ज्ञान से वस्तु का बोध होता है, उसमें विवेकदृष्टि पावित्र्य लाती है और इन दोनों के — सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान इन उभय के आधारपर चारित्र (सच्चे चारित्र) का निर्माण होता है, जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है। यही बात महर्षि उमास्वाति रचित तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम सूत्र 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' में निर्दिष्ट है।

ऊपर के उल्लेख से यह समझ में आ सकता है कि

सम्यग्दर्शन (सम्यग्दृष्टि) चारित्र की मूलभूत एवं मज़बूत नींव है, क्योंकि अच्छी अथवा सच्ची दृष्टि के ऊपर ही अच्छी अथवा सच्ची जीवनचर्या के निर्माण का आधार है। इसीलिये कहा है 'जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि।'

ज्ञान किंवा बुद्धि का विकास चाहे जितना अधिक क्यों न हो परन्तु यदि दृष्टि ख़राब हो तो उस ज्ञान अथवा बुद्धि का दुरुपयोग ही होने का, परन्तु यदि दृष्टि शुभ हो तो थोडे भी ज्ञान का सदुपयोग ही होगा। ज्ञान के उपयोग को प्रेरनेवाली वस्तु दृष्टि ही है। अतः उसकी अच्छाई अथवा बुराई ही मुख्य मुद्दे का प्रश्न है।

दृष्टि अप्रशस्त होने पर ज्ञान एवं आचरण दोनों अ-प्रशस्त बन जाते हैं और उसके प्रशस्त होने पर (अर्थात् सम्यग्दृष्टि अथवा सम्यग्दर्शन होने पर) ज्ञान एवं चारित्र दोनों प्रशस्त बन जाते हैं। इसीलिये दृष्टि का प्राथम्य और प्राधान्य है। यही कारण है कि उपर्युक्त आर्षसूत्र में जिन तीन को मोक्ष का मार्ग कहा है उनमें 'सम्यग्दर्शन' को सर्वप्रथम रखा है। जिससे यही सूचित होता है कि दर्शन (दृष्टि) के अच्छे होने पर ही ज्ञान एवं चारित्र का अच्छा होना अवलम्बित है।

सम्यग्दर्शन अथवा सम्यक्त्व शास्त्राभ्यास से ही उप-लब्ध होता है ऐसी बात नहीं है। किसी भी देश अथवा

जाति का अथवा स्थूल बुद्धि का निरक्षर मनुष्य भी यदि मृदु और स्वच्छ आत्मा हो तो वह सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है। कोई कोई सज्जन तो परोपदेशादि बाह्य निमित्त के बिना ही आत्मस्वभावतः उसे प्राप्त करते हैं—उनकी ऐसी आत्मिक योग्यता होने से अथवा यों कहिए कि उनकी आन्तरिक विचारदृष्टि के बल से; जबकि दूसरे ऐसे होते हैं जिनके मानस परोपदेशादि बाह्य निमित्त के संयोग से जागरित हो कर उसे प्राप्त करते हैं।

सम्यक्त्व की व्यावहारिक परिभाषा इस प्रकार की गई है—

"या देवे देवताबुद्धिर्गुरौ च गुरुतामतिः।
धर्मे च धर्मधीः शुद्धा सम्यक्त्वमिदमुच्यते॥"

अर्थात् देव में शुद्ध प्रकार की देवबुद्धि, गुरु में शुद्ध प्रकार की गुरुबुद्धि और धर्म में शुद्ध प्रकार की धर्मबुद्धि होना—इसका नाम सम्यक्त्व है।

यहाँ पर देव-गुरु-धर्म तत्त्व भी तनिक देख लें।

देवतत्त्व—

देव कहो अथवा परमात्मा कहो, एक ही बात है। परमात्मा अर्थात् ईश्वर का लक्षण पहले कहा जा चुका है। श्री हेमचन्द्राचार्य देव का वर्णन—लक्षण इस प्रकार करते हैं—

---

१ कोई तिर्यंच योनि का भाग्यशाली पशु भी इसे प्राप्त करता है।

२. आ॰ हेमचन्द्र का योगशास्त्र प्रकाश २, श्लोक २

" सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः ।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः ॥ "

अर्थात् सर्वज्ञ, राग-द्वेषादि समस्त दोषों से निर्मुक्त, त्रैलोक्यपूजित और यथास्थित तत्त्वों के उपदेशक को 'देव' कहते हैं।

गुरुतत्त्व—

" महाव्रतधरा धीरा भैक्षमात्रोपजीविनः ।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः ॥ "

अर्थात् अहिंसा आदि पाँच[3] महाव्रतों के धारक, धैर्य गुण से विभूषित, भिक्षा–माधुकरीवृत्ति से जीवनयापन करनेवाले, समभावशील और यथार्थ धर्म के उपदेशक सन्त पुरुष ' गुरु ' कहे गए हैं।

धर्मतत्त्व—

" पञ्चैतानि पवित्राणि सर्वेषां धर्मचारिणाम् ।
अहिंसासत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमलोभता ॥ "

—(हारिभद्र–अष्टक १३, श्लोक० २)

अर्थात् सब धर्मवालों के लिये अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच बातें पवित्र सिद्धान्तरूप हैं– सर्वमान्य हैं।

१–२ आ. हेमचन्द्र का योगशास्त्र, प्रकाश २, श्लोक ४, ८
३ अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ।

धर्म शब्द का अर्थ—

"दुर्गतिप्रपतत्प्राणिधारणाद् धर्म उच्यते।
धत्ते चैतान् शुभस्थाने तस्माद् धर्म इति स्मृतः॥"

इस वाक्य से यह बतलाया है कि प्राणियों को दुर्गति में पड़ने से जो बचाए वह धर्म है। जीवन को अधोगति में से ऊपर उठाए – ऊपर चढ़ाए वह धर्म है। यह आत्मा का स्वानुभवगम्य उज्ज्वल गुण है। क्लिष्ट कर्म के संस्कार दूर होने से राग द्वेष की वृत्तियाँ नरम पड़ने पर अन्तःकरण की जो शुद्धि होती है वही वास्तविक धर्म है। यही जीवन की सफलता है। दया, मैत्री, परोपकार, सत्य, संयम, त्याग आदि सद्गुण आन्तरिक उज्ज्वल जीवन की शुभ्र प्रभा हैं। ऐसे प्रभाशाली जीवन को ही धार्मिक जीवन कहते हैं।

ज्ञान के भेद

ऊपर कहा जा चुका है कि दर्शनमोह का आवरण शिथिल अथवा क्षीण होने पर सम्यग्दर्शन प्रकट होता है और उसके प्राकट्य के साथ ही ज्ञान में सम्यक्त्व (अच्छाई अथवा सचाई) आ जाता है। सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान का संपूर्ण साहचर्य है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल ये ज्ञान के पाँच भेद हैं। मनो युक्त इन्द्रियों द्वारा जो ज्ञान होता है वह मतिज्ञान है। आँख से देखा जाता है, जीभ से चखा जाता है, नाक

से सूँघा जाता है, कान से सुना जाता है और चमड़ी से स्पर्श किया जाता है—ये सब मतिज्ञान हैं। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क एवं अनुमान भी मतिज्ञान हैं। शब्द द्वारा अथवा संकेत द्वारा जो ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है। ये दोनों ज्ञान इन्द्रियाधीन होने के कारण यद्यपि परोक्ष हैं, फिर भी इन्द्रियों द्वारा होनेवाले रूपावलोकन, रसास्वादन आदि ज्ञान व्यावहारिक दृष्टि से प्रत्यक्ष भी हैं। अतः उन्हें 'सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष' कहते हैं। जिस प्रकार ये रूपावलोकन, रसास्वादन आदि ज्ञान इन्द्रिय-सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं उसी प्रकार सुखादिसंवेदन मानस सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं।

यहाँ पर प्रसंगोपात्त इन्द्रियविषयक जैन-कथन भी तनिक देख लें।

इन्द्रियाँ पाँच हैं: स्पर्शन (त्वचा), रसन (जीभ), घ्राण (नाक), चक्षु और श्रोत्र। इनके स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द ये क्रमशः विषय हैं। ये स्पर्शादि प्रत्येक मूर्त अर्थात् पौद्गलिक द्रव्यमें रहनेवाले उसके अंश हैं, अविभाज्य पर्याय हैं और ये सब पौद्गलिक द्रव्यके सब भागोंमें एकसाथ रहते हैं। इन्द्रियों की शक्ति भिन्न भिन्न है। वह चाहे जितनी पटु क्यों न हो फिर भी अपने ग्राह्य विषय के अतिरिक्त अन्य विषयको ग्रहण करने में समर्थ नहीं। इसीलिये पाँचों इन्द्रियों के पाँचों विषय पृथक् पृथक् हैं—नियत हैं।

जिस प्रकार इन्द्रियों के उपर्युक्त पाँच विषय हैं उसी प्रकार मन का विषय विचार है। बाह्य इन्द्रियाँ केवल मूर्त पदार्थों को ही ग्रहण करती हैं और वह भी आंशिक रूपसे; जबकि मन, जो आन्तर इन्द्रिय होने के कारण अन्तःकरण कहलाता है, मूर्त अमूर्त सब पदार्थों को उनके अनेक रूपों के साथ ग्रहण करता है। वह भूत भविष्य वर्तमान तीनों को ग्रहण करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि मनका कार्य विचार करने का है। इन्द्रियों द्वारा गृहीत अथवा अगृहीत विषयों का अपने विकास अथवा योग्यता के अनुसार वह विचार कर सकता है। अतः मन का विषय विचार है। स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों से तो सिर्फ मतिज्ञान ही होता है, जबकि मन से तो मति और श्रुत दोनों होते हैं–प्रथम सामान्य भूमिका का मतिज्ञान होता है, बाद में विचारात्मक विशेषतायुक्त श्रुतज्ञान होता है। इन दोनों में भी मति की अपेक्षा श्रुत ही प्रधान है। अतएव मन का विषय श्रुत कहा गया है–'श्रुतमनिन्द्रियस्य' (तत्त्वार्थ सूत्र २, २२)।

ये पाँचों ही इन्द्रियाँ दो दो प्रकार की हैं: द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं: निर्वृत्ति और उपकरण। शरीरगत इन्द्रियों की आकृतियाँ, जो पुद्गलस्कन्धों की विशिष्ट रचनाएँ हैं, 'निर्वृत्ति' इन्द्रिय हैं। पुद्गल-स्कन्धों

की बाह्य रचना को बाह्य निर्वृत्ति-इन्द्रिय और उनकी आभ्यन्तर रचना को आभ्यन्तर निर्वृत्ति-इन्द्रिय कहते हैं। बाह्य निर्वृत्ति-इन्द्रिय को यदि खड्ग की उपमा दें तो आभ्यन्तर निर्वृत्ति-इन्द्रिय को उसकी धार कह सकते हैं। इस धार की विषयग्रहण में साधनभूत शक्ति को 'उपकरण' इन्द्रिय कहते हैं। भावेन्द्रिय भी दो प्रकार की है : लब्धि और उपयोग। ज्ञान के प्रकारभूत मतिज्ञान आदि के आवारक कर्मों के क्षयोपशम (कर्मों का एक प्रकार का नरम होना क्षयोपशम है) को 'लब्धि' इन्द्रिय कहते हैं। यह क्षयोपशम एक प्रकार का आत्मिक परिणाम अथवा आत्मिक शक्ति है। इस लब्धि तथा निर्वृत्ति और उपकरण इन तीनों के समवाय से रूप आदि विषयों का सामान्य अथवा विशेषरूप से बोध होना उपयोग-इन्द्रिय है। इस प्रकार पाँचो ही इन्द्रियाँ निर्वृत्ति, उपकरण, लब्धि और उपयोग के भेद से चार चार प्रकार की हुईं। इसका अर्थ यह हुआ कि इन चारों प्रकार की समष्टि को ही स्पर्शन आदि एक एक पूर्ण इन्द्रिय कह सकते हैं। इस समष्टि में जितनी न्यूनता उतनी ही इन्द्रियों की अपूर्णता। उपयोग यद्यपि ज्ञानरूप है फिर भी निर्वृत्ति, उपकरण एवं लब्धि इन तीनों की समष्टि का कार्य होने से उपचारवश अर्थात् कार्य में कारण का आरोप कर के उसे भी इन्द्रिय कहा है। 'उपयोग' की अर्थात् ज्ञान की उत्पत्ति में यदि 'लब्धि'

आन्तरिक साधनशक्ति है तो 'निर्वृत्ति' और 'उपकरण', जो कि पुद्गलमय द्रव्येन्द्रिय हैं, बाह्य साधन हैं। आन्तरिक साधनशक्तिरूप 'लब्धि' का उपयोग ज्ञान अथवा बोध होना है, अतः उसके लिये 'उपयोग' संज्ञा बराबर घट सकती है।

ज्ञान के पाँच भेदों में से मति और श्रुत के बारे में देखा। अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान स्पष्ट प्रत्यक्ष हैं—ये व्यावहारिक नहीं किन्तु पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि ये इन्द्रिय की अपेक्षा रखे बिना केवल आत्मिक शक्ति से ही उत्पन्न होते हैं। अवधिज्ञान की अवधि एक प्रकार की नहीं, असंख्येय प्रकार की है। अवधिज्ञान अपनी अवधि में आए हुए रूपी पदार्थों का, फिर वे चाहें आवृत हों या दूर हों, साक्षात्कार करता है। मनःपर्याय ज्ञान दूसरोंके मन का (मनोद्रव्य का) स्पष्ट प्रत्यक्ष करता है। दूसरा मनुष्य क्या सोच रहा है यह मनःपर्यायज्ञान जान सकता है। 'केवलज्ञान' पूर्ण ज्ञान है।

कैवल्य की भूमिका पर पहुँचने के लिये यहाँ किस प्रकार पहुँचा जा सकता है यह हमें समझना चाहिए। यह आरोहण आत्मा का क्रमिक विकास है। यह गुणस्थान का विषय है। अतः उस ओर भी तनिक दृष्टिपात कर लें।

गुणश्रेणी अथवा गुणस्थान

जैन शास्त्रों में चौदह श्रेणियाँ बतलाई हैं। ये श्रेणियाँ

गुणस्थान की हैं। गुणस्थान अर्थात् गुण की अवस्था। आत्मा के गुणों का विकास यथायोग क्रमशः चौदह श्रेणियों में होता है।

पहली श्रेणी के जीवों की अपेक्षा दूसरी-तीसरी श्रेणी के जीव आत्मगुण के सम्पादन में आगे बढ़े हुए होते हैं और उनकी अपेक्षा चौथी श्रेणी के जीव अधिक उन्नत अवस्था पर होते हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर श्रेणी के जीव पूर्व-पूर्व श्रेणी के जीवों की अपेक्षा अधिक उन्नति पर पहुँचे हुए होते हैं–एक अपवाद सिवाय। सब प्राणी प्रथम (प्राथमिक अवस्था में) तो पहली श्रेणी में ही होते हैं परन्तु उनमें से जो आत्मबल का विकास कर के आगे बढ़ने का प्रयत्न करते हैं वे उत्तरोत्तर श्रेणियों में से योग्य क्रम से गुज़रने के बाद बारहवीं श्रेणी में निरावरण बनकर तेरहवीं में जीवन्मुक्त परमात्मा बनते हैं और मृत्यु के समय चौदहवीं श्रेणी में आ कर तुरंत ही परम निर्वाणधाम में पहुँच जाते हैं। मन्द प्रयत्नवालों को बीच की श्रेणियों में अधिक रुकना पड़ता है, अनेक बार चढ़ना–उतरना होता है जिससे बारहवीं श्रेणी पर अथवा उस श्रेणी की ओर जानेवाले मार्ग पर पहुँचने में उन्हें अधिक समय लगता है। कोई प्रबल पुरुषार्थी महान् साधक तीव्र वेगसे काम लेते हुए बीच की श्रेणियों में अधिक समय न रुक कर

शीघ्र ही बारहवीं श्रेणि पर पहुँच जाता है और तत्पश्चात् तेरहवीं श्रेणी में आ कर केवलज्ञानी होता है।

यद्यपि यह विषय सूक्ष्म है तथापि उसे समझने में ध्यान दिया जाय तो अवश्य रोचक प्रतीत होगा। यह आत्मा की उत्क्रान्ति की विवेचना है। मोक्षरूपी प्रासाद पर पहुँचने के लिये यह चौदह पैड़ी (सोपान) वाली सीढ़ी है। पहली पैड़ी से जीव चढ़ने लगते हैं, कोई आहिस्ते से तो कोई जल्दी से और यथाशक्ति आगे चढ़ने का प्रयत्न करते हैं। कोई चढ़ते चढ़ते ध्यान न रखने से नीचे गिर जाते हैं और गिरते गिरते पहली पैड़ी पर भी आ गिरते हैं। ग्यारहवीं पैड़ी तक पहुँचे हुए जीव को भी मोह का धक्का लगने से नीचे गिरना पड़ता है। इसीलिये ऊपर चढ़नेवाले जीव तनिक भी प्रमाद न करें इस बात की बार बार चेतावनी आध्यात्मिक-शास्त्रोंने दी है। बारहवीं पैड़ी पर पहुँचने के बाद गिरने का किसी प्रकार का भय नहीं रहता। आठवीं–नवीं पैड़ी पर मोह का क्षय प्रारम्भ हुआ कि फिर गिरने का भय सर्वथा दूर हो जाता है।

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र के दसवें अध्याय में भगवान् महावीर ने गौतम को सम्बोधन कर के उसके मिष से सब जीवों को 'समयं गोयम ! मा पमायए' (गौतम ! एक समय का भी प्रमाद न कर) इस प्रकार का सुन्दर उपदेश दिया है।

[ग्यारहवें गुणस्थान पर पहुँचे हुए जीव को भी नीचे गिरना पड़ता है इसका कारण यह है कि उसने मोह का क्षय नहीं किन्तु उपशम किया होता है। परन्तु आठवें-नवें गुणस्थान में मोह के उपशम के बदले क्षय की प्रक्रिया यदि शुरू की जाय तो फिर नीचे गिरना असम्भव हो जाता है।]

'गुणस्थान' शब्द में आए हुए 'गुण' शब्द का अर्थ आत्मविकास का अंश ऐसा होता है। जैसे जैसे आत्मविकास के अंश बढ़ते जाते हैं वैसे वैसे गुणस्थानों का उत्कर्ष माना गया है। यों तो गुणस्थान असंख्यात हैं, क्योंकि आत्मा की इस प्रकार की जितनी परिणतियाँ उतने उसके गुणस्थान। जिस प्रकार नदी के प्रवाह को कोस, मील आदि कल्पित नाम से विभक्त करने पर भी उससे प्रवाह में न तो कोई अमिट रेखा ही बन जाती है और न उस प्रवाह में किसी प्रकार का विच्छेद ही पड़ता है जिससे कि एक भाग दूसरे से अलग हो जाय, उसी प्रकार गुणस्थानों की भी बात है। एक गुणस्थान के साथ दूसरे गुणस्थान की सीमा इस प्रकार संयुक्त है कि वह एक प्रवाह जैसा बन गया है। ऐसा होने पर भी वर्णन की सुविधा के लिये गुणस्थान चौदह भागों में विभक्त किए गए हैं। दिशा का निर्देश इसी प्रकार किया जा सकता है।

इन चौदह गुणश्रेणियों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) मिथ्यादृष्टि, (२) सासादन, (३) मिश्र, (४) अविरतिसम्यग्दृष्टि, (५) देशविरति, (६) प्रमत्त, (७) अप्रमत्त, (८) अपूर्वकरण, (९) अनिवृत्तिकरण, (१०) सूक्ष्मसम्पराय, (११) उपशान्तमोह, (१२) क्षीणमोह, (१३) सयोगकेवली और (१४) अयोगिकेवली।

(१) मिथ्यात्व गुणस्थान—प्राणी में जब आत्मकल्याण के साधनमार्ग की सच्ची दृष्टि न हो, उलटी ही समझ हो अथवा अज्ञान किंवा भ्रम हो तब वह इस श्रेणी में विद्यमान होता है। छोटे-छोटे कीड़ों से लेकर बड़े-बड़े पण्डित, तपस्वी और राजा महाराजा आदि तक भी इस श्रेणी में हो सकते हैं; क्योंकि वास्तविक आत्मदृष्टि अथवा आत्मभावना का न होना ही मिथ्यात्व है, जिसके होने पर उनकी दूसरी उन्नति का कुछ भी मूल्य नहीं होता।

सत्पुरुष को असत्पुरुष और असत्पुरुष को सत्पुरुष, कल्याण को अकल्याण और अकल्याण को कल्याण, सन्मार्ग को उन्मार्ग और उन्मार्ग को सन्मार्ग—ऐसी औंधी समझ तथा झूठे रीतरस्म और वहमों को मानना भी मिथ्यात्व है। संक्षेप में, आत्मकल्याण के साधन मार्ग में कर्तव्य अकर्तव्यविषयक विवेक का अभाव 'मिथ्यात्व' है।

श्री हरिभद्राचार्यने अपने 'योगदृष्टिसमुच्चय' नामक ग्रन्थ में मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा

और परा इन योग की आठ दृष्टिओं का निरूपण किया है। इनमें से पहली मैत्रीलक्षणा ' मित्रा ' दृष्टि है जिसमें चित्त की मृदुता, अद्वेषवृत्ति, अनुकम्पा और कल्याणसाधन की स्पृहा जैसे प्राथमिक सद्गुण प्रकट होते हैं। आचार्य महाराज कहते हैं कि इस दृष्टि की उपलब्धि होने में ही प्रथम गुणस्थान की प्राप्ति होती है। इस प्रकार प्रथम गुणस्थान कल्याणकारक सद्गुणों के प्रकटीकरण की प्राथमिक भूमिकारूप होने पर भी उसका ' मिथ्यात्व ' के नाम से जो निर्देश किया है इसका कारण यह है कि इस भूमिका में यथार्थ ' सम्यग्दर्शन ' प्रकट नहीं हुआ होता। इस गुणस्थान में सम्यग्दर्शन की भूमि पर पहुँचने के मार्गरूप सद्गुण प्रकट होते हैं, जिससे इस अवस्था का ' मिथ्यात्व ' तीव्र नहीं होता। फिर भी मन्दरूप से मिथ्यात्व विद्यमान होने से इस प्रथम गुणस्थान को ' मिथ्यात्व ' कहा गया है; और साथ ही, सम्यग्दर्शन की ओर ले जानेवाले गुणों के प्रकटीकरण की यह प्रथम भूमिका होने से इसे ' गुणस्थान ' भी कहा है।

आचार्य हेमचन्द्र योगशास्त्र के प्रथम प्रकाश के १६ वें श्लोक की वृत्ति में ' गुणस्थानत्वमेतस्य भद्रकत्वाद्यपेक्षया ' इस वचन से स्पष्ट कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि को जो ' गुणस्थान' कहा गया है वह भद्रता आदि गुणों के आधार पर (इन गुणों की अपेक्षा से) कहा गया है।

इस प्रथम 'मित्रा' दृष्टि तक भी जो नहीं पहुँचे हैं उन छोटे-बड़े सब अधःस्थित जीवों की भी गणना शास्त्रोंने मिथ्यात्व गुणस्थान में की है। इन सबकी मिथ्यात्व भूमिका को 'गुणस्थान' के नाम से निर्दिष्ट करने का कारण यह है कि मिथ्यात्वी जीव भी मनुष्य, पशु, पक्षी आदि को मनुष्य, पशु, पक्षी आदि रूप से जानता है और मानता भी है, इस प्रकार की अनेक वस्तुओं के बारे में उसे यथार्थ बुद्धि होती है। इसके अतिरिक्त शास्त्र यह भी कारण बतलाते हैं कि सूक्ष्म–अतिसूक्ष्म जीवों में भी जीवस्वभावरूप चेतना शक्ति, फिर वह चाहे अत्यन्त अल्प मात्रा में ही क्यों न हो, अवश्य होती है। अन्य कारण यह भी बतलाया जा सकता है कि जिस अधःस्थिति में से ऊपर उठना है उस अधः स्थिति का, वहाँ से ऊपर उठने की शक्यता अथवा सम्भव की दृष्टि से [वह स्वयं भले ही गुणस्थान न हो, परन्तु गुण के लिये होनेवाला उत्थान तो वहीं से होता है इस दृष्टि से] 'गुणस्थान' के नाम से निर्देश किया गया है।

(२) सासादन[1] गुणस्थान सम्यग्दर्शन से गिरने की अवस्था का नाम है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के पश्चात्

---

१ अनन्तानुबन्धी (अतितीव्र) क्रोधादि कषाय सम्यग्दृष्टि को शिथिल करनेवाले (आसादन) होनेसे आ–सादन कहलाते हैं। उनसे युक्त वह सासादन। सीदन्ति मम गात्राणि आदि प्रयोगों के अनुसार सद् धातु का अर्थ शिथिल होना–ढीला पड़ना होता है। सादन यह इस धातुका

भी यदि क्रोधादि परम तीव्र (' अनन्तानुबन्धी ') कषायों का उदय हो तो सम्यक्त्व से गिरना ही होता है। यह गुणस्थान ऐसी गिरने की अवस्थारूप है - सम्यग्दर्शन से अज्ञान-मोह में अथवा मिथ्यात्व में गिरनेरूप है। जब गिरने ही लगे तब गिरने में कितनी देर ? इसलिये यह गुणस्थान क्षणमात्र का है। ' उपशम ' सम्यक्त्व से गिरनेवाले के लिये ही यह गुणस्थान है।

(३) मिश्र गुणस्थान—सम्यक्त्व एवं मिथ्यात्व इन दोनों के मिश्रणरूप आत्मा के विचित्र अध्यवसाय का नाम मिश्र गुणस्थान है।

जब किसी जीव को सत्य का दर्शन होता है तब वह आश्चर्यचकितसा हो जाता है। उसके पुराने संस्कार उसे पीछे की ओर घसीटते हैं और सत्य का दर्शन उसे आगे

प्रेरक कृदन्त रूप है। अत ' सादन ' अर्थात् शिथिल करना अथवा शिथिल करनेवाला। ' सादन ' के आगे लगा हुआ ' आ ' उपसर्ग इसी अर्थ की वृद्धि सूचित करता है। इस प्रकार ' आ—सादन ' से अर्थात् गिरानेवाले से अर्थात् सम्यक्त्व को गलानेवाले क्रोधादि कषाय से युक्त वह (स+आसादन) सासादन। मतलब कि ' सासादन ' गुणस्थानभूमि तीव्र क्रोधादिकषायोदयरूप होनेसे पतन करानेवाली है—सम्यगदृष्टि को रफा दफा करनेवाली है।

इस गुणस्थान का ' सास्वादन ' ऐसा भी एक दूसरा नाम है। इस का अर्थ है आस्वादयुक्त अर्थात् वमन किए जानेवाले सम्यक्त्व के आस्वादसे युक्त।

बढ़ने के लिये प्रोत्साहित करता है। ऐसी डोलायमान अवस्था थोड़े समय के लिये ही होती है। बाद में या तो वह मिथ्यात्व में जा गिरता है अथवा सत्य को प्राप्त करता है। इस गुणस्थान में 'अनन्तानुबन्धी' कषाय न होने के कारण उपर्युक्त दोनों गुणस्थानों की अपेक्षा यह गुणस्थान ऊँचा है। परन्तु इसमें विवेक की पूर्ण प्राप्ति नहीं होती, सम्यक्त्व एवं मिथ्यात्व का मिश्रण होता है अर्थात् सन्मार्ग के बारे में श्रद्धा भी नहीं और अश्रद्धा भी नहीं ऐसी डाँवा डोल स्थिति होती है अथवा सत् और असत् दोनों ओर झुकनेवाली या दोनों के बारे में मिश्रित जैसी श्रद्धा होती है।

(४) अविरतिसम्यग्दृष्टि—विरति बिना के सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) को अविरतिसम्यग्दृष्टि कहते हैं। सम्यक्त्व के स्पर्श के साथ ही भवभ्रमण के काल की मर्यादा नियत हो जाती है। अतः आत्मविकास की मूल आधार भूमि यह गुणस्थान है।

इस प्रसंग पर मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि के बीचका अन्तर भी जरा देख लें। मिथ्यादृष्टि में धार्मिक भावना नहीं होती। सब प्राणियों के साथ एकता अथवा समानता का अनुभव करने की सद्बुद्धि से वह शून्य होता है। दूसरे के साथ का उसका सम्बन्ध स्वार्थ का अथवा बदला लेने का

ही होता है। सम्यग्दृष्टि धार्मिक-भावनाशील और आत्म-दृष्टियुक्त होता है। आत्मकल्याण की दिशा में वह यथा-शक्ति प्रवृत्त रहता है। जैसा मेरा आत्मा है, वैसा ही दूसरे का भी है—ऐसी उसकी श्रद्धा होती है। आसक्तिवश अपने स्वार्थसाधन के लिये यदि वह दूसरे के हित का अवरोध करने का दुष्कृत्य शायद करे तो भी यह अनुचित है ऐसा उसके अन्तरात्मा में चुभा करता है। इसके लिये उसे पश्चात्ताप भी होता है। काम-क्रोधादि दोष और पापाचरण कम हों ऐसी उसकी मनोभावना होने से तदनुसार वरताव वह अपनी शक्ति अनुसार रखता है। इसके विपरीत मिथ्या-दृष्टि धार्मिक दृष्टि से जो पाप समझा जाता है उसे पाप ही नहीं समझता। भौतिक सुख की प्राप्ति के पीछे वह मस्त हो जाता है और इसके लिये उचित-अनुचित कोई भी मार्ग ग्रहण करने में उसे पाप पुण्य का भेद ग्राह्य नहीं होता। वह पापमार्ग को पापमार्ग न समझ कर 'इसमें क्या?' ऐसी स्वाभाविकता से उसे ग्रहण करता है। मिथ्यादृष्टि यदि किसी का भला करता हो तो वह स्वार्थ, पक्षपात अथवा कृतज्ञता के कारण ही करता है; जबकि सम्यग्दृष्टि इनके अतिरिक्त स्वार्पणभावना के सात्त्विक तेज से भी सम्पन्न होता है। उसमें अनुकम्पा एवं बन्धुभाव की व्यापक वृत्ति होती है।

(५) देशविरति—सम्यग्दृष्टिपूर्वक गृहस्थ-धर्म के व्रतों का यथायोग्य पालन करना 'देशविरति' है। 'देश-

विरति' शब्द का अर्थ है सर्वथा नहीं किन्तु देशतः अर्थात् अंशतः निश्चितरूप से पापयोग से विरत होना। देशविरति अर्थात् मर्यादित विरति।

(६) प्रमत्तगुणस्थान—महाव्रतधारी साधुजीवन का यह गुणस्थान है। परन्तु यहां सर्वविरति होने पर भी प्रमादभाव रहता है। कभी कभी कर्तव्य कार्य करना उपस्थित होने पर भी आलस्य आदि के कारण जो अनादर बुद्धि उत्पन्न होती है वह प्रमाद है। परन्तु जिस प्रकार उचित मात्रा में उचित भोजन लेना प्रमाद में नहीं गिना जाता तथा उचित निद्रा लेने से उसकी गणना प्रमाद में नहीं होती, उसी प्रकार कषाय यदि मन्द हों तो उनकी गणना यहां पर प्रमाद में नहीं की गई है। कषाय जब तीव्र रूप धारण करें तभी उन्हें यहाँ प्रमादरूप से गिना गया है। क्योंकि वैसे तो कषायोदय अगले सातवें गुणस्थान में भी है—दसवें तक है, किन्तु सातवें आदि गुणस्थानों से वह उत्तरोत्तर मन्द ही होता जाता है, इसलिये वह प्रमाद नहीं कहा जाता।

(७) अप्रमत्तगुणस्थान—प्रमादरहित मुनिवर का यह सातवां गुणस्थान है। संयमी मनुष्य बहुत बार प्रमत्त एवं अप्रमत्त अवस्था में झूलता रहता है। कर्तव्य में उत्साह और सावधानी कायम बनी रहे यह अप्रमत्त अवस्था है।

इस अवस्था से चलित होने पर थोड़े समय में पुनः प्रमत्तता आ जाती है।

(८) अपूर्वकरण[1]—चारित्रमोहनीय कर्म का उपशम अथवा क्षय करने का अपूर्व (इससे पहले अनुपलब्ध) अध्यवसाय (आत्मिक उत्थानकाल का विशिष्ट भावोत्कर्ष) इस गुणस्थान में प्राप्त होता है। चारित्रमोहनीय का उपशम अथवा क्षय यहाँ से (यहाँ की सबल भूमि का पर अवस्थित अगले गुणस्थान से) प्रारम्भ होता है।

(९) अनिवृत्तिकरण—अपूर्व प्रकार का यह भावोत्कर्ष आगे के आत्मोत्कर्ष के लिए साधकतम होता है।

ये दोनों—आठवाँ और नवाँ गुणस्थान आत्मिकभावकी निर्मलता की तरतम-अवस्था के निर्देशरूप हैं[2]।

(१०) सूक्ष्मसम्पराय[3]—मोहनीय कर्म का उपशम अथवा क्षय होते होते जब सम्पूर्ण (सपरिवार-क्रोधादि-कषायरूप) मोहनीय कर्म उपशान्त अथवा क्षीण हो जाता

---

१ 'करण अर्थात् अध्यवसाय-आत्मपरिणाम अथवा क्रिया।

२ प्रथम गुणस्थान में प्रवर्तमान 'अपूर्वकरण' और 'अनिवृत्तिकरण' सम्यक्त्व के साथ सम्बन्ध रखते हैं और गुणस्थानरूप ये 'अपूर्वकरण' और 'अनिवृत्तिकरण' उत्कृष्ट चारित्र के साथ सम्बन्ध रखते हैं।

३ 'सम्पराय' अर्थात् कषाय। यहाँ पर लोभ समझना।

है और सिर्फ एकमात्र लोभ का सूक्ष्म अंश अवशिष्ट रहता है तब उस स्थिति के गुणस्थान का नाम सूक्ष्मसम्पराय है।

(११) उपशान्तमोह—जिसने कषायरूप चारित्र मोहनीय कर्म का उपशम ही (क्षय नहीं) करना शुरू किया है उसके सम्पूर्ण मोह का उपशमन होना 'उपशान्तमोह' गुणस्थान है।

(१२) क्षीणमोह—जिसने कषायरूप चारित्र मोहनीय कर्म का क्षय करना शुरू किया है उसके सम्पूर्ण मोह के क्षीण हो जाने का नाम 'क्षीणमोह' गुणस्थान है। ऊपर का ग्यारहवाँ और यह—दोनों पूर्ण समभाव के गुणस्थान हैं। फिर भी इन दोनों में फ़र्क है और वह यह कि उपशान्त मोह के आत्मभाव की अपेक्षा क्षीणमोह का आत्मभाव अत्यन्त उत्कृष्ट होता है। इसी कारण उपशान्त मोह का समभाव स्थायी रहने नहीं पाता, जबकि क्षीणमोह का समभाव पूर्णतया स्थायी होता है।

यहाँ पर उपशम एवं क्षय का भेद समझना उचित होगा। सामान्यतः इनका भेद इस प्रकार समझाया जाता है कि पानी डालकर आग बुझा देने का नाम 'क्षय' है और राख डालकर उसे ढँक देन का नाम 'उपशम' है। भले ही मोह का सम्पूर्ण उपशम हुआ हो, परन्तु उसका पुनः प्रादुर्भाव हुए बिना नहीं रहता। जिस प्रकार पानी में का

कतवार नीचे बैठ जाने पर पानी स्वच्छ दीखता है उसी प्रकार मोह के रजःकण—मोह का सम्पूर्ण पुंज उदय में आने से रुक कर आत्म-प्रदेशों मे जब अन्तर्निगूढरूप से सर्वथा स्थिर हो जाता है तब आत्म-प्रदेश स्वच्छ से बन जाते हैं। परन्तु यह स्वच्छता कितने समय की ? पानी के नीचे बैठा हुआ कतवार तनिक हलन-चलन से जिस प्रकार पानी में फैल जाता है उसी प्रकार उपशान्त हुआ मोहपुंज थोड़ी देर में ही पुनः उदय में आता है, जिसके फलस्वरूप जैसे गुणश्रेणियों में चढ़ना हुआ था वैसे ही नीचे गिरना पड़ता है। मोहशमन के साधक को पुनः गिरना ही पड़ता है, जबकि मोहक्षय का साधक एकदम केवलज्ञान ही प्राप्त करता है, क्योंकि मोह का क्षय होने के बाद उसका पुनः प्रादुर्भाव नहीं होता।

बारहवें गुणस्थान में आत्मा चित्तयोग की पराकाष्ठा-रूप शुक्लसमाधि पर आरूढ हो कर सम्पूर्ण मोहावरण, सम्पूर्ण ज्ञानावरण, सम्पूर्ण दर्शनावरण और सम्पूर्ण अन्तरायचक्र का विध्वंस कर के केवलज्ञान प्राप्त करता है और केवलज्ञान प्राप्त होते ही—

(१३) सयोगकेवली गुणस्थान का आरम्भ होता है। इस गुणस्थान के नाम में जो 'सयोग' शब्द रखा है उसका अर्थ 'योगवाला' होता है। योगवाला अर्थात् शरीर आदि के व्यापारवाला। केवलज्ञान प्राप्त होने के

पश्चात् भी शरीरधारी के गमनागमन, बोलने आदि के व्यापार रहते ही हैं। इत्यादि की क्रिया रहने से शरीरधारी केवली सयोगकेवली कहलाता है।

इस विवेचन के सन्दर्भ में गुणस्थानसमारोहसम्बन्धी महत्त्व की प्रक्रिया पर तनिक दृष्टिपात कर लेना यहाँ प्रासंगिक होगा।

सातवें गुणस्थान पर पहुँचे हुए प्रगतिशील वीर्यवान् साधक की आन्तरिक साधना अत्यन्त सूक्ष्म बनकर प्रखर प्रगति करने लगती है और क्षणभर में विरामभूमि पर पहुँच जाती है। यह कैसे होता है यह जरा देखें।

सब कर्मों का सरदार मोहनीय कर्म है। इसके दर्शन मोहनीय और चारित्रमोहनीय—इस प्रकार के दो भेदों का उल्लेख पहले किया जा चुका है और वहाँ यह भी बतलाया है कि 'दर्शन' का अर्थ है दृष्टि अर्थात् तात्त्विक बोध अथवा कल्याणभूत तत्त्वश्रद्धा। इसे जो रोके वह दर्शन मोहनीय और चारित्र को जो रोके वह चारित्रमोहनीय। जिस जीव का जिस अन्तर्मुहूर्त में दर्शनमोहनीय के अर्थात् मिथ्यात्व के पुद्गलों का उदय उतने समय तक के लिये रुक जाय उस जीव का वह अन्तर्मुहूर्त सम्यक्त्वसम्पन्न बनता है और यह सम्यक्त्व उपशम-सम्यक्त्व कहलाता है। इस सम्यक्त्व के प्रकाश में जीव इस सम्यक्त्व के अन्तर्मुहूर्त

जितने काल के पश्चात् उदय में आनेवाले दर्शनमोहनीय (मिथ्यात्वमोहनीय) के पुद्गलों का संशोधन करने का कार्य करता है। ऐसा करते हुए जितने पुद्गलों का मालिन्य दूर होकर वे शुद्ध बनते हैं उतने पुद्गलों के पुंज को 'सम्यक्त्व-मोहनीय' कहते हैं। और इस के(मिथ्यात्वमोहनीयके) पुद्गलों का जो भाग शुद्धाशुद्ध अर्थात् मिश्र अवस्था में रहता है वह पुंज 'मिश्रमोहनीय' कहलाता है और जो भाग वैसे का वैसा अशुद्ध रहता है वह पुंज 'मिथ्यात्व-मोहनीय' कहलाता है। इस प्रकार दर्शनमोहनीय के सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय तथा मिथ्यात्वमोहनीय इस तरह तीन भेद (तीन भाग) होते हैं। उपशम-सम्यक्त्व का काल पूर्ण होने पर इन तीन भागों या तीन पुंजों में से जिसका उदय होता है उसके अनुसार आत्मा की परि-

---

१ दर्शनं मोहयतीति दर्शनमोहनीयम्—इस प्रकार व्युत्पादित 'दर्शनमोहनीय' शब्द में 'मोहनीय' शब्द का आकुल-व्याकुल करनेवाला अर्थात् रोकनेवाला ऐसा अर्थ होता है, अर्थात् दर्शन को रोकनेवाला वह 'दर्शनमोहनीय'। परन्तु उसके अवान्तर भेदरूप सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय तथा मिथ्यात्वमोहनीय का अर्थ क्रमशः सम्यक्त्व को रोकनेवाला, मिश्र को रोकनेवाला और मिथ्यात्व को रोकनेवाला ऐसा नहीं करनेका, परन्तु **सम्यक्त्वमेव मोहनीयं सम्यक्त्वमोहनीयम्, मिश्रमेव मोहनीयं मिश्रमोहनीयम्, मिथ्यात्वमेव मोहनीयं मिथ्यात्वमोहनीयम्** अर्थात् सम्यक्त्वरूप मोहनीय, मिश्ररूप मोहनीय तथा मिथ्यात्वरूप मोहनीय—इस प्रकार करनेका है।

स्थिति हो जाती है। अर्थात् सम्यक्त्वमोहनीय पुंज का उदय होने पर आत्मा ' क्षयोपशम-सम्यक्त्व ' का धारक बनता है, क्योंकि इन निर्मल पुद्गलों का उदय निर्मल काँच की भाँति तत्त्व की सम्यक् प्रतीति में बाधक नहीं होता। और यदि मिश्रमोहनीय पुद्गल पुंज का उदय हो तो जीव की तत्त्व श्रद्धा मिश्र अथवा दोलायमान जैसी बन जाती है; और मिथ्यात्वमोहनीय पुद्गल-पुंज का उदय होने पर जीव पुनः मिथ्यात्व से अवरुद्ध हो जाता है।

दर्शनमोहनीय के इन तीन पुंजों तथा अनन्तानुबन्धी चार कषायों के उपशम से प्रकट होनेवाला ' उपशम सम्यक्त्व ' उपशमश्रेणी की अवस्था में प्राप्त होता है।

उपशम सम्यक्त्व और क्षयोपशम सम्यक्त्व में फर्क यह है कि उपशम-सम्यक्त्व में मिथ्यात्व के अथवा दर्शन मोहनीय के किसी भी पुद्गल का विपाकोदय[1] अथवा प्रदेशोदय[2]—कोई उदय नहीं होता, जबकि क्षयोपशम सम्यक्त्व तो मिथ्यात्वमोहनीय के उदयगत (प्रदेशोदयगत) पुद्गलों का क्षय और उदय में नहीं आए हुए पुद्गलों का उपशम इस तरह क्षय और उपशम दोनोंवाला होता है और इसीलिए यह ' क्षयोपशम-सम्यक्त्व ' कहलाता है। इसके अतिरिक्त यह सम्यक्त्व-मोहनीय के पुद्गलों का विपाकोदय

१-२ फलप्रद उदय वह विपाकोदय और जिस उदय से आत्मा पर असर न हो वह प्रदेशोदय।

रूप भी है। इस प्रकार, पुद्गलाश्रयी क्षयोपशम-सम्यक्त्व की अपेक्षा शुद्ध-आत्मपरिणामरूप उपशमसम्यक्त्व श्रेष्ठतर है और इसकी अपेक्षा भी श्रेष्ठतर (सर्वश्रेष्ठ) 'क्षायिक-सम्यक्त्व' है; क्योंकि यह मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्र-मोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय इस तरह त्रिविध दर्शन-मोहनीय तथा अनन्तानुबन्धी चार कषाय इन सात के क्षय से प्राप्त होता है। क्षयसाध्य होने से वह 'क्षायिक' कहलाता है। इस प्रकार सम्यक्त्व मुख्यतया तीन प्रकार का है।

अब चारित्र-मोहनीय के भेद देखें। वे पचीस हैं और इस प्रकार हैं—

क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार आत्मा को कष्ट देनेवाले होने से 'कषाय' कहलाते हैं। इनमें से प्रत्येक के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन ऐसे चार-चार भेद हैं। अनन्तदुःखरूप मिथ्यात्व के उद्भावक अतितीव्र कषाय 'अनन्तानुबन्धी' कहलाते हैं। अ-प्रत्याख्यान—अल्पप्रत्याख्यान[1] अर्थात् देशविरति के अवरोधक कषाय 'अप्रत्याख्यानावरण' हैं। प्रत्याख्यान अर्थात् सर्वविरति को रोकनेवाले कषाय 'प्रत्याख्याना-वरण' हैं और वीतराग (यथाख्यात) चारित्र के बाधक

---

१. यहाँ पर 'अ' का अर्थ अल्प है।

कषाय 'संज्वलन' कहलाते हैं। इस पर से यह समझा जा सकता है कि 'अनन्तानुबन्धी' कषाय के दूर होने पर चतुर्थगुणस्थानरूप सम्यक्त्व, दूसरे 'अप्रत्याख्यानावरण' कषाय के हटने पर देशविरति, तीसरे 'प्रत्याख्यानावरण' के नष्ट होने पर सर्वविरति और चौथे 'संज्वलन' कषाय के निरस्त होने पर वीतराग (यथाख्यात) चारित्र प्राप्त होता है।

इस प्रकार कषाय के सोलह भेद हुए। इनके सहचारी दूसरे नौ गिनाए गए हैं। इन्हें 'नोकषाय' कहते हैं। ये हैं—हास्य, रति (अनुराग, प्रीति), अरति (अप्रीति, उद्वेग), भय, शोक, जुगुप्सा (घृणा) और पुरुषवेद, स्त्रीवेद तथा नपुंसकवेद। इस प्रकार चारित्रमोहनीय के इन (१६+९) पचीस भेदों के साथ दर्शनमोहनीय के पूर्वोक्त तीन भेद मिलाने पर कुल अट्ठाईस भेद मोहनीय कर्म के हुए। इनमें से तीन प्रकार के दर्शनमोहनीय और चार अनन्तानुबन्धी कषाय इन सात के उपशम से 'उपशम-सम्यक्त्व' अथवा क्षय से 'क्षायिक-सम्यक्त्व' जिसने प्राप्त किया है वह आठवें, नवें इन दो गुणस्थानों में मोहनीय की अवशिष्ट इक्कीस प्रकृतियों में से एक लोभ को छोड़कर बाकी की बीस प्रकृतियों का उपशम अथवा क्षय करता है; और दसवें गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ रह जाने के कारण वह साधक यदि उपशमश्रेणीवाला हो तो उस अवशिष्ट सूक्ष्म लोभांश का उपशम करके ग्यारहवें

उपशान्तमोह नामक गुणस्थान पर पहुँचता है, जबकि क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ साधक उस सूक्ष्मीभूत लोभांश का क्षय करता है। इस सूक्ष्मीभूत लोभांश का क्षय होते ही सम्पूर्ण मोह का नाश पूर्ण होता है। यह बारहवें गुणस्थान की पराकाष्ठा पर पहुँची हुई सिद्धि है और यह सिद्धि तत्काल ही केवलज्ञान की सिद्धि प्रकट करती है।

पहले कहे हुए मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन पाँच कर्म-बन्ध के हेतुओं में से जब आगे आगे का बन्धहेतु हो तब उसके पीछे के सब बन्धहेतु अवश्य होने के, परन्तु पीछे का बन्धहेतु होने पर आगे का हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। जैसे कि जहाँ मिथ्यात्व हो वहाँ अविरति आदि सब बन्धहेतु होने के ही, परन्तु जहाँ अविरति हो वहाँ मिथ्यात्व होना ही चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है। वह हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। पहले गुणस्थान में अविरति और मिथ्यात्व दोनों ही हैं परन्तु दूसरे-तीसरे-चौथे गुणस्थान में अविरति तो है किन्तु मिथ्यात्व नहीं है। इसी प्रकार जहाँ कषाय होता है वहाँ योग तो होता ही है, परन्तु सदेह केवली के योग (शरीरादि की क्रिया) निष्कषाय होते हैं।

ये सब बन्धहेतु साधक की साधना का जैसे जैसे विकास होता जाता है वैसे वैसे क्रमशः हटते जाते हैं। जैसे कि चतुर्थ गुणस्थान में सम्यक्त्व प्राप्त होने पर मिथ्यात्व का

उदय रुक जाता है अर्थात् यह मिथ्यात्व का संवर हुआ। इसी प्रकार विरति का गुणस्थान प्राप्त होते ही अविरति रुक जाती है, यह अविरति का संवर; अप्रमत्त (सातवाँ) गुणस्थान प्राप्त होते ही प्रमाद रुक जाता है, यह प्रमाद का संवर; उपशान्तमोह अथवा क्षीणमोह दशा आते ही कषाय रुक जाते हैं, यह कषायों का संवर; और अन्त में मृत्यु के समय अयोगी दशा में योग का निरोध होता है यह योग का संवर है।

मोह का सम्पूर्ण विलय होते ही कर्म का बन्ध सर्वथा रुक जाता है अर्थात् 'संवर' पूर्णतया सिद्ध होता है। (एकमात्र सातवेदनीय कर्म का क्षणिक बन्ध किस गिनती में!) जीवन्मुक्त (सयोगकेवली) की यह दशा है। इस प्रकार मोक्ष अथवा सिद्धत्व, पूर्ण संवर और देह मुक्त होते समय पूरी होनेवाली निर्जरा इन दोनों के बल से प्राप्त होता है।

सर्वकर्मक्षयात्मक मोक्ष की प्राप्ति से पूर्व अंशतः कर्मक्षयरूप निर्जरा का चलता जाना आवश्यक है। यद्यपि सब संसारी आत्माओं में कर्मनिर्जरा का क्रम चालू ही रहता है, परन्तु आत्मकल्याणरूप कर्मनिर्जरा तो जब जीव मोक्षाभिमुख होता है तभी होती है। वास्तविक मोक्षाभिमुखता का प्रारम्भ सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति से होता है और यह मोक्ष-

साधन-विकास बढ़ता बढ़ता 'जिन' अवस्था पर परिपूर्ण होता है। सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति से लेकर 'जिन' अवस्था तक की अन्तर्विकास की गति के स्थूलरूप से दस विभाग किए गए हैं। इनमें उत्तरोत्तर परिणाम की विशुद्धि बढ़ती जाती है। परिणाम की विशुद्धि जितनी अधिक उतनी ही कर्मनिर्जरा अधिक, अर्थात् पूर्व-पूर्व अवस्था की अपेक्षा उत्तर-उत्तर अवस्था में परिणाम की विशुद्धि की अधिकता के कारण असंख्यातगुनी कर्मनिर्जरा बढ़ती जाती है। इस प्रकार बढ़ते बढ़ते अन्त में जिन (सर्वज्ञ) अवस्था में निर्जरा-का प्रमाण सबसे अधिक हो जाता है। वे दस अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—

(१) मिथ्यात्व के हटने से सम्यक्त्व प्रकट होता है वह सम्यग्दृष्टि, (२) जिसमें देशविरति प्रकट हो वह उपासक, (३) जिसमें सर्वविरति प्रकट हो वह विरत, (४) जिसमें अनन्तानुबन्धी कषायों का विलय करने जितनी विशुद्धि प्रकट हो वह अनन्तवियोजक, (५) जिसमें दर्शनमोह का क्षय करने की विशुद्धि प्रकट हो वह दर्शन-मोहक्षपक, (६) जिस अवस्था में चारित्रमोह की प्रकृतियों का उपशम प्रवर्तमान हो वह उपशमक, (७) जिस अवस्था में वह उपशम पूर्ण हो वह उपशान्त, (८) जिस अवस्था में चारित्रमोहकी प्रकृतियों का क्षय हो रहा हो वह क्षपक, (९) जिस अवस्था में वह क्षय पूर्ण सिद्ध हो वह क्षीण-

तद्रूप रुक जाता है अर्थात् यह मिथ्यात्व का संवर हुआ। इसी प्रकार विरति का गुणस्थान प्राप्त होते ही अविरति रुक जाती है, यह अविरति का संवर; अप्रमत्त (सातवाँ) गुणस्थान प्राप्त होते ही प्रमाद रुक जाता है, यह प्रमाद का संवर; उपशान्तमोह अथवा क्षीणमोह दशा आते ही कषाय रुक जाते हैं, यह कषायों का संवर; और अन्त में मृत्यु के समय अयोगी दशा में योग का निरोध होता है यह योग का संवर है।

मोह का सम्पूर्ण विलय होते ही कर्म का बन्ध सर्वथा रुक जाता है अर्थात् 'संवर' पूर्णतया सिद्ध होता है। (एकमात्र सातवेदनीय कर्म का क्षणिक बन्ध किस गिनती में!) जीवन्मुक्त (सयोगकेवली) की यह दशा है। इस प्रकार मोक्ष अथवा सिद्धत्व, पूर्ण संवर और देह मुक्त होते समय पूरी होनेवाली निर्जरा इन दोनों के बल से प्राप्त होता है।

सर्वकर्मक्षयात्मक मोक्ष की प्राप्ति से पूर्व अंशतः कर्मक्षयरूप निर्जरा का बढ़ता जाना आवश्यक है। यद्यपि सब संसारी आत्माओं में कर्मनिर्जरा का क्रम चालू ही रहता है, परन्तु आत्मकल्याणरूप कर्मनिर्जरा तो जब जीव मोक्षाभिमुख होता है तभी होती है। वास्तविक मोक्षाभिमुखता का प्रारम्भ सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति से होता है और यह मोक्ष

साधन-विकास बढ़ता बढ़ता 'जिन' अवस्था पर परिपूर्ण होता है। सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति से लेकर 'जिन' अवस्था तक की अन्तर्विकास की गति के स्थूलरूप से दस विभाग किए गए हैं। इनमें उत्तरोत्तर परिणाम की विशुद्धि बढ़ती जाती है। परिणाम की विशुद्धि जितनी अधिक उतनी ही कर्मनिर्जरा अधिक, अर्थात् पूर्व-पूर्व अवस्था की अपेक्षा उत्तर-उत्तर अवस्था में परिणाम की विशुद्धि की अधिकता के कारण असंख्यातगुनी कर्मनिर्जरा बढ़ती जाती है। इस प्रकार बढ़ते बढ़ते अन्त में जिन (सर्वज्ञ) अवस्था में निर्जरा-का प्रमाण सबसे अधिक हो जाता है। वे दस अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—

(१) मिथ्यात्व के हटने से सम्यक्त्व प्रकट होता है वह सम्यग्दृष्टि, (२) जिसमें देशविरति प्रकट हो वह उपासक, (३) जिसमें सर्वविरति प्रकट हो वह विरत, (४) जिसमें अनन्तानुबन्धी कषायों का विलय करने जितनी विशुद्धि प्रकट हो वह अनन्तवियोजक, (५) जिसमें दर्शनमोह का क्षय करने की विशुद्धि प्रकट हो वह दर्शन-मोहक्षपक, (६) जिस अवस्था में चारित्रमोह की प्रकृतियों का उपशम प्रवर्तमान हो वह उपशमक, (७) जिस अवस्था में वह उपशम पूर्ण हो वह उपशान्त, (८) जिस अवस्था में चारित्रमोहकी प्रकृतियों का क्षय हो रहा हो वह क्षपक, (९) जिस अवस्था में वह क्षय पूर्ण सिद्ध हो वह क्षीण-

मोह, और (१०) जिसमें जिनत्व (सर्वज्ञत्व) प्रकट हो वह जिन।

जिन—केवली परमात्मा आयुष्य के अन्त के समय [मरण के समय] अपने शरीरादि के सब व्यापारों का निरोध करते हैं, उस निरोध की पूर्ण अवस्था का गुणस्थान है—

(१४) अयोगिकेवली। अयोगी का अर्थ है देहादि के सब व्यापारों से रहित—सब प्रकार की क्रियाओं से विरत। केवली अयोगी होते ही उसका शरीर छूट जाता है और वह परम-आत्मा अमूर्त, अरूपी, केवलज्योतिःस्वरूप ऐसा परम कैवल्यधाम प्राप्त करता है।

इस प्रसंग में अध्यात्मदृष्टि के बारे में भी थोड़ा विचार करलें।

अध्यात्म

संसार की गति गहन है। विश्व में सुखी जीवों की अपेक्षा दुःखी जीवों का क्षेत्र बहुत विशाल है। आधि-व्याधि उपाधि तथा शोक-सन्ताप से समस्त जगत् सन्तप्त है। सुख के अनेकानेक साधन उपस्थित होने पर भी मोह एवं सन्ताप की पीड़ा मिट नहीं सकती। धन आदि मिलने पर भी दुःख का संयोग दूर नहीं हो सकता। वस्तुतः दुःख के मूल काम-क्रोध-लोभ-अभिमान-ईर्ष्या-द्वेष आदि मानसिक विकार-दोषों में रहे हैं। मोहवासना की दुनिया ही दुःखित संसार है।

सुख-दुःख का सम्पूर्ण आधार मनोवृत्ति पर है। बड़ा भारी धनाढ्य पुरुष भी लोभ के चक्र में फँसने से अथवा स्वभावके कार्पण्य-दोष के कारण दुःखी रहा करता है, जबकि निर्धन मनुष्य भी विवेकबुद्धि से सम्पादित सन्तोषवृत्तिके प्रभाव से मन में उद्वेग नहीं रखता, जिससे वह सुखी रहता है। सुख दुःख की भावना के प्रवाह मनोवृत्ति के विचित्र चक्रभ्रमण के अनुसार बदलते रहते हैं। मन की इस विचित्र चंचल स्थिति में ही दुःख के मूल रहे हुए हैं। निःसन्देह, शरीरयात्रा के लिये अन्न, जल तो चाहिए ही; जीवनयात्रा

---

१ छद्मस्थमुनि ऋषभदेव का चिन्तन—

प्रदीपा इव तैलेन पादपा इव वारिणा।
आहारेणैव वर्तन्ते शरीराणि शरीरिणाम् ॥ २३९ ॥
अद्यापि यदि वाऽऽहारमतिक्रान्तदिनेष्विव।
न गृह्णाम्यभिग्रहाय किन्तूत्तिष्ठे पुनर्यदि ॥ २४१ ॥
अमी सहस्राश्चत्वार इवाऽभोजनपीडिताः।
तदा भङ्गं ग्रहीष्यन्ति भाविनो मुनयोऽपरे ॥ २४२ ॥
स्वामी मनसिकृत्यैवं भिक्षार्थं चलितस्ततः ॥

—हेम-त्रिषष्टि पर्व १, सर्ग ३.

अर्थात्—तेल से दीपक और पानी से वृक्ष की भाँति शरीरधारियोंके शरीर आहार से ही टिकते हैं। आज वर्षदिन पर्यन्त भोजन के बिना जिस तरह चलाया उसी तरह अब भी यदि मैं आहार ग्रहण न करूं और अभिग्रहनिष्ठ बना रहूँ तो उन चार हजार मुनियों की जो दशा हुई, अर्थात् भूख से पीडित हो कर जिस प्रकार वे व्रतभग्न हुए उसी प्रकार भविष्य के मुनि भी भोजन न मिलने से भूख से पीडित हो कर व्रतभग्न होंगे। ऐसा विचार करके ऋषभदेव भिक्षा के लिये चल पड़े।

मोह, और (१०) जिसमें जिनत्व (सर्वज्ञत्व) प्रकट हो वह जिन।

जिन–केवली परमात्मा आयुष्य के अन्त के समय [मरण के समय] अपने शरीरादि के सब व्यापारों का निरोध करते हैं, उस निरोध की पूर्ण अवस्था का गुणस्थान है—

(१४) अयोगिकेवली। अयोगी का अर्थ है देहादि के सब व्यापारों से रहित–सब प्रकार की क्रियाओं से विरत। केवली अयोगी होते ही उसका शरीर छूट जाता है और वह परम-आत्मा अमूर्त, अरूपी, केवलज्योतिःस्वरूप ऐसा परम कैवल्यधाम प्राप्त करता है।

इस प्रसंग में अध्यात्मदृष्टि के बारे में भी थोड़ा विचार करलें।

अध्यात्म

संसार की गति गहन है। विश्व में सुखी जीवों की अपेक्षा दुःखी जीवों का क्षेत्र बहुत विशाल है। आधि-व्याधि उपाधि तथा शोक सन्ताप से समस्त जगत् सन्तप्त है। सुख के अनेकानेक साधन उपस्थित होने पर भी मोह एवं सन्ताप की पीड़ा मिट नहीं सकती। धन आदि मिलने पर भी दुःख का संयोग दूर नहीं हो सकता। वस्तुतः दुःख के मूल काम-क्रोध-लोभ-अभिमान-ईर्ष्या द्वेष आदि मानसिक विकार-दोषों में रहे हैं। मोहवासना की दुनिया ही दुःखित संसार है।

सुख-दुःख का सम्पूर्ण आधार मनोवृत्ति पर है। बड़ा भारी धनाढ्य पुरुष भी लोभ के चक्र में फँसने से अथवा स्वभावके कार्पण्य-दोष के कारण दुःखी रहा करता है, जबकि निर्धन मनुष्य भी विवेकबुद्धि से सम्पादित सन्तोषवृत्तिके प्रभाव से मन में उद्वेग नहीं रखता, जिससे वह सुखी रहता है। सुख दुःख की भावना के प्रवाह मनोवृत्ति के विचित्र चक्रभ्रमण के अनुसार बदलते रहते हैं। मन की इस विचित्र चंचल स्थिति में ही दुःख के मूल रहे हुए हैं। निःसन्देह, शरीरयात्रा के लिये अन्न, जल तो चाहिए ही; जीवनयात्रा

---

१ छद्मस्थमुनि ऋषभदेव का चिन्तन—

प्रदीपा इव तैलेन पादपा इव वारिणा।
आहारेणैव वर्तन्ते शरीराणि शरीरिणाम् ॥ २३९ ॥
अद्यापि यदि वाऽऽहारमतिक्रान्तदिनेष्विव।
न गृह्णाम्यभिग्रहाय किन्तूत्तिष्ठे पुनर्यदि ॥ २४१ ॥
अमी सहस्राश्चत्वार इवाऽभोजनपीडिताः।
तदा भङ्गं ग्रहीष्यन्ति भाविनो मुनयोऽपरे ॥ २४२ ॥
स्वामी मनसिकृत्यैवं भिक्षार्थं चलितस्तत ॥

—हेम-त्रिषष्टि पर्व १, सर्ग ३.

अर्थात्-तेल से दीपक और पानी से वृक्ष की भाँति शरीरधारियोंके शरीर आहार से ही टिकते हैं। आज वर्षदिन पर्यन्त भोजन के बिना जिस तरह चलाया उसी तरह अब भी यदि मैं आहार ग्रहण न करूं और अभिग्रहनिष्ठ बना रहूँ तो उन चार हजार मुनियों की जो दशा हुई, अर्थात् भूख से पीड़ित हो कर जिस प्रकार वे व्रतभग्न हुए उसी प्रकार भविष्य के मुनि भी भोजन न मिलने से भूख से पीडित हो कर व्रतभग्न होंगे। ऐसा विचार करके ऋषभदेव भिक्षा के लिये चल पड़े।

अथवा सुख-शान्ति के लिये इस तरह के बाह्य पदार्थ अवश्य अपेक्षित हैं, तथापि इनकी (इन पदार्थों अथवा साधनों की) तंगी में भी धार्मिक (सच्ची) समझ और उत्तम सन्तोष-लक्ष्मी जिसने प्राप्त की है वह सत्त्वशाली मनुष्य अपने चित्त अथवा आत्मा को स्वस्थ रख सकता है और अपने अन्तर्विकासको मन्द नहीं होने देता।

सामान्यतः इस जीवन में और इस दुनिया में ही सुखी हुआ जा सकता है, सुखी रहा जा सकता है—यदि हम हमारे पास जो कुछ हो उसीसे सन्तुष्ट रहें और आवश्यक पदार्थ न्यायमार्ग से प्राप्त करें अथवा प्राप्त करने का श्रम करें तथा भौतिक विलास की आकांक्षा न रख कर मानसिक सुख की सँभाल रखने का दृष्टिबिन्दु धारण करें। सारांश यह है कि, आत्मा का अथवा निर्दोष जीवन की प्रसन्नता का सुख ही सच्चा सुख है, फिर वह मनुष्य चाहे गरीब हो अथवा पैसेवाला हो, शहर में रहता हो या गाँव में रहता हो।

---

१ तत्त्ववेत्ता मिल्टन कहता है कि—

A mind can make heaven of hell and hell of heaven

अर्थात् मन नरक को स्वर्ग और स्वर्ग को नरक बना सकता है।

We may be unhappy even while sitting on a mountain of gold and happy even without a pie in our pocket. I think that true happiness

वस्तुतः 'मन जीता उसने सब जीता' यह बात पूर्ण सत्य है। जो मनका विजेता है वही विश्वविजेता है।

राग-द्वेष-मोह मनोवृत्ति के ही परिणाम हैं। इन तीन के ऊपर सम्पूर्ण संसार-चक्र घूमता है। इस त्रिदोष को दूर करने के लिये अध्यात्मशास्त्र के अतिरिक्त अन्य कोई वैद्यक ग्रन्थ नहीं है। परन्तु इस बात का स्वयं अनुभव होना कि 'एक प्रकार से मैं रोगी हूँ' बहुत कठिन है। जहाँ संसार के मोह-तरंग मन पर टकराते हों, विषय-रति रूपी बिजली की चमक आँख को चकाचौंध करती हो तथा तृष्णा के प्रबल

---

comes when we are neither rich nor poor, but just able to meet our requirements and reasonable comforts of life. The struggle of existence kills the joy of life Easy life makes life dull and inactive. I think, true happiness consists in working for needs, but never in becoming greedy".

अर्थात् यह सम्भव है कि सोने के पर्वत पर बैठने पर भी हम सुखी न हो सकें–दुःखी हों, और हमारी जेब में एक पाई भी न हो उस समय भी हम सुखी हों। मैं समझता हूँ कि सच्चा सुख न तो धनी अवस्था में है और न गरीब अवस्था में, परन्तु हमारी आवश्यकताएँ और समुचित सुख–सुविधाएँ प्राप्त करने के लिये ठीक-ठीक समर्थ होने में है। जीवन के अस्तित्व की जद्दोजहद जीवन के आनन्द को नष्ट कर देती है और आरामतलब जीवन जीवन को आलसी–जड़—अकर्मण्य बना देता है। मैं समझता हूँ कि सच्चा सुख अपनी आवश्यकताओं के लिये कार्य करने में–श्रम करने में समाया है, न कि लोभी होने में।

प्रपात में आत्मा अस्वस्थ दशा का अनुभव करता हो वहाँ अपना गुप्त 'रोग' समझना बहुत कठिन है। ऐसी स्थितिवाले सब जीव एकदम अधःस्थिति पर होते हैं। इस स्थिति से ऊपर उठे हुए जीव, जो अपने आप को त्रिदोषा क्रान्त – त्रिदोषसे उत्पन्न उग्र ताप में फँसे हुए समझते हैं और उस रोग के प्रतीकार की खोज करने को उत्सुक हैं, उनके लिये आध्यात्मिक औषध के प्रकाशन उपयोगी हैं।

अध्यात्म शब्द 'अधि' और 'आत्मा' इन दो शब्दों के समास से बना है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप को लक्ष में रखकर उसके अनुसार बरतना – आत्मविकास की कल्याण मयी दिशा में विहरना ही अध्यात्म अथवा आध्यात्मिक जीवन है। संसार के जड एवं चेतन तत्त्व जो एक-दूसरे के स्वरूप को जाने बिना नहीं जाने जा सकते, उनका यथायोग्य निरूपण अध्यात्म के विषय में किया जाता है।

आत्मा क्या वस्तु है?, आत्मा को सुख-दुःख का अनुभव कैसे होता है?, आत्मा को सुख-दुःख का अनुभव करने में किसी अन्य तत्त्व का संसर्ग कारणभूत है?, कर्म का संसर्ग आत्मा को किस प्रकार हो सकता है?, यह संसर्ग सादि है या अनादि?, यदि अनादि तो उसका उच्छेद कैसे हो सकता है?, कर्म का स्वरूप कैसा है?, कर्म के भेदा नुभेद कौन-कौनसे हैं?, कर्म के बन्ध, उदय और सत्ता

किस प्रकार नियमबद्ध है ?, इस समय आत्मा किस दशा में है ?, वह अपनी मूल स्थिति को पा सकता है या नहीं और पा सकता है तो किस तरह ?–इन सब बातों की विचारणा अध्यात्मशास्त्र में अच्छी तरह से की जाती है।

इसके अतिरिक्त अध्यात्म के विषय में मुख्यतया संसार (भवचक्र) की निस्सारता और निर्गुणता का, राग-द्वेष-मोहरूपी दोषों के कारण भवाटवी में जो भ्रमण करने और क्लेश सहने पड़ते हैं उनका यथातथ चित्रण किया जाता है। भिन्न भिन्न प्रकार से भावनाओं को समझाकर मोह-ममता का निरोध करना ही अध्यात्मशास्त्र का प्रधान लक्ष होता है और उसका सम्पूर्ण उपदेश इसी लक्ष की ओर पूर्ण बल से बढ़ता है।

दुराग्रह का त्याग, अद्वेषभाव, तत्त्वशुश्रूषा, सन्त समागम, सत्पुरुषों की प्रतिपत्ति, तत्त्वश्रवण, कल्याणभावना, मिथ्यादृष्टि का निरास, सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति, क्रोध-मान-माया-लोभरूप कषायों का नाश, इन्द्रियों पर संयम, मनः-शुद्धि, ममता का त्याग, समता का प्रादुर्भाव, चित्त की स्थिरता, आत्मस्वरूप में रमणता, ध्यान का प्रवाह, समाधि का आविर्भाव, मोहादि आवरणों का क्षय और अन्त में केवलज्ञान तथा मोक्ष की प्राप्ति–इस प्रकार मूल से

लेकर क्रमशः होनेवाली आत्मोन्नति का वर्णन अध्यात्म शास्त्र में किया जाता है।

'अध्यात्म' कहो अथवा 'योग' कहो एक ही बात है। 'योग' शब्द जोड़ना अर्थवाले 'युज्' धातु से बना है। कल्याणकारक धर्मसाधना अथवा मुक्ति-साधन का व्यापार, जो मुक्ति के साथ जोड़नेवाला होने से 'योग' कहलाता है, वही अध्यात्म है।

मोह इस आत्मा का गम्भीर रोग है। कर्मबन्ध की परम्परा अथवा भवभ्रमण इसी के कारण होता है। क्रोधादि इसी [मोह] के रूपान्तर हैं। इनके विरुद्ध आध्यात्मिक साधनों का दिग्दर्शन इस प्रकार है—

क्रोध का निरोध क्षमा से होता है, मान मृदुता से शान्त होता है, माया ऋजुता से हटती है, लोभ पर सन्तोष से विजय प्राप्त किया जाता है। इन कषायों का पराभव इन्द्रिय जय पर अवलम्बित है। इन्द्रियजय चित्तशुद्धि से शक्य है। चित्तशुद्धि रागद्वेषरूपी मैल को दूर करने से होती है।

---

१ "असंशयं महाबाहो! मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय! वैराग्येण च गृह्यते॥"

—भगवद्गीता ६ ३५

अर्थात्—सत्कर्मों के अभ्यास और वैराग्यभाव से चित्त का निरोध होता है।

इसे दूर करने का कार्य समतारूपी जल से होता है। समता ममता के त्याग से प्रकट होती है। ममता को दूर करने के लिये 'अनित्यं संसारे भवति सकलं यन्नयनगम्' (संसार में जो कुछ दीखता है वह सब अनित्य है)-ऐसी अनित्य-भावना तथा दूसरी अशरण आदि भावनाओं का पोषण उपयुक्त है। इन भावनाओंका बल जैसे जैसे प्रखर होता जाता है वैसे वैसे ममत्वरूपी अन्धकार क्षीण होता जाता है और उसके अनुसार समता की ज्योत प्रकट होती जाती है। इस समता की पराकाष्ठा के परिणामस्वरूप चित्त की एकाग्रता सिद्ध होती है और इसके फलस्वरूप आत्मा ध्यान अथवा समाधियोग की भूमिका पर पहुँच जाता है। ध्यान की भूमिका में आने के बाद भी यदि सिद्धि-लब्धि प्राप्त होने पर उनमें फँसा जाय अथवा मान-बड़ाई या पूजा-गौरव का मोह पैदा हो तो अधःपतन होने में देर नहीं लगती। अतः ज्ञानी-ध्यानी-योगी को अपने मोहविदारण के कार्य में अखण्ड धैर्य के साथ पूर्ण सावधान रहना चाहिए, ऐसा शास्त्रकारों का उपदेश है। वीतरागता के चरम शिखर पर जब वह पहुँचता है तब पूर्ण कृतार्थ (कृतकृत्य) हो जाता है। उस समय उस आत्मा में पूर्ण परमात्मभाव प्रकट होता है। ऐसा उत्तीर्ण आत्मा ही भगवान् अथवा परमात्मा है। जब तक शरीर होता है तब तक वह साकार परमात्मा है और बाद में निराकार।

जब आत्मा मूढदृष्टिवाला होता है तब 'बहिरात्मा', अन्तर्दृष्टिवाला होता है तब 'अन्तरात्मा' और निरावरण दशा पर पहुँचकर पूर्णप्रकाश बनता है तब 'परमात्मा' कहा जाता है।

बहिरात्मा, मद्रात्मा, अन्तरात्मा, सदात्मा, महात्मा, योगात्मा और परमात्मा — इस प्रकार से भी आत्मा का विकासक्रम बताया जा सकता है।

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' यह महात्मा पतञ्जलि का योग के सम्बन्ध में प्रथम सूत्रपाठ है। चित्तवृत्ति के निरोध का अर्थ है जहाँ-तहाँ भटकती हुई चित्तवृत्तियों को कुशल भावना में लगाना, शुभ चिन्तन में प्रवृत्त एवं व्यापृत करना। इसी को योग कहते हैं। योग का यह अर्थ प्रथम आवश्यक पाठरूप से समझने योग्य और अभ्यसनीय है।

चित्तवृत्ति में शुभता का जैसे जैसे विकास होता जाता है वैसे वैसे उसकी शुद्धता एवं स्थैर्य सधने लगते हैं। इसके परिणामस्वरूप एकाग्रता की भूमिका पर यह आ सकता है। मलिन विचारों को उठने न देकर सद्विचारों में ही चित्त को रममाण रखने का अखण्ड प्रयत्न ही योगसाधन का प्राथमिक और अत्यावश्यक मार्ग है। इसके लिये सत्यनिष्ठा

---

१ सम्यग्दृष्टि प्राप्त करे तब। २. सदाचरणसम्पन्न। ३ चारित्र की महान् भूमिका पर पहुँचा हुआ।

सर्वप्रथम चाहिए और चाहिए दृढ़ निश्चय, भगवत्स्मरण एवं सत्कर्मशीलता।

मोक्ष की साधना नए आते हुए कर्मों को रोकना और पहले के बँधे हुए कर्मों को क्षीण करना–इन दो ही क्रियाओं पर अवलम्बित है। इनमें से पहली को संवर तथा दूसरी को निर्जरा कहते हैं यह हम पहले देख चुके हैं। इन दोनों उपायों की सिद्धि के लिये सद्विचारणा, सदाचरण, शम, संयम, तप, त्याग और आध्यात्मिक स्वाध्याय, तथा दोषास्पद मार्ग से दूर रहना—यही अध्यात्मशास्त्र में उल्लिखित तथा प्रतिपादित साधनप्रणाली है।

आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं। अध्यात्म साधना के मार्ग से उन्हें विकसित किया जा सकता है। आवरणों के दूर होने से आत्मा की जो शक्तियाँ प्रकट होती हैं उनका वर्णन ही

---

१ स्वामी शंकराचार्य भी साधनपञ्चकस्तोत्र में ऐसा ही कहते हैं—

"प्राक्कर्म प्रविलाप्यतां चितिबलान्नाप्युत्तरैः श्लिष्यतां।
प्रारब्धं त्विह भुज्यतामथ परब्रह्मात्मना स्थीयताम् ॥"

अर्थात्—पहले के बाँधे हुए कर्मों को ज्ञान शक्ति से नष्ट करो, नए कर्मों से न बँधो तथा प्रारब्ध (उदयगत) कर्म (समभाव से) भोगो और इस प्रकार परब्रह्मस्वरूप को प्राप्त करो।

जैनदर्शन में कर्म की बध्यमान, सत् और उदयमान ऐसी तीन अवस्थाएँ मानी गई हैं। इन्हें क्रमशः बन्ध, सत्ता और उदय कहते हैं। जैनेतर दर्शनों में बध्यमान कर्म को 'क्रियमाण', सत्कर्म (सत्तागत कर्म) को 'सञ्चित' और उदयमान कर्म को 'प्रारब्ध' कहते हैं।

नहीं किया जा सकता। आत्मा की दिव्य चेतनशक्ति के आगे भौतिक विज्ञान के चमत्कार कुछ भी विसात नहीं रखते। जड़वाद का उत्कर्ष और उससे उपलब्ध उन्नति अपाय, सपरिताप, सभय और विनश्वर हैं, जबकि विशुद्ध आत्म शक्ति का प्रकाश कल्याणरूप प्रकाश एवं निर्मल आनन्द का स्रोत है। यही अखण्ड और अक्षय सुख है। आध्यात्मिक यात्रा ही इसकी प्राप्ति का मार्ग है। विद्या और विज्ञान धर्मसम्पन्न होने पर ही सुख एवं अभ्युदय के साधक होते हैं, जबकि धर्मविरुद्ध होने पर वे दुःखरूप एवं अनर्थकारक बनते हैं।

भावना

मोह ममत्व को नरम करने में भावनाओं का बल बहुत कार्य करता है यह ऊपर कहा गया है। जैन ग्रन्थों में इस बारे में ऐसी बारह भावनाओं का, जिन्हें अनुप्रेक्षा भी कहते हैं, उपदेश दिया गया है।

(१) अनित्य भावना—सब विनाशी है ऐसा विचारना अनित्य भावना है। अनासक्ति के लिये यह भावना अत्यन्त उपयोगी है। 'संसार की जिन वस्तुओं के लिये हम अन्याय करते हैं वे साथ में आनेवाली नहीं है। यह जीवन ही क्षणभंगुर है, तो फिर इसके लिये अन्याय अथवा अधर्म का आचरण करना उचित है क्या? प्रकृति के ऊपर कुछ

अंशों में शायद हम विजय प्राप्त कर सकें, दूसरे मनुष्यों अथवा राष्ट्रमण्डल पर भी प्रभुत्व जमा लें, किन्तु मृत्यु पर विजय प्राप्त नहीं कर सकते। मृत्यु हमारे सब विजयों को हमसे छीन लेती है। ज़िन्दगी 'चार दिन की चाँदनी' है, इसे पापाचरण से काली क्यों करें? काली करेंगे तो 'फिर अन्धेरी रात!' एक दिन यह शरीर मिट्टी में मिल जायगा, फिर दूसरों के सिर पर इसे क्यों नचाएँ? विनश्वर ज़िन्दगी के लिये अनीति-अन्याय के, परद्रोह के दुष्कर्म करना और बाद मे उसके परिणामस्वरूप घोर अधोगति में गिरना यह तो मूर्खता की ही बात होगी, समझदारी की नहीं' – इस प्रकार की भावना हमें न्यायमार्ग से च्युत नहीं होने देती। यही इस भावना की उपयोगिता है। जिस प्रकार सम्पत्ति चली जाती है उसी प्रकार विपत्ति भी चली जाती है, यह बात ध्यान पर रहे तो विपत्ति एवं इष्ट-वियोग के समय धैर्य धारण किया जा सकता है। यह भी इस भावना की उपयोगिता है। बाकी, इस भावना का उपयोग अकर्मण्य बनने मे नहीं करना चाहिए। यह तो उसका दुरुपयोग ही होगा। परहित के सत्कार्य में यथा-शक्ति प्रवृत्तिशील रहने में ही अनित्य-भावना बराबर पची मानी जा सकती है, क्योंकि 'अनित्य' समझ कर 'नित्य' की प्राप्ति के आकांक्षी को स्व-परहितसाधन के सन्मार्ग पर चलना ही रहा।

भले ही सुखोपभोग की भौतिक वस्तुएँ अनित्य और दुःखमिश्रित हों, फिर भी जबतक जीवन है तबतक ऐसी जीवनोपयोगी वस्तुओं को पाना आवश्यक होता है। उनके बिना चल ही नहीं सकता। इसलिये ऐसी वस्तुएँ न्याय पूर्वक उपार्जित या प्राप्त करनी चाहिए और उनका उपभोग आसक्तिरहित होकर करना चाहिए—ऐसा उपदेश देना ही इस भावना का उद्देश है। आत्महत्या तो निषिद्ध ही है।

(२) अशरण भावना—' मैं राजा हूँ, महाराजा हूँ, जनता का अथवा जगत् का रक्षक हूँ, मैं बड़ा धनी या सेठ हूँ, सबल हूँ, मेरा सहायकमण्डल अथवा अनुयायि वर्ग विशाल है, मेरा कोई क्या कर सकता है!'-इस प्रकारका अहंकार मनुष्य में न आवे इसलिये अशरण भावना है। मनुष्य का इस प्रकार का मद या घमण्ड व्यर्थ है, क्योंकि न तो वह मृत्यु के अनिवार्य पंजुल से छूट सकता है और न अन्य किसी को छुड़ा सकता है। भीषण रोगों के दुःख उसे अकेले ही सहने पड़ते हैं। उस समय उसका दुःख कोई पुरुष अथवा प्रियतम व्यक्ति कम नहीं कर सकता। यह अशरणता क्या कम है? ऐसी भावना का उपयोग अहंकार का त्याग करने में करने का है। दया, परोपकार के सत्कर्म छोड़ कर निपट स्वार्थी बन जाना अशरण भावना नहीं है। यद्यपि हम असाध्य स्थिति में से किसी की रक्षा नहीं कर सकते, फिर भी

रक्षा करने का यथाशक्ति प्रयत्न करके सहानुभूति तो प्रदर्शित कर सकते हैं और दूसरों की भलाई में, दूसरे के हित-साधन में कमोबेश अवश्य उपयोगी हो सकते हैं।

इस भावना का मुख्य लक्ष्य यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को किसी दूसरे की शरण की लालच न रखकर (केवल परमात्मा की ही शरण स्वीकार कर) स्वावलम्बी बनना चाहिए, परोपकार दया-संयम जैसे सद्गुणरूपी धर्म की शरण स्वीकारनी चाहिए और अच्छे अच्छे काम करने पर भी, अच्छे गुणों तथा विशिष्ट शक्तियों के होने पर भी अभिमानी न होकर मृदु तथा नम्र बनना चाहिए।

(३) संसार-भावना—धनी और निर्धन सब कोई संसार में दुःखी हैं ऐसा चिन्तन संसार भावना है। यह इसलिये आवश्यक है कि मनुष्य संसार के क्षुद्र प्रलोभनों में फँस कर कर्तव्यच्युत न हो। दूर से देखने पर भले ही दूसरे लोग सुखी दिखाई देते हों, परन्तु वास्तविकता तो यह है कि जो सुखी प्रतीत होता है वह अपने आप को सुखी नहीं मानता। अपने पास सुख की सामग्री पर्याप्त मात्रा में होने पर भी मनुष्य उससे सन्तुष्ट नहीं होता। दूसरों की अधिक सम्पत्ति देखकर उसके मन मे असन्तोष की आग जलने लगती है। लोभ-तृष्णा के बढ़ते हुए वेग से अधिकाधिक प्रेरित हो कर वह परिग्रह के पाप को बढ़ाने में और उससे सम्बद्ध दूसरे अनेक पापों की पुष्टि में ही व्यस्त

रहता है। यदि वह ऐसा समझ ले कि इतना पाप करने के बाद भी मुझे जो मिलेगा उसमें भी मैं दुःखी ही रहूँगा तो वह पापाचरण में उद्यत होवे ही नहीं।

इस भावना के बारे में यह विचारना उपयोगी होगा कि संसार में दुःख बहुत हैं, प्राकृतिक दुःख भी बहुत हैं, चाहे जितने प्रयत्न किये जाएँ दुःख पूर्णरूप से दूर नहीं हो सकते, फिर भी – ऐसी हालत में भी एक दूसरे के साथ अन्याय करके और स्वार्थान्ध बन कर, एक दूसरे की ओर लापरवाह रहकर दुःखों में हम जो अभिवृद्धि करते हैं वह क्या उचित है? यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि संसार में बहुत से दुःख तो हमारे अपने दोषों के कारण हम उत्पन्न करते हैं और बढ़ाते हैं। मानवता के सद्गुणों का विकास करके और व्यापकरूप से मैत्रीभाव की ज्योति जला कर, बन सके उतने दुःख दूर करने का प्रयत्न हमें करना चाहिए। यही इस भावना का तात्पर्य है।

(४) एकत्व भावना—मनुष्य अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरता है हर हालत में उसका कोई साथी नहीं है ऐसा विचारना एकत्व भावना है। स्वावलम्बन एवं अनासक्तभाव को पुष्ट करने में यह भावना उपयोगी है। परन्तु साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि यह विश्व मिश्र सहयोगवृत्ति पर टिका हुआ है

उसका इस भावना से खण्डन नहीं होता। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार हम अपनी भलाई के लिये दूसरों की सहायता चाहते हैं उसी प्रकार दूसरे भी अपनी भलाई के लिये हमारी सहायता की अपेक्षा रखें यह स्पष्ट ही है। दूसरे की भलाई करने की योग्यता जितनी हममें होगी उसी पर इस बात का आधार है कि हम दूसरों से कितनी मात्रा में लाभ उठा सकते हैं। नानाविध सम्बन्धों का लाभ उठाने में मनुष्य की अपनी योग्यता ही उसे काम आने की। श्री एक मात्र योग्यता का ही वरण करती है। अतः Deserve then desire अर्थात् सर्वप्रथम स्वयं योग्य बनना ही इस एकत्व-भावना का अभिप्राय है। यही एकत्व अर्थात् एक तत्त्व अनेक प्रकार के सहयोग, अनेकों की मैत्री, अनेकों की सेवा के लाभ के लिये उपयोगी है। एकत्व का यह अर्थ नहीं कि व्यक्त किंवा अव्यक्त-रूप से तो हम दूसरों का लाभ उठाएँ और जब उसका बदला चुकाने का समय आए तब हम कहते फिरें कि 'मैं किसी का नहीं हूँ, मेरा कोई नहीं है, ससार तो झूठा है।' यह तो एक प्रकार की धूर्तविद्या ही है। एकत्व की भावना ऐसी स्वार्थान्धता के लिये नहीं है, किन्तु स्वावलम्बी और योग्य बनने के लिये है और असहाय दशा में दुःखार्त न हो कर 'प्रत्येक प्राणी अकेला है'—ऐसा समझ करके आत्मबल को जगा कर समाधान पैदा करने के लिये है, धैर्य धारण

करने के लिये है। दूसरी तरह से देखें तो एकत्व का अर्थ है एकता—ऐक्य, अर्थात् मानव-समाज का पारस्परिक मैत्रीपूर्ण संगठन। इसके महत्त्वपूर्ण बल से जगत् में सुख शान्ति की सिद्धि के साथ ही आध्यात्मिक कुशल भी सिद्ध किया जा सकता है। इस तरह की भावना यह एकत्व भावना।

(५) अन्यत्व भावना—मैं शरीर से भिन्न हूँ, ऐसी अन्यत्व भावना के बल से शारीरिक सुख-दुःख हमें क्षुब्ध नहीं कर सकते। प्रायः शारीरिक सुख दुःख के विचार में ही मनुष्य की सब शक्ति नष्ट हो जाती है। 'मैं कौन हूँ' यह यदि समझ में आ जाय तो इस पवित्र ज्ञान के आलोक में मनुष्य आत्मा से भिन्न ऐसे शरीर के मोह में न पड़े, पड़ता हो तो रुक जाय और पड़ना ही बन्द कर दे। वह इन्द्रियों का दास बने नहीं और इस प्रकार वैषयिक मोहाक्रमण से उत्पन्न होनेवाले दुःखों से बच जाय। 'मैं' के सम्यक् अनुभव के विकास में जैसे जैसे वह प्रगति करता जाता है वैसे वैसे सच्चे सुख की उसकी अनुभूति बढ़ती जाती है। सुख भौतिक साधनों पर ही अवलम्बित नहीं है, उसके उद्गम का सच्चा स्थान तो आत्मा है, मन है। अतः उसका निर्मलीकरण जितना अधिक होता है उतना ही स्वास्थ्य एवं सुख शान्ति उच्च श्रेणी के प्रकट होते हैं।

(६) अशुचि भावना—शरीर की अशुचिता का

चार करना अशुचि-भावना है। इससे दो लाभ हैं :
क तो यह कि इससे कुल एवं जात-पाँत का मद तथा
आछूत का ढोंग दूर होता है। अशुचि-भावना यह बताती
कि शरीर जैसे अशुचि पदार्थ में शुचिता-अशुचिता की
कल्पना करना ही मूर्खता है। शरीर तो सबके अशुचि ही
। दूसरा लाभ यह है कि शरीर को अशुचि समझने से
शारीरिक भोगों पर की आसक्ति कम होती है। इस प्रकार
शारीरिक अहंकार और आसक्ति को कम करने के लिये इस
भावना का उपयोग करना चाहिए। परन्तु इसका अर्थ
यह नहीं है कि अशुचि-भावना के नाम पर स्वच्छता के
बारे में भी लापरवाही रखी जाय।

शरीर अशुचि है, फिर भी उसके बारे में लापरवाही
नहीं रखनी चाहिए। उसकी सुयोग्य सँभाल रखकर
(इस सँभाल में समुचित संयम भी विशेषरूप से आ जाता
है) अच्छे शुभ कार्यों में उसका उपयोग करने का है।
एक भी दुष्कृत्य में उसे न लगाकर सत्कृत्य में ही उसे
प्रवृत्त रखना चाहिए। इस तरह उसका सदुपयोग सुख-
कारक तथा कल्याणकारक बनता है और क्रमशः मोक्ष-
साधन के विशिष्ट मार्ग पर चढ़ाता है तथा उस प्रवास को
गतिशील बनाने में सहायक होता है। इसीलिये कहा गया
है कि 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' अर्थात् शरीर धर्म का
प्रथम साधन है।

वैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो शरीर एक ऐसा कारखाना है जो खाए पीए हुए द्रव्यों में से असारभूत तत्त्वों को बाहर निकालकर सारभूत तत्त्वों का संग्रह करता है। इस प्रकार अशुचि तत्त्वों को दूर कर के योग्य तत्त्वों का संग्राहक होने से कौन कह सकता है कि वह जीवन साधना में उपयोगी साधन नहीं है? कल्याण भावना को भूलकर जब मनुष्य शरीर को केवल विषय भोगों का साधन बनाता है तभी वह वस्तुतः अशुचि है। ऐसी अशुचिता न रखनी चाहिए। यही अशुचि भावना का ध्यान में रखने योग्य सूत्र है अर्थात् आत्मतत्त्व की उपेक्षा कर के शरीर पर जो मोहासक्ति रखी जाती है उसे दूर करना ही अशुचि भावना का उद्देश है। मनुष्य समुचित संयम रखकर सत्कर्मशील और परोपकार परायण बने तो उसका शरीर 'नापाक' न समझा जाकर आत्मकल्याण के शुचि पथ पर ले जाने वाला बनता है। और इसी कारण वह इतना अधिक शुचि समझा जाता है कि उसके अंगभूत पैर को कल्याणाभिलाषी लोग भक्तिभावसे छू कर वन्दन करते हैं, उस चरण-स्पर्श को पावित्र्य का स्पर्श मानते हैं।

(७) आस्रव भावना—दुःख अथवा कर्मबन्ध के कारणों पर अथवा वैषयिक भोगों पर के राग में से उत्पन्न अनिष्ट परिणामों पर विचार करना आस्रव भावना है।

(८) संवर भावना—दुःख अथवा कर्मबन्ध के

कारणों को आने न देने का अथवा उन्हें रोकने का विचार करना संवर-भावना है। दुर्वृत्ति के द्वार बन्द करने के लिये सद्वृत्ति के गुणों का चिन्तन करना संवर-भावना है।

(९) निर्जरा-भावना—दुःख-दुर्गति की जड़ को उखाड़ डालने, उपस्थित दुःख को मानसिक समाधानके साथ सहन करने अथवा दुःखावह वासना का नाश करने के बारे में विचार करना निर्जरा-भावना है।

(१०) लोक-भावना—विश्व बहुत बड़ा है, उसमें हमारा मूल्य एक अणु तुल्य है, तो फिर किस बात का हम घमण्ड कर सकते हैं ? ऐसा नम्रताप्रेरक विचार लोक-भावना है। विश्व की विशालता एवं विचित्रता का विचार करने से जो एक प्रकार का कुतूहल तथा हर्ष उत्पन्न होता है और जीवन के क्षुद्र स्वार्थों पर एक प्रकार का उपेक्षाभाव पैदा हो कर जो पाप करने का उत्साह मन्द हो जाता है यही इस भावना का बड़ा लाभ है। यह भावना विनयादि गुणों को प्रकट करने में उपयोगी हो सकती है।

(११) बोधिदुर्लभत्व-भावना—संसार में सब लाभ सुलभ हैं, परन्तु सत्यकी प्राप्ति दुर्लभ है। मनुष्य-जन्म, सुशिक्षण एवं सुसंगति आदि दुर्लभ तो हैं ही, परन्तु ये सब मिलने पर भी मनुष्य अहंकाररूपी पिशाच के अधीन हो कर इन सबसे होनेवाले लाभ खो देता है। धर्म एवं सम्प्रदाय के

देश में हम अहंकार के पुजारी बनते हैं, जिससे विशुद्ध सत्य की उपलब्धि नहीं हो पाती। इस प्रकार 'बोधि' अर्थात् विशुद्ध सत्य की उपलब्धि के विषय में विचार करना बोधिदुर्लभत्व भावना है।

(१२) धर्मस्वाख्यातत्व भावना—धर्म का कथन किस प्रकार किया जाय जिससे वह 'स्वाख्यात' अर्थात् अच्छी तरह से कहा हुआ समझा जाय – इस बातका विचार करना 'धर्मस्वाख्यातत्व भावना' है। धर्म सबके लिये हितकारी होना चाहिए, उसमें सबका समान अधिकार होना चाहिए और भिन्न भिन्न और ऊपर-ऊपर से देखने पर विरोधी मालूम होनेवाले धर्म के उपदेशों के बीच सुसंगति स्थापित कर एक ऐसी समन्वयबुद्धि होनी चाहिए। जहाँ कहीं सद्गुण दिखाई दें वहाँसे उसे ग्रहण करनेकी उदारता होनी चाहिए। ये तथा ऐसी अन्य विशेषताएँ धर्मकी स्वाख्यातता हैं। हमें यह समझना चाहिए कि धार्मिक संकुचितता और झूठे अहंकार से धार्मिक सत्यका अपमान होता है तथा एक दूसरेकी तरफ अभाव, अनादर, द्वेष और तिरस्कारकी कलुषित वृत्तियाँ जमन और बढ़ने लगती हैं। जिससे सब प्राणियों का कल्याण सिद्ध हो सकता है एवं सद्गुणसम्पन्न धर्मका उपदेश सत्पुरुषोंने दिया है यह कितना बड़ा सद्भाग्य है—ऐसा चिन्तन करना धर्मस्वाख्यातत्व भावना है।

भावना[1] का दूसरा नाम अनुप्रेक्षा है जिसका अर्थ होता है गहन चिन्तन। यदि चिन्तन तात्त्विक और गहरा हो तो उससे राग-द्वेषकी वृत्ति उत्पन्न होने से रुक जाती है। अतएव ऐसे चिन्तन का संवर के (कर्मबन्धनिरोध के) उपायरूप से उल्लेख किया गया है।

बन्ध-मोक्ष

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध–मोक्षयोः' (मैत्र्युपनिषद्) – यह सुप्रसिद्ध वचन सूचित करता है कि मन ही बन्ध और मोक्षका कारण है। और यह बात है भी सत्य। इसका तात्पर्य यही है कि मन की शुभ वृत्ति से शुभ कर्म और अशुभ वृत्ति से अशुभ कर्म का बन्ध होता है। परन्तु यदि क्रिया – प्रवृत्ति के पीछे मन की वीतराग स्थिति अथवा विशुद्ध निष्कषाय वात्सल्यभाव हो तो ऐसे श्रेष्ठ शुद्ध

---

१. समग्र भावनाओं का साररूप उद्‌गार—

मनो वचो मे चरितं च सन्ततं
पवित्रतावाहि यदा भविष्यति।
तदा भविष्यामि यथार्थमुन्नतः
कृतार्थजन्मा परमप्रसादभाक्॥ —लेखक

अर्थात्—जब मेरे मन, वचन और आचरण निरन्तर पवित्रता के धारक बन जाएँगे तभी मेरी सच्ची उन्नति होगी, तभी मेरा जन्म कृतार्थ होगा और तभी मैं अखण्ड प्रसाद का अनुभव करूँगा।

शुभ मन से कर्मबन्ध नहीं होता, अपितु पराकाष्ठा पर पहुँची हुई मन की शुद्धता से मोक्ष प्रकट होता है। इसीलिये उपर्युक्त श्लोकार्ध में मन को मोक्ष का कारण कहा है।

इस पर से ज्ञात हो सकता है कि क्रिया – प्रवृत्ति होने से ही कर्म का बन्ध हो जाता है ऐसा एकान्त नियम समझ लेने का नहीं है। क्रिया – प्रवृत्ति यदि रागद्वेषरहित हो तो वह कर्मबन्धक नहीं होती। केवली भगवान् सांसारिक मनुष्य की भाँति ही चलते फिरते हैं, बोलते हैं तथा अन्यान्य प्रवृत्ति करते हैं फिर भी उन्हें [सातवेदनीय कर्म के क्षणिक मात्र बन्ध की गिनती न होने से] कर्मबन्ध नहीं होता; क्योंकि वे वीतराग हैं। जो सच्चा वीतराग होता है वह विश्ववत्सल होता है, जगन्मित्र होता है, सब प्राणियों की ओर उसका वीतराग वात्सल्य बहता ही रहता है। केवली ऐसे ही होते हैं। वे निष्क्रिय नहीं होते, किन्तु उज्ज्वलप्रवृत्तिपरायण होते हैं। विश्वहित की उनकी प्रवृत्ति वीतरागभाव से युक्त (निष्कषाय वात्सल्यभाव से युक्त) होने से कर्मबन्धक नहीं होती।

यह बात सही कि अनासक्त किंवा वीतरागभाव से–विशुद्ध वात्सल्यभाव से प्रेरित होकर कार्य करना बहुत ऊँची स्थिति है और यह भी सच है कि साधारण विकास तक पहुँचे हुए मनुष्यों को यह भूमिका दुर्गम प्रतीत

हो, फिर भी इस दुर्गम आदर्श को सुगम करने की दिशा में आहिस्ता आहिस्ता भी प्रयत्न तो करना ही रहा।

शुभ कर्मबन्ध के पीछे जो शुभ वृत्ति-प्रवृत्ति होती है उसमें राग होता ही है और राग के प्रतिपक्षी द्वेष की भी प्रायः (दूसरे पक्ष में) सम्भावना है। राग का आवरण जहाँ होता है वहाँ स्वार्थ, पक्षपात, दूसरे के हित की ओर उपेक्षाभाव – ऐसा कूड़ा-करकट थोड़ा बहुत प्रायः लगा होता है। अतः वह स्थिति कर्मबन्धक होती है और अपने स्वभाव के अनुसार होती है।

ऐसा होने पर भी यह ध्यान में रखना चाहिए कि स्व-परहित के सत्कार्य करने के पीछे यदि शुभयोगरूप शुभ-आस्रव हो तो वह भी आत्मा के लिये हितावह है। सत्कर्मों से बँधनेवाला सत्पुण्यरूप कर्म कल्याणके साधन जुटानेवाला होने से उसे प्रशस्त कोटिका, प्रशंसास्पद समझना चाहिए। सुयोग्य शरीरादि साधन और श्रेयः-साधक सत्संग जैसे शुभ संयोग प्राप्त करानेवाला [सत्पुण्य-रूप] कर्म कितना महत्त्वशाली होगा? 'तीर्थंकर' नाम कर्म जैसा महान् और उच्चतम कोटि का कर्म आत्मा के जिस आस्रवरूप परिणाम से बँधता है वह क्या कम स्तुतिपात्र होगा? समग्र संसारी जीवनयात्रा में यद्यपि कर्मबन्ध के व्यापार और कर्मबन्ध का क्रम तो चालू ही रहता है फिर भी

कम से कम इतना ख्याल तो विवेकी को अवश्य रखना चाहिए कि कलुषित अथवा पापरूप कर्म का बन्ध न हो। बाक़ी, सत्कर्म द्वारा सत्पुण्य का बन्ध हो तो उससे डरने या घबराने की आवश्यकता नहीं।

सामान्यतः लोग ऐसा समझ बैठे हैं कि अमुक कार्य न करने से, प्रवृत्ति मात्र का त्याग कर देने से हमें पुण्य पाप की छूत नहीं लगेगी। उनका ऐसा ख्याल होता है कि शुभ (हितकारक) कार्य करने से पुण्यकर्म का बन्ध होता है और यह बन्ध सोने की सांकल जैसा है, और

---

१ श्री यशोविजयजी उपाध्याय प्रथम द्वात्रिंशिका के १०वें श्लोक में कहते हैं—

नैवं यत् पुण्यबन्धोऽपि धर्महेतुः शुभोदयः।
वह्नेर्दाह्यं विनाश्येव नश्वरत्वात् स्वतो मतः॥

अर्थात्—पुण्यबन्ध (शुभ पुण्यबन्ध) भी शुभ उदयवाला और धर्मका कारण है। वह मुक्ति का विरोधी नहीं है। जिस तरह आग ईंधनादि को जलाकर स्वयं शान्त हो जाती है उसी तरह शुभ पुण्य पापका नाश करके स्वयमेव क्षीण हो जाता है।

इसी द्वात्रिंशिका के ११वें श्लोक की टीका में वे कहते हैं कि शुभ पुण्य मोक्षमार्ग-विहार में बाधक नहीं होता। अतएव ऐसे पुण्य से मुक्ति की सुलभता होती है ऐसा समझना चाहिए।

पुण्यात्मा शुभ पुण्य के उदय से प्राप्त भोगों में आसक्त नहीं होता किन्तु वह स्वस्थ रहता है, धर्मविहारी रहता है, राजयोगी बना रहता है और वह परिशुद्धि प्राप्त् शुभ अवसर आने पर मोक्षसाधन के महान् मार्ग पर चढ़ जाता है तथा उत्तरोत्तर प्रगति करता है।

इसी प्रकार अशुभ (अहितकर) कार्य करने से पापकर्म बँधता है और यह लोहे की शृंखला जैसा है; अर्थात् शुभ या अशुभ कार्य करने से कर्मबन्ध तो होता ही है और आत्मा की मुक्ति तो कर्मरूपी जंज़ीर के बन्धन से मुक्त होने पर होती है, इसके सिवाय नहीं। इस प्रकार के ख्याल से वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ज़रूरी प्रवृत्तियों के अतिरिक्त दूसरी सब प्रवृत्तियाँ छोड़ देते हैं और अकर्मण्य बन कर मोक्ष की प्रतीक्षा में बैठे रहते हैं। परन्तु आलस्यमय जीवन शैतान के प्रवेश के लिये दरवाज़े खोल देता है। प्रत्येक मनुष्य कुछ-न कुछ प्रवृत्ति अवश्य करता है। कर्म किए बिना उससे रहा ही नहीं जा सकता। किसी समय बाह्य रूप से भले ही वह निष्क्रिय सा दीखे फिर भी उसका मन तो अपना कार्य करता ही रहता है। चञ्चल मन का यह स्वभाव ही है। अतः कर्म मात्र से छुटकारा ले लेने का बाह्य दिखावा केवल दम्भ ही बन जाता है।

अशुभ प्रवृत्ति तो छोड़ ही देने की है, परन्तु ऐसा कब हो सकता है ? जब मन को शुभ प्रवृत्ति में रोका जाय तब। जिस प्रकार पैर में चुभे हुए काँटे को निकालने के लिये हम सूई का उपयोग करते हैं उसी प्रकार अशुभ प्रवृत्तियोंसे छुटकारा पाने के लिये शुभ प्रवृत्तियों का आश्रय लेने की आवश्यकता है। काँटा निकालने के बाद काँटे को तो फेंक

देते हैं परन्तु घर्ई को भविष्य के उपयोग के लिये सँभालकर रख देते हैं उसी प्रकार अशुभ प्रवृत्ति की ओर मन की वृत्ति जब तक सर्वथा नष्ट न हो तब तक शुभ प्रवृत्तियाँ त्याज्य नहीं होतीं।

शुभ प्रवृत्ति के बन्धन से छुटकारा पाने के लिये उसका त्याग करने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि वैसी प्रवृत्ति के पीछे रहे हुए आशय को शुभ में से शुद्ध रूप में परिणत किया जाय। यद्यपि यह अत्यन्त कठिन कार्य है परन्तु मुक्ति जैसी दुष्प्राप्य वस्तु प्राप्त करने के लिये उसका मार्ग भी कठिन ही होगा।

प्रस्तुत में कहनेका अभिप्राय यह है कि प्रवृत्ति छोड़ने से नहीं छूटती। जब उसकी आवश्यकता नहीं रहती तब वह स्वतः स्वाभाविकरूप से ही छूट जाती है। परन्तु जब तक जीवनप्रवाह स्वभावतः प्रवृत्तिगामी है तब तक मनुष्य को असत्प्रवृत्ति का त्याग कर के सत्प्रवृत्तिशील बनना चाहिए। असमय में किए हुए प्रवृत्ति त्याग में कर्तव्यपालन के स्वाभाविक एवं सुसंगत मार्ग से मनुष्य च्युत हो जाता है। उसमें विकास साधन की अनुकूलता नहीं है, जीवन की विडम्बना मात्र है।

एक प्रवृत्ति में से दूसरी प्रवृत्ति में चल जाना भी प्रायः

निवृत्ति का काम बजाता है। इस प्रकार की प्रवृत्तिधारा जीवन को आनन्दमय स्थिति में रख सकती है।

अलबत्ता, प्रत्येक व्यक्ति की प्रवृत्ति का क्षेत्र अपनी अपनी योग्यता एवं रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। किन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि मानसिक या बौद्धिक कार्य-कर्त्ता को भी समुचित शारीरिक श्रम भी उसके जीवन के उल्लास के लिये अपेक्षित ही है।

मुक्ति अथवा कल्याण का मार्ग एकान्त निवृत्ति अथवा एकान्त प्रवृत्ति नहीं है। निवृत्ति उसका योग्य समय आने पर स्वतः उपास्य बन जाती है। प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों परस्पर एक-दूसरे के साथ संगत होकर जीवन में रहें तभी सच्चे जीवन का विकास हो सकता है। निवृत्ति प्रवृत्ति में चैतन्य लाने के लिये है। जिस प्रकार एक प्रवासी विश्राम लेने के लिये किसी स्थान पर बैठता है और आराम लेने के पश्चात् पुनः चल पड़ता है उसी प्रकार विश्रान्तिरूप योग्य निवृत्ति का अवलम्बन प्रवृत्ति को सतेज और प्राणमय बनाने के लिये है। अथवा जिस प्रकार ऊँचा मकान बनाने के लिये नींव गहरी डालनी पड़ती है उसी प्रकार ऊँचे प्रकार की प्रवृत्ति की साधना के लिये निवृत्ति लेनी पड़ती है। इस प्रकार समुचित निवृत्ति द्वारा पोषित और संवर्धित विवेक-पूत प्रवृत्ति, सत्कर्मशीलता, स्व-परहितकर कार्यपरायणता

अथवा अनासक्त कर्मयोग स्थायी, स्वस्थ एवं मधुर आनन्द का झरना बन जाता है। ऐसा झरना चाहे जैसी उमत कल्पना के आधार पर खड़ी की गई निवृत्ति [निष्क्रिय और अकर्मण्यतारूप निवृत्ति] नहीं बन सकती।

पहले कहा जा चुका है कि अहिंसा का अर्थ हिंसा न करना, पापाचरण न करना ऐसा केवल निषेधात्मक (निवृत्ति रूप) नहीं है, परन्तु प्राणिदया, भूतवात्सल्य, परोपकारिता और सदाचरणरूप विधेयात्मक (प्रवृत्तिरूप) भी उसका अर्थ है। जिस प्रकार एक ढाल के दो पहलू होते हैं उसी प्रकार धर्म के दो पहलू हैं: एक प्रवृत्ति और दूसरी निवृत्ति – अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति। इस तरह धर्म प्रवृत्ति-निवृत्ति उभयात्मक है।

हमें यह जानना चाहिए कि चारित्र के दो अंग हैं। जीवन में रहे हुए अथवा आनेवाले दोषों को दूर करना यह पहला अंग है और दूसरा अंग आत्मा के सद्गुणों का उत्कर्ष करना है। इन दोनों अंगों के लिये किए जानेवाले सम्यक् पुरुषार्थ में ही वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन की कृतार्थता है। ये दोनों अंग एक-दूसरे के साथ इस तरह से संयुक्त हैं कि पहले के बिना दूसरा शक्य ही नहीं है और दूसरे के बिना पहला ध्येयशून्य हो जाने के कारण शून्य जैसा लगता है। अतः प्रथम अंग में ही चारित्र की पूर्णता

न मानकर उसके उत्तरार्ध अथवा उसके साध्यरूप दूसरे अंग का भी विकास करना चाहिए।

इस प्रकार प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों के समुचित साहचर्य में ही अभ्युदय तथा निःश्रेयस की सिद्धि है।

जैन-जैनेतर दृष्टि से आत्मा

अध्यात्म का विषय आत्मा का विषय है, अतः उसमें आत्मस्वरूप की मीमांसा मुख्यरूप से होती है। भिन्न-भिन्न दृष्टियों से आत्मस्वरूप का विचार करने पर उसके बारे में उत्पन्न होनेवाली शंकाएँ दूर हो जाती हैं और आत्मा की सच्ची पहचान हो जाने से उस पर अध्यात्म की नींव रखी जा सकती है। यद्यपि यह विषय अत्यन्त विस्तृत है फिर भी इसके बारे में एक दो बातें जरा देख लें।

कई दार्शनिक[1] आत्मा को केवल शरीर में ही स्थित न मान कर उसे विभु (शरीर के बाहर भी – सर्वव्यापक) मानते हैं। अर्थात् प्रत्येक शरीर का प्रत्येक आत्मा संपूर्ण विश्व में व्याप्त है – ऐसा उनका मन्तव्य है। इसके अतिरिक्त उनका ऐसा भी मानना है कि ज्ञान आत्मा का अपना वास्तविक स्वरूप नहीं है, किन्तु शरीर, इन्द्रिय एवं मन के सम्बन्ध से आगन्तुक [उत्पन्न होनेवाला] आत्मा का अवास्तविक धर्म है।

---

१ नैयायिक, वैशेषिक तथा सांख्य।

इन दोनों सिद्धान्तों में जैन-दार्शनिक जुदा पड़ते हैं। पहली बात अर्थात् आत्मा की व्यापकता के बारे में उनका मानना है कि प्रत्येक शरीर का भिन्न भिन्न आत्मा उस उस शरीर में ही व्याप्त हो कर रहा है। शरीर के बाहर उस आत्मा का अस्तित्व नहीं है। उनका कहने का अभिप्राय यह है कि ज्ञान, इच्छा आदि गुणों का अनुभव केवल शरीर में ही होने के कारण उन गुणों का अधिष्ठाता आत्मा भी केवल शरीर में ही होना चाहिए। दूसरी बात के सम्बन्ध में जैनदर्शन का मन्तव्य है कि ज्ञान आत्मा का वास्तविक धर्म है, आत्मा का असल स्वरूप है, आत्मा स्वभावतः ज्ञानमय है। अतः इस मान्यता के अनुसार शरीर, इन्द्रिय एवं मन का सम्बन्ध छूट जाने के बाद मुक्त अवस्था में भी आत्मा का स्वभावसिद्ध ज्ञानस्वरूप अवस्थित ही रहता है। अर्थात् आत्मा अपने सच्चे स्वरूप में ज्ञानमय होने के कारण मुक्त अवस्था में उसका निरावरण

---

१ जिस वस्तु के गुण जहाँ दीखते हों वहीं वह वस्तु होनी चाहिए। घट का रूप जहाँ दीखता हो वहीं घट हो सकता है। जिस स्थान पर घट का रूप दीखता हो उस स्थान से भिन्न स्थान में वह रूपवान घट कैसे हो सकता है? यही बात श्री हेमचन्द्राचार्य अपनी द्वात्रिंशिका में 'यत्रैव यो दृष्टगुणः स तत्र कुम्भादिवन्निष्प्रतिपक्षमेतत्' इन शब्दों से कह कर आत्मा के ज्ञान इच्छा आदि गुणों का शरीर में ही अनुभव होने के कारण इन गुणों का स्वामी आत्मा भी शरीर में ही रहता सिद्ध होता है न कि शरीर के बाहर—ऐसे जैन सिद्धान्त का समर्थन करते हैं।

ज्ञानै पूर्ण रूपसे प्रकाशित होता है; जबकि ज्ञान को आत्मा का वास्तविक धर्म नहीं माननेवालों के मत के अनुसार मुक्ति-अवस्था में आत्मा ज्ञानशून्य मानना पड़ता है।

आत्मा के सम्बन्ध में अन्य दार्शनिकों की अपेक्षा जैनों के भिन्न सिद्धान्त इस प्रकार बतलाए गए हैं—

"चैतन्यस्वरूपः, परिणामी, कर्ता, साक्षाद्भोक्ता, स्वदेहपरिमाणः, प्रतिक्षेत्रं भिन्नः, पौद्गलिकादृष्टवांश्चाऽयम् ॥"

इस सूत्र में आत्मा को प्रथम विशेषण 'चैतन्यस्वरूप-वाला' दिया गया है, अर्थात् ज्ञान आत्मा का वास्तविक स्वरूप है। इससे, पहले कहे अनुसार ज्ञान को आत्मा का स्वरूप न माननेवाले नैयायिक आदि दार्शनिक

---

१. बादलों में छुपे हुए सूर्य का चकाचौंध करनेवाला प्रकाश भी बादलों के कारण मन्द हो जाता है और वही मन्द प्रकाश सच्छिद्र परदेवाले अथवा आवरणयुक्त घर में अधिक मन्द हो जाता है, परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि सूर्य जाज्वल्यमान प्रकाशवाला नहीं है। इसी प्रकार आत्मा के ज्ञानप्रकाश या वास्तविक सच्चिदानन्द स्वरूप का भी शरीर-इन्द्रिय-मन के बन्धन से अथवा कर्मसमूह के आवरण से यदि पूर्णरूप से अनुभव न हो, मन्द अनुभव हो, विकारयुक्त अनुभव हो तो इससे यह नहीं कहा जा सकता कि ज्ञान आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है।

२ वादिदेवसूरिकृत 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' नामक न्यायग्रन्थ के सातवें परिच्छेद का ५६वाँ सूत्र।

जुदा पड़ते हैं। 'परिणामी' [नई नई योनियों में-भिन्न भिन्न गतियों में भ्रमण करने के कारण, भिन्न भिन्न अवस्थाओं में भी परिवर्तनशील होने के कारण परिणामस्वभाववाला], 'कर्ता' और 'साक्षात् भोक्ता' इन तीन विशेषणों से, आत्मा को कमलपत्र की भाँति निर्लेप—सर्वथा परिणामरहित, क्रियारहित माननवाले और उसे साक्षात् भोक्ता न माननवाले सांख्य जुदा पड़ते हैं। नैयायिक आदि भी आत्मा को परिणामी न मानकर कूटस्थ-नित्य मानते हैं। 'मात्र शरीर में ही व्याप्त' इस अर्थवाले 'स्वदेहपरिमाण' इस विशेषण से, आत्मा को सर्वत्र व्याप्त माननवाले वैशेषिक नैयायिक सांख्य जुदा पड़ते हैं। 'प्रत्येक शरीर में भिन्न आत्मा' इस अर्थवाले 'प्रतिक्षेत्र[1] भिन्न' विशेषण से, एक ही आत्मा माननेवाले अद्वैतवादी वेदान्ती जुदा पड़ते हैं। और अन्तिम विशेषण से पौद्गलिकद्रव्यरूप अदृष्टवाला आत्मा कहने से कर्म को अर्थात् धर्म अधर्म को आत्मा का विशेष गुण माननवाले नैयायिक-वैशेषिक और कर्म को तथाविध परमाणु द्रव्यों का समूहरूप नहीं माननवाले वेदान्ती आदि जुदा पड़ते हैं।

'सत्य ब्रह्म, जगन्मिथ्या' इस वाक्य का वास्तविक अर्थ तो यह है कि जगत् में दृश्यमान सब भौतिक पदार्थ विनाशी हैं, अतः उन्हें मिथ्या अर्थात् असार समझना

---

१ क्षेत्र अर्थात् शरीर।

चाहिए; केवल शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा ही आराध्य है, उसी की आराधना करना यही सत्य है। उक्त वाक्य का यह अर्थ अथवा उसमें से निष्पन्न यह उपदेश अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है। अनादि मोहवासना के भीषण सन्ताप को शान्त करने के लिये ऐसा उपदेश देना प्राचीन महर्षि आवश्यक समझते थे। जगत् के पदार्थ शशशृङ्ग की भाँति सर्वथा असत् हैं ऐसा अर्थ उक्त वाक्य का करना ठीक नहीं, परन्तु जगत् मिथ्या है अर्थात् असार है—यही अर्थ यथार्थ और सबके अनुभव में आ सके ऐसा है। दृश्यमान बाह्य पदार्थों की निःसारता का वर्णन करते हुए जैन महात्माओंने भी उन्हें 'मिथ्या' कहने में कुछ भी बाकी नहीं रखा, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि दुनिया में ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ ही नहीं है। संसार का सब प्रपंच भङ्गुर और विनश्वर होने से असार है अथवा उस परका मोह असार है—इस सत्य पर विशेष रूप से भार देने के लिये 'मिथ्या' विशेषण है। परन्तु इससे सर्वानुभवसिद्ध जगत् को खरविषाणवत् सर्वथा असत् नहीं समझना चाहिए। दुनिया में दिखाई देनेवाले भौतिक पदार्थ सद्भूत पदार्थ हैं। वे दीखते हैं यह झूठी ही प्रतीति है ऐसा नहीं है। जब और जहाँ रस्सी सर्परूप से ज्ञात हो तब और वहाँ सर्प असत् है, अतः उसे सर्प समझना

भ्रम है, परन्तु सच्चा सर्प सत्सर्प है, अतः उसे सर्प समझना भ्रम नहीं है, यह तो सच्ची समझ है'।[1]

कर्म की विशेषता

अध्यात्म का विषय आत्मा और कर्म से सम्बन्ध रखने वाले विस्तृत विवेचनों से परिपूर्ण है। अब तक आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में हमने किंचित् अवलोकन किया। अब कर्म की विशेषता के बारे में भी थोड़ा देख लें।

जड़ पुद्गल द्रव्य में भी अनन्त शक्ति है। पुद्गलरूप 'कर्म' जड़ होने पर भी आत्मा के साथ अत्यन्त घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होने के कारण और इन दोनों की शक्तियों के संयुक्त प्रभाव के परिणामस्वरूप आत्मा पर अपना जबरदस्त प्रभाव डालता है अथवा जबरदस्त प्रभाव डालने का सामर्थ्य रखता है। जिस प्रकार अच्छी-बुरी वस्तुएँ शरीर में जा कर अच्छा-बुरा प्रभाव डालती हैं उसी प्रकार अच्छे-बुरे कामों से (विचार-वाणी-वर्तन से) खास तरह के 'संस्कार' आत्मा में जम जाते हैं, जो खास

---

१ जग असत् अर्थात् मृगजल की भाँति मिथ्या हो तो बन्ध-मोक्ष का, सुख-दुःख का, सौभाग्य-दौर्भाग्य का अथवा सत्कर्म-असत्कर्म का भेद जैसा कुछ रहेगा ही नहीं। तब तो सत्यभूत सिद्धान्त के अथवा सन्मार्ग के उपदेश की भी आवश्यकता नहीं रहेगी। कोई कर्तव्य ही नहीं रहेगा और कोई सवाल भी नहीं रहेगा। जग असत् होने पर सत्य पर भी क्या असत् नहीं ठहरेगा?

तरह के भौतिक अणुसंघात के संयोगरूप होते हैं। ये ही शुभाशुभ कर्म हैं जो आत्मा को शुभाशुभ फल चखाते हैं। प्राणियों में – मनुष्यों में दिखाई देनेवाली नानाविध विचित्रताएँ इन शुभाशुभ कर्मों पर आश्रित हैं।

संसार में दूसरे जीवों की अपेक्षा मनुष्य की ओर हमारी नज़र जल्दी जाती है और मानवजाति का हमें सदैव परिचय है इससे उसके बारे में मनन करने पर कितने ही आध्यात्मिक विषयों में विशेष खुलासा हो सकता है।

जगत् में मनुष्य दो प्रकार के मालूम पड़ते हैं : एक सदाचारसम्पन्न और दूसरे उनसे विपरीत। इन दोनों प्रकार के मनुष्यों को भी दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं– सुखी और दुःखी। इस प्रकार मनुष्यों के कुल चार विभाग हुए: १ सदाचारी सुखी, २ दुराचारी सुखी, ३ सदाचारी दुःखी और ४ दुराचारी दुःखी। ऐसे चारों प्रकार के मनुष्य हमें इस धरातल पर दृष्टिगोचर होते हैं। यह स्पष्ट है कि ऐसी विचित्र स्थिति होने में पुण्य-पापकी विचित्रता कारणरूप है। अतः इन चार प्रकार के मनुष्यों को लेकर पुण्य और पाप के सामान्यतः दो दो प्रकार बतलाए गए हैं और वे इस प्रकार हैं—

१. पुण्यानुबन्धी पुण्य, २. पापानुबन्धी पुण्य, ३. पुण्यानुबन्धी पाप और ४. पापानुबन्धी पाप।

पुण्यानुबन्धी पुण्य—जन्मान्तर के जिस पुण्य के उदय से सुखोपभोग करने पर भी धर्मसाधन में अभिरुचि रहे, पुण्य कार्य करने में प्रमोद हो और सदाचारी जीवन व्यतीत किया जाय-ऐसे पुण्य को 'पुण्यानुबन्धी पुण्य' कहते हैं। क्योंकि ऐसा पुण्य (पुण्योदय) वर्तमान जीवन में सुख देने के साथ ही साथ जीवन को शुभ अर्थात् पुण्य शाली बनाने में भी सहायक होता है। 'पुण्य का अनुबन्धी' अर्थात् परलोकसाधक पुण्यसाधना के साथ सम्बन्ध रखने वाला (भविष्य के अच्छे परलोक की पुण्य क्रिया में बाधक न होनेवाला-अनुकूल रहनेवाला) जो पुण्य (पुण्योदय) वह पुण्यानुबन्धी पुण्य है। यह पवित्र पुण्य है।

पापानुबन्धी पुण्य—जन्मान्तर के जिस पुण्य के उदय से सुख तो मिले परन्तु साथ ही पापासक्ति भी रहे-ऐसे पुण्य को 'पापानुबन्धी पुण्य' कहते हैं। क्योंकि यह पुण्य (पुण्योदय) वर्तमान जीवन में सुख देने के साथ ही साथ जीवन को पतित करने में सहायभूत होता है। पाप का अनुबन्धी अर्थात् पारलौकिक दुर्गति के उत्पादक पापाचरण के साथ सम्बन्ध रखनेवाला जो पुण्य (पुण्योदय) वह पापानुबन्धी पुण्य है। इसके योग से मनुष्य सुख के साधन प्राप्त करता है, परन्तु साथ ही भावी परलोक को बिगाड़नेवाले दुष्कृत्यों में आसक्त रहता है। यह नापाक पुण्य है।

पुण्यानुबन्धी पाप–जन्मान्तर के जिस पाप के उदयसे दरिद्रता आदि दुःख सहने पर भी पापाचार का सेवन न किया जाय और पुण्यमार्गरूप धर्मसाधन में उद्यत रहा जाय ऐसे पाप को 'पुण्यानुबन्धी पाप' कहते हैं। क्योंकि यह पाप (पापोदय) वर्तमान जीवन में दुःखदायी होने पर भी जीवन को पापी बनाने में निमित्तभूत नहीं होता। 'पुण्य का अनुबन्धी' अर्थात् परलोकसाधक पुण्यसाधनाके साथ प्रतिकूल न होनेरूप सम्बन्ध रखनेवाला जो पाप (पापोदय) वह पुण्यानुबन्धी पाप है। यह भविष्य के अच्छे परलोक के लिये की जानेवाली पुण्य-क्रिया में बाधक नहीं होता।

पापानुबन्धी पाप–जन्मान्तरसंचित जिस पाप के उदयसे दरिद्रता आदि दुःख सहन करने पर भी पाप करनेकी बुद्धि दूर न हो और अधर्म के कार्य करने में ही तत्परता रहे ऐसे पाप को 'पापानुबन्धी पाप' कहते हैं। क्योंकि यह पाप (पापोदय) वर्तमान जीवन में दुःख देने के साथ ही जीवन को अधम बनाने में भी सहायक होता है। 'पाप का अनुबन्धी' अर्थात् पारलौकिक दुर्गति के उत्पादक पापाचरण के साथ सम्बन्ध रखनेवाला जो पाप (पापोदय) वह पापानुबन्धी पाप है।[1]

---

१ इन पुण्यानुबन्धी पुण्य आदि चार प्रकारों के बारे में आचार्य

संक्षेप में पूर्वजन्म के जिस पुण्य के फल (मीठे फल) का उपभोग करते समय नया पुण्य उपार्जन किया जाय

हरिभद्र ने अपने अष्टकप्रकरण नामक ग्रन्थ के २४ वें अष्टक में जो कुछ कहा है उसका उल्लेख यहीं पर करना योग्य होगा। वे कहते हैं कि—

गेहाद् गेहान्तरं कश्चिच्छोभनादधिकं नरः ।
याति यद्वत् सुधर्मेण तद्वदेव भवाद् भवम् ॥ १ ॥

—जिस प्रकार कोई मनुष्य अच्छे घर में से अधिक अच्छे घर में (रहने के लिये) जाय उसी प्रकार प्राणी सद्धर्म के प्रभाव से अच्छे भव में से अधिक अच्छे भव में जाता है।

यह सद्धर्माचरण पूर्वजन्म में उपार्जित पुण्य के सुख-सम्पत्तिरूप फल भोगने के समय का है। यह पुण्य (पुण्योदय) पुण्यानुबन्धी पुण्य है, क्योंकि यह सद्धर्म के आचरण के (पुण्य के आचरण के) साथ संयुक्त है।

गेहाद् गेहान्तरं कश्चिच्छोभनादितरन्नरः ।
याति यद्वदसद्धर्मात् तद्वदेव भवाद्भवम् ॥ २ ॥

जिस प्रकार कोई मनुष्य अच्छे घर में से खराब घर में (रहने) जाता है उसी प्रकार प्राणी अधर्म के योग से अच्छे भव में से बुरे भव में जाता है।

यह अधर्माचरण पूर्वजन्म में उपार्जित विशिष्ट पुण्य के श्रीमत्तादिरूप फल भोगने के समय का है। यह पुण्य (पुण्योदय) पापानुबन्धी पुण्य है, क्योंकि यह पापाचरण से संयुक्त है।

गेहाद् गेहान्तरं कश्चिदशुभादधिकं नरः ।
याति यद्वन्महापापात् तद्वदेव भवाद्भवम् ॥ ३ ॥

जिस प्रकार कोई मनुष्य खराब घर में से अधिक खराब घर में

उसका नाम 'पुण्यानुबन्धी पुण्य' है। पूर्वजन्म के जिस पाप के फल (बुरे फल) का उपभोग करते समय शान्ति,

---

(रहने) जाय उसी प्रकार प्राणी महापाप के योग से खराब भव में से अधिक खराब भव में जाता है।

यह अधर्माचरण पूर्वजन्म में उपार्जित पाप के दरिद्रता आदि दुःखरूप फल भोगने के समय का है। यह पाप (पापोदय) पापानुबन्धी पाप है, क्योंकि यह पापाचरण से सयुक्त है।

> गेहाद् गेहान्तर कश्चिदशुभादितरञ्चर ।
> याति यद्वत् सुधर्मेण तद्वदेव भवाद्भवम् ॥ ४ ॥

जिस प्रकार कोई मनुष्य खराब घर में से अच्छे घर में (रहने के लिये) जाय उसी प्रकार प्राणी सद्धर्म के प्रभाव से खराब भव में से अच्छे भव में जाता है।

यह सद्धर्माचरण पूर्वजन्म में उपार्जित पाप के दारिद्र्य आदि दुःखरूप फल भोगने के समय का है। यह पाप (पापोदय) पुण्यानुबन्धी पाप है क्योंकि यह सद्धर्माचरण से (पुण्याचरण से) सयुक्त है।

इन चार श्लोकों के बाद पाँचवें श्लोक में आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि यह सब जान कर मनुष्य को पुण्यानुबन्धी पुण्य का आचरण करना चाहिए जिससे अक्षय्य सकल सम्पत्ति प्राप्त हो। इसके बाद छठे श्लोक में वे कहते है कि रागादि क्लेशों से रहित चित्त-रत्न प्राणी का आन्तरिक धन है। यह धन जिसका चुरा जाता है उसे अनेक विपत्तियाँ घेर लेती है। इसके बाद आठवें श्लोक में वे कहते हैं कि भूतदया, सदाचारिता, और शमभाव तथा समभाव ये पुण्यानुबन्धी पुण्य प्राप्त करने के मार्ग हैं।

महात्मा बुद्ध एक बार जब जेतवन मे विहर रहे थे, उस समय एक राजा ने उन्हें पूछा—'महाराज! आप कहते हैं कि मनुष्य चार प्रकार के होते है। यह किस तरह? समझाइए।'

समता, पश्चात्ताप एवं सत्कर्म द्वारा पुण्य उपार्जित किया जाय उसे 'पुण्यानुबन्धी पाप' कहते हैं। पूर्वजन्म के जिस पुण्य के फल का उपभोग करते समय मद-प्रमत्त हो कर जो नये नये पाप किए जाते हैं, उसका नाम 'पापानुबन्धी पुण्य' है। और पूर्वजन्म के जिस पापके फल का उपभोग करते समय नया पाप उपार्जन किया जाय उसे 'पापानुबन्धी पाप' कहते हैं।

संसार में जो मनुष्य – नरनारी सुखी हैं और धर्म्य जीवन बिताते हैं उन्हें पुण्यानुबन्धी पुण्यवाला समझना। सुखसामग्री उपलब्ध होने पर भी जो पापाचरण में आसक्त हैं उन्हें पापानुबन्धी पुण्यवाला मानना। दरिद्रतादि कष्ट की

उन्होंने जवाब में कहा—

मनुष्य चार प्रकार के हैं एक तिमिर में से तिमिर की ओर जानेवाले दूसरे तिमिर में से ज्योति की ओर जानेवाले तीसरे ज्योति में से तिमिर की तरफ जानेवाले और चौथे ज्योति में से ज्योति की तरफ जानेवाले।

जो चाण्डाल निषाद आदि हीन हीन कुल में जन्मे हैं और सारी जिन्दगी दुष्कर्मों में व्यतीत करते हैं वे तिमिर में से तिमिर की ओर जा रहे हैं। दूसरे जो हीन-हीन कुल में पैदा होने पर भी मनसा वचसा कर्मणा सत्कर्म करते रहते हैं, वे तिमिर में से ज्योति की ओर जा रहे हैं। तीसरे जो उच्च गिने जानेवाले कुल में जन्मे हैं और सुखी हैं किन्तु दुष्कर्म परायण रहते हैं वे ज्योति में से तिमिर में जा रहे हैं। और चौथे जो उच्च कुल में जन्मे हैं, सुखी हैं और साथ ही सदा सदाचरणपरायण रहते हैं वे ज्योति में से ज्योति में जा रहे हैं।

हालत में होने पर भी जो पुण्य-पथ पर विहरते हैं वे पुण्यानुबन्धी पापवाले हैं और जो दरिद्र-दुःखी होने पर भी पापपरायण हैं वे पापानुबन्धी पापवाले हैं।

विश्वासघात, हत्या, चोरी-डकैती, दग़ा आदि से पैसेवाले बन कर बड़े बड़े बंगलों में भोगविलास करनेवाले कुछ मनुष्यों को देख कर अदूरदृष्टि मनुष्य कहने लगते हैं कि 'देखो भाई, पाप करनेवाले कैसी मौज उड़ाते हैं और धार्मिक के घर में तो चूहे चौकड़ी भरते हैं। अब कहाँ रहा धर्म-कर्म?' परन्तु यह कथन कितना अज्ञानपूर्ण है यह तो उपर्युक्त कर्मविषयक विवेचन पर विचार करने से अवगत हो सकता है। इस जीवन में अनेकानेक पाप करने पर भी पूर्वोपार्जित पुण्य-बल का प्रभाव जब तक रहता है तब तक सुखोपभोग शक्य है; परन्तु यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि प्रकृति का राज्य यह कोई 'पोपाबाई'का राज्य नहीं है कि किया-कराया सारा पाप निष्फल ही हो। प्रकृति का साम्राज्य सुनियमित है। उसके सूक्ष्म तत्त्व अगम्य हैं। मोह के अन्धकार में भटकता हुआ प्राणी चाहे-जैसी कल्पनाएँ कर के अपने आप को निर्भय क्यों न समझे अथवा निर्भय रहना चाहे, परन्तु यह निश्चित है कि प्रकृतिके अटल शासन में से कोई भी अपराधी न तो अब तक छटक सका है और न छटक सकेगा। साथ ही, यह भी अवश्य

ध्यान में रखना चाहिए कि इस जीवन में किए हुए उग्र पापों का फल इस जीवन में भी भुगतना पड़ता है।[1]

पुण्य पाप की विचारणा के अवसर पर सुख और उससे सम्बद्ध धन के विषय में भी कुछ स्पष्टता करना उचित है।

धन के प्राचुर्य से सुख नहीं नापा जा सकता। यह नाप गलत नाप है। धन का अतिसंग्रह न केवल पाप ही है, वह अतिदुःखदायी चिन्ताओं को उत्पन्न करके मन की शान्ति भी हर लेता है। अतः उसका सुख की परिभाषा में कैसे समावेश हो सकता है? मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताएँ पूर्ण हों, उसे निवासस्थान आदि मिले और वह भी न्याय मार्ग से तथा जो उपलब्ध हो उसमें वह सन्तुष्ट रहे और यदि न्यायमार्गद्वारा आवश्यकता से अधिक उपलब्ध हो तो

---

१ सत्यमस्तुग्रपापानां फलमत्रैव लभ्यते—इस प्रकार का वचन आचार्य हेमचन्द्र योगशास्त्र प्रकाश १ श्लोक १ पर की कथा में मगधेश्वर श्रेणिक राजा के पुत्ररत्न अभयकुमार के मुख से कहलाते हैं। उग्र पाप की भाँति उग्र पुण्य का फल भी इस जन्म में मिल सकता है।

जं जेण कयं कम्मं अन्नभवे इह भवे व सत्तेणं।
तं तेण वेइयव्वं निमित्तमित्तं परो होइ॥

यह प्राकृत-गाथा कहती है कि जैसा किया कर्म भुगतना पड़ता है चाहे वह अन्य भव में बाँधा हो अथवा इस भव में। इस कर्म की वेदना का प्रयोजक प्राणी तो निमित्तमात्र है।

इस उल्लेख पर से विदित होता है कि इस भव के कर्म का उदय इस भव में भी हो सकता है।

सेवा-परोपकार करने की वृत्ति रहे तो उसे सुख कह सकते हैं। क्योंकि ऐसा करने से वह चित्त की शान्ति को न खोकर मन में एक प्रकार का आनन्द अनुभव करता है। अवश्य, धन जीवननिर्वाह का साधन होनेसे सुख-सामग्री की प्राप्ति में उपयोगी है, परन्तु वह न्यायोपार्जित होना चाहिए और अपनी तथा अपने कुटुम्ब की उचित ज़रूरतों की पूर्ति के बाद यदि बचे तो परोपकार में उसका व्यय करना चाहिए – इतनी उपयोगिता के अतिरिक्त उसकी अधिक प्रतिष्ठा करना ठीक नहीं और आध्यात्मिक दृष्टि से तो वह अनुचित ही है। जीवन-विकास की साधना अथवा धर्म की उपासना का सम्बन्ध परिग्रह के साथ नहीं किन्तु अपरिग्रह अथवा परिग्रहपरिमाण के साथ है। केवल धन को पुण्य का चिह्न न समझना चाहिए। अन्यायोपार्जित धन दौर्भाग्य का सूचक है। पुण्य का सूचक और सुखदायक धन न्याय्य धन है। धनवान् की अपेक्षा सद्गुणी का स्थान कहीं ऊँचा है इस प्रकार के दृष्टिसंस्कार का समाज में प्रसार होना आवश्यक है। परिमित परिग्रह के सुसंस्कार समाजव्यापी होने पर समाज की सुख-शान्ति एवं नैतिक प्रभा खिल उठने की।

अब, आचार-व्यवहार की शुद्धि आवश्यक होने से इस विषय में भी तनिक दृष्टिक्षेप करके इस दूसरे खण्ड को पूर्ण करें।

जैन आचार

साधुधर्म एवं गृहस्थधर्म का सामान्य दिग्दर्शन पहले किया जा चुका है, फिर भी यहाँ पर आचार के विषय में कुछ विशेष बातें लिखना आवश्यक प्रतीत होता है। प्रथम साधुधर्म से सम्बन्ध रखनेवाले आचार को संक्षेप में देखें।

साधुओं का आचार

जैन आचार-शास्त्रों में साधु के लिये रेलगाड़ी, मोटर, एरोप्लेन, साइकल, ट्राम, बस, इक्का, गाड़ी, घोड़ा, ऊँट आदि किसी भी वाहन पर सवारी करना निषिद्ध है। साधु को पाद विहार करने की तथा गरम किया हुआ पानी पीने की आज्ञा है[3]।

---

१ यदि मार्ग में नदी आए और दूसरा स्थल-मार्ग वहाँ न हो तो उसे नाव में बैठने की आज्ञा है।

२ महाभारत, मनुस्मृति आदि वैदिक हिन्दूधर्म के ग्रन्थों में भी संन्यासियों के लिए ऐसा आदेश है।

३ पाश्चात्य विद्यासम्पन्न डॉक्टर भी स्वास्थ्य के लिए गरम किया हुआ जल पीना हितावह बतलाते हैं। प्लेग, कोलेरा आदि रोगों में खूब उबाला हुआ पानी पीने को वे कहते हैं। वैज्ञानिकों की खोज के अनुसार पानी में ऐसे अनेक सूक्ष्म जीव होते हैं जिन्हें हम आँखों से देख नहीं सकते किन्तु सूक्ष्मदर्शक यन्त्र (Microscope) से वे दिखाई देते हैं। पानी में होनेवाले पोरे (पूरा) आदि जीव पानी पीने के साथ शरीर में प्रविष्ट हो कर भयंकर व्याधियाँ उत्पन्न करते हैं। किसी स्थान का पदार्थ

जैन-साधु को आग जलाने का, आग सेकने का अथवा आग से रसोई करने का अधिकार नहीं है। भिक्षा-माधुकरी-वृत्ति करने का उन्हें आदेश है। गृहस्थों को किसी प्रकारकी तकलीफ़ अथवा संकोच न हो उस भांति भिन्न-भिन्न घरों में से वे भिक्षा लेते हैं। ख़ास साधु के लिये रसोई बनाना और वैसी रसोई लेना शास्त्रानुकूल नहीं है। इसमें से यही उद्देश स्पष्टतया फलित होता है कि साधुसंस्था समाज पर बोझरूप न हो और साधु-जनों में रसलुब्धता उत्पन्न न हो।

साधु का धर्म सर्वथा अकिञ्चन-अपरिग्रही रहने का है, अर्थात् वह पैसा नहीं रख सकता, द्रव्य के सम्बन्ध से वह सर्वथा मुक्त होना चाहिए। यहाँ तक कि उसके भोजन के पात्र भी धातु के[3] न होने चाहिए। काष्ठ,

---

पानी भी यदि उबाल कर पिया जाय तो वह शरीर को हानि नहीं पहुँचाता। साधु भ्रमणशील होता है अत उसे भिन्न-भिन्न स्थलों का भिन्न-भिन्न प्रकार का पानी पीना पड़ता है। इसलिये उष्ण (उबाले हुए) पानी का विधान उसके स्वास्थ्य के लिये भी हितकर है।

१ अनग्निरनिकेत स्यात्—मनुस्मृति अ ६, श्लो ८३

२ चरेन्माधुकरीवृत्तिमपि म्लेच्छकुलादपि।—अत्रिस्मृति

३. अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च।

× × ×

अलाबु दारुपात्र च मृन्मय वैदल तथा।
एतानि यतिपात्राणि मनु स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥

—मनुस्मृति अ ६, श्लो ५३-५४

मिट्टी अथवा तुम्बे के पात्र ही साधु के लिये उपयोगी हैं।

वर्षा ऋतु में साधु एक स्थान पर रहता है। साधु से स्त्री का स्पर्श तक नहीं हो सकता।

संक्षेप में, सांसारिक सर्व प्रपञ्चों से निर्मुक्त होकर सदा

अर्थात्—धातु विहीन तथा छिद्ररहित पात्र साधु के योग्य हैं। तुम्बे, काष्ठ, मिट्टी तथा बाँस के पात्र संन्यासियों के लिये मनु ने कहे हैं।

१ साधु की विरक्त दशा के सम्बन्ध में मनुस्मृति के छठे अध्याय में सुन्दर उपदेश मिलता है—

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन ।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ४७ ॥
क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।
× × × ॥ ४८ ॥
भैक्ष्ये प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ॥ ५५ ॥
अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत् ।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद् विनिर्गतः ॥ ५७ ॥
इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते' ॥ ६० ॥

अर्थात्—निन्दा अपमान सहे परन्तु किसी का अपमान न करे, इस देह के लिये किसी के साथ वैर न करे, क्रोध करनेवाले के ऊपर क्रोध न करे, आक्रोश करनेवाले का कुशल चाहे। भिक्षा के लोभ में आसक्त यति विषयों में फँस जाता है। लाभ होने पर प्रसन्न न हो और अलाभ होने पर खिन्न न हो। केवल प्राणरक्षा के लिये भोजन करे। आसक्ति से दूर रहे। इन्द्रियों के निरोध से राग द्वेष के विसर्जन से और प्राणीमात्र पर अहिंसा-वृत्ति धारण करने से मोक्ष के योग्य हुआ जाता है।

अध्यात्मरतिपरायण रहना यही साधु का धर्म है। आत्म-कल्याण के साधन में सतत निरत रहकर निःस्वार्थभाव से अपने जीवन को परकल्याण के लिये उपयोगी बनाना, जनता का सच्चा सन्मार्गदर्शक होना—यही साधु-जीवन है। साधु-जीवन वस्तुतः विश्वबन्धुत्व का जीवन है, अहकार—घमंड, क्रोध रोष, दम्भ-वक्रता और मोह ममता तथा मान-सत्कार की लिप्सा जैसे दूषण दूर होकर निर्मल बना हुआ उज्ज्वल जीवन है।

साधु अर्थात् सच्चा त्यागी। साधु अर्थात् जिसमें ज्ञान एवं चारित्र का सुभग संयोग सिद्ध हुआ हो ऐसा तेजस्वी मनुष्य। आसक्ति के वश न होकर गृहस्थों के पास से जो जीवन की आवश्यक वस्तुएँ निर्दोषरूप से तथा सहज एवं सरलता से मिले उसी में सन्तोष रखनेवाला वह होता है। संयम में वह सदा जागरित होता है, शम-दम की उसकी साधना उच्च श्रेणी की होती है और ज्ञानालोक के सच्चे प्रकाश से वह प्रकाशमान होता है।

त्यागी अपने लिये कम से कम – ख़ास आवश्यक हो उतनी ही – सुविधा की अपेक्षा रखता है और वह पूर्ण होने पर उसमें सम्पूर्ण सन्तोष एव सात्त्विक आनन्द का अनुभव करता है, परन्तु किसी समय यदि पूर्ण न हो तो उद्विग्न नहीं होता। अमुक प्रकार का खाना—पीना मिले तो अच्छा,

मिट्टी अथवा तुम्बे के पात्र ही साधु के लिये उपयोगी हैं।

वर्षा ऋतु में साधु एक स्थान पर रहता है। साधु से स्त्री का स्पर्श तक नहीं हो सकता।

संक्षेप में, सांसारिक सर्व प्रपंचों से निर्मुक्त होकर सदा

अर्थात्—धातु सिवाय के तथा छिद्ररहित पात्र साधु के योग्य हैं। तुम्बे, काष्ठ, मिट्टी तथा बांस के पात्र संन्यासियों के लिये मनुने कहे हैं।

१ साधु की विरक्त दशा के सम्बन्ध में मनुस्मृति के छठे अध्याय में सुन्दर उपदेश मिलता है—

" अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ४७ ॥
क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।
× × × ॥ ४८ ॥
भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ॥ ५५ ॥
अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत्।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासंगाद् विनिर्गतः ॥ ५७ ॥
इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते " ॥ ६ ॥

अर्थात्—मिथ्या अपमान सहे परन्तु किसी का अपमान न करे एवं देह के लिये किसी के साथ वैर न करे। क्रोध करनेवाले के ऊपर क्रोध न करे, आक्रोश करनेवाले का कुशल चाहे। भिक्षा के काम में आसक्त यति विषयों में फँस जाता है। लाभ होने पर प्रसन्न न हो और अलाभ होने पर खिन्न न हो। केवल प्राणरक्षा के लिये भोजन करे। आसक्ति से दूर रहे। इन्द्रियों के निरोध से राग द्वेष के विनाश से और प्राणीमात्र पर अहिंसावृत्ति धारण करने से मोक्ष के योग्य हुआ जाता है।

अध्यात्मरतिपरायण रहना यही साधु का धर्म है। आत्म-कल्याण के साधन में सतत निरत रहकर निःस्वार्थभाव से अपने जीवन को परकल्याण के लिये उपयोगी बनाना, जनता का सच्चा सन्मार्गदर्शक होना–यही साधु-जीवन है। साधु-जीवन वस्तुतः विश्वबन्धुत्व का जीवन है, अहङ्कार–घमंड, क्रोध रोष, दम्भ-वक्रता और मोह-ममता तथा मान-सत्कार की लिप्सा जैसे दूषण दूर होकर निर्मल बना हुआ उज्ज्वल जीवन है।

साधु अर्थात् सच्चा त्यागी। साधु अर्थात् जिसमें ज्ञान एवं चारित्र का सुभग संयोग सिद्ध हुआ हो ऐसा तेजस्वी मनुष्य। आसक्ति के वश न होकर गृहस्थों के पास से जो जीवन की आवश्यक वस्तुएँ निर्दोषरूप से तथा सहज एवं सरलता से मिले उसी में सन्तोष रखनेवाला वह होता है। संयम में वह सदा जागरित होता है, शम-दम की उसकी साधना उच्च श्रेणी की होती है और ज्ञानालोक के सच्चे प्रकाश से वह प्रकाशमान होता है।

त्यागी अपने लिये कम से कम – ख़ास आवश्यक हो उतनी ही – सुविधा की अपेक्षा रखता है और वह पूर्ण होने पर उसमें सम्पूर्ण सन्तोष एवं सात्त्विक आनन्द का अनुभव करता है, परन्तु किसी समय यदि पूर्ण न हो तो उद्विग्न नहीं होता। अमुक प्रकार का खाना–पीना मिले तो अच्छा,

अमुक प्रकार के अथवा अमुक स्थान के बने हुए वस्त्र मिलें तो अच्छा, अमुक प्रकार के निवासभवन तथा अन्य चीजें मिलें तो अच्छा इस प्रकार का मोह उसे नहीं होता। जिस समय जो वस्तु सरल एवं सहजभाव से प्राप्त हो उस समय उसका स्वीकार करके वह सन्तुष्ट रहता है। इस प्रकार का त्याग सच्चे वैराग्य में से ही उत्पन्न होता है। बिना वैराग्य का त्याग सच्चा त्याग नहीं, किन्तु त्याग की विडम्बना है; क्योंकि ऐसी स्थिति में जिसका बाहर से त्याग किया होता है उसके लिए मन तो उत्कण्ठित ही रहता है। वैराग्य के बिना त्याग अधिक टिक नहीं सकता।

बाह्य वेष, एक ओर तो स्वेच्छापूर्वक स्वीकृत संन्यास मार्ग के योग्य जीवन जीने की तरफ लक्ष खींचता है, तो दूसरी ओर दोषयुक्त आन्तरिक जीवन छुपाकर दम्भ करने में भी कारणभूत हो सकता है। जीवन की सच्ची जानकारी प्राप्त किए बिना बाह्य वेष की तरफ उपेक्षादृष्टि रखने से सच्चे सन्तपुरुष का अनादर या अपमान हो जानेका बड़ा भय रहता है, इसी प्रकार बाह्य वेष पर अन्धश्रद्धा रखने से ठगाए जाने का भी बड़ा भय है। अतः यथार्थ निर्णय पर आने के लिये बाह्य वेष एवं आन्तरिक जीवन इन दोनों पर ध्यान देने की आवश्यकता है और इसीलिये इस बारे में विवेक तथा धैर्य की आवश्यकता है, एकदम पूर्वग्रह बाँध लेने में खतरा है।

साधु-जीवन का उद्देश अपने उपदेश एवं आचरण द्वारा, जिसकी जैसी योग्यता हो उस प्रकार से, लोगों को गृहस्थ-धर्म अथवा साधुधर्म के क्षेत्र में मार्गदर्शक होने का है। धर्म के विषय में महत्त्व की बात कौनसी है और गौण बात कौनसी इसका उसमें विवेक होना आवश्यक है। अहिंसा आदि पाँच व्रत मुख्य महत्त्व के विषय हैं, जबकि बाह्य क्रियाकाण्ड की परम्परागत बातें उतनी महत्त्व की नहीं हैं; फिर भी उनके बारे में 'यही सर्वस्व है' इस प्रकार की प्ररूपणा करके समाज में यदि कोई साधु अथवा धर्माचार्य कलह उत्पन्न करता हो अथवा समाज को विभक्त करता हो तो वह अपने वास्तविक धर्म से च्युत होता है। साधु तो समग्र समाज में शान्ति फैले ऐसी भावना तथा प्रवृत्तिवाला होता है, प्रशान्त एवं सत्त्वपूर्ण वर्चस्मपन्न होता है। दार्शनिक मान्यताओं की उसकी चर्चा भी गम्भीर और सौम्यभाव से परिपूर्ण तथा समन्वयदृष्टि से सुशोभित होती है जिससे किसी के मन में अशान्ति तथा समाज में झगड़ा टण्टा उत्पन्न ही न हो।

गृहस्थों का आचार

गृहस्थों का सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण सद्गुण यह है कि उसे अपना व्यवहार नैतिक (न्याययुक्त) रखना चाहिए। सच्चाई अथवा व्यवस्थित प्रामाणिकता तथा नेकी के समुचित

अमुक प्रकार के अथवा अमुक स्थान के बने हुए वस्त्र मिलें तो अच्छा, अमुक प्रकार के निवासभवन तथा अन्य चीजें मिलें तो अच्छा इस प्रकार का मोह उसे नहीं होता। जिस समय जो वस्तु सरल एवं सहजभाव से प्राप्त हो उस समय उसका स्वीकार करके वह सन्तुष्ट रहता है। इस प्रकार का त्याग सच्चे वैराग्य में से ही उत्पन्न होता है। बिना वैराग्य का त्याग सच्चा त्याग नहीं, किन्तु त्याग की विडम्बना है; क्योंकि ऐसी स्थिति में जिसका बाहर से त्याग किया होता है उसके लिये मन तो उत्कण्ठित ही रहता है। वैराग्य के बिना त्याग अधिक टिक नहीं सकता।

बाह्य वेष, एक ओर तो स्वेच्छापूर्वक स्वीकृत सन्यास मार्ग के योग्य जीवन जीने की तरफ लक्ष खींचता है, तो दूसरी ओर दोषयुक्त आन्तरिक जीवन छुपाकर दम्भ करने में भी कारणभूत हो सकता है। जीवन की सच्ची जानकारी प्राप्त किए बिना बाह्य वेष की तरफ उपेक्षावृत्ति रखने से सच्चे सन्तपुरुष का अनादर या अपमान हो जानेका बड़ा भय रहता है, इसी प्रकार बाह्य वेष पर अन्धश्रद्धा रखने से ठगाए जाने का भी बड़ा भय है। अतः यथार्थ निर्णय पर आने के लिये बाह्य वेष एवं आन्तरिक जीवन इन दोनों पर ध्यान देने की आवश्यकता है और इसीलिये इस बारे में विवेक तथा धैर्य की आवश्यकता है, एकदम मूल्यांक बाँध लेने में खतरा है।

साधु-जीवन का उद्देश अपने उपदेश एवं आचरण द्वारा, जिसकी जैसी योग्यता हो उस प्रकार से, लोगों को गृहस्थ-धर्म अथवा साधुधर्म के क्षेत्र में मार्गदर्शक होने का है। धर्म के विषय में महत्त्व की बात कौनसी है और गौण बात कौनसी इसका उसमें विवेक होना आवश्यक है। अहिंसा आदि पाँच व्रत मुख्य महत्त्व के विषय हैं, जबकि बाह्य क्रियाकाण्ड की परम्परागत बातें उतनी महत्त्व की नहीं हैं; फिर भी उनके बारे में 'यही सर्वस्व है' इस प्रकार की प्ररूपणा करके समाज में यदि कोई साधु अथवा धर्माचार्य कलह उत्पन्न करता हो अथवा समाज को विभक्त करता हो तो वह अपने वास्तविक धर्म से च्युत होता है। साधु तो समग्र समाज में शान्ति फैले ऐसी भावना तथा प्रवृत्तिवाला होता है, प्रशान्त एवं सत्त्वपूर्ण वर्चस्सम्पन्न होता है। दार्शनिक मान्यताओं की उसकी चर्चा भी गम्भीर और सौम्यभाव से परिपूर्ण तथा समन्वयदृष्टि से सुशोभित होती है जिससे किसी के मन में अशान्ति तथा समाज में झगड़ा टण्टा उत्पन्न ही न हो।

गृहस्थों का आचार

गृहस्थों का सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण सद्गुण यह है कि उसे अपना व्यवहार नैतिक (न्याययुक्त) रखना चाहिए। सचाई अथवा व्यवस्थित प्रामाणिकता तथा नेकी के समुचित

अमुक प्रकार के अथवा अमुक स्थान के बने हुए वस्त्र मिलें तो अच्छा, अमुक प्रकार के निवासभवन तथा अन्य चीजें मिलें तो अच्छा इस प्रकार का मोह उसे नहीं होता। जिस समय जो वस्तु सरल एवं सहजभाव से प्राप्त हो उस समय उसका स्वीकार करके वह सन्तुष्ट रहता है। इस प्रकार का त्याग सच्चे वैराग्य में से ही उत्पन्न होता है। बिना वैराग्य का त्याग सच्चा त्याग नहीं, किन्तु त्याग की विडम्बना है; क्योंकि ऐसी स्थिति में जिसका बाहर से त्याग किया होता है उसके लिए मन तो उत्कण्ठित ही रहता है। वैराग्य के बिना त्याग अधिक टिक नहीं सकता।

बाह्य वेष, एक ओर तो स्वेच्छापूर्वक स्वीकृत संन्यास मार्ग के योग्य जीवन जीने की तरफ लक्ष्य खींचता है, तो दूसरी ओर दोषयुक्त आन्तरिक जीवन छुपाकर दम्भ करने में भी कारणभूत हो सकता है। जीवन की सच्ची जानकारी प्राप्त किए बिना बाह्य वेष की तरफ उपेक्षावृत्ति रखने से सच्चे सन्तपुरुष का अनादर या अपमान हो जाने का बड़ा भय रहता है, इसी प्रकार बाह्य वेष पर अन्धश्रद्धा रखने से ठगाए जाने का भी बड़ा भय है। अतः यथार्थ निर्णय पर आने के लिए बाह्य वेष एवं आन्तरिक जीवन इन दोनों पर ध्यान देने की आवश्यकता है और इसीलिये इस बारे में विवेक तथा धैर्य की आवश्यकता है, एकदम पूर्वग्रह बाँध लेने में खतरा है।

साधु-जीवन का उद्देश अपने उपदेश एवं आचरण द्वारा, जिसकी जैसी योग्यता हो उस प्रकार से, लोगों को गृहस्थ-धर्म अथवा साधुधर्म के क्षेत्र में मार्गदर्शक होने का है। धर्म के विषय में महत्त्व की बात कौनसी है और गौण बात कौनसी इसका उसमें विवेक होना आवश्यक है। अहिंसा आदि पाँच व्रत मुख्य महत्त्व के विषय हैं, जबकि बाह्य क्रियाकाण्ड की परम्परागत बातें उतनी महत्त्व की नहीं हैं; फिर भी उनके बारे में 'यही सर्वस्व है' इस प्रकार की प्ररूपणा करके समाज में यदि कोई साधु अथवा धर्माचार्य कलह उत्पन्न करता हो अथवा समाज को विभक्त करता हो तो वह अपने वास्तविक धर्म से च्युत होता है। साधु तो समग्र समाज में शान्ति फैले ऐसी भावना तथा प्रवृत्तिवाला होता है, प्रशान्त एवं सत्त्वपूर्ण वर्चस्सम्पन्न होता है। दार्शनिक मान्यताओं की उसकी चर्चा भी गम्भीर और सौम्यभाव से परिपूर्ण तथा समन्वयदृष्टि से सुशोभित होती है जिससे किसी के मन में अशान्ति तथा समाज में झगड़ा टण्टा उत्पन्न ही न हो।

गृहस्थों का आचार

गृहस्थों का सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण सद्गुण यह है कि उसे अपना व्यवहार नैतिक (न्याययुक्त) रखना चाहिए। सचाई अथवा व्यवस्थित प्रामाणिकता तथा नेकी के समुचित

धोरण पर उसका जीवनव्यवहार चलना चाहिए। यहाँ पर इस बारे में कुछ विशेष अवबोधन करना योग्य है।

पहली बात अहिंसाविषयक है। अनिवार्यरूप से जीवन के साथ लगी हुई हिंसा किए बिना तो हमारा चारा ही नहीं है। परन्तु हिंसा को जीवन का नियम न बनाकर कम से कम हिंसा से किस तरह निर्वाह किया जाय ऐसे मार्गों की खोज की ओर प्रयत्नशील रहना चाहिए।

अविकसित जीवों की अपेक्षा विकसित जीवों को यथाशक्य बचाओ और अविकसित जीवों की भी कम से कम हिंसा हो इस प्रकार जीवन व्यवस्थित करो यही सन्तों का उपदेश है। इस दृष्टि से मांसाहार, शिकार, संहार अथवा हिंसा निषिद्ध माने गए हैं।

विरोधी पर आवेशवश उबलने लगना और उसके साथ टण्टे फिसाद में उतरना इसमें (हिंसा में) कौनसी शूरता है? शूरता तो है अहिंसा में—विरोधी के ऊपर अपने मन को क्रुद्ध अथवा क्रूर न होने देकर अपने विवेकपूर्ण सत्त्वबल से उसे शान्तवृत्ति में, योग्य संयम में रखने में। इस प्रकार शरीरबल अथवा भौतिकबल, जिसे पशुबल भी कहते हैं, उसकी अपेक्षा उपर्युक्त मनोबल किंवा आत्मबल, जो कि अहिंसारूप है, कहीं अधिक उन्नत है। यह बल मानव समाज में जितना खिले उतना ही उसका आध्यात्मिक,

धार्मिक तथा भौतिक विकास शक्य है। विवेकबुद्धि तथा सत्त्वशक्ति के प्रकाशरूप अहिंसा के बल से ही मानवजगत् मैत्री और सौहार्द, बल और शक्ति तथा आनन्द और आह्लाद से समृद्ध होकर स्वर्गलोकतुल्य हो सकता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि अहिंसा एक आध्यात्मिक बल है। यह उच्च प्रकार की क्षात्रवृत्ति—वीरवृत्ति की अपेक्षा रखती है। अपनी स्वेच्छा से स्वार्थ-त्याग अथवा स्वार्पण द्वारा अथवा आवश्यकता पड़ने पर अपना बलिदान देकर भी हिंसा का विरोध करना और अहिंसा को जीवित रखना यह एक अत्यन्त उच्च कोटि की क्षात्रवृत्ति – वीरवृत्ति है। परन्तु दुःख सहन करने के समय डर कर भग जाना और सिर्फ़ मुँह से हिंसा का विरोध करना यह कोई अहिंसा का पालन नहीं है। लड़ लेने की हिम्मत और शक्ति होने पर भी ऐसा कोई प्रसंग उपस्थित होने पर जो मनुष्य अपने आवेश को संयम में रखकर हिंसा नहीं करता उसी की गिनती अहिंसक में हो सकती है। साहस-हीन और दुर्बल मनुष्य यदि अहिंसक होने का दावा करे तो वह ग़लत है, क्योंकि उस मनुष्य में हिम्मत नहीं है, सामना करने का बल नहीं है, अतः वह (बाह्य) हिंसा नहीं करता, परन्तु–कायर एवं दुर्बल होने के कारण सामना करने का वीरतापूर्ण कार्य करने में अशक्त होने पर भी – उसके निर्बल मन में तो ऐसे अवसर पर हिंसाग्नि जलती ही होती है,

धोरण पर उसका जीवनव्यवहार चलना चाहिए। यहाँ पर इस बारे में कुछ विशेष अवबोधन करना योग्य है।

पहली बात अहिंसाविषयक है। अनिवार्यरूप से जीवन के साथ लगी हुई हिंसा किए बिना तो हमारा चारा ही नहीं है। परन्तु हिंसा को जीवन का नियम न बनाकर कम से कम हिंसा से किस तरह निर्वाह किया जाय ऐसे मार्गों की खोज की ओर प्रयत्नशील रहना चाहिए।

अविकसित जीवों की अपेक्षा विकसित जीवों को यथाशक्य बचाओ और अविकसित जीवों की कम से कम हिंसा हो इस प्रकार जीवन व्यवस्थित करो यही सन्तों का उपदेश है। इस दृष्टि से मांसाहार, शिकार, संहार अथवा हिंसा निषिद्ध माने गए हैं।

विरोधी पर आवेशवश उबलने लगना और उसके साथ टण्टे फिसाद में उतरना इसमें (हिंसा में) कौनसी शूरता है? शूरता तो है अहिंसा में—विरोधी के ऊपर अपने मन को क्रुद्ध अथवा क्रूर न होने देकर अपने विवेकपूत सत्त्वबल से उस शान्तवृत्ति में, योग्य संयम में रखने में। इस प्रकार शरीरबल अथवा भौतिकबल, जिसे पशुबल भी कहते हैं, उसकी अपेक्षा उपर्युक्त मनोबल किंवा आत्मबल, जो कि अहिंसारूप है, कहीं अधिक उन्नत है। यह बल मानव समाज में जितना खिले उतना ही उसका आध्यात्मिक,

धार्मिक तथा भौतिक विकास शक्य है। विवेकबुद्धि तथा सत्त्वशक्ति के प्रकाशरूप अहिंसा के बल से ही मानवजगत् मैत्री और सौहार्द, बल और शक्ति तथा आनन्द और आह्लाद से समृद्ध होकर स्वर्गलोकतुल्य हो सकता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि अहिंसा एक आध्यात्मिक बल है। यह उच्च प्रकार की क्षात्रवृत्ति–वीरवृत्ति की अपेक्षा रखती है। अपनी स्वेच्छा से स्वार्थ-त्याग अथवा स्वार्पण द्वारा अथवा आवश्यकता पड़ने पर अपना बलिदान देकर भी हिंसा का विरोध करना और अहिंसा को जीवित रखना यह एक अत्यन्त उच्च कोटि की क्षात्रवृत्ति – वीरवृत्ति है। परन्तु दुःख सहन करने के समय डर कर भग जाना और सिर्फ़ मुँह से हिंसा का विरोध करना यह कोई अहिंसा का पालन नहीं है। लड़ लेने की हिम्मत और शक्ति होने पर भी ऐसा कोई प्रसंग उपस्थित होने पर जो मनुष्य अपने आवेश को संयम में रखकर हिंसा नहीं करता उसी की गिनती अहिंसक में हो सकती है। साहस-हीन और दुर्बल मनुष्य यदि अहिंसक होने का दावा करे तो वह ग़लत है, क्योंकि उस मनुष्य में हिम्मत नहीं है, सामना करने का बल नहीं है, अतः वह (बाह्य) हिंसा नहीं करता, परन्तु- कायर एवं दुर्बल होने के कारण सामना करने का वीरतापूर्ण कार्य करने में अशक्त होने पर भी – उसके निर्बल मन में तो ऐसे अवसर पर हिंसाग्नि जलती ही होती है,

रोष एवं क्रोध की ज्वाला तो धधकती ही रहती है। निर्बल मनुष्य का निर्बल मन 'कमजोर और गुस्सा बहुत' इस लोकोक्ति के अनुसार तुच्छ कारण उपस्थित होने पर भी हिंसावृत्ति से जब-तब आकुलित हो उठता है, बातबात में वह निरर्थक आवेशवश दहक उठता है। अहिंसा की सिद्धि के लिये सच्ची समझ के अतिरिक्त बल और हिम्मत भी चाहिए तथा इसके लिये शारीरिक बल भी सम्पादित करना चाहिए। बल अर्थात् शारीरिक शक्तिका कितना मूल्य है! आततायी, आक्रामक एवं दुष्ट शत्रुओं क फन्दे में फँसे हुए लोगों को, उन दुष्टों का वीरतापूर्ण सामना करके उनके फंदे में से बचा लेने में शारीरिक शक्ति का कितना उपयोग हो सकता है! वस्तुतः शारीरिक शक्ति जिस प्रकार समय आने पर दुष्ट की दुष्टता का दमन करने में उपयोगी होती है उसी प्रकार दुष्ट द्वारा पीड़ित जनता का उद्धार करने में भी आशीर्वाद रूप होती है। जनरक्षारूप अहिंसा के लिए शारीरिक बल जैसे उपयोगी है वैस चित्त की स्वस्थतारूप आभ्यन्तर अहिंसा के लिये भी वह उतना ही आवश्यक है।

अहिंसा का उपदेश दिया है क्षत्रियों न और उसे ग्रहण भी कर सकते हैं क्षात्रवृत्ति क बहादुर ही। उत्तमगुण उत्कर्ष अथवा उत्क्रान्ति क्षात्रवृत्ति पर ही आश्रित है। यही लौकिक या आध्यात्मिक अभ्युदय साध सकती है। जहाँ कायरता अथवा डरपोकपना हो वहाँ अहिंसा की साधना शक्य नहीं

है। निर्बलता अथवा बुज़दिली जीवन का बड़े से बड़ा रोग है। 'वीरभोग्या वसुन्धरा' यह कथन वर्तमानयुगीन विचारसरणी के योग्य हो या न हो परन्तु 'अहिंसा बलवत्साध्या' [अहिंसा बलवान् से ही साध्य है] यह तो त्रिकालाबाधित सनातन सत्य है। विवेकशाली वीर ही अहिंसा का पालक हो सकता है। अर्हन्त उच्च श्रेणि के क्षात्रधर्मी होते हैं और विवेकशाली क्षात्रधर्मी ही उनका उपासक अथवा अनुयायी हो सकता है। कायर लोग भी अपनी कायरता झाड़ कर उनके उपासक हो सकते हैं।

जिस प्रकार मारने आदि कृत्यों द्वारा हिंसा होती है उसी प्रकार शक्ति होने पर भी हिंसा की रोक-थाम में अपना सहयोग न देना, चुपचाप बैठा रहना भी हिंसा है। यदि कोई मनुष्य डूबता हो और अपने को तैरना आता हो तो भी उसे बचाने का प्रयत्न करने के बदले देखते रहना यह भी हिंसा है। कोई मनुष्य भूख से पीड़ित हो रहा हो और अपनी शक्ति होने पर भी उसे खाना न देना हिंसा है। ऐसी सब प्रकार की हिंसा निष्ठुर लापरवाही में से—'मुझे क्या? मैं ऐसे झंझट में क्यों पड़ूं? मैं क्यों यह सहन करूं?'— इस प्रकार की निष्ठुर उदासीनवृत्ति में से उत्पन्न होती है। निष्ठुरता अधर्म है और 'दया धर्म का मूल है'। अपने सुख, आराम और लाभ के लिये दूसरे के सुख, आराम और हितकी

ओर दुर्लक्ष करना — असावधान रहना भी हिंसा है। दूसरे मनुष्य के भय का अनुचित लाभ उठाना भी हिंसा है। वास्तविक घटना हमें ज्ञात हो तथा ऐसी गवाही देने से निर्दोष मनुष्य के बचने की सम्भावना भी हो तो भी उसके न्याय्य लाभ में गवाही देने से इनकार कर के उसे अन्याय का शिकार होने देना मृषावाद ही है और साथ ही हिंसा भी है। मेरे घर का कूड़ा-करकट पड़ौसी के घर के आगे यदि मैं डाल दूँ अथवा मेरे घर में से निकला हुआ विष्ठ या प्लेग का चूहा पड़ौसी के घर के आगे यदि मैं फेंक दूँ और इस प्रकार पड़ौसी को भय में डालूँ अथवा तकलीफ पहुँचाऊँ तो यह भी हिंसा है।

सत्य के बारे में

जो वस्तु जैसी हो अथवा जैसी हुई हो वैसा कहना इसे सामान्यतः सत्य कहा जाता है और वास्तविकता की दृष्टि से यह है भी सत्य, परन्तु धार्मिक दृष्टि से उसे सत्य कहा भी जा सकता है और नहीं भी कहा जा सकता। यदि वह वस्तुतः यथार्थ हो और साथ ही मंगलकल्याणकारी भी हो अथवा कम से कम अकल्याणकारी न हो तो वह निःसन्देह सत्य है। परन्तु यदि वह हकीकत की दृष्टि से सत्य होने पर भी अकल्याणकारी हो तो उसे असत्य ही समझना चाहिए। यदि कोई दुष्ट बदमाश किसी सुकुमार स्त्री के

पीछे पड़ा हो अथवा कोई शिकारी किसी मृग का पीछा पकड़ रहा हो और वह कहाँ पर छिपा है इसकी हमें जानकारी हो, फिर भी उस गुण्डे अथवा शिकारी के पूछने पर उसका ठिकाना न बताकर चुप रहना अथवा दूसरा रास्ता दिखाना और इस तरह निर्दोष की रक्षा करना हमारे लिये धर्म्य है। फ़िसाद करने पर तुले हुए गुण्डे किसी मकानवाले से पूछे कि इस मकान में अमुक मनुष्य है ? अब, मकान में छुपे हुए अथवा स्त्री के बुर्के में छुपे हुए उस मनुष्य को यदि वह दिखला दे तो तुरन्त ही उस निरपराध मनुष्य का सफ़ाया हो जाय। ऐसी स्थिति में उस मकानवाले को बिना किसी प्रकार की झिझक के असत्य बोलना पड़ता है कि वह मनुष्य यहाँ नहीं है। इस प्रकार का उत्तर देना उस समय कर्तव्य एवं धर्म्य है। हक़ीक़त की दृष्टि से जो यथार्थ हो परन्तु यदि वह अहितकारी हो तो उसकी गणना सत्य में नहीं होती[1]। सत्य बोलने न-बोलने के बारे में बहुत विवेक

---

१ सद्भ्यो हितं सत्यम् - प्राणी के लिये हितकर हो वह सत्य।
उक्तेऽनृते भवेद् यत्र प्राणिनां प्राणरक्षणम्।
अनृतं तत्र सत्यं स्यात् सत्यमप्यनृतं भवेत्॥—महाभारत
अर्थात्—असत्य बोलने पर यदि प्राणियों की रक्षा होती हो तो उस समय वह असत्य सत्य है और यदि उस समय सत्य बोला जाय तो वह असत्य है। (इस प्रकार सत्य भी असत्य बनता है और असत्य भी सत्य।)

"तुसिणीओ उवेहेज्जा, जाणं वा नो जाणं ति वएज्जा।"

—आचाराङ्ग २ ३ ३

अर्थात् - मौन रहे अथवा जानने पर भी 'नहीं जानता' ऐसा कहे।

एवं सतर्कता की आवश्यकता है। रोगी अथवा पागल जैसों के साथ उनके हित के लिये यदि असत्य बोलना पड़े तो वह निःस्वार्थ तथा सिर्फ उनके हितसाधन के लिये बोला गया होने से अनुचित नहीं है।

अपना न्यायसंगत रहस्य छुपाने जैसा हो और उसे छुपाने के लिये मौन रखने से यदि न चले और असत्य बोलना पड़े तो वह अनुचित नहीं है।

अन्याय्य अथवा अनुचित प्रतिज्ञा का भंग करने में असत्य दोष नहीं है। उदाहरणार्थ, कोई मनुष्य ऐसी प्रतिज्ञा करे कि 'मेरा लड़का यदि स्वस्थ हो जायगा तो मैं देवी को एक बकरा चढ़ाऊँगा' परन्तु बाद में समझ आने पर कि पशुहत्या तो घोर पाप है और देवी के आगे तो यह अत्यन्त निन्दनीय पाप है, वह अपनी प्रतिज्ञा का भंग करे तो अनुचित नहीं। उसे ऐसी प्रतिज्ञा तोड़नी ही चाहिए। अधर्ममय प्रतिज्ञा के पालन में पाप है, जबकि उसे तोड़ने में कल्याण है।

उपर्युक्त आपवादिक असत्य यदि बोलने पड़े तो बोलने के बाद इस तरह का असत्य बोलने का प्रसंग उपस्थित हुआ इसलिये अन्तःकरण में प्रायश्चित्तरूप आलोचना करना योग्य है, क्योंकि ऐसी आलोचना ऊर्ध्वारोहण की भावना को विकसित रखने में उपयोगी है।

बालक अथवा दूसरों के साथ मृदु एवं निर्दोष हास्य-विनोद में, किसी को खेद न हो उस तरह, क्षणभर जैसा-तैसा बोला जाता है वह असत्य दोषरूप नहीं है। शिष्टाचार के नाते मर्यादित अतथ्य बोलना पड़े तो वह भी क्षन्तव्य है।

तिरस्कारवृत्ति से अन्धे को अन्धा, काने को काना, मूर्ख को मूर्ख कहना असत्य है। दुर्भाव से या मिथ्या आवेशवश कटु शब्द बोलना, गाली देना, क्रूर हँसी करना यह सब असत्य में समाविष्ट है[1]।

अचौर्य के बारे में

कोई मनुष्य दूसरे की चोरी करता हुआ मालूम होता हो, परन्तु उसे रोकने में अथवा गृहस्वामी का ध्यान उस ओर आकर्षित करने में उपेक्षा दिखाकर चुप रहना—ऐसी लापरवाही अथवा कायरता बहुत ही ख़राब है। स्वयं चोरी न करनेवाला भी इस तरह यदि चोरी होने दे तो उसे चोरी होने देनेरूप चोरी का पाप लगता है।

---

१ वाणी व्यवहार की सामान्य पद्धति का उल्लेख करते हुए मनुस्मृति के चतुर्थ अध्याय में कहा है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयाद् एष धर्मः सनातनः ॥ १३८ ॥

अर्थात्—सत्य और वह भी प्रिय बोलना। अप्रिय सत्य न बोलना तथा प्रिय होने पर भी असत्य न बोलना।
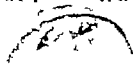
धन्धे-रोजगार में अनीति करना, झूठ कपट से किसी का धन हड़पना, इधर उधर का समझाकर किसी को ठगना, विश्वास में लेकर किसी को नुकसान में उतार देना, चालाकी से किसी का ले लेना अथवा बिगाड़ना, अन्याय से-अनुचितरूप से किसी को हैरान करना, निर्दोष को सताना – इस प्रकार का सब अपकृत्य पापाचरण है।

किसी को चोरी के कार्य में प्रेरित करना, उसमें सम्मत होना, चोर द्वारा चुराई हुई वस्तु लेना, प्रजाहित के लिये बनाए हुए कायदे-कानून का भंग करना, न्यूनाधिक नाप-तौल के वजन आदि रखना, कम देना–अधिक लेना, वस्तु में मिलावट करना, असली माल के बदले नकली माल देना – ये सब चोरीरूप दुष्कृत्य हैं। किसी मनुष्य की लाचारी का अनुचित लाभ उठाकर उसके पास से अधिक ले लेना, कोई मनुष्य भूल से अधिक दे गया हो तो रख लेना चोरी है। संक्षेप में, अन्याय से नीतिविरुद्ध दूसरे की छीन ले लेना चोरी है।

उद्योगपति तथा धनिकों की संग्रहवृत्ति एवं शोषण वृत्ति के दुष्परिणामरूप – उसके खराब प्रत्याघातरूप ठगाई, डकैती, गुण्डापन, काला-बाजार आदि निकृष्ट एवं अधम तत्त्व पैदा होते हैं और उनका प्रचार होता है।

बेकारी के कारण मनुष्य चोरी के मार्ग पर आ गिरता है।

द्रव्यलोलुपता का दुष्ट आवेग मनुष्य से अनीति एवं परद्रोह के पाप करवाता है। बड़प्पन प्राप्त करने के लिये तथा अपने बड़प्पन का प्रदर्शन करने के लिये मनुष्य धन-लुब्ध बनकर लुच्चाई और दग़ाखोरी का रास्ता पकड़ता है। फ़िजुलखर्ची तथा दुर्व्यसन के पाप के कारण मनुष्य चोरी व ठगाई करने लगता है। बुरे संग और बुरे असर से वह चोरी और अनाचार सीखता है।

समुचित परिग्रह में सन्तोष, सादा और संयमी जीवन तथा व्यापक बन्धुभाव के सद्गुणों से समाज की नैतिक भूमिका जब उन्नत होगी तभी जहाँ-तहाँ फैले हुए अनीति, चोरी, ठगाई और शैतानियत के पाप स्वतः बिखरने लगेंगे।

दुर्व्यसनरूप व्यवसाय

जूआ अथवा सट्टा न तो प्रामाणिक व्यवसाय है और न उद्यमशील रोज़गार। छल-बल भरे हुए इस धन्धे से दूसरे कितने ही साफ़ हो जाते हैं तब एक को धन मिलता है। इसी तरह बहुतों को संकट में डालकर बिना किसी प्रकार के श्रम के ऐसे धन्धों से धन एकत्रित करके उसमें से थोड़ा धर्मार्थ दान देने से शायद जिसे दिया गया हो उसका तो कुछ भला हो परन्तु उस दान से उस दाता का उन सैकड़ों मनुष्यों के हृदय को जलाने का पाप कैसे धुल सकता है ? हाँ, धुल सकता है—इस प्रकार का सब धन लोकोपयोगी

प्रवृत्तियों में अर्पण करके पश्चात्तापपूर्वक ऐसे कलुषित धन्धे छोड़ दिए जायँ तो। अन्यायोपार्जित[1] धन से पैसमस समाज में मिलनेवाली प्रतिष्ठा और आदर सत्कारका मूल्य आध्यात्मिक दृष्टि से कुछ भी नहीं है। इस तरह मिलनेवाली प्रतिष्ठा अथवा आदर सत्कार के लिये अभिमान लेना तो और भी विशेष पाप में पड़ने जैसा है।

परिग्रहपरिमाण के बारेमें

परिग्रहपरिमाण व्रत का इसलिये उपदेश दिया गया है कि लोभ का आक्रमण मन्द हो, नीति का धोरण अखण्डित रहे और पूँजीपति अपने अधिक धन का समाजके हितसाधनमें उपयोग करें। इस प्रकार के उपयोग से ही पूँजीपति दरिद्र एवं बेकार लोगों की विरोधवृत्ति का योग्य प्रतीकार कर सकते हैं। वे अपने अनावश्यक मौजमजाह तथा दूसरी तरह से होनेवाले दुर्व्यय का त्याग करके तथा अपनी आवश्यकताओं को उचितरूप से मर्यादित करके अपने अधिक धन का उपयोग समाज के हित साधन में करें। इसीमें उनका तथा समाज का कल्याण है।

---

1 अन्यायोपार्जित धन का दान कैसा है यह नीचे का प्राचीन श्लोक स्पष्ट करता है—

अन्यायोपात्तवित्तस्य दानमत्यन्तदोषकृत् ।
धेनुं निहत्य तन्मांसैर्ध्वांक्षाणामिव तर्पणम् ॥

अर्थात्—अन्यायोपार्जित द्रव्य का दान अत्यन्त दोषकारी है। यह तो गाय को मारकर उसके मांस से कौओं का तर्पण करने जैसा है।

परिग्रहपरिमाण व्रत लेने के पीछे उसका उद्देश परिग्रह का परिमाण अर्थात् उसकी मर्यादा बाँधने का है, परिग्रह बढ़ाने में अथवा संग्रहवृत्ति को अमर्याद रखने में उसका उपयोग करने का नहीं है। यदि कोई साधारण स्थिति का मनुष्य परिग्रहपरिमाण व्रत लेने की इच्छा प्रदर्शित करके ऐसा कहे कि 'एक मन हीरे, दो मन मोती, दस लाख रुपए, तीन हज़ार के बरतन, दस हज़ार का फ़र्निचर रखने के लिये परिग्रहपरिमाण का व्रत दो' तो ऐसा मनुष्य वस्तुतः परिग्रहपरिमाण व्रत की हँसी ही उड़ाता है और ऐसा व्रत देनेवाला अविवेकी ही समझा जायगा, क्योंकि ऐसा व्रत लेनेवाले का उद्देश स्पष्टतः अपनी अमर्याद संग्रहवृत्ति के पोषण का ही है, न कि समाज के व्यक्तियोंमें जो विषमता है उसे दूर करने का अथवा सन्तोषवृत्ति धारण करने का।

भोगोपभोगपरिमाण व्रत का सम्बन्ध,

१. जो पदार्थ भोग अथवा उपभोग में आते हैं उनका परिमाण बाँधने के साथ है, तथा

२. जिन व्यवसायों से उन पदार्थों की उत्पत्ति होती हो उन व्यवसायों के साथ है।

जिन व्यवसायों में बहुत बड़ी मात्रामें हिंसा होनेकी सम्भावना हो वैसे मिल आदि यान्त्रिक उद्योग तथा

ऐसे इतर व्यवसायों के दोष से मुक्त होने के लिये इतना ही पर्याप्त नहीं है कि वे धन्धे किए ही न जायँ अथवा कराए न जायँ, बल्कि ऐसे धन्धों से उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं का उपभोग भी नहीं करना चाहिए। ऐसी वस्तुओं का उपभोग करने पर भी यदि हम ऐसा मान लें कि 'हम ऐसे धन्धे न तो स्वयं करते हैं और न दूसरों से करवाते हैं, जिससे हमें उनका दोष लगे' तो यह एक निरी आत्म वंचना ही है। मांसाहारी मनुष्य यदि ऐसी दलील करे कि जिस प्राणी का मांस मैंने खाया है उस प्राणी की हिंसा न तो मैंने की है और न करवाई है, अतः प्राणिवध का दोष मुझे नहीं लगता – तो इस दलील को कोई उपयुक्त नहीं मानेगा। वह यदि अपनी दलील की पुष्टि में यों कहने लगे कि मांस सचित्त होगा तो उसकी सचित्तता का दोष मुझे लगेगा परन्तु प्राणिवध का दोष मुझे नहीं लग सकता और यदि कदाचित् वह अचित्त होगा तो सचित्तता का दोष भी मुझे नहीं लगेगा – तो इस प्रकार का उसका अपने कार्य का समर्थन किसी काम का नहीं है। उसे प्राणिवध का पाप लगने का ही। आचार्य हेमचन्द्र कहते[1] हैं कि प्राणी का घातक तो घातक है ही, परन्तु

---

१ हन्ता पलस्य विक्रेता संस्कर्ता भक्षकस्तथा ।
क्रेताऽनुमन्ता दाता च घातका एव यन्मनुः ॥
योगशास्त्र प्रकाश ३ श्लोक २

उसका मांस बेचनेवाला, खरीदनेवाला, पकानेवाला, परोसनेवाला तथा खानेवाला—ये सब लोग भी घातक हैं। आगे २३ वें श्लोक में 'न वधको भक्षकं विना' इन शब्दों से इसी बात को पुष्ट करते हुए वे कहते हैं कि खानेवालों के होने पर ही वध करनेवाले होते हैं, यदि खाने-वाला न हो तो कोई वध करनेवाला भी नहीं होगा, अतः सच्चा घातक तो खानेवाला है। श्रीहेमचन्द्राचार्य के ये वचन ध्यान में रखने योग्य हैं।

यदि मुझे मिल में उत्पन्न वस्त्र पहनने हों, यदि मुझे पशु-हिंसा से बनी हुई चमड़े की वस्तुओं का उपयोग करना हो, यदि मुझे चतुरिन्द्रिय जीवों का नाश कर के बनाए गए रेशम के कपड़े पहनने हों अथवा रेशमी चीजें रखनी हों, यदि मुझे पञ्चेन्द्रिय मछलियों का नाश कर के प्राप्त किए गए मोती के आभूषण पहनने हों और इसी प्रकार उग्र हिंसा से उत्पन्न दूसरे पदार्थों का उपभोग यदि मुझे करना हो तो उनमें रहे हुए जीवहिंसा के दोष में भी मुझे साझीदार होना ही पड़ेगा।

किसी भी वस्तु का उपयोग करने से पूर्व कल्याणार्थी मनुष्य को यह विचारना चाहिए कि यह वस्तु अल्पारम्भी है या महारम्भी? अल्पारम्भी वस्तु से वह अपना निर्वाह करे, परन्तु महारम्भी वस्तु का उपयोग न करे। भोगोपभोग के

ऐसे इतर व्यवसायों के दोष से मुक्त होने के लिये इतना ही पर्याप्त नहीं है कि वे धन्धे किए ही न जायँ अथवा कराए न जायँ, बल्कि ऐसे धन्धों से उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं का उपभोग भी नहीं करना चाहिए। ऐसी वस्तुओं का उपभोग करने पर भी यदि हम ऐसा मान लें कि 'हम ऐसे धन्धे न तो स्वयं करते हैं और न दूसरों से करवाते हैं, जिससे हमें उनका दोष लगे' तो यह एक निरी आत्मवंचना ही है। मांसाहारी मनुष्य यदि ऐसी दलील करे कि जिस प्राणी का मांस मैंने खाया है उस प्राणी की हिंसा न तो मैंने की है और न करवाई है, अतः प्राणिवध का दोष मुझे नहीं लगता – तो इस दलील को कोई उपयुक्त नहीं मानेगा। वह यदि अपनी दलील की पुष्टि में यों कहने लगे कि मांस सचित्त होगा तो उसकी सचित्तता का दोष मुझे लगेगा परन्तु प्राणिवध का दोष मुझे नहीं लग सकता और यदि कदाचित् वह अचित्त होगा तो सचित्तता का दोष भी मुझे नहीं लगेगा – तो इस प्रकार का उसका अपने कार्य का समर्थन किसी काम का नहीं है। उसे प्राणिवध का पाप लगने का ही। आचार्य हेमचन्द्र कहते[1] हैं कि प्राणी का घातक तो घातक है ही, परन्तु

---

१ हन्ता पलस्य विक्रेता संस्कर्ता भक्षकस्तथा ।
क्रेताऽनुमन्ता दाता च घातका एव यन्मनुः ॥
योगशास्त्र प्रकाश ३ श्लोक १

उसका मांस बेचनेवाला, खरीदनेवाला, पकानेवाला, परोसनेवाला तथा खानेवाला – ये सब लोग भी घातक हैं। आगे २३ वें श्लोक में 'न वधको भक्षकं विना' इन शब्दों से इसी बात को पुष्ट करते हुए वे कहते हैं कि खानेवालों के होने पर ही वध करनेवाले होते हैं, यदि खानेवाला न हो तो कोई वध करनेवाला भी नहीं होगा, अतः सच्चा घातक तो खानेवाला है। श्रीहेमचन्द्राचार्य के ये वचन ध्यान में रखने योग्य हैं।

यदि मुझे मिल में उत्पन्न वस्त्र पहनने हों, यदि मुझे पशु-हिंसा से बनी हुई चमड़े की वस्तुओं का उपयोग करना हो, यदि मुझे चतुरिन्द्रिय जीवों का नाश कर के बनाए गए रेशम के कपड़े पहनने हों अथवा रेशमी चीजें रखनी हों, यदि मुझे पञ्चेन्द्रिय मछलियों का नाश कर के प्राप्त किए गए मोती के आभूषण पहनने हों और इसी प्रकार उग्र हिंसा से उत्पन्न दूसरे पदार्थों का उपभोग यदि मुझे करना हो तो उनमें रहे हुए जीवहिंसा के दोष में भी मुझे साझीदार होना ही पड़ेगा।

किसी भी वस्तु का उपयोग करने से पूर्व कल्याणार्थी मनुष्य को यह विचारना चाहिए कि यह वस्तु अल्पारम्भी है या महारम्भी? अल्पारम्भी वस्तु से वह अपना निर्वाह करे, परन्तु महारम्भी वस्तु का उपयोग न करे। भोगोपभोग के

परिमाण किंवा उसके समुचित नियमन के बिना अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह व्रत का पालन शक्य नहीं है; क्योंकि भोगोपभोग में लुब्ध मनुष्य को अपनी अमर्याद भोगोपभोगतृष्णा को सन्तुष्ट करने के लिये उद्दाम हिंसा का आश्रय लेना ही पड़ता है। असत्य, अन्याय, शोषण आदि पाप भोगोपभोग की उच्छृंखल तृष्णा में से ही उत्पन्न होते हैं और इस बढ़ती हुई तृष्णा को सन्तुष्ट करने के लिये परिग्रह बढ़ाने में उसे व्यस्त रहना पड़ता है। सभी पाप भोगोपभोग की दुर्दान्त तृष्णा में से पैदा होते हैं। भोग-लालसा का समुचित नियमन वस्तुतः मनोबल का कार्य है। ऐसा मनोबली वीर मनुष्य अनेक पापों से बच सकता है तथा उसका अपना जीवनकल्याण अतिसरलता से सिद्ध हो सकता है।

संक्षेप में, इस व्रत का सारांश एक ही वाक्य में इस प्रकार कहा जा सकता है कि—

जिसमें बहुत ही अधर्म की सम्भावना हो ऐसे व्यवसायों के त्याग के साथ ही साथ उस प्रकार के भोजन पान, वस्त्र आभूषण आदि का त्याग कर के कम अधर्मवाली वस्तुओं का भी भोग के लिये परिमाण बांधना भोगोपभोग परिमाण व्रत है।

अनर्थदण्ड : दुर्ध्यान—वध बन्धन-ताडन-पीडनरूप

प्राणिहिंसाविषयक विचार, झूठ-चोरी-अनीति-अन्याय-विषयक विचार, निषिद्ध कामविलास के भोग का विचार और चाहे जिस तरीके से धनका संग्रह कर के उसे सुरक्षित रखने का मोहोन्मत्त विचार रौद्र ध्यान है। इसी प्रकार हिंसादि पापों से मिली हुई सिद्धियों के विचारों में आनन्द की अनुभूति भी रौद्र ध्यान है। रौद्र ध्यान प्रबल दुर्ध्यान है, अतः उसमें दुर्ध्यानरूप अनर्थदण्ड का पाप रहा हुआ है।

अनर्थदण्ड : प्रमादचर्या—अल्प-आरम्भ (अल्प हिंसा) से उत्पन्न वस्तुओं से व्यक्ति तथा समाज की आवश्यकताएँ यदि बिना किसी विशेष तकलीफ़ के पूर्ण हो सकती हों तो भी महान् आरम्भ (महाहिंसा) से उत्पन्न वस्तुओं का उपयोग करना इसमें प्रमादचर्यारूप अनर्थ-दण्ड का दोष रहा है।

अपने व्यक्तिगत सुख-सुभीते की पूर्ति के लिये यदि शक्ति और होशियारी तथा समय हो तो भी स्वयं श्रम न कर के दूसरे नौकर, आश्रित आदि पर उसका भार डाल-कर स्वयं अकर्मण्य बने रहना यह भी प्रमादचर्यारूप अनर्थ-दण्ड है।

सामायिक का उद्देश समभाव, समता एवं शमभाव विकसित करने में है।

(क) समभाव—

१ धर्म समभाव।

२ जातपाँत समभाव।

३ नरनारी-समभाव।

(ख) समता—

१ प्रत्येक जीव को आत्मरूप समझना।

२ सम विषम प्रसंग उपस्थित होने पर मन की स्थिरता कायम रखना, उसे विचलित न होने देना।

(ग) शम—

कषायों को दबाना या उन्हें शिथिल करना।

व्रतों के बारे में शास्त्र कहते हैं कि—

अहिंसा, सत्य आदि व्रतों का व्रती (सच्चा व्रती) होनेके लिये सर्वप्रथम निःशल्य (शल्यरहित) होने की आवश्यकता है। शल्य संक्षेप में तीन हैं—

१ दम्भ, दिखावा अथवा ठगने की वृत्ति,

२ भोगों की लालसा, और

३ सत्य पर अश्रद्धा अथवा असत्य का आग्रह।

जिस प्रकार शरीर के किसी भाग में शल्य अर्थात्

काँटा अथवा वैसी कोई तीक्ष्ण वस्तु चुभ जाय और जब तक दूर न हो तब तक वह शरीर एवं मन को व्यग्र बना कर आत्मा को अस्वस्थ कर देती है उसी प्रकार ये तीन शल्य या मानसिक दोष भी मन एवं शरीर को कुतर-कुतरकर आत्मा को अस्वस्थ बना देते हैं। जब तक ये शल्य दूर न हों तब तक व्रतपालन में स्थिरता नहीं आती। अतः इन दोषोंका त्याग व्रती बनने की पहली शर्त है।

अब इस प्रसंग पर गृहस्थ के षट्कर्म भी देख लें।

षट्कर्म—

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने ॥

अर्थात्—देवपूजा, गुरुकी उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये गृहस्थ के षट् (छह) कर्म हैं। यह ध्यान में रखना चाहिए कि ये छहों कर्म नित्यकर्म होनेसे प्रतिदिन आचरणीय हैं।

देवपूजा—अर्थात् देव का – परमात्मा का भक्तिपूर्ण स्मरण, स्तवन, प्रार्थन। यह आन्तरिक दोषों को दूर करनेका, विचारों को सुधारने का, भावना के अभ्यास एवं संवर्धन का तथा आत्मशक्ति को जागरित एवं विकसित करने का श्रेष्ठ मार्ग है।

पूजा के द्रव्यपूजा और भावपूजा ऐसे दो भेद बतलाए गए हैं।

भगवत्-स्मरण अर्थात् भगवान् के साथ तादात्म्य साधने के आन्तरिक प्रयत्न को भावपूजा कहते हैं। इस वास्तविक पूजा का मार्ग सरल बन सके ऐसी (आन्तरिक) ऊर्मि जगाने के कार्य में भक्ति का बाह्य उपचार काम में आ सकता है, अतः इस उपचार को द्रव्यपूजा कहते हैं। 'द्रव्यपूजा' शब्द में आए हुए द्रव्य शब्द का अर्थ निमित्तभूत अथवा सहायभूत होता है। भावपूजा के लिये सहायभूत होनेवाली बाह्य प्रक्रिया द्रव्यपूजा है। भक्तजन, जो सीधा पूजा (भावपूजा) पर नहीं पहुँच सकता वह इस प्रक्रिया का विवेकयुक्त आश्रय लेकर भावपूजा का लाभ प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। भावपूजा का सामर्थ्य भावना में परिवर्तन करता है, सद्गुणों की तथा सत्कार्यों की भावना को प्रबुद्ध कर के चित्त को समृद्धिशाली बनाता है। भावपूजा का मोसम् जैसे जैसे खिलता जाता है वैसे वैसे चित्त की कल्याणकामना विशेष और विशेष मात्रा में विकस्वर होती जाती है। इस प्रकार यह परम श्रेयःसाधक बनती है। श्रीहरिभद्राचार्य अपने 'अष्टकप्रकरण' नामक ग्रन्थ के तीसरे अष्टक में कहते हैं—

> अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमलोभता।
> गुरुभक्तिस्तपो ज्ञानं सत्पुष्पाणि प्रचक्षते॥

एभिर्देवाधिदेवाय बहुमानपुरस्सरा।
दीयते पालनाद् या तु सा वै शुद्धेत्युदाहृता॥

अर्थात्–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, निर्लोभता, गुरुभक्ति, तप और ज्ञान ये आठ प्रशस्त एवं पवित्र पुष्प हैं। इन गुणों का पालन करने से ये 'पुष्प' देवाधिदेव को चढ़ाए हैं ऐसा माना जा सकता है। इस प्रकार इन पुष्पों को चढ़ाना (इस प्रकार की 'पुष्पपूजा') शुद्ध-पूजा है। यहाँ पर यह जान लेना चाहिए कि इस प्रकार की 'शुद्ध' पूजा के लिये ही भाव-पूजा है और भाव-पूजा के लिये अनुकूल मानसिक वातावरण के सर्जन के लिये जो उपचारविधि की जाती है वह द्रव्य-पूजा है। वह भाव-पूजा के हेतु उपचारविधि होने से 'उपचार-पूजा' भी कही जा सकती है।

इस पर से यह समझा जा सकता है कि उपचार-(द्रव्य)पूजा में ही इतिश्री न मानकर अथवा उसे मुख्य या प्रधान न समझकर उसका आवश्यकतानुसार विवेकयुक्त उपयोग कर के साध्यक्रिया में यथाशक्ति उद्यत रहना चाहिए।

---

१ स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

गीता अ० १८, श्लो० १४६.

अर्थात्—मनुष्य अपने कार्यों से अर्थात् कर्तव्यपालन के रूप में उस-(प्रभु) की पूजा कर के सिद्धि प्राप्त करता है।

उपर्युक्तकथनानुसार द्रव्य पूजा भाव-पूजा के लिये वातावरण उपस्थित करने में निमित्तभूत होती है, परन्तु यदि वास्तविक भाव पूजा न हो तो अकेली द्रव्य पूजा से योग्य सफलता नहीं मिल सकती। द्रव्य पूजा प्रभु के प्रतीक की हो सकती है, परन्तु भाव-पूजा तो मूर्ति जिसका प्रतीक है उस प्रभु की होती है। भाव का सम्बन्ध प्रभु के गुणों के साथ है। द्रव्य-पूजा थोड़े से समय में पूर्ण हो जाती है, जबकि भाव पूजा – प्रभुगुणभक्ति – भगवद्गुणप्रणिधान के लिये स्थान अथवा काल की कोई मर्यादा नहीं है। उसका तो चाहे जिस स्थान में और चाहे जिस समय लाभ लिया जा सकता है। लौकिक कार्य व्यवहार के समय भी भक्तजन के हृदय में भक्तिरस बहता ही रहता है, उस समय भी वह इस प्रकार के रसोल्लास के रूप में भगवान् की भाव-पूजा कर ही रहा है। सांसारिक काम धन्धे करते समय भी जिसकी नीतिमत्ता और सत्य निष्ठा अबाधितरूप से चालू रहती है वह उस समय भी उन सद्गुणों के रूप में भगवत्-पूजा ही कर रहा है। भक्तिरस स्मृति पर सदा बहता रहे और उसके फलस्वरूप जीवन का पावित्र्य निरन्तर ज्वलन्त रहे यही सच्चे भक्त की स्थिति होती है।

भगवद्भक्त मनुष्य कर्मरूपी पर्वतों का भञ्जन करने

वाले, विश्वतत्त्वों के ज्ञाता, परमतत्त्व के प्रकाशक और मोक्षमार्ग पर ले जानेवाले वीतरागदेव को उनके (उनके जैसे) गुण प्राप्त हों (अपने आत्मा में प्रकट हों) इसलिये वन्दन करता है, और जब तक वैसी (वीतरागता की पूर्ण उज्ज्वल) स्थिति प्राप्त न हो तब तक वह ऐसी प्रार्थना करता रहता है कि 'भवे भवे सदा सतत वीतरागदेव में– उनके सद्गुणों में मेरी भक्ति कायम रहे जिससे किसी भी समय मैं दुर्गुणों में फँसने न पाऊँ, क्योंकि तीनों जगत् में और तीनों काल में भव-भ्रमण से अथवा दुःखचक्र से रक्षण करनेवाला यदि कोई है तो वह एकमात्र वीतरागता का अवलम्बन ही है।'

वीतराग-तत्त्व को अन्तिम ध्येय के रूप में मान्य रखने की आवश्यकता इसलिये है कि वीतराग परमात्मा के स्मरण में सतत निरत रहनेवाला योगी वीतरागता को प्राप्त करता है, जबकि सराग व्यक्ति को अन्तिम ध्येय के रूप में स्वीकार कर के उसका ध्यान करनेवाला अपनी सरागता का पोषण करता है और इस प्रकार अपने भव-बन्धन को अधिक कड़ा बनाता है।

यह सही है कि वीतरागता पर पहुँचने की लम्बी यात्रा में कितने ही साधनों की आवश्यकता होती है और उन्हें अनान्तर साध्य के रूप में बीच-बीच में स्वीकारने की

और न्यायमार्ग से प्राप्त करने की[1] आवश्यकता रहती है जिससे कि 'यात्रा' सफल हो; परन्तु यह सर्वदा ध्यान में रखना चाहिए कि अन्ततः ये साधन हैं, न कि अन्तिम साध्य। यदि कोई मनुष्य वीतरागता का अन्तिम आदर्श भूल जाय और जिसका केवल साधन के रूप में ही उपयोग है उसे अन्तिम लक्ष्य—अन्तिम साध्य के रूप में प्रतिष्ठित कर के उसके पीछे लग जाय तो वैसा करनेवाला मनुष्य भरा ही पड़ा है। उसका किसी भी तरह निस्तार नहीं हो सकता, फिर वह चाहे जितने हाथ-पैर क्यों न पटके, चाहे जितना द्रव्य क्यों न खर्चे।

भाव-पूजा दुष्प्रकृति, खराब स्वभाव और खराब आदत अथवा अपलक्षणों को दूर कर आत्मविकासरूप सद्गुणों को अपने जीवन में—जीवनव्यवहार में—आचरण में प्रकट करने की भावना विकसित करने में है। भाव को विकसित कर के सदाचारी जीवन की ओर प्रेरित करना ही भाव-पूजा का मुख्य एवं सच्चा तात्पर्य है और इसी में उसका साफल्य है।

जैन परमात्मव्यक्ति के नहीं किन्तु उसके गुणों के पूजक हैं। परमात्मा में होने योग्य गुण जिस जिस आत्मा में

---

१ प्रत्येक साध्य साधनयोग के अनुसार क्रमशः बनता है। घट तैयार करने में पहले छड़ आदि अवान्तर कितने ही कार्य सिद्ध करने पड़ते हैं, तब (साधनयोग के क्रम के अनुसार) कहीं जा कर घट तैयार होता है।

२ गुणवान् व्यक्ति भी पूजा जाता है, परन्तु व्यक्ति के रूप में नहीं किन्तु उसके गुणों द्वारा। गुणी के पूजन द्वारा गुणों का पूजन किया

प्रकट हुए होते हैं उन सबको जैन एकसमानरूप से परमात्मा मानते हैं। इसलिये परमात्मा के गुण ही जैनों का आदर्श है। जैनों के परम पवित्र 'नमोकार' अर्थात् 'नमस्कार' (नवकार) मन्त्र में पहला पद नमो अरिहन्ताणं है,[1] उसमें किसी व्यक्ति-परमात्मा का नाम-निर्देश नहीं है, उसमें तो राग-द्वेषादि आन्तरिक शत्रुओं का जिस किसी ने नाश किया हो उसे – उन सब को सामान्य-रूप से नमस्कार किया गया है।

गुरु की उपासना

गुरु अर्थात् सम्मान्य आप्तजन। श्री हरिभद्राचार्य अपने योगबिन्दु में लिखते हैं कि—

जाता है। गुणों का पूजन गुणी के पूजन द्वारा वलाव्य होता है। गुणों के पूजनरूप से गुणी का जो पूजन किया जाता है वह पूजक में गुणभावना को प्रदीप्त करता है। हकीकत ऐसी है कि **गुणों द्वारा गुणी पूजा जाता है और गुणी द्वारा गुण पूजे जाते हैं।**

१ इस मन्त्र में अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाँच पदों का निर्देश कर के नमस्कार किया गया है। इन पाँचों पदों का निर्देश गुणवाचक है। इसमें किसी व्यक्तिविशेष का उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार '**अरिहन्ते सरणं पवज्जामि**' इत्यादि चतुःशरण के तथा मंगलचतुष्टय के जो चार कल्याणभूत पाठ हैं उनमें भी अरिहन्त, सिद्ध, साधु एवं केवलिप्रज्ञप्त धर्म इन चार का निर्देश गुणवाचक है, व्यक्ति-वाचक नहीं।

" मातापितृकलाचार्य एतेषां ज्ञातयस्तथा ।
वृद्धा धर्मोपदेष्टारो गुरुवर्गः सतां मतः ॥ ११० ॥ "

इस श्लोक में गुरुओं का वर्ग बतलाते हुए वे कहते हैं कि माता-पिता, विद्यागुरु, ज्ञाति-कुटुम्ब में के बड़े, श्रुतशीलवृद्ध और धर्मप्रकाशक सन्त ये गुरु हैं।

इन गुरुओं की ओर यथोचितरूप से विनयशील रहना और उन्हें योग्य सहायता करना गुरु-उपास्ति है। इसके द्वारा उनके पास से जीवन विकासक ज्ञान संस्कार प्राप्त करने में उद्यत रहना चाहिये। माता-पिता का गुरुत्व सर्वश्रेष्ठ होनेसे 'मातापित्रोश्च पूजकः' (माता-पिता का पूजक) सर्वप्रथम बनने का शास्त्र में विधान है।

स्वाध्याय

'स्व' एवं 'अध्याय' इन दो शब्दों के समास से स्वाध्याय शब्द बना है। इसका अर्थ होता है स्व का—आत्मा का – अपने जीवन का अध्ययन। जीवनप्रेरक सद्

---

१ तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
—गीता अ० ४ श्लो० ३४

अर्थात्—ज्ञानी सद्गुरु को प्रणाम कर के पूछ कर के और उसकी सेवा कर के ज्ञान प्राप्त कर। तत्त्वद्रष्टा ज्ञानी तब तुझे ज्ञान का उपदेश देगा।

२. मातृदेवो भव! पितृदेवो भव! "—तैत्तिरीयोपनिषद्।

पदेश का वाचन-श्रवण-विचारण वह स्वाध्याय। यह चित्त को स्वस्थ रखने में उपयोगी होता है और जहाँ-तहाँ भटकनेवाले मन को 'भीतर' झाँकने के लिये प्रेरित करता है। इसके परिणामस्वरूप प्रगति एवं प्रकाश का मार्ग सरल बनता है। स्वाध्याय[1] एक तप है और इसे तपके (उच्च कक्षा के तप के) भेदों में एक भेदरूप से शामिल कर के जैनधर्म ने तप की व्यापकता एवं प्रत्यक्ष फलप्रदता का सुन्दर प्रदर्शन किया है।

संयम

इन्द्रियों पर अंकुश, मन पर अंकुश, वाणी एवं विचारों पर अंकुश, रसेन्द्रिय पर अंकुश, काम-क्रोध-लोभ पर अंकुश[2]-इसी का नाम संयम। जीवनयात्रा को सुखी, शान्त एवं आनन्दित रखने के लिये संयम की कितनी आवश्यकता[3]

---

१ स्वाध्यायान्न प्रमदितव्यम्। तैत्तिरीयोपनिषद्

२ त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
काम क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥
—गीता अ १६, श्लो २१.

३ न गंगा यमुना चापि सरयू वा सरस्सती।
निन्नगा वा चिरवती मही चापि महानदी॥
सक्कुणंति विसोधेतुं तं मलं इध पाणिनं।
विसोधयति सत्तानं यं वे सीलजलं मलं॥ विसुद्धिमग्ग

अर्थात्—गंगा, यमुना, सरयू, सरस्वती आदि नदियाँ प्राणियों के उस मैल को धो नहीं सकतीं जिसे सदाचरणरूप जल धो सकता है।

है ! प्रमादभाव और संकल्प का दौर्बल्य जीवन के बड़े से बड़े रोग हैं। इन रोगों के कारण गिरता हुआ मनुष्य अन्ततः बहुत बुरी दशा में जा गिरता है। संयम तो मानसिक सुख का स्रोत है। शारीरिक अथवा भौतिक सुख का स्वाद भी संयम द्वारा ही मिल सकता है। बौद्धधर्म का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'धम्मपद' कहता है कि—

अप्पमादो अमतपदं पमादो मच्चुनो पदं।
अप्पमत्ता न मीयन्ति ये पमत्ता यथा मता॥

अर्थात्—अप्रमाद अमृतपद है, जबकि प्रमाद मृत्यु धाम है। अप्रमादी मरता नहीं है (उसका भौतिक शरीर नष्ट होने पर भी वह नहीं मरता, क्योंकि वह सत्कर्मों का जो प्रकाश फैला गया है उसके आलोक से वह सदा प्रकाशमान ही रहता है), जबकि प्रमादी मनुष्य जीता हुआ भी मरा पड़ा है।

मनुष्य के पास यदि कोई आदर्श हो तभी वह संयमशील रह सकता है। परन्तु ऐसे आदर्श के साथ ही सर्जन[1] का आनन्द मिले ऐसा कोई कार्यक्षेत्र यदि उसके पास न हो तो संयम दुष्कर हो जाता है। मनुष्य शील का मूल्य जानता हो और शील के महत्त्व से वह प्रभावित हो तो संयममय जीवन जीया जा सकता है। संयम के लिये

---

1 All joy lies in creation

वातावरण की आवश्यकता है। वातावरण यदि संयमपोषक न हो तो गृहस्थ एवं संन्यासी दोनों के लिये संयम कठिन हो जाता है। संक्षेपमें, संयम के पीछे भावना, सर्जन का आनन्द, शीलनिष्ठा एवं वातावरण हों तो ये सब उसे उपयोगी तथा सहायक होते हैं।

तप

उपवासादि तप का महत्त्व और गौरव उसके पीछे रहे हुए किसी उदात्त हेतु एवं भावशुद्धि पर अवलम्बित है। इसी तत्त्व पर उसे तपरूप से प्रतिष्ठा मिल सकती है। लोकसेवा के लिये अथवा अनीति-अन्याय के आवरणों से आवृत सत्य अथवा सत्य वस्तु को प्रकाश में लाने के लिये शुद्ध आध्यात्मिक प्रयास के रूपमें महामना विशेषज्ञ अनशनादि तप का आश्रय लेते हैं। इनके पीछे रहे हुए पवित्र–प्रशस्त आशय के कारण तथा उज्ज्वल चित्तवृत्तिसे सुशोभित होने के कारण अनशनादि तप लोकवन्द्य एवं श्रेयस्कर बनते हैं। योग, ध्यान, चित्तशुद्धि अथवा इन्द्रिय-संयम के आशय से अशन का त्याग किया जाय, अन्तर्मुख होने की अथवा आत्मशान्ति प्राप्त करने की उच्च भावना से, सच्चिन्तन या स्वाध्याय अथवा अन्य किसी सत्कार्य या कल्याणलाभ के लिये अशन (खानपान) की उपाधिसे दूर रहा जाय तो ऐसा अनशन श्रेयस्कर तप है। जिन

सज्जनों ने विद्याव्यासंग में निरत रह कर प्रशस्य शास्त्रों की रचना की है उनका विद्याव्यासंग, शास्त्र-स्वाध्याय और ग्रन्थनिर्माण यह सब श्रेष्ठ तप है। कोई एक महान् कार्य हाथ में लेकर उसे पूर्ण करने के लिये सर्वप्रथम विचारणा करना, साधन एवं सहायक जुटाने, आयोजना कर के उसे कार्यान्वित करना और यह सब करते करते भूख, प्यास, श्रम एवं परिश्रम तथा कष्ट आदि भूल कर एकाग्रता से काम के पीछे लग जाना—यह समग्र व्यापार और व्यवहार तप है। लोगों के लिये पानी आदि का प्रबन्ध और तदर्थ प्रयत्न तप है। इसी प्रकार आत्मशोधन के प्रयास अथवा पवित्र कार्य में लगन तप है। परोपकारवृत्ति तप है। सत्यवादी का सत्यवाद, ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य, सेवक की सेवा, योगी का योग, ध्यानी का ध्यान, भक्त की भक्ति, विद्यार्थी का विद्याभ्यास, विद्वान् का विद्याव्यासंग, अध्यापक की अध्यापकता, उपदेशक की उपदेशकता, लोकहितैषी की लोकहितसाधना—ये सब निष्ठापूत होने पर तप हैं। इतना ही नहीं, प्रामाणिकतापूर्वक स्वकर्मनिष्ठा भी तप है। तप का सौन्दर्य तो उसके पीछे रहे हुए विशिष्ट प्रकार के उल्लास और आनन्द में है।

योग्यरूप से किया जानेवाला प्रमाणोचित उपवास शारीरिक आरोग्य के लिये लाभदायी है और शुद्धबुद्धि

मनुष्य को उसके आध्यात्मिक लाभ के (मानसिक वि-शोधन के) कार्य में भी उपयोगी सिद्ध हो सकता है। इससे सहिष्णुता का अभ्यास होता है। 'उपवास' शब्द में 'उप' का अर्थ समीप और 'वास' का अर्थ बसना होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि 'आत्मा के समीप अर्थात् आत्मा की शुद्ध स्थिति में बसना।' जितने अंश में यह अर्थ सधे उतने अंश में उपवास तप है। 'आयम्बिल'[1] से रसलोलुपता पर अंकुश लाने का प्रयोजन साधने का है। स्वास्थ्य के समीकरण में भी वह उपयोगी हो सकता है। एकाशन से भोजन का झंझट एक बार में ही निबट जाता है और तबियत हलकी होने के साथ ही कार्य-प्रवृत्ति के लिये अधिक अवकाश मिलता है।

बाह्य-तप बाह्य होने के कारण उस ओर लोगों का ध्यान जल्दी आकर्षित होता है, इसके पालन में विशेष योग्यता की आवश्यकता नहीं होती, यश एवं प्रशंसा भी शीघ्र मिलने लगते हैं, अतः इसका जल्दी प्रचार होता

---

१ 'आयम्बिल' एक बार भोजन करने का व्रत है, परन्तु उस भोजन में दूध, दही, तेल, घी, गुड, चीनी और मिर्च आदि मसाले तथा हरे अथवा सूखे शाक-तरकारी, फल आदि सबका त्याग होता है। गेहूँ, बजरी, मूँग, उडद, चना, चावल आदि अनाज में से बनाए हुए दाल, भात, रोटी आदि लिए जाते हैं। धानी, चना, मुरमुरा भी लिया जाता है और निमक, सोंठ, काली मिर्चका भी उपयोग किया जाता है।

है। इसकी उपयोगिता तथा मर्यादा का भी ख्याल लोगों में नहीं रहता। बाह्य-तप की विशेष उपयोगिता तो इसमें थी कि लोग अपने स्वास्थ्य को सम्भालें और अवसर आने पर कष्ट का सामना कर सकें इसलिये कष्ट सहिष्णुता का अभ्यास करते रहें। परन्तु इन दोनों बातों का विचार नहीं किया जाता। ये दोनों बातें सधती भी नहीं। भगवान् महावीर की बाह्य तपश्चर्या लोगों के ध्यान पर आती है, परन्तु हमें यह समझना चाहिए कि बाह्य तप की अपेक्षा अन्तरङ्ग तप उस महर्षि में अधिक था—अत्यन्त अधिक था। उस ओर हमारा ध्यान सर्वप्रथम जाना चाहिए और हमारा लक्ष्य भी वही होना चाहिए।

भगवान् महावीर की बाह्य तपश्चर्या, पूर्वभव में किए गए दुष्कृत्यों के परिणामस्वरूप उनके चित्त में पड़े हुए संस्कार दोषों (कर्म दोषों) को प्रायश्चित्तद्वारा पकड़ पकड़ कर उनका नाश करने के लिये थी। इसी प्रकार उस समय आहार के लिये तथा यज्ञों में जो अतिप्रचुर पशुहिंसा होती थी उसके विरुद्ध लोकहृदय में पुण्यप्रकोप जागरित कर हिंसा के स्थान पर अहिंसा की प्रतिष्ठा करके उसका प्रचार करने की जो प्रखर भावना उस परम कारुणिक पुरुष में रमभाण थी उसे मूर्तरूप देने के लिये भी [उनकी बाह्य तपश्चर्या] थी। उस समय जो लड़ाइयाँ होती थीं उनमें पराजित राज्य के स्त्री-पुरुषों को कैद करके गुलामों की

भाँति बेचने-खरीदने की प्रथा थी, ऐसी प्रथा के विरुद्ध लोगों में घृणा उत्पन्न हो और ऐसी प्रथा को निर्मूल करने के लिये वे प्रवृत्त हों ऐसी-ऐसी लोकहितावह पुण्य भावनाएँ भी इस कल्याणमूर्त्ति पुरुष के तप के चारों ओर फैली हुई होना बहुत सम्भव है। इस सत्पुरुष के पूर्वभव के जीवनचरित के अवलोकन पर से ऐसी कल्पनाएँ स्फुरित होती हैं। संन्यस्त महावीर केवलज्ञान की प्राप्ति से पूर्व चतुर्ज्ञान के धारक थे और उनकी ख्याति उस समय भी (अन्य सम्प्रदायों की विशाल जनता में तथा उन लोगों के लोकमान्य धर्मनायकों में भी) एक दीर्घतपस्वी के रूप में फैली हुई थी, ऐसे भगवान् महावीर अपनी दीर्घ तपश्चर्या सिर्फ़ शरीरकष्ट के लिये ही करें यह नहीं माना जा सकता। वस्तुतः इस महान् विश्ववत्सल की महान् तपश्चर्या के पीछे कल्याणसाधना का विशाल दृष्टिबिन्दु था – ऐसा उनके जीवनचरित के अध्ययन से प्रकट होता है। महावीर प्रभु का भीषण 'अभिग्रह' और उसके साथ चन्दनबाला की गुलामी में से मुक्ति की विशिष्ट घटना का सम्बन्ध इस पर से महावीर के व्यापक तेजस्वी तप का ख्याल आ सकता है।

अन्तरंग-तप के बिना बाह्य-तप का मूल्य नहीं है। मुख्य तप और श्रेष्ठ तप आभ्यन्तर तप है। उसके साथ बाह्य-तप जितने अंश में अनुकूल हो, जितनी मात्रा में उपकारक हो उतने अंश में, उतनी मात्रा में वह सार्थक

है। परन्तु चित्तशोधन, जीवनविकास अथवा आरोग्यलाभ किसी में भी यदि वह उपकारक न हो तो ऐसा महान तप निरर्थक है।

बाह्य-तप करनेवाले को सतत ध्यान में रखना चाहिये कि वह दूसरे पर भाररूप न हो।

प्रसंगवश यह याद कराना उपयोगी होगा कि आरोग्य के लिये, पेट में पड़ा हुआ अन्न पच कर शरीर में रसरूप से परिणत हो यह आवश्यक है। पाचनशक्ति का नाश होने पर सभी प्राय नाश के मार्ग पर प्रयाण करते हैं, जिसके परिणामस्वरूप शरीर में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होने लगते हैं। रोग मनुष्य के मन पर खराब प्रभाव डालते हैं और आत्मध्यान में अथवा धर्मसाधन में विघ्नरूप भी होते हैं। अतः यह प्रथम आवश्यक है कि शरीर नीरोग रहे। इसलिये बाह्य-तप इस तरह न करना चाहिए जिससे शरीर में रोग उत्पन्न हो और इन्द्रियाँ (कर्मेन्द्रियाँ तथा ज्ञानेन्द्रियाँ) कार्यक्षम न रहें।

उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज अपने 'ज्ञान-सार' अष्टक के तपोऽष्टक में कहते हैं कि—

तदेवं हि तपः कार्यं दुर्ध्यानं यत्र नो भवेत्।
येन योगा न हीयन्ते क्षीयन्ते नेन्द्रियाणि च॥

अर्थात्—तप ऐसा करना चाहिए जिसमें दुर्ध्यान न हो, मन-वचन-काय का वल नष्ट न हो और इन्द्रियों में क्षीणता न आए।

इस बारे में नीचे का श्लोक स्पष्ट मार्गदर्शन कराता है—

कायो न केवलमयं परितापनीयो
मिष्टै रसैर्बहुविधैर्न च लालनीयः।
चित्तेन्द्रियाणि न चरन्ति यथोत्पथेन
वश्यानि येन च तदाचरितं जिनानाम्॥

अर्थात्—यह शरीर केवल तपाने के लिये भी नहीं है तथा नानाविध मिष्ट रसों से लालन-पालन करने योग्य भी नहीं है, किन्तु मन और इन्द्रियाँ उत्पथगामी न हों और बश में रहें इस प्रकार से बरतने का है।

यह जिनभक्त श्लोककार वस्तुतः दोनों अन्तों के बीचका (मध्यम) मार्ग लेने को कहता है।

भगवद्गीता जीवन के व्यापक धोरण का निर्देश करती हुई कहती है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वापावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ ६-१७॥

अर्थात्—जिसका आहार-विहार, जिसका उद्योग

या श्रमकार्य और जिसका सोना-जागना नियमित और सप्रमाण है उसे दुःखविनाशक योग प्राप्त होता है।

सारांश यह कि रोगनिवारण के लिये, अभ्यास के लिये जिससे भविष्य में अवसर आने पर सेवा का अथवा कष्ट-सहन का कार्य किया जा सके अथवा अपने पर जिसका सद्भाव हो उसने यदि कोई दुश्चरित्र किया हो तो उसके निवारण के लिये, परहित (सेवाकार्य) के लिये, विद्याभ्यास, पठन-पाठन, वाचन-लेखन या चिन्तन के लिये अवकाश मिले इसलिये अथवा आत्मशुद्धि के कार्य के लिये बाह्यतप कर्तव्य है।

वासनाओं को क्षीण करने में उपयोगी जरूरी आध्यात्मिक बल प्राप्त करने के लिए शरीर, इन्द्रिय और मन को भिन्न भिन्न आँच से पकाया जाता है यह सब तप है। और यह बात तो अच्छी तरह से कही जा चुकी है कि बाह्य-तप का महत्त्व आभ्यन्तर तप की पुष्टि के लिये उपयोगी होने में ही माना गया है, अर्थात् बाह्य तप आभ्यन्तर तप के पास पहुँचने में सहायक होना चाहिए ऐसा शास्त्रकारों का उपदेश है। बाह्य एवं आभ्यन्तर तप के इस वर्गीकरण में समग्र स्थूल तथा सूक्ष्म धार्मिक नियमों का समावेश हो जाता है।

बाह्य-तप

बाह्य-तप के छह भेद हैं—१ अनशन, २ ऊनोदरी, ३

वृत्तिसंक्षेप, ४. रस-त्याग, ५. कायक्लेश और ६. विविक्त-शय्यासनसंलीनता।

१. अशन का त्याग अर्थात् उपवास अनशन है। २. क्षुधा की अपेक्षा कम आहार लेना अवमौदर्य अथवा ऊनोदरिता है। ३. विविध वस्तुओं की ओर होनेवाली लालच को कम करना वृत्तिसंक्षेप है। ४ घी, दूध, मक्खन, शहद आदि का तथा शराब आदि हानिकारक रसों का त्याग रसत्याग है। रसत्याग के पीछे रसस्वाद—रसलोलुपता पर विजय प्राप्त करने का उद्देश है। रसलुब्ध न हुआ जाय, रस के आस्वाद में आहार की मात्रा अव्यवस्थित न होने पाए तथा रस के बिना भी चलाने का अभ्यास हो सके—ऐसा आशय रसत्याग के पीछे रहा है। इसलिये शराब तो त्याज्य है ही, परन्तु घी दूध जैसे शरीरपोषक निर्दोष पदार्थ भी अपनी जीवनचर्या को अच्छी और विकसित बनाने की दृष्टि से सप्रमाण लिए जायँ वहीं तक वे हितावह हैं। ५ सर्दी में, गरमी में अथवा विविध आसन आदि से शरीर को कसना कायक्लेश है। किसी समय कोई शारीरिक कष्ट आ पड़े तो उस समय मनुष्य उसे सहन कर सके—समभाव रख सके इस दृष्टि से इस तप का विधान है। बाक़ी, शरीर को सिर्फ़ दुःख देने के लिये अथवा दूसरों पर प्रभाव डालने के लिये, दूसरों को चकित करने के लिये

अथवा दूसरे की दया को उत्तेजित कर के कुछ प्राप्त करने की इच्छा से यदि कायक्लेश किया जाय अथवा दूसरों पर अनुचित दबावरूप हो तो यह अज्ञान-चेष्टा है। जितने अंश में यह चित्तशुद्धि करने में अर्थात् आसक्ति, दोष तथा कषाय विकारों को दूर करने में उपकारक होता है उतने ही अंश में यह सार्थक है, तप है। अतः अमुक कायक्लेश के सहने में जीवनशुद्धि अथवा आत्मशुद्धि का लाभ होना सम्भव है या नहीं यह विचारना आवश्यक है। ६ बाधारहित एकान्त स्थान में आत्मलाभ के लिये रहना विविक्त शय्यासनसंलीनता है।

आभ्यन्तर तप

श्री हेमचन्द्राचार्य योगशास्त्र के चतुर्थ प्रकाश के ९१ वें श्लोक की वृत्ति में कहते हैं कि—

" निर्जराकरणे बाह्याच्छ्रेष्ठमाभ्यन्तरं तपः। "

अर्थात् कर्मों की निर्जरा करने के लिये बाह्य तप की अपेक्षा आभ्यन्तर तप श्रेष्ठ है।

आभ्यन्तर तप के भी छह भेद हैं—१ प्रायश्चित्त, २ विनय, ३ वैयावृत्त्य, ४ स्वाध्याय, ५ व्युत्सर्ग और ६ ध्यान।

१ लिए हुए व्रत में होनेवाले प्रमादजन्य दोषों का

जिससे शोधन किया जाय वह प्रायश्चित्त है। २. ज्ञान आदि सद्गुणों के बारे में बहुमान रखना विनय है। ३. योग्य साधन प्रस्तुत कर के अथवा अपने आप को काम में लगा कर सेवा शुश्रूषा करना वैयावृत्त्य है। ४. ज्ञानप्राप्ति के लिये विविध प्रकार का अभ्यास करना स्वाध्याय है। ५. अहंत्व और ममत्व का त्याग करना व्युत्सर्ग है। ६. चित्त के विक्षेप दूर कर के उसकी एकाग्रता सिद्ध करना ध्यान है।

इसमें विनय ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय, और उपचारविनय इस तरह चार प्रकार का है। ज्ञान प्राप्त करना, उसका अभ्यास चालू रखना यह ज्ञान का सच्चा विनय है। तत्त्व की यथार्थप्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन से चलित न होना, उसमें आनेवाली शंकाओं का यथाशक्ति संशोधन कर के निःशंकता लाना यह दर्शनविनय है। चारित्र में चित्त का समाधान रखना चारित्रविनय है। किसी भी सद्गुण के कारण जो व्यक्ति अपने से श्रेष्ठ हो उसका योग्य विनय करना-उसकी ओर समुचित आदर-भाव रखना उपचारविनय है। विनय गर्व के तथा दूसरों की ओर होनेवाली तिरस्कारवृत्ति के त्याग का सूचन करता है। उच्च अथवा नीच माने जानेवाले की तरफ भी मैत्रीपूत सभ्यता रखनी चाहिए। विनय यानी मृदु-नम्र व्यवहार।

---

१ जैन धर्म दूसरे की सेवा करने को भी तप मानता है और तप के विशिष्ट भेदों की परिगणना में उसका समावेश करता है।

ध्यान

मन की एकाग्रता का नाम ध्यान है। आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल इस प्रकार ध्यान के चार भेद हैं। इनमें से धर्म और शुक्ल ध्यान कल्याणकारक तथा मोक्षसाधक होने से तप के भेदरूप हैं। आर्त एवं रौद्र ध्यान दुर्ध्यान हैं, दुर्गतिकारक हैं, अतः त्याज्य हैं। यहाँ इन चार ध्यानों को हम संक्षेप में देखें।

१ आर्त ध्यान

आर्तध्यान दुःखमय चिन्तनरूप है। अप्रिय वस्तु प्राप्त होने पर उससे छुटकारा पाने के लिये जो उत्कट चिन्ता की जाती है वह प्रथम आर्तध्यान है। बीमारी या दुःख आने पर उसे दूर करने की व्यग्रतापूर्ण चिन्ता—सतत चिन्ता दूसरा आर्तध्यान है। प्रिय वस्तु का वियोग होने पर उस की प्राप्ति के लिये जो उत्कट चिन्ता की जाती है वह तीसरा आर्तध्यान है। अप्राप्त भोग की प्राप्ति के लिये संकल्प करना अथवा व्याकुल होना चौथा आर्तध्यान है। 'अर्ति' अर्थात् पीड़ा या दुःख, तत्सम्बन्धी ध्यान वह आर्तध्यान, अथवा आर्त का—पीड़ित का अपना ध्यान वह आर्तध्यान अर्थात् दुःख से विह्वल या तृष्णापीड़ित होना वह आर्त ध्यान। दुःख की उत्पत्ति के मुख्य चार कारण हैं: अनिष्ट

वस्तु का संयोग, प्रतिकूल वेदना, इष्ट वस्तु का वियोग और भोग की लालसा। इन कारणों पर से आर्त्तध्यान के चार भेद किए गए हैं : १. अनिष्टसंयोग आर्त्तध्यान, २. रोगचिन्ता आर्त्तध्यान, ३. इष्टवियोग आर्त्तध्यान, और ४. अप्राप्त भोग प्राप्त करने का तीव्र संकल्प वह निदान-आर्त्तध्यान। [निदान अर्थात् संकल्प]

२. रौद्र-ध्यान

रौद्र अर्थात् क्रूर अथवा कठोर, ऐसे चित्त अथवा जीव का ध्यान वह रौद्रध्यान। हिंसा, असत्य, चोरी और विषय-संरक्षण के लिये जो क्रूरतापूर्ण चिन्तन किया जाता है वह रौद्रध्यान है। इस पर से हिंसानुबन्धी, अनृतानुबन्धी, स्तेयानुबन्धी और विषयसंरक्षणानुबन्धी—इस प्रकार रौद्रध्यान के चार भेद किए गए हैं जो कि क्रमशः हिंसामय चिन्तारूप, असत्यमय चिन्तारूप, चौर्यमय चिन्तारूप और विषयसंरक्षणचिन्तारूप हैं। पाप में अथवा पाप से उपलब्ध लाभों में आनन्दरूप—उल्लासरूप वृत्ति रौद्रध्यान है। अतः उपर्युक्त हिंसानुबन्धी आदि चार भेद अनुक्रम से हिंसानन्द, अनृतानन्द, चौर्यानन्द और परिग्रहानन्द रूप हैं। (कुशीलानन्द का समावेश परिग्रहानन्द में किया जा सकता है और महाव्रतों में ब्रह्मचर्य का निर्देश जिस प्रकार अलग किया गया उस प्रकार यह अलग भी गिना जा सकता है।)

३ धर्म-ध्यान

यह आत्मकल्याणरूप ध्यान है। जो कुछ एकाग्रभूत सचिन्तन (धर्मरूप चिन्तन, कल्याणरूप चिन्तन) हो वह धर्मध्यान है। उदाहरणार्थ, (१) वीतराग महापुरुष की क्या आज्ञा है ? वह कैसी होनी चाहिए ? इसकी परीक्षा कर के वैसी आज्ञा की खोज के लिये मनोयोग देना 'आज्ञा विचय' धर्मध्यान है। (२) रागादि दोषों के स्वरूप को और उन दोषों से हम किस प्रकार दूर हो सकते हैं इसकी विचारणा में जो मनोयोग दिया जाता है वह 'अपायविचय' धर्मध्यान है। (३) कर्मविपाकविषयक चिन्तन में मनोयोग देना 'विपाकविचय' धर्मध्यान है। (४) लोक के स्वरूप का विचार करने में मनोयोग देना 'लोक संस्थानविचय' धर्मध्यान है।

४ शुक्ल-ध्यान

यह बहुत उच्च भूमिका का—मोहनीय कर्म की उपशान्त अथवा क्षीण होनेवाली अवस्था का अतिसूक्ष्म ध्यान है। इसके स्वरूप का ख्याल पढ़ने से अथवा सुनने मात्र से आना कठिन है[1]। ध्याता जब परमाणु आदि जड़ अथवा

---

१ शुक्लध्यान के सम्बन्ध में आचार्य हेमचन्द्र योगशास्त्र के ११ वें प्रकाश के ११ वें श्लोक की वृत्ति में

यदि प्रथम संहननवाले को ही शुक्लध्यान का अधिकार है तो आज के

आत्मरूप चेतन ऐसे एक द्रव्य में उत्पत्ति, स्थिति, नाश, मूर्त्तत्व, अमूर्तत्व आदि अनेक पर्यायों का विविध दृष्टि-बिन्दुओं से भेदप्रधान चिन्तन करता है और एक 'योग' परसे दूसरे 'योग' पर अथवा शब्द परसे अर्थ पर और अर्थ परसे शब्द पर जा कर चिन्तनपरायण बनता है तब वैसे ध्यान को 'पृथक्त्ववितर्क सविचार' नाम का शुक्ल-ध्यान कहते हैं। इस नाम का अर्थ इस प्रकार है: 'पृथक्त्व' यानी भेद, और भेदप्रधान वितर्क (चिन्तन) वह पृथक्त्ववितर्क। यह एक 'योग' परसे दूसरे 'योग' पर अथवा शब्द परसे अर्थ (द्रव्य) पर और अर्थ परसे शब्द पर—इस प्रकार विचरणशील होनेसे 'सविचार' कहलाता है।

सेवार्तसंहननवालों को शुक्ल-ध्यान का उपदेश क्यों दिया जाता है?' ऐसा प्रश्न पूछकर स्वयं उसका समाधान करते हुए कहते हैं कि यद्यपि वर्तमानयुगीन मनुष्यों को शुक्ल-ध्यान का अधिकार नहीं है, फिर भी सम्प्रदाय (इस विषय का ज्ञानसम्प्रदाय) टूटने न पाए इसलिये इसका उपदेश दिया जाता है।

योगशास्त्र की समाप्ति करते हुए आचार्य महाराज—

मोक्षोऽस्तु माऽस्तु यदि वा परमानन्दस्तु वेद्यते स खलु।
यस्मिन्निखिलसुखानि प्रतिभासन्ते न किञ्चिदिव॥

इस अन्तिम श्लोक (बारहवें प्रकाश के ५१ वें श्लोक) से कहते हैं कि मोक्ष हो या न हो, परन्तु चित्त की स्थिर दशा में उस परमानन्द का संवेदन होता है जिसके आगे समग्र सुख मानो कुछ भी नहीं है ऐसा प्रतीत होता है।

[यहाँ पर 'विचार' का अर्थ विचरण है ।] इस प्रकार यह ध्यान विचरणशील होने पर भी एकद्रव्यविषयक होने से मनःस्थैर्यरूप है । जब यह ध्यान भेदप्रधान मिट कर अभेदप्रधान चिन्तनरूप बनता है और वह भी एक ही पर्याय पर, तब यह 'एकत्ववितर्क' कहलाता है । यह उपर्युक्त ध्यान की भाँति विचरणशील न होनेसे 'अविचार' (विचरणरहित) कहलाता है । पहली श्रेणी के शुक्लध्यान की अपेक्षा यह दूसरी श्रेणी का शुक्लध्यान अतिप्रखर है, क्योंकि शब्द, अर्थ और योगों में विचरणशील न हो कर किसी एक ही पर्याय पर पूर्णरूपसे यह अटल रहता है । प्रथम शुक्लध्यान का अभ्यास दृढ होनेके बाद ही इस दूसरे शुक्लध्यान के लिये समर्थ हुआ जा सकता है । जिस प्रकार सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त सर्प आदि के विष को मन्त्रादि उपायों द्वारा दंश के स्थान पर एकत्रित किया जाता है उसी प्रकार समस्त विश्व के पदार्थों में भ्रमणशील अस्थिर मन को ध्यान द्वारा किसी एक अणुपर्याय पर लाकर स्थिर किया जाता है । यह स्थिरता सुदृढ होने पर (पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँचने पर) मन पूर्णरूप से शान्त हो जाता है । जिस प्रकार ईंधन शेष न रहने पर अथवा ईंधन का सम्बन्ध समाप्त हो जाने पर आग स्वयमेव बुझ जाती है उसी प्रकार मन उपर्युक्त क्रम से एक

---

१ त्रिजगद्विषयं ध्यानादणुसंस्थं धारयेत् क्रमेण मनः ।
विषमिव सर्वाङ्गगतं मन्त्रबलान्मान्त्रिको दंशे ॥ १९ ॥

अणु पर पूर्णरूप से स्थिर होते ही उसका चाञ्चल्य सर्वथा दूर कर होकर वह पूर्ण शान्त बन जाता है। इसके परिणामस्वरूप मोहावरण का संयोग सर्वथा नष्ट हो जाने से सम्पूर्ण ज्ञान-दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्म हट जाते हैं जिससे केवलज्ञान (सर्वज्ञता) प्रकट होता है। इस तरह शुक्लध्यान के दूसरे भेद के बल पर तत्काल सार्वज्ञ्य प्रकट होता है। केवली भगवान् अपने निर्वाण के समय योगनिरोध के कार्यक्रम में जब सूक्ष्म शरीर योग का अवलम्बन लेकर मन एव वचन के सूक्ष्म योग का निरोध करते हैं तब उस अवस्था को 'सूक्ष्मक्रिय' ध्यान कहते हैं। यह अवस्था ध्यान(चिन्तन)रूप अवस्था नहीं है, फिर भी इस अवस्था को जो 'ध्यान' कहा है वह एक रूढि है। इसके बारे में ऐसा कहा जा सकता है कि मन की स्थिरता जिस प्रकार 'ध्यान' है उसी प्रकार शरीर की स्थिरता भी 'ध्यान' कही जा सकती है। इस अवस्था में श्वासोच्छ्वास जैसी सूक्ष्म शरीरक्रिया ही अवशिष्ट रहने से इसे 'सूक्ष्मक्रिय'

अपसारितेन्धनभरः शेषस्तोकेन्धनोऽनलो ज्वलित ।
तस्मादपनीतो वा निर्वाति यथा मनस्तद्वत् ॥२०॥
—हेमचन्द्र, योगशास्त्र प्रकाश ११ ।

१ ग्यारहवें गुणस्थान में होनेवाले दूसरे प्रकार के शुक्लध्यान की अपेक्षा बारहवें गुणस्थान में होनेवाला शुक्लध्यान अत्यधिक प्रखर होता है। वस्तुत बारहवें गुणस्थान में मन स्थैर्यरूप शुक्लध्यान की पूर्णता होता है। इसीलिये वह तत्काल ही केवलज्ञान प्रकट करता है।

कहते हैं। यह क्रिया भी जब बन्द हो जाती है और आत्म प्रदेशों की सम्पूर्ण निष्कम्पता प्राप्त होती है तब उस अवस्था को 'समुच्छिन्नक्रिय' ध्यान कहते हैं। इस क्षण भर की अवस्था में आत्मा कर्ममुक्त और देहमुक्त होकर ऊर्ध्व गमन करता हुआ क्षणमात्र में लोक के अग्रभाग पर पहुँच जाता है और वहीं स्थिर होता है।

ध्यान का विवेचन पूर्ण हुआ और इसके साथ ही षट् कर्मगत पाँचवें कर्म तप का विवेचन भी पूर्ण हुआ। अब—

दान

दान न्यायपूत द्रव्य का योग्य स्थान एवं योग्य पात्र में कर्तव्य है। दान जितने प्रमाण में किया जाता है उतने प्रमाण में वह त्याग है। त्यागी बन कर शुद्ध परोपकारपरायण बनना दान की पराकाष्ठा है। त्यागी मनुष्य अपने निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कर के, किसी प्रकार की संग्रह करने की बुद्धि रखे बिना अपनी समग्र शक्ति जीवन के उच्च आशय के पीछे लगाकर स्वपर हित के कार्य में संलग्न रहता है। वह समाज के पास से कम से कम लेकर अधिक से अधिक समाज को एक या दूसरे रूप में देता है। ऐसे त्यागी मनुष्य के पास जो नहीं होता उसका दान तो वह दे ही नहीं सकता, परन्तु वह ...नी साधना और विकसनशील शक्तियों का लाभ सब

जनता को निर्मल वात्सल्यभाव से देता है तब किसी धनिक–महाधनिक के असंख्य धन के दान की अपेक्षा इस त्यागी का दान कहीं अधिक श्रेष्ठ है। महावीर, बुद्ध और ऐसे दूसरे तेजस्वी त्यागी इतने महान् दाता हैं कि धन का बड़े से बड़ा दान करनेवाले दुनिया के बड़े बड़े श्रीसम्पन्न पुरुषों की अपेक्षा वे कहीं अधिक ऊँचे हैं।

समझदार धनी अपने धनका दान प्रायश्चित्त के रूप में देता है, अपना कर्तव्य तथा स्वपरकल्याण का मार्ग समझकर देता है। बड़ाई के लिये दिया जानेवाला दान बड़ाई में ही उड़ जाता है। जिस प्रकार धन अथवा वस्तु का दान होता है उसी प्रकार वचन से किसी को अच्छा मार्ग बताना, अच्छा परामर्श देना तथा वचन द्वारा किसी का भला करना, किसी का हित साधना भी दान है। शिष्ट-मिष्ट वाणीव्यवहार मिष्ट दान है। इसी प्रकार अपने शरीर से किसी का भला करना, किसी के हित के काम में सक्रिय सहायक होना भी दान है। इस तरह दान-धर्म का पालन अनेक प्रकार से किया जा सकता है।

कौनसा दान बड़ा है? इसका सादा जवाब यही है कि जिस समय जिसकी आवश्यकता हो उसी का दान बड़ा। जैसे कि प्यासे के लिये पानी का दान बड़ा, रोगी के लिये औषध का दान बड़ा, भूखे के लिये भोजन का दान बड़ा,

करते हैं। यह क्रिया भी जब बन्द हो जाती है और आत्म प्रदेशों की सम्पूर्ण निष्कम्पता प्राप्त होती है तब उस अवस्था को 'समुच्छिन्नक्रिय' ध्यान कहते हैं। इस क्षण भर की अवस्था में आत्मा कर्ममुक्त और देहमुक्त होकर ऊर्ध्व गमन करता हुआ क्षणमात्र में लोक के अग्रभाग पर पहुँच जाता है और वहीं स्थिर होता है।

ध्यान का विवेचन पूर्ण हुआ और इसके साथ ही यह कर्मगत पाँचवें कर्म तप का विवेचन भी पूर्ण हुआ। अब—

दान

दान न्यायपूर्व द्रव्य का योग्य स्थान एवं योग्य पात्र में कर्तव्य है। दान जितने प्रमाण में किया जाता है उतने प्रमाण में यह त्याग है। त्यागी बन कर शुद्ध परोपकारपरायण बनना दान की पराकाष्ठा है। त्यागी मनुष्य अपने निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कर के, किसी प्रकार की संग्रह करने की बुद्धि रखे बिना अपनी समग्र शक्ति जीवन के उच्च आशय के पीछे लगाकर स्वपर हित के कार्य में संलग्न रहता है। यह समाज के पास से कम से कम लेकर अधिक से अधिक समाज को एक या दूसरे रूप में देता है। ऐसे त्यागी मनुष्य के पास जो नहीं होता उसका दान तो वह दे ही नहीं सकता, परन्तु वह अपनी साधना और विकसनशील शक्तियों का लाभ सब

कार्य में उपयोगी होने में ही धनयोग की प्रशस्यता है। इस तारतम्य की ओर ध्यान देना जरूरी है।

सेवा[1] दान की श्रेष्ठ स्थिति है। 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च' अर्थात् द्वेषवृत्ति से रहित, सर्व जीवों की ओर मैत्रीभाव रखनेवाला तथा करुणापूर्ण मानस स्वयमेव दान-भावना का बहता झरना है। ऐसा मानस वाणी एवं

---

१ "The service of the poor is the service of God"

अर्थात्—दीन-दुखियों की सेवा ईश्वर की सेवा है।

भगवतीसूत्र में भगवान् महावीर अपने मुख्य शिष्य गौतम इन्द्रभूति को सम्बोधन करके कहते हैं कि—

"गोयमा! जे गिलाणं पडिवरइ से मं दंसणेणं पडिवज्जइ।
जे मं दंसणेणं पडिवज्जइ से गिलाणं पडिचरइ।"

अर्थात्—हे गौतम! जो बीमार-दुखियों की सेवा करता है वह दर्शन (सम्यग्दर्शन) द्वारा मेरी उपासना करता है और जो दर्शन (सम्यग्दर्शन) द्वारा मेरी उपासना करता है वह बीमार-दुखियों की सेवा करता है।

"They asked a great one How many ways are there to God? He said. There are as many ways as there are atoms in the universe, but the best and the shortest is service."

अर्थात्—लोगों ने किसी सन्त से पूछा "ईश्वरप्राप्ति के कितने मार्ग हैं?" सन्तने कहा. "जगत् में जितने अणु हैं उतने, परन्तु सबसे अच्छा और सबसे छोटा मार्ग सेवा है।"

वस्त्रहीन के लिये वस्त्रदान बड़ा, निरक्षर के लिये शिक्षणदान बड़ा, भयभीत के लिये अभयदान बड़ा। जिस समय जिसकी आवश्यकता पड़ती उसका दान पहला करना चाहिए।

दान अर्थात् अर्पण उसके कर्ता एवं स्वीकार करनेवाले दोनों को उपकारक होना चाहिए। अर्पण करनेवाले का मुख्य उपकार तो यह है कि उस वस्तु परकी उसकी ममता दूर होती है और इस तरह उसका सन्तोष तथा समभाव बढ़ता है। स्वीकार करनेवाले का उपकार यह है कि उस वस्तु से उसकी जीवनयात्रा में सहायता मिलती है और इसके परिणामस्वरूप उसके सद्गुण खिलते हैं।

शक्ति का उपयोग धन कमाने में करना और बाद में धन का दान करना इसकी अपेक्षा सीधा शक्ति का दान कैसा? 'सीधा शक्ति का दान' का अर्थ है निःस्वार्थ सेवाभावी जीवन धारण करना। इस प्रकार का जीवन त्यागी जीवन बन जाता है। नीति के मार्ग पर चल कर और श्रमयुक्त जीवन जी कर सद्विचार अथवा पवित्र और उपयोगी ज्ञान का दान करना, दूसरों को सत्कार्यपरायण बनने के लिये यथाशक्ति प्रेरक होना—इनका अर्थदान की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व है। धन की अपेक्षा विद्या एवं ज्ञानसंस्कार का स्थान बहुत ऊंचा है, अतः इनका दान धनदान की अपेक्षा कहीं अधिक ऊंचा है। ऐसे श्रेष्ठ दान का लाभ पहुँचाने के

कार्य में उपयोगी होने में ही धनयोग की प्रशस्यता है। इस तारतम्य की ओर ध्यान देना जरूरी है।

सेवा[1] दान की श्रेष्ठ स्थिति है। 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च' अर्थात् द्वेषवृत्ति से रहित, सर्व जीवों की ओर मैत्रीभाव रखनेवाला तथा करुणापूर्ण मानस स्वयमेव दान-भावना का बहता झरना है। ऐसा मानस वाणी एवं

---

१ "The service of the poor is the service of God"

अर्थात्—दीन-दुखियों की सेवा ईश्वर की सेवा है।

भगवतीसूत्र में भगवान् महावीर अपने मुख्य शिष्य गौतम इन्द्रभूति को सम्बोधन करके कहते हैं कि—

"गोयमा! जे गिलाणं पडिचरइ से मं दंसणेणं पडिवज्जइ।
जे मं दंसणेणं पडिवज्जइ से गिलाणं पडिचरइ।"

अर्थात्—हे गौतम! जो बीमार-दुखियों की सेवा करता है वह दर्शन (सम्यग्दर्शन) द्वारा मेरी उपासना करता है और जो दर्शन (सम्यग्दर्शन) द्वारा मेरी उपासना करता है वह बीमार-दुखियों की सेवा करता है।

"They asked a great one How many ways are there to God? He said There are as many ways as there are atoms in the universe, but the best and the shortest is **service.**"

अर्थात्—लोगों ने किसी सन्त से पूछा: "ईश्वरप्राप्ति के कितने मार्ग हैं?" सन्तने कहा: "जगत् में जितने अणु हैं उतने, परन्तु सबसे अच्छा और सबसे छोटा मार्ग **सेवा** है।"

शरीर द्वारा यथाशक्ति दानधर्म के प्रवाह को सतत प्रवाहित रखता है।

दान चाहे शरीरश्रम से दिया गया हो अथवा मानसिक श्रम से दिया गया हो, शिक्षण-संस्कार अथवा सहानुभूति के रूप में दिया गया हो या धन अथवा अन्य उपयोगी वस्तु का किया गया हो, उसका समावेश त्याग में होता है यह तो ऊपर कहा ही जा चुका है। त्याग के तीन उद्देश्य मुख्य हैं—

(१) संयममूलक त्याग अर्थात् जो संयम में समाविष्ट होनेवाले पाँच व्रतों के पालन में उपकारक हो। व्यर्थ मौजमजा की चीजें जो सात्त्विक अथवा निर्दोष आनन्द देने के बदले शरीर के लिये हानिकर हों, मन को बिगाड़ने वाली हों धन की निरर्थक बरबादी करनेवाली हों और तृष्णा एवं आसक्ति को बढ़ानेवाली हों उनका त्याग संयममूलक त्याग है।

महारम्भ से मिलों में बने हुए आकर्षक तथा बारीक वस्त्रों के बदले अल्पारम्भ से बने हुए हाथकताई और हाथबुनाई की खादी जैसे वस्त्र का उपयोग करने में,

पञ्चेन्द्रिय मछलियों को चीर कर निकाले गए मोती के आभूषण तथा चतुरिन्द्रिय कीड़ों का नाश करके बनाए गए रेशमी वस्त्रों का उपयोग न करने में,

पशुओं का वध करके बनाए गए चमड़े के जूते आदि पदार्थों के उपयोग का त्याग करके स्वाभाविक रूप से मरे हुए पशुओं के चमड़े की बनी हुई वस्तुओं के उपयोग में,

शृंगारप्रेरक नाटक, सिनेमा आदि देखना बन्द कर देने में,

पुरुषों को गहने की आवश्यकता नहीं है और स्त्रियों को भी सौभाग्यदर्शक आभूषणों के अतिरिक्त दूसरे गहनों की आवश्यकता नहीं है, फिर भी धनिकता का प्रदर्शन करने के लिये अथवा दूसरों को चौंधियाने के लिये गहनों का जो ठाठ किया जाता है उसे त्यागने में,

पफ़-पावडर और लिपस्टिक आदि कृत्रिम प्रसाधनों द्वारा लोगों को आकर्षित करने में जो विलासप्रियता का परिचय दिया जाता है उसका त्याग करके सच्ची शोभा शीलपालन में रही हुई है ऐसा समझकर तदनुकूल बरतने में,

केवल स्वाद के लिये 'कोल्ड ड्रिङ्क'—शीतल पेय के नाम से प्रचलित पेयों का पीना त्यागने में,

संयममूलक त्याग रहा हुआ है।

(२) प्रेममूलक त्याग—अपने पास न होने पर भी प्राप्त हो सके ऐसी वस्तुएँ, तंगी के समय दूसरों की वास्तविक आवश्यकताएँ पूर्ण करने की दृष्टि से स्वयं संकोच करके अथवा स्वयं असुविधा सहकर दूसरों की सुविधा के लिये,

लेने से इनकार करना और उनका उपयोग अथवा उपभोग करना छोड़ देना प्रेममूलक त्याग है। उदाहरणार्थ, चावल खानेवाली जनता की सुविधा के लिये दूसरे अनाज पर जीवननिर्वाह कर सकनेवाले लोग यदि चावल का राशन छोड़ दें तो वह प्रेममूलक त्याग होगा।

(२) दानमूलक त्याग में 'पूनिया' श्रावक का उदाहरण दिया जा सकता है। वह रूई में से पूनियाँ बनाकर दो मनुष्य के निर्वाह जितना कमाता था, फिर भी वह स्वयं तथा उसकी पत्नी अनुक्रम से दिन में एक जून भूखे रहकर प्रतिदिन एक अतिथि को अपने घर खिलाते थे।

परन्तु पाँच रुपए की नोट का त्याग करने के लिये कोई उसे फाड़ डाले तो क्या वह त्याग समझा जायगा? अवश्य नहीं। वह तो केवल स्वच्छन्दता और मूर्खता ही समझी जायगी, क्योंकि इससे किसी को उतने पैसों का लाभ तो न हुआ, केवल उसका नाश हुआ। इसी भाँति जब बेकारी और भूख के कारण समाज की विषमग्रस्त स्थिति हो उस समय उस ओर दुर्लक्ष करके और धर्म का निमित्त आगे रख कर आडम्बर अथवा कीर्ति के लिये धन व्यय करनेवाले को उचित एवं सच्चे त्याग से मिलनेवाला आध्यात्मिक लाभ नहीं मिल सकता। इसी प्रकार जूआ, सट्टा, कालाबाजार अथवा अन्य अन्यायी तरीकों से प्राप्त किए गए धन से की

जानेवाली धार्मिक क्रियाएँ सच्चे धर्म को दूषित करती हैं। इतना ही नहीं, अन्याय से धन उपार्जन कर के धार्मिक समझी जानेवाली क्रियाओं में उसे खर्चने से धर्म होता है—ऐसा लोगों में मिथ्या भ्रम उत्पन्न होता है जिससे अधर्म से भी धन पैदा करने की वृत्ति को उत्तेजन मिलता है।

त्याग एक प्रकार का स्व-परहितकारक तप है। स्वाद-जय के लिये अथवा अन्य कारण से अनशनादि तप करनेवाले मनुष्य अपनी अपनी शक्ति के अनुसार पूर्वोक्त 'पूनिआ' श्रावक के उदाहरण के हार्द का जब अनुसरण करेंगे तब अन्य किसी भी उपाय से न हो सकनेवाली ऐसी शासन की प्रभावना होगी। किसी भी धर्म की कल्याणकारकता का नाप उस धर्म के अनुयायियों के बरताव परसे सामान्यतः लगाया जाता है; खास कर, धर्म के हार्द से अनभिज्ञ जन-समूह तो हमेशा ऐसा ही करता है।

ऊपर कहा उस तरह, परोपकार के लिये अपने धन का खर्च करना अथवा अपना द्रव्य देना दान है और स्व-परकल्याण के लिये प्राप्त अथवा अप्राप्त सुख, सुविधा या सम्पत्ति को छोड़ देना त्याग है। दान के चार प्रयोजन गिनाए जा सकते हैं—

१. दुरुपार्जन (अनीति की कमाई) आदि के पाप का थोड़ा प्रायश्चित्त होता है।

२ उपभोग के बाद बची हुई सम्पत्ति का सदुपयोग होता है।

३ जन-सेवा के कार्य—शिक्षणालय, औषधालय, जीर्णोद्धार आदि किए जा सकते हैं।

४ सच्ची साधुता को अवलम्बन अथवा सहायता दी जा सकती है।

जो न्याययुक्त धंधे-रोजगार कर के कमाते हैं और उदारता से दानपरायण भी रहते हैं वे भाग्यशाली दानी हैं, और जो त्यागी होकर संयमपूत जीवन जीने के साथ अपनी भूमिका के अनुसार परोपकारपरायण रहते हैं वे महाभाग्यशाली त्यागी हैं।

इस प्रकार षट्कर्म संक्षेप में हमने देखे।

भक्ष्याभक्ष्य का विचार जैन आचार-ग्रन्थों में बहुत किया गया है। उनका रात्रिभोजननिषेध भी प्रसिद्ध है।

रात्रिभोजन निषेध

इस बात का तो प्रत्येक को अनुभव है कि सन्ध्या होते ही अनेक जीव, बहुत बड़े प्रमाण में सूक्ष्म जन्तु उड़ने लगते हैं। रात्रि में दीये के आगे असंख्य जीव उड़ते अथवा घूमते नजर आते हैं। इसके अतिरिक्त हमारे शरीर पर भी रात पड़ते ही अनेक जीव बैठने लगते हैं और मुँह पर

आकर गिरते हैं। खुले रहे हुए दीये में भी अनेक जीव पड़े हुए मालूम होते हैं। ऐसी स्थिति में वे भोजन पर भी बैठते हों यह असम्भव नहीं है। अतः रात्रिभोजन में जीवों की विराधना का दोष लगता है। अमुक प्रकार के ज़हरीले जन्तु भोजन के साथ पेट में जाने पर तत्काल अथवा विलम्ब से रोग उत्पन्न करते हैं। भोजन में जूँ आ जाय तो जलोदर होता है, मकड़ी आ जाय तो कोढ़ होता है, कीड़ी के आने से बुद्धि का ह्रास होता है, मक्खी आने से क़य होती है और काँटा अथवा लकड़ी का छोटासा टुकड़ा जैसा आने से गले में पीड़ा होती है, और किसी समय जहरीला जीव खाने में आ जाय तो मृत्यु भी हो सकती है। रात्रि में रसोई पकाने और खाना खाने की अनेक ऐसी घटनाएँ हमारे सुनने में आती हैं जिनमें सर्पादि के गिरने से मनुष्यों की मृत्यु तक हुई है।

सायंकाल अर्थात् सूर्यास्त से पूर्व किया गया भोजन रात में सोने के समय तक बहुत कुछ जठरानल की

---

१ मेधा पिपीलिका हन्ति यूका कुर्याज्जलोदरम्।
कुरुते मक्षिका वान्ति कुष्ठरोगं च कोलिकः॥
कण्टको दारुखण्डं च वितनोति गलव्यथाम्।
व्यञ्जनान्तर्निपतितस्तालु विध्यति वृश्चिकः॥
विलग्नश्च गले वालः स्वरभङ्गाय जायते।
इत्यादयो दृष्टदोषाः सर्वेषां निशि भोजने॥

—हेमचन्द्र, योगशास्त्र प्रकाश ३, श्लो० ५०-१-२.

ज्वाला पर चढ़ जाने से निद्रा में अस्वास्थ्यकारक नहीं होता; परन्तु रात में खा कर थोड़ी देर में ही सो जाने से, आवश्यक भ्रमण आदि न होने के कारण, पेट में तुरन्त ही डाला हुआ अन्न निद्रा में कभी कभी खराब असर उत्पन्न करता है। भोजन के पश्चात् थोड़ा थोड़ा पानी पीने का वैद्यक नियम ('मुहुर्मुहुर्वारि पिबेदभूरि') है। रात में भोजन करने से आवश्यक मात्रा में पानी पीने का समय न मिलने से इस नियम का पालन नहीं हो सकता जिसके परिणामस्वरूप अजीर्ण होने की सम्भावना रहती है और अजीर्ण तो रोगों का मूल है—अजीर्णप्रभवा रोगाः।

संक्षेप में, बिजली अथवा चन्द्र का प्रकाश चाहे जितना अच्छा क्यों न हो, सूर्य के प्रकाश की तुलना में नहीं आ सकता, इसलिये भोजन के लिये इतर प्रकाशों की अपेक्षा सूर्यप्रकाश ही अधिक पसन्द करने योग्य है और आरोग्य की दृष्टि से सर्वप्रथम स्वीकारने योग्य है। शान्तिलाभ की दृष्टि से भी, दिन की सब प्रवृत्तियों के साथ भोजन की प्रवृत्ति भी समाप्त कर के सन्तोष के साथ रात्रि में जठर को विश्रान्ति देना योग्य प्रतीत होता है। इससे नींद अच्छी आती है और ब्रह्मचर्य के पालन में भी सहायता मिलती है। यह आरोग्यलाभ की स्पष्ट बात है। दिवाभोजन और रात्रिभोजन इन दोनों में से सन्तोष एवं शान्ति की दृष्टि से पसन्दगी करनी हो तो विचारकुशल बुद्धि दिवाभोजन की

ओर ही झुकेगी ऐसा आज तक के महान् सन्तों के जीवन-इतिहास पर से ज्ञात होता है।

यह सही है कि रात्रिभोजन के त्याग के फ़ायदे, जो सादी बुद्धि से भी समझे जा सकते हैं, रात्रिभोजन का त्याग न करनेवाला गँवाता है; परन्तु जीवन-कलह के इस ज़माने में जो लोग आजीविका की प्राप्ति के लिये ऐसी व्यावसायिक प्रवृत्ति में पड़े हों कि रात्रिभोजन का त्याग न कर सकते हों उनकी ऐसी प्रवृत्ति परिस्थितिवश लाचारी से होती है, अतः क्षन्तव्य है, क्योंकि उसमें सांकल्पिक हिंसा या अनर्थदण्ड के दोष का अभाव है।

भक्ष्याभक्ष्यविवेक

शरीरशास्त्र, आरोग्यशास्त्र, चिकित्साशास्त्र और आहार-शास्त्र के बारे में विज्ञान ने अब तक जो प्रयोग तथा आविष्कार करके प्रकाश डाला है उस प्रकाश की उपकारक दिशा की ओर दुर्लक्ष करना अथवा आँखें बन्द कर देना जैन-धर्म जैसे वैज्ञानिक समझे जानेवाले धर्म के लिये योग्य नहीं है। शरीर आत्मविकास का और अन्ततः मोक्ष का भी आद्य साधन होने से उसकी कार्यक्षमता सुरक्षित रहे और वह स्वस्थ रहे यह अनिवार्यरूपेण आवश्यक है। रुग्ण होने के पश्चात् शरीर की चिकित्सा और उपचार कराने बैठना इसकी अपेक्षा रोग का आक्रमण ही न हो और आरोग्य बना

रहे ऐसी आहार विहारविषयक दिनचर्या रखना अधिक उत्तम है। इसके लिये पथ्यापथ्य का विचार करके, शरीर में प्रतिदिन जो क्षति होती है उसकी जिस प्रकार के भोजन पान से पूर्ति हो और शारीरिक स्वास्थ्य के लिये आवश्यक रस मिलते रहें ऐसे आहार-पान का विवेक पूर्वक चुनाव करना चाहिए। सामान्यतः ऐसा कह सकते हैं कि जिस खाने पीने में चलने फिरनेवाले प्राणियों का वध किया गया हो, जो नशा उत्पन्न करके बेहोश अथवा कर्तव्य च्युत बनाए, जो आरोग्य के लिये हानिकर हो, जिसके गुणदोष से हम अज्ञात हों, जो जीभ को रसास्वाद देने के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का लाभ करनेवाला न हो, जो अनावश्यक होने पर भी उपयोग करने पर व्यसनरूप बन जाता हो, जो शरीर में रससमृद्धि बढ़ाने के बदले केवल ज्ञानतन्तुओं और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली मानसिक वृत्तियों को उत्तेजित करके अन्त में थकान व निर्बलता लाए और शरीर को बरबाद कर ऐसे भोजन पान का त्याग ही इष्ट है। इसी प्रकार चलते फिरते प्राणियों का वध करके उनमें से बनाई गई दवाओं का शरीरपुष्टि के लिये अथवा रोगनिवारण के लिये उपयोग करना धार्मिक दृष्टि से त्याज्य है, क्योंकि इससे प्राणिवध की प्रवृत्ति को उत्तेजन मिलता है। मांसाहार अत्यन्त कुत्सित एवं गर्ह्य है और हिंसा का उग्र रूप होने से त्याज्य ही है।

वनस्पति में यद्यपि सुसूक्ष्म प्राणितत्त्व (Life) है, फिर भी उसके बिना देहधारी जीव जी नहीं सकते; इसके अतिरिक्त यह प्राकृतिक आहार भी है जिसमें किसी प्रकार की मलिन वस्तु (रक्त आदि) नहीं है। अतः ऐसा स्वाभाविक और पवित्र आहार करने पर मनुष्य दूषित नहीं होता–अपराधी नहीं ठहरता। स्थावर एकेन्द्रिय (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति) के भोगोपभोग की प्रकृति ने स्वयं छूट दी है। यह प्राकृतिक और पवित्र (Natural as well as unsullied) भोगोपभोग है। इससे आगे नहीं बढ़ना चाहिए।

आरोग्य

आरोग्य के लिये योग्य और मर्यादित आहार, स्वच्छ जल, खुली हवा, सूर्य की धूप, स्वच्छता, उचित शरीरश्रम, उचित आराम तथा निद्रा आवश्यक हैं। समुचित संयम तो आवश्यक है ही। इन बातों की अवगणना अनारोग्य को आमन्त्रित करती है।

व्यसनरूप निन्द्य कार्य

जीवन के लिये आवश्यक न होने पर भी जो निन्द्य कार्य ऐसी आदतरूप बन जाय कि उसके अभाव में बेचैनी

मालूम होने लगे यह दुर्व्यसन है। यदि दुर्व्यसनरूप निन्द्य वस्तु का सेवन एक बार भी हो जाए तो अन्तःकरण खिन्न होना चाहिए—इतना अधिक खिन्न होना चाहिए कि पुनः उसका सम्पर्क न होने पाए उतना जाग्रत् रहे।

जैन-उपदेश में स्वच्छता, शुद्धता और समुचित शौच व पवित्रता का विधान है। जूठन की ओर असावधानता रखना धर्मदृष्टि से भी दोषावह है और आरोग्य की दृष्टि से भी हानिकर है। रसायनशास्त्र से ज्ञात होता है कि अधिक समय तक मल मूत्र रहने से उनमें से फैलनेवाले रोगमय जन्तुओं के संक्रमण के कारण अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। अतः खुली जगह में किसी को बाधक न हो इस तरह मल मूत्र आदि के त्याग का जैन उपदेश अतिप्राचीन है। स्वच्छता और सफाई आवश्यक हैं, आरोग्य के लिये हितकर हैं और मानसिक उल्लास में सहायक होती हैं।

अन्त में, सब शास्त्रों के निष्कर्षरूप यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि सद्दर्शन और सदाचरण, संयम और सभ्यता, दया और प्रेम, सेवा और परोपकार, सत्य और

---

१ द्यूतं च मांसं च सुरा च वेश्या पापर्द्धिचौर्ये परदारसेवा।
एतानि सप्त व्यसनानि लोके तस्मिन्निष्टे दुर्गतिमावहन्ति॥

इस श्लोक में सात दुर्व्यसन गिनाए हैं जूआ, मांस मद्य वेश्या शिकार चोरी और परस्त्रीगमन।

विवेक, भ्रातृभाव और मैत्रीभाव, सहिष्णुता और नम्रता, गम्भीरता और धीरता, वीरता और क्षमा, उदारता और त्याग ये मानव जीवन की सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति है। इन सद्-गुणों की विकास-क्रिया में मनुष्य का चारित्र सम्पन्न होता है। इन्हीं में पुरुषार्थ की सिद्धि है। शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक उत्कर्ष साधने का यह सन्मार्ग है। यही कल्याणमय जीवन है। यही मोक्षमार्ग है।

तृतीय खण्ड

प्रकीर्णक

इस तृतीय खण्ड में कुछ प्रकीर्ण किन्तु उपयोगी विचार उपस्थित करना चाहता हूँ।

(१)

कल्याण के द्वार सबके लिये खुले हैं

जिनेन्द्रदेव तात्त्विक दृष्टि से सब जीवों की समानता बतलाते हैं और इस सत्य का तनिक भी विस्मरण किए बिना संसारी अवस्था में योग्य व्यवहार चलाने का आदेश देते हैं। संसारी जीवों में यद्यपि शरीराकृति की अपेक्षा से, रूप, बल, धन, कुल—वंश, सत्ता, समृद्धि तथा ज्ञान—बुद्धि की अपेक्षा से विषमता देखी जाती है, परन्तु ये सब विषमताएँ आगन्तुक कारणों से अर्थात् शुभाशुभ कर्म के प्रभाव को लेकर होती हैं। जीवों के शुद्ध स्वभाव में ऐसी विषमताओं को स्थान नहीं है। अतः आगन्तुक कारणों से उत्पन्न विषमताओं के बारे में उच्च-नीच भावना रखकर यदि अच्छे भाग्यवाले मदकारवश दुर्भाग्यवालों का तिरस्कार करें तो वह जीव में रहे हुए परमात्म-तत्त्व का अपमान

करने जैसा है। जिस प्रकार रोगादि दुःखों से आक्रान्त प्राणी अनुकम्पा तथा सद्भाव के अधिकारी हैं उसी प्रकार हीन दशा में आए हुए जीव भी अनुकम्पा तथा सद्भाव के अधिकारी हैं।

वैदिक हिन्दूधर्म में प्रचलित वर्णाश्रम धर्म की, समाज-व्यवस्था के सुसंचालन के लिये तथा जीवनकलह और एक-दूसरे के साथ भीतर ही भीतर विघातक प्रतियोगिता न हो इसलिये गुण-कर्म के विभाग के आधार पर प्ररूपणा की गई थी; किन्तु इसमें जब उच्च-नीचभाव घुसा, गुण-कर्म के स्थान पर जन्म को प्राधान्य दिया गया और अपने आप को श्रेष्ठ माननेवाला सत्ताशील वर्ग दलितों का शोषण करने लगा, तब जिनेन्द्रदेव ने वर्ग के कारण किए गए भेदों की अवगणना कर के सब मनुष्यों के लिये, फिर वह चाहे किसी भी योनि में क्यों न उत्पन्न हुआ हो—जन्म से भले ही वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या चाण्डाल हो, पतित और दुराचारी हो—सब किसी के लिये किसी प्रकार का भेदभाव रखे बिना विश्वव्यापक प्रेम और अनन्त कारुण्य-भावसे धर्म के द्वार खोल दिए हैं। ऐसा होने पर भी धर्म की प्राप्ति में अथवा धर्म-प्राप्ति के निमित्तों का आश्रय लेने में यदि किसी पर प्रतिबन्ध लगाए जायँ अथवा बाधा डाली जाय तो वह परमकारुणिक श्री जिनेश्वरदेव के शासन के विरुद्ध है। जिनेन्द्र भगवान् के उपदेश के सुनने-

शास्त्रों का वर्णन करते हुए भी हेमचन्द्राचार्य त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित के प्रथम पर्व के तीसरे सर्ग में कहते हैं—

नियन्त्रणा तत्र नैव विकथा न च काचन ॥४७४॥

अर्थात्—जिन भगवान् की व्याख्यान-सभा में किसी प्रकार की नियन्त्रणा (प्रतिबन्ध) न थी।

जैन-दर्शन के अनुसार कोई भी मनुष्य, चाहे वह गृहस्थ हो अथवा साधु-संन्यासी, चाहे उसकी दार्शनिक मान्यताएँ एवं क्रियाकाण्ड जैन सम्प्रदाय के अनुसार हों अथवा अन्य किसी सम्प्रदाय के अनुसार, मुक्ति प्राप्त कर सकता है। शर्त केवल एक ही है कि उसमें वीतरागता होनी चाहिए। इसीलिये कहा है कि—

सेयम्बरो य आसम्बरो य बुद्धो य अहव अन्नो वा।
समभावभाविअप्पा लहए मुक्खं न संदेहो ॥

[आचार्य हरिभद्र]

अर्थात्—श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, बौद्ध हो या और कोई अन्य, यदि वह समभाव से युक्त हो तो अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है।

जैनागम कैवल्य-प्राप्ति के लिए किसी वेषविशेष को नियत नहीं मानता। उसका स्पष्ट उद्घोष है कि मनुष्य

---

१ "मोक्षप्राप्तिं प्रति न वेषप्राधान्यं
किन्तु समभाव एव निवृत्तिहेतुः।"
(सम्बोधसत्तरि की दूसरी गाथा पर की गुणविनय वाचक की टीका)

चाहे गृहस्थ स्थिति में (गृहस्थ-लिङ्ग में) हो अथवा साधु-संन्यासी की स्थिति में (साधु-लिङ्ग में) हो, पुरुष हो या स्त्री हो, स्वसम्प्रदाय के वेष में (स्वलिङ्ग में) हो अथवा अन्य सम्प्रदाय के वेष में (अन्य-लिङ्ग में) हो–किसी भी हालत में हो, किन्तु यदि वह वीतरागता प्राप्त करे तो अवश्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है[1]।

वीतरागता मानसिक अथवा आन्तरिक धर्म है और जब सच्ची वीतरागता प्रकट होती है तब उसका प्रभाव विचार, वाणी और व्यवहार में पड़ता है। वीतरागता के लिये संन्यास मार्ग को यदि सरल एवं राजमार्ग मान लें तब भी

अह भवे पइण्णा उ मोक्खसब्भूअसाहणो ।
नाणं च दंसणं चेव चरित्तं चेव निच्छए ॥

—उत्तराध्ययन अ. २३, गाथा ३३

इस गाथा की भावविजयगणिकृत टीका में टीकाकार लिखते हैं कि—

" ज्ञानाद्येव मुक्तिसाधनम्, न तु लिङ्गम् । श्रूयते हि भरतादीनां लिङ्गं विनापि केवलोत्पत्ति' । इति तत्त्वतो लिङ्गस्याऽकिंचित्करत्वान्न तद्भेदो विदुषां विप्रत्ययहेतुः । "

१ इत्थीलिंगसिद्धा, पुरिसलिंगसिद्धा, सलिंगसिद्धा, अन्नलिंगसिद्धा, गिहिलिंगसिद्धा ।

—प्रज्ञापनासूत्र, प्रथम प्रज्ञापनापद, सिद्धप्रज्ञापनापद

केवलज्ञान की प्राप्ति मोक्ष ही है। देहधारी का यह मोक्ष जीवन्मुक्ति कहलाता है ।

ऐसा एकान्त नहीं है कि उसके बिना वीतरागता की साधना शक्य न हो अथवा वह प्राप्त न हो सके। उपर्युक्त आगम पाठ से (गृहस्थलिंग से भी सिद्ध हो सकने के उल्लेख से) यह बात सिद्ध होती है। इसी प्रकार जैनदर्शन सम्मत दार्शनिक मान्यताओं को मान्य रखे बिना तथा जैन दर्शन में प्रमाणित क्रियाकाण्ड के अनुसार आचरण किए बिना वीतरागता आ नहीं सकती ऐसा भी नहीं है। यह भी उक्त आगम पाठ से (अन्यलिङ्ग से भी सिद्ध हो सकने के उल्लेख से) सिद्ध है। यहाँ पर इतना कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि जैन-धर्म की दार्शनिक मान्यताओं और उसके क्रियाकाण्डों में ऐसा कुछ भी नहीं है जो वीतरागता की प्राप्ति में बाधक हो। इसके विपरीत, इसके दार्शनिक मन्तव्य तथा आयोजित क्रियाकाण्ड वास्तविक धर्माचरण में सविशेष उपकारक तथा सहायक हो सके ऐसे हैं। यदि जैन दर्शन के मन्तव्यों का सदुपयोग किया जाय और सदाचारप्रेरक क्रियाकाण्ड यथि समझ कर, उनकी रचना के पीछे रहा हुआ उद्देश बराबर जान कर किए जायें तो धर्म और मोक्ष दोनों पुरुषार्थ सिद्ध करने में सहायक हो सकते हैं। सदाचार–सच्चरित्रता ही धर्म की नींव है। इसके बिना कोई भी दार्शनिक मान्यता अथवा बाह्य क्रियाकाण्ड उस पार उतारने में समर्थ नहीं है।

सम्प्रदाय दुनिया में रहने के, उनका नाश शक्य नहीं

और नाश हो ऐसा चाहने की आवश्यकता भी नहीं। जिस किसी सम्प्रदाय का मनुष्य अपने सम्प्रदाय में रह कर यदि सन्मार्ग पर चले तो अपना उद्धार कर सकता है। सम्प्रदाय में रहना खराब नहीं है, परन्तु साम्प्रदायिकता (साम्प्रदायिक संकुचितता) खराब है। अपने सम्प्रदाय पर के व्यामोह, कदाग्रह और दुरभिनिवेश के कारण दूसरे सम्प्रदायों को मिथ्या मानना अथवा उन्हें बुरा कहना—ऐसी धर्मान्धता वैयक्तिक एवं सामाजिक स्वास्थ्य के लिये अत्यन्त हानिकर है। अपने सम्प्रदाय में रह कर भी बाहर के विचार-प्रवाहों के लिये अपनी विचारबुद्धि के द्वार सर्वदा खुले रखने चाहिए। मध्यस्थबुद्धि से विचार करने पर जो कोई विचारधारा योग्य एवं जीवन के लिये हितावह प्रतीत हो उसे ग्रहण करने की उदारता रखनी चाहिए। हमें यह भी समझना चाहिए कि किसी भी सम्प्रदाय का मनुष्य अपने सम्प्रदाय में रह कर सबके साथ बन्धुभाव एवं मैत्री रखे और सदाचार के विशद मार्ग पर चले तो उसका कल्याण निश्चित है।

(२)

देव-गुरु-धर्म

शरीर में रहा हुआ आत्मा तात्त्विक दृष्टि से उसके मूल स्वरूप में सत्तारूप से परमात्मा है—देव है, परन्तु कर्मा-

धरणों से आवृत होने से अशुद्धभाव में विद्यमान है जिससे भवचक्र में परिभ्रमण करता है। वह अपनी अशुद्धता को हटा कर अपने स्वाभाविक स्वरूप में प्रकाशित हो सकता है अर्थात् वीतरागता को सिद्ध कर के देवत्व को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार जो कोई मनुष्य देवत्व प्राप्त करता है वह देव है। जो वीतराग है वह देव है।

हमारा आदर्श इस देवत्व को प्रकट करने का है। इस देवत्व के प्रकट करने की साधना में जो सुयोग्यरूप से प्रयत्नशील है वह त्यागी, संयमी, अपरिग्रही सन्त गुरु है। वह हमें अपने आदर्श की पहचान कराता है, वीतरागता क्या है यह समझाता है और इस स्थिति पर पहुँचने के लिये संसारी जीवन में कौनसा मार्ग विधेय है, आचरणीय है यह योग्य रूप से बतलाता है। अशुद्ध दशा दूर कर के शुद्ध दशा (वीतरागता) जिस मार्ग से उपलब्ध होती हो उस मार्ग का नाम है धर्म। धर्म अर्थात् कर्तव्य मार्ग पर चलना अर्थात् विकासगामिनी कर्तव्य-साधना। इस देव गुरु-धर्म को (इन तीन तत्त्वों को) सच्चे अर्थ में पहचानना, उन पर सच्ची श्रद्धा रखना इसे 'समकित' (सम्यक्त्व) कहते हैं। परन्तु यह 'व्यवहार-सम्यक्त्व' है, जबकि 'आत्मा ही उसके मूल स्वरूप में सत्तारूप से देव है और कर्मावरणों को विध्वस्त करके अपने मूल स्वरूप में पूर्ण

प्रकट हो सकता है' ऐसी विमल श्रद्धा से समुज्ज्वल आत्म-परिणाम 'निश्चय-सम्यक्त्व' है।

विविधता में एकता अथवा समानता देखना अर्थात् सब प्राणियों को अपने आत्मरूप देखना—यह वस्तु सम्यग्-दृष्टि के मूल में रही हुई है। यह सिद्ध होने पर आगे का मार्ग सुगम बन जाता है। मैत्री आदि चार भावनाएँ इस प्रकार की आत्मदृष्टि में से उत्पन्न होती हैं। ऐसी दृष्टि प्रकट हुए बिना मनुष्य तत्त्वतः 'सम्यक्त्वी' नहीं बन सकता। जहाँ ऐसी दृष्टि होती है वहाँ झगड़े-बखेड़े, वैर-विरोध, छीना-झपटी, उच्च-नीच भाव, अहंकारवृत्ति आदि कालुष्य नहीं होता और जहाँ होता है वहाँ वह झगड़े-टण्टे आदि से कलुषित स्वार्थमय अन्धकार के मार्ग को भेद कर स्वार्थत्याग, परोपकार और सेवा का मार्ग प्रकाशित करती है। ऐसी दृष्टि सदसद्विवेक के विकास के बिना प्राप्त नहीं होती।

व्यवहार-सम्यक्त्व में से प्रगति करता हुआ जीव निश्चय-सम्यक्त्व प्राप्त करता है। यह प्राप्त होते ही आत्मा की दृष्टि शुद्ध बनती है। उस समय आध्यात्मिक दृष्टि से उसने सविशेष प्रगति की होती है। अब तो उसके लिये धर्म की उत्तम भूमिका पर अर्थात् कल्याणसाधन के उच्च विकासगामी मार्ग पर प्रयाण करना ही अवशिष्ट रहता है

जिससे वह भविष्य में वीतरागता प्राप्त कर सके अर्थात् स्वयं ही देव बन सके।

'सम्यक्त्व' का विरोधी 'मिथ्यात्व' है। अतः यह स्पष्ट है कि मिथ्यात्व के हटने से ही सम्यक्त्व प्राप्त हो सकता है। इसलिए मिथ्यात्व किस किस प्रकार का होता है यह भी तनिक देख लें।

१ वस्तुगत मिथ्यात्व—

शरीर को ही आत्मा मानना और इन दोनों के बीच की भिन्नता को स्वीकार न करना।

२ ध्येयगत मिथ्यात्व—

मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध में विपरीत बुद्धि; मोक्ष या वीतरागतारूप पूर्ण पावित्र्य को ध्येयरूप न मानकर शारीरिक अथवा भौतिक सुख को अन्तिम साध्य या जीवन का सर्वस्व मानना।

३ धर्मगत मिथ्यात्व—

ध्येय तक पहुँचने के मार्ग के बारे में उल्टी समझ। देहसुख या भौतिक वैभव के लिये अन्य प्राणियों के सुख दुःख की ओर सर्वथा असावधान रहकर अपनी भौतिक लालसा की पूर्ति के लिये हिंसा, अनीति, अन्याय के दारुण पाप करना; उन पापाचरणों को मिथ्या मार्ग (अधर्म)

न समझना; दया-अनुकम्पा, नीति-न्याय, संयम-सदाचाररूप सद्गुणों को धर्म न मानना अथवा उनके विरोधी दुर्गुणों को-दोषों को धर्म समझना धर्मगत मिथ्यात्व है।

४. गुरुगत मिथ्यात्व—

ध्येय की प्राप्ति के लिये अयोग्य उपदेशक को अर्थात् आसक्तिपूर्ण, दम्भी, अज्ञानी और विवेकहीन उपदेशक को गुरु मान लेना गुरुगत मिथ्यात्व है।

५. देवगत मिथ्यात्व—

परम आदर्शरूप अनुकरणीय व्यक्ति के सम्बन्ध में उलटी समझ अर्थात् वीतराग परमात्मा को देवरूप न मानकर सराग व्यक्ति को देव मानना देवगत मिथ्यात्व है।

इस प्रकार का मिथ्यात्वभाव जीवनविकास का अवरोधक है।

(३)

भगवान् की मूर्त्ति—

जिस प्रकार भगवान् के नाम द्वारा भगवत्स्मरण होता है उसी प्रकार भगवान् की मूर्त्ति अथवा उनकी तस्वीर द्वारा भी भगवत्स्मरण होता है। सामान्यतः मूर्ति अथवा तस्वीर नाम से भी अधिक स्मृतिप्रेरक हो सकती है। जिन्हें

अपने लिये मूर्ति की उपयोगिता न लगती हो उन्हें, जिन्हें भगवत्स्मरण अथवा भगवद्भक्ति में भगवान् की मूर्ति का सहारा उपयोगी हो अथवा उपयोगी मालूम होता हो उन्हें यह सहारा सहर्ष लेने देना चाहिए और शुभ हेतु के लिये लिया जानेवाला ऐसा सहारा प्रशंसनीय मानना चाहिए। इसी प्रकार जो मूर्ति का अवलम्बन लिए बिना भगवद्भक्ति कर सकते हों अथवा स्वयं कर सकते हैं ऐसा मानते हों और इस कारण वैसा सहारा न लेते हों उनकी टीका न करनी चाहिए। अपने कषायों के उपशमन के लाभ के लिए भगवान् की मूर्ति का सहारा लेनेवाला, भगवान की मूर्ति का सहारा न लेने के कारण दूसरे की निन्दा करे अथवा उसके साथ कषायभाव में उतरे तो वह अपने ध्येय से च्युत हुआ समझा जायगा। इस प्रकार किसी साधन का [बाह्य साधन का] अवलम्बन लेने-न-लेन की बात को पकड़कर संकुचित गुटबन्दी करना अथवा उसे पुष्ट करना योग्य नहीं है। जिसे मूर्ति क अवलम्बन की आवश्यकता प्रतीत न होती हो उसे भी मानवसमाज की—मूर्ति का अवलम्बन लेने की—रुचि को ध्यान में रखकर इस रुचि को सन्तुष्ट करन के लिये कल्याणसाधन की दृष्टि से निर्मित एक विशिष्ट संस्कृति के धामरूप ऐतिहासिक एवं पवित्र देवालयों की ओर सम्मान वृत्ति रखनी चाहिए, और महात्मा पुरुषों के चित्र, मूर्ति

या तस्वीर की ओर जैसी सहज सम्मानवृत्ति होती है वैसी सहज सम्मानवृत्ति भगवान् की मूर्ति की ओर भी उसे होनी चाहिए।

हाँ, इतना सही है कि वीतराग भगवान् की मूर्ति में वीतरागता का प्रदर्शन होना चाहिए। राग-द्वेषरहित, अहिंसा-संयम-तप-त्याग के सद्गुणों के पूर्ण उत्कर्ष से प्रकाशित वीतराग भगवान् की ध्यानस्थ मूर्ति में वीतरागता के साथ असंगत हो, वीतराग मुनि के लिये अयोग्य हो ऐसा दिखावा न लाना चाहिए।

(४)

जीवननिर्वाह के लिये हिंसा की तरतमता का विचार

हिंसा के बिना जीवन अशक्य है इस बात का स्वीकार किए बिना कोई चारा नहीं है, परन्तु इसके साथ ही कम से कम हिंसा से अच्छे से अच्छा—श्रेष्ठ जीवन जीने का नियम मनुष्य को पालना चाहिए। परन्तु कम से कम हिंसा किसे कहना ?—यह प्रश्न बहुतों को होता है। किसी सम्प्रदाय के अनुयायी ऐसा मानते हैं कि 'बड़े और स्थूलकाय प्राणी का वध करने से बहुत से मनुष्यों का बहुत दिनों तक निर्वाह हो सकता है, जबकि वनस्पति में रहे हुए असंख्य जीवों को मारने पर भी एक मनुष्य का

एक दिन का भी निर्वाह नहीं होता। इसलिये बहुत से जीवों की हिंसा की अपेक्षा एक बड़े प्राणी को मारने में कम हिंसा है।' ऐसे मन्तव्यवाले मनुष्य जीवों की संख्या के नाप पर से हिंसा की तरतमता का अंदाज लगाते हैं। परन्तु यह बात ठीक नहीं। जैनदृष्टि जीवों की संख्या पर से नहीं किन्तु हिंस्य जीव के चैतन्यविकास पर से हिंसा की तरतमता का प्रतिपादन करती है। अल्प विकासवाले अनेक जीवों की हिंसा की अपेक्षा अधिक विकासवाले एक जीव की हिंसा में अधिक दोष रहा हुआ है ऐसा जैन-धर्म का मन्तव्य है। इसीलिये वह वनस्पतिकाय को आहार के लिये योग्य मानता है, क्योंकि वनस्पति के जीव कम से कम इन्द्रियवाले अर्थात् एक ही इन्द्रियवाले माने जाते हैं और इनसे आगे के उत्तरोत्तर अधिक इन्द्रियवाले जीवों को आहार के लिये वह निषिद्ध बतलाता है। यही कारण है कि पानी में जलकाय के संख्यातीत जीव होने पर भी उनकी-इतने अधिक जीवों की विराधना [हिंसा] कर के भी-हिंसा होने पर भी एक प्यासे मनुष्य अथवा पशु को पानी पिलाने में अनुकम्पा है, दया है, पुण्य है, धर्म है-ऐसा सब कोई मानते हैं। इसका कारण यही है कि जलकाय के जीवों का समूह एक मनुष्य अथवा पशु की अपेक्षा बहुत अल्प चैतन्यविकासवाला होता है। इस पर से ज्ञात होगा कि मनुष्यसृष्टि के बलिदान पर तिर्यंचसृष्टि के जीवों को

बचाना जैन-धर्म को मान्य नहीं है। परन्तु कोई व्यक्ति, जहाँ तक उसका अपना सम्बन्ध है वहाँ तक, स्वयं अपना बलिदान देने जैसी अपनी अहिंसावृत्ति को यदि जागरित करे तो उस पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है, जैसे कि भगवान् श्री शान्तिनाथ ने अपने पूर्वभव में शरणागत कबूतर को तथा राजा दिलीप ने गाय को बचाने के लिये अपने शरीर का बलिदान देने की तत्परता दिखलाई थी। परन्तु निरर्थक हिंसा के समय फूल की एक पत्ती को भी दुःखित करने जितनी भी हिंसा की जैन-धर्म में मनाही है।

वनस्पति जीवों के दो भेद हैं–प्रत्येक और साधारण। एक शरीर में एक जीव हो वह 'प्रत्येक' और एक शरीर में अनन्त जीव हों वह 'साधारण' वनस्पति है। कन्दमूल आदि 'साधारण' [स्थूल साधारण[1]] हैं। इन्हें अनन्तकाय भी कहते हैं। 'साधारण' की अपेक्षा 'प्रत्येक' की चैतन्यमात्रा अत्यधिक विकसित होती है।

---

१ 'सूक्ष्म साधारण' जीवों और सूक्ष्म पृथ्वी–जल–तेज–वायु के जीवों से सम्पूर्ण लोकाकाश ठूंस ठूंसकर भरा है। ये परम सूक्ष्म जीव सघर्ष–व्यवहार में बिलकुल नहीं आते। 'साधारण' को 'निगोद' भी कहते हैं। अत 'सूक्ष्म साधारण' को सूक्ष्म निगोद और 'स्थूल साधारण' को स्थूल निगोद (बादर निगोद) कहते हैं।

(५)

शरीर का उपयोग

शरीर अस्थि, मांस, रक्त, चर्बी आदि का बना हुआ पुतला है और मलमूत्रादि अशुचि से भरा हुआ है- इस प्रकार का विवेचन शरीर की ओर वैराग्य उत्पन्न करने के लिये किया जाता है। वैज्ञानिक दृष्टिबिन्दु से देखने पर शरीर तो जिसका बनता हो उसका बने। दूसरी वस्तुओं से बनाने पर यह नहीं बन सकता। हमारी अपेक्षा प्रकृति कहीं अधिक कुशल और समर्थ है। शरीर में जो अशुचि उत्पन्न होती है वह तो शरीर के निर्वाह एवं स्थैर्य के लिये लिए जानेवाले आहार आदि में शरीरोपयोगी वस्तुओं के साथ साथ जो निरुपयोगी पदार्थ मिश्रित होते हैं उसके कारण है। शरीर एक ऐसा अद्भुत यन्त्र है जो सारभूत वस्तुओं को अपने उपयोग में लेकर और निरुपयोगी-अशुचि वस्तुओं को बाहर फेंक कर अपने को (शरीर को) कार्यक्षम रखने का स्वतः सतत प्रयत्न करता रहता है। शरीर जबरदस्ती त्याग करने जैसी अथवा जैसे हो वैसे जल्दी नाश करने जैसी वस्तु नहीं है। शरीर को तो कार्यक्षम एवं नीरोग स्थिति में रखने की आवश्यकता है जिससे उसका प्रभाव मन पर पड़े और मन शरीरविषयक दुश्चिन्तन में से विमुक्त रहे। निस्सन्देह, शरीर के भोगोपभोग के लिये

अनावश्यक हिंसा न होनी चाहिए तथा झूठ-अनीति-अन्याय का आचरण न करना चाहिए—इतनी ही बात प्रस्तुत विषय में मुद्दे की और ख़ास ध्यान में रखने योग्य तथा आचरण करने योग्य है। यह तो समझ में आ सके ऐसा है कि आत्मा अपने शरीर में ही रह कर अपनी ज्ञानशक्ति और कार्यशक्ति का उपयोग कर के मोक्षकी साधना कर सकता है। आत्मा जबतक अन्तिम शरीर छोड़ कर मोक्ष प्राप्त नहीं करता तब तक उसे शरीर की आवश्यकता है और तब तक उसके साथ शरीर लगा ही रहने का। फिर भी अज्ञानवश शरीर का त्याग करने जैसी प्रवृत्ति यदि की जाय तो वह आत्महत्या जैसी प्रवृत्ति समझी जायगी। ऐसी प्रवृत्ति पापरूप मानी गई है। त्याग शरीर का नहीं, दुर्वृत्ति तथा दुष्प्रवृत्ति का करने का है।

आत्महत्या और 'संलेखना' में अन्तर है। आत्म-हत्या कषाय के आवेग का परिणाम है, जबकि संलेखना त्याग एवं दया का परिणाम है। जहाँ अपने जीवन की कुछ भी उपयोगिता न रही हो और अपने लिये दूसरों को व्यर्थ कष्ट उठाना पड़ता हो वहाँ शरीरत्याग करने में दूसरों पर दयाभाव रहा है। कुछ लोग पानी में डूब मरने का, कोई पर्वत पर से गिर करके मरने का अथवा दूसरे प्रकार से प्राणोत्सर्ग करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु यह अन्ध-श्रद्धा की बात है। हाँ, कर्त्तव्य की वेदिका पर बलिदान

देना सच्चा बलिदान है। जनरक्षा के लिये अपने प्राणों का उत्सर्ग करना अथवा दूसरों की सेवा के लिये यदि अपना शरीर देना पड़े तो वह दे देना सच्चा बलिदान है, परन्तु अमुक जगह पर मरने से अथवा अमुक का नाम ले कर मरने से स्वर्ग या मोक्ष मिलता है इस प्रकार की अन्धश्रद्धा से प्रेरित हो कर प्राणत्याग करना बुरा है। जैनधर्म ने उपवास के अतिरिक्त मृत्यु के अन्य उपायों की मनाही की है। यह एक प्रकार का प्रशस्य संशोधन है। जब किसी असाध्य बीमारी में असह्य कष्ट हो रहा हो और दूसरों से खूब सेवा-शुश्रूषा करानी पड़े तब उपवास कर के शरीर का त्याग करना उचित समझा जा सकता है। उपवासचर्या भी एकदम नहीं परन्तु प्रारम्भ में नीरस भोजन पर, बाद में छाछ आदि किसी पेय वस्तु पर और उसके पश्चात् शुद्ध जल पर रहकर—इस प्रकार चढ़ते चढ़ते उपवास पर आना चाहिए। इस प्रक्रिया में कितने ही दिन, महीने और शायद अनेक वर्ष भी लग सकते हैं। एकदम प्राणत्याग करने में जो स्व-पर को संक्लेश होता है वह इस प्रक्रिया में नहीं होता। और यह प्रक्रिया मरण का ही नहीं, जीवन का भी उपाय बन सकती है अर्थात् इस प्रकार की प्रक्रिया से कभी कभी बीमारी में से स्वस्थ भी हुआ जा सकता है। इस प्रकार की प्रक्रिया से बीमारी दूर हो जाने पर संलेखना का कारण न रहने से संलेखना बन्द कर देनी चाहिए।

उपवास-चिकित्सा एवं संलेखना में अन्तर है। चिकित्सा में जीवन की पूरी आशा और तदर्थ प्रवृत्ति होती है, परन्तु संलेखना तो तभी की जाती है जब जीवन की कोई आशा ही न हो और न उसके लिये किसी प्रकार का प्रयत्न हो। परन्तु उपर्युक्त संलेखना की प्रक्रिया से यदि शरीर अच्छा हो जाय तो फिर ज़बरदस्ती से प्राणत्याग करने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि संलेखना आत्महत्या नहीं किन्तु मृत्यु के सम्मुख वीरतापूर्वक आत्मसमर्पण की प्रक्रिया है। इससे मनुष्य शान्ति एवं आनन्द से अपने प्राणों का त्याग करता है। मृत्यु से पूर्व उसे जो कुछ करना चाहिए वह सब वह कर लेता है। परन्तु मृत्यु यदि टल जाय तो उसे ज़बरदस्ती नहीं बुलाना चाहिए।

(६)

अनुकम्पा और दान

दया धर्म का मूल है। योग्य दान दयाधर्म का क्रियात्मक पालन है, फिर चाहे वह दान हमारी शारीरिक, मानसिक, वाचिक अथवा साम्पत्तिक शक्ति का क्यों न हो।

यदि हमारी दया से कोई भी व्यक्ति जीवित रहेगा तो जबतक वह जीएगा तबतक जो जो हिंसादि दोषों से युक्त कार्य अथवा जो जो अपकृत्य वह करेगा उसका उत्तरदायित्व भी हम पर आयगा—ऐसा लोगों में भ्रम उत्पन्न करना

तथा दया एवं दान के शुभ प्रवाह को सुखा डालने का प्रयत्न करना घोर पाप है। अमुक व्यक्ति भविष्य में कैसा आचरण करेगा यह हम नहीं जानते, फिर भी इस प्रकार के ज्ञान के अभाव में, यह अच्छी तरह नहीं बरतेगा, और उसका आचरण सदोष ही होगा इस प्रकार का पूर्वग्रह धारण कर के दया करने से दूर रहना—इसमें वस्तुतः घोर अज्ञान रहा हुआ है। सामान्यतः प्रत्येक व्यक्ति कार्य करने में स्वतन्त्र है और यदि उसका बरताव खराब हो अर्थात् हमारी दयोपचार की सहायता से मरने से बचा हुआ मनुष्य यदि दुष्ट आचरण करे तो उसने अपनी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग किया इतना ही कहा जा सकता है, परन्तु उसके दोष का भागी उसे दुःख में सहायता कर के उसका जीवन बढ़ाने में सहायक होनेवाला, उसे बचानेवाला अथवा उसे आराम पहुँचानेवाला मनुष्य नहीं हो सकता। शुद्ध अनुकम्पाभाव से की हुई दया अथवा दी हुई शान्ति का लाभ प्राप्त कर के स्वस्थ हो कर मनुष्य पीछे से चाहे जिस प्रकार से बरते उसके साथ दया करने वाले उस मनुष्य को कुछ भी लेना-देना नहीं है। उसे तो केवल अपनी शुद्ध अनुकम्पा का पुण्य फल ही मिलता है। परन्तु यदि कोई लुटेरा लूटने या डाका डालने के लिये जाता हो और यह बात हम जानते भी हों तब भी रास्ते में यदि हम अपने यहाँ उसे आश्रय दें, उसे खिलाएँ पिलाएँ

तो उस लूटने या डाका डालने में जो पाप वह करेगा उसके साझी हम भी होंगे।

(७)

मैत्री आदि चार भावनाएँ

'**समानशीलव्यसनेषु सख्यम्**' अर्थात् समान आचार और समान आदतवालों में परस्पर मित्रता होती है अथवा हो सकती है। इस उक्ति के अनुसार, सब जीव–निकृष्ट श्रेणी के शरीरधारियों से लेकर अत्यन्त उच्च कक्षा के शरीरधारियों तक के सब संसारवर्ती जीव स्वरूप से अर्थात् अपने सत्तागत मूल रूप से सर्वथा एक समान होने से अर्थात् इस प्रकार की मौलिक पूर्ण समानता होने से सब प्राणियों में परस्पर मैत्री होने की ऊर्मिल कल्पना उठ सकती है, परन्तु तिर्यग्योनि के प्राणियों में अज्ञानता, और विवेक का अभाव होने से इस प्रकार का व्यापक मैत्रीभाव यदि न हो अथवा न सधे तो यह समझा जा सकता है, किन्तु मनुष्यों में समझ और बुद्धि विशेष मात्रा में होने से उनमें मैत्रीभाव की सिद्धि सम्भाव्य है। फिर भी ऐसा न हो कर उसकी जगह पशुसृष्टियोग्य ईर्ष्या, द्वेष, क्रूरता, वैरविरोध और स्वार्थान्धता का प्रकाण्ड घटाटोप मानवजाति में फैला हुआ दृग्गोचर होता है। इस पर से यही फलित होता है कि ऐसे मनुष्य पाशविक वासनामय आवरण के भिन्न-भिन्न

परदों को चीर कर ऊँचे नहीं आए हैं। किन्तु विवेकबुद्धि मनुष्य के चित्त के निकट की वस्तु है, अतः यदि वह शान्त और स्थिर हो कर विवेकयुक्त विचार करे तो सब प्राणी समान हैं यह पाठ उसकी समझ में झट आ जाय ऐसी है, जिससे इसके अनुसन्धान में सब प्राणियों की ओर उसके चित्त में मैत्रीभाव उत्पन्न होने की बहुत ही सम्भवता रहती है। वेदान्त दर्शन सब जीवों को ब्रह्म की चिनगारीरूप मानता है और जैन, वैशेषिक, सांख्य, योग आदि दर्शनकार सब जीवों को पृथक् पृथक् स्वतन्त्र और अखण्ड द्रव्य मानने के साथ ही साथ वे सब मौलिक रूप से समान हैं ऐसा मानते हैं। इस प्रकार सब आर्य दर्शनकार 'सब जीव मूलतः एक समान चेतनः स्वरूप हैं' ऐसा प्रतिपादन कर के उसके फलितार्थरूप 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च' अर्थात् किसी की ओर द्वेषवृत्ति न रखकर प्राणिमात्र की ओर मैत्रीभाव रखने की तथा दीन-दुखियों की ओर दयालु बनने की घोषणा करते हैं। ईर्ष्या-द्वेष, वैर-विरोध आदि दोष दूसरे का अपकार और सामाजिक अशान्ति पैदा करने के साथ ही साथ अपने आत्मा की भी दुःखद हिंसारूप हैं। अतएव इन दोषों को दूर करने के लिये आर्य सन्त महात्मा

प्रबल अनुरोध करते हैं। जैन एवं पातंजल आदि दर्शन आत्मौपम्य की भावना के आधार पर और इस भावना को विकसित करने की दृष्टि से मैत्री आदि (मैत्री, प्रमोद, कारुण्य तथा माध्यस्थ्य)चार भावनाएँ बतलाते हैं। इनके अनुशीलन के आधार पर जीवन की उत्तरोत्तर विकासभूमि पर आरोहण करना सुगम बनता है। ये चार भावनाएँ इस प्रकार हैं :—

मैत्री-भावना

प्राणिमात्र में मैत्रीवृत्ति रखना और उसका विकास करना मैत्री-भावना है। ऐसी वृत्ति के विकास पर ही प्रत्येक प्राणी के साथ अहिंसक और सत्यवादी रहा जा सकता है। मत्री अर्थात् अन्य आत्माओं में-अन्य आत्माओं के साथ आत्मीयता की भावना। ऐसी भावना होने पर दूसरों को दुःख देने की अथवा दूसरों का अहित करने की वृत्ति पैदा होने नहीं पाती; इतना ही नहीं, दूसरों का भला करने की ही वृत्ति सदा जागरित रहती है। इस भावना का विषय प्राणिमात्र है।

---

१ काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
—भगवद्गीता अ ३, श्लो ३७

अर्थात्-रजोगुण से उत्पन्न होनेवाला यह काम, यह क्रोध सर्वभक्षी, सर्वघाती महाराक्षस है। इसे तू अपना वैरी समझ।

प्रमोद-भावना

मनुष्य बाह्य सम्पत्ति के बारे में दूसरे को अपने से बढ़ा हुआ देखकर ईर्ष्या करने लगता है, परन्तु उसकी वह सम्पन्नता उसने यदि अपने सद्गुणों से अथवा शुभकर्मजन्य पुण्य के परिणामस्वरूप प्राप्त की हो और उसका उपयोग वह शुभ कार्य करने में करता हो तो उसकी ईर्ष्या करने के बदले उसके शुभ-पुण्य कार्यों का तथा गुणों का अनुमोदन कर के हमें प्रसन्न होना चाहिए। अनीति, अन्यायाचरण के विरुद्ध असन्तोष अथवा पुण्यप्रकोप प्रकट करना उचित है, परन्तु सिर्फ अपने से दूसरा बड़ा है इस कारण उस पर द्वेष अथवा ईर्ष्या करना गलत है। ईर्ष्यालु मनुष्य अपने दुःख से दुःखित होता है और साथ ही दूसरों के सुख से दुःखी होकर दुगुना दुःखानुभव करता है। जबतक ईर्ष्या जैसे दोष दूर न हों तब तक सत्य, अहिंसा का पालन नहीं हो सकता। अतः ईर्ष्या जैसे दोषों के विरुद्ध प्रमोदवृत्ति विकसित करनी आवश्यक है। जो अपने से गुण में अधिक है उस पर प्रमुदित होना, उसका आदर करना प्रमोदभावना है। इस भावना का विषय अपने से गुण में अधिक ऐसा मनुष्य है। अपने इष्ट जन की अभिवृद्धि देखकर जिस प्रकार आनन्द होता है उसी प्रकार प्राणिमात्र की ओर जब आत्मीयता का भाव उत्पन्न हुआ हो तभी किसी भी गुणाधिक को देखकर प्रमोद उत्पन्न हो सकता है। अतः

इस भावना के मूल में आत्मीयता की बुद्धि रही हुई है।

सामान्यतः किसी भी गुणी के गुण की ओर प्रमोद (प्रसन्नता) होना प्रमोद-भावना है। गुणी के गुणों का अनुरागी होना स्वयं गुणी बनने का राजमार्ग है।

उपर्युक्त दोनों भावनाओं के बारे में तनिक विशेष अवलोकन करें—

दूसरे का सुख देखकर अथवा दूसरे को अधिक सुखी देखकर मनुष्य के मन में ईर्ष्या या असूयाभाव उत्पन्न होता है, परन्तु व्यापक मैत्रीभाव उसके हृदय में यदि उत्पन्न हो तो वह दूसरे के सुख को देख कर उसे (अर्थात् उसके सुख को) अपने मित्र का अथवा अपने आत्मीय का समझता है जिससे उसकी ओर उसके मन में ईर्ष्या या असूया उत्पन्न न होकर वह मानसिक स्वस्थता का अनुभव करता है। इसीलिये सुखी पुरुष का सुख भी मैत्री-भावना का विषय बतलाया गया है[1]। अर्थात् दूसरे के सुख की ओर

---

१ मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।—पातंजल योगदर्शन पाद १, सूत्र ३३

अर्थात्—मैत्री का विषय सुख, करुणा का विषय दुःख, मुदिता का (प्रमोद का) विषय पुण्य और उपेक्षा का विषय निष्पुण्यत्व है। इस प्रकार की इन (मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा) भावनाओं के अनुशीलन से चित्त का प्रसाद सम्पादन किया जा सकता है।

सुहृद्भाव रखना मैत्री भावना है। प्रमोद भावना के बारे में यह सूचित करना आवश्यक प्रतीत होता है कि कोई मनुष्य धनवान्, बलवान् अथवा सत्ताशाली हो या भौतिक तौर पर यदि सुखी माना जाता हो तो इतने पर से ही उस पर प्रमुदित होना ऐसा कहने का आशय नहीं है, परन्तु यदि वह अपने धन का, बल का अथवा अधिकार का उपयोग दीन दुःखी मनुष्यों को अच्छी दशा में लाने के लिये अथवा उनके दुःख दूर करने के लिये करता हो तो उस मनुष्य को गुणी समझ कर उसके गुण की ओर प्रमुदित होना योग्य है। मनुष्य भले ही निर्धन हो, परन्तु यदि वह प्रामाणिक रूप से उद्यम अथवा श्रम कर के अपनी

इसी विषय में महर्षि श्री उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र के सातवें अध्याय का छठा सूत्र है—

"मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ्यानि सत्त्व-गुणाधिक-क्लिश्यमाना अविनेयेषु।"

अर्थात्-प्राणिमात्र में मैत्री गुण से बड़ों में प्रमोद दुःखी जनों में करुणा और जड़ जैसे अपात्रों में माध्यस्थ्य भावना रखना।

प्रस्तुत चार भावनाओं के बारे में आचार्य अमितगति का एक सुप्रसिद्ध श्लोक है कि—

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव॥'

अर्थात् हे प्रभो! (१) प्राणियों पर मैत्री (२) गुणी जनों पर प्रमोद (३) दुःखी जीवों पर करुणा और (४) दुष्प्रवृत्तिवालों पर माध्यस्थभाव मेरा आत्मा प्राप्त करे।

आजीविका चलाता हो और उसी में सन्तोष मानता हो तो उसके ऐसे सद्गुणों के लिये प्रमुदित होना उचित है। प्रमोद का विषय पुण्य कहा है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि यदि कोई अपनी पुण्यवत्ता का दुरुपयोग करे तब भी उस पर प्रमुदित होना। वस्तुतः प्रमोद का विषय पुण्यवत्ता यानी पुण्याचरणशीलता है।

करुणा-भावना

अब करुणा-भावना के बारे में देखें। पीड़ित को देख कर हृदय में यदि अनुकम्पाभाव बहने न लगे तो अहिंसा आदि व्रत टिक नहीं सकते। इसलिये करुणा-भावना की आवश्यकता है। इस भावना का विषय दुःखी जीव है, क्योंकि अनुग्रह अथवा सहायता की अपेक्षा दुःखी, दीन, अशक्त, अनाथ को ही होती है। प्रत्येक जीव के साथ आत्मीयता-बुद्धि हो तभी, इष्टजन को दुःखी देख कर जिस प्रकार एक तरह का करुणामय मृदु संवेदन हृदय में अभिव्याप्त हो जाता है उसी प्रकार, किसी को भी पीड़ित देखकर करुणा का पवित्र स्रोत बहने लगे। इस प्रकार इस भावना के मूल में आत्मीयता-बुद्धि रही हुई है। भवचक्र के दुःख में पड़े हुओं का उद्धार करने की भावना किसी सन्त के हृदय में उत्पन्न होना यह भी करुणा-भावना है। ज्ञानी महात्मा और केवली भगवान् सर्वानुग्रहपरायण करुणाशील

होते हैं। इसीलिये उनका 'परम कारुणिक' ऐसे विशेषण से उल्लेख किया जाता है।

माध्यस्थ्य भावना

कभी कभी अहिंसादि गुणों की रक्षा के लिये तटस्थता धारण करना उपयोगी होता है। अतः माध्यस्थ्य भावना की भी आवश्यकता है। 'माध्यस्थ्य' अर्थात् तटस्थता अथवा उपेक्षा। सद्बुद्धि, अथवा उपयोगी और हितकारी उपदेश ग्रहण करने की पात्रता जिसमें बिलकुल न हो ऐसे किसी व्यक्ति को सुधारने का परिणाम अन्ततः जब शून्यमें आए तब ऐसे व्यक्ति की ओर तटस्थभाव अथवा उपेक्षा वृत्ति रखने में ही श्रेय है। इसलिये इस भावना का विषय अविनय (अयोग्य) पात्र है। प्रत्येक प्राणी के साथ आत्मीयता-बुद्धि हो तभी अविनेय (दुर्मति, दुष्ट अथवा मूर्ख) मनुष्य की ओर क्रूरता, द्वेष या क्लिष्टवृत्ति उत्पन्न न हो कर उसकी ओर शुद्ध तटस्थभाव रह सकता है, जैसा कि वैसे ही किसी अपने स्वजन के बारे में रहता है।

इन भावनाओं में जिस प्रकार दुःखी जन करुणा का विषय है उसी प्रकार दुर्मति, दुष्ट मनुष्य भी दया का-भाव दया का विषय है। ऐसों की ओर उत्पन्न होनेवाली अथवा रखी जानवाली माध्यस्थ्यभावना भावदयागर्भित होती है। छोटे बच्चे, आत्मीय स्नेही-स्वजन अथवा किसी प्रेमीजन की

ओर से होनेवाले अनादर अथवा अपमान से जिस प्रकार हमारे मन में स्वमानभंग की कल्पना उत्पन्न नहीं होती उसी प्रकार मैत्री आदि भावनाओं के सबल संस्कार से परिष्कृत तथा प्रकाशित चित्तवाले सुज्ञ महानुभाव के मन में दूसरों के द्वारा किए गए अनादर अथवा अपमान से स्वमानभंग होने की कल्पना उत्पन्न नहीं होती। विश्व-बन्धुत्व की भावना में रममाण सज्जन के लिये यदि गुणी मनुष्य प्रमोद का विषय है तो दुर्मति, दुष्ट मनुष्य भावदया-गर्भित माध्यस्थ्य-भावना का विषय है। आचार्य हेमचन्द्र अपने योगशास्त्र के प्रारम्भ के मंगलाचरण में कहते हैं कि—

कृतापराधेऽपि जने कृपामन्थरतारयोः।
ईषद्बाष्पार्द्रयोर्भद्रं श्रीवीरजिननेत्रयोः॥ ॥ ३ ॥

अर्थात्—अपराधी मनुष्य के ऊपर भी प्रभु महावीर के नेत्र दया से तनिक नीचे झुकी हुई पुतलीवाले तथा करुणा-वश आए हुए किंचित् आँसुओं से आर्द्र हो गए।

(८)

विश्वप्रेम और मनशुद्धि

प्रेम—शुद्ध प्रेम (व्यापक मैत्री) का सद्गुण सब प्राणियों के हित की दृष्टि से कार्य करता है और ऐसा वत्सलमना मनुष्य अपना हित साधता है तो वह विश्व के एक घटक—विश्व के एक अंगभूत अवयव के रूप में ही। उसका अपना

हित परहित का विरोधी नहीं होता। (यहाँ पर हित तीनों प्रकार का अर्थात् भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक लेने का है।) व्यापक प्रेमभाव से किया गया कोई भी कार्य स्व और पर के लिये हितकारक होता है और कल्याणकर बनता है।

शुद्ध प्रेम (अहिंसा) के दो स्वरूप हैं: निषेधात्मक और विधेयात्मक। निषेधात्मक प्रेम जहाँ तक हो सके वहाँ तक किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का कष्ट अथवा हानि न पहुँचाने में चरितार्थ होता है। इस प्रकार का प्रेम विश्व के बहुतसे प्राणियों में व्यापक होकर रहता है। विधेयात्मक प्रेम अन्य प्राणियों की सेवा अथवा परोपकार की प्रवृत्ति में परिणत होता है। ऐसा प्रेम भावना में भले विश्व के सम्पूर्ण प्राणियों में व्याप्त होकर रहना चाहता हो, परन्तु व्यवहार में तो वह व्यक्ति की शक्ति मर्यादा में रहकर ही चरितार्थ होता है। किसी सज्जन का प्रेम विश्वव्यापी हो तो भी उसकी अभिव्यक्ति तो उस सज्जन महानुभाव की अपनी शक्ति के अनुसार मर्यादित क्षेत्र में ही हो सकती है। इससे वह विश्वप्रेम नहीं मिट जाता, क्योंकि वह व्यापक हित करने में अशक्त हो तो भी व्यापक हितभावना तो उसके हृदय में प्रदीप्त रहती ही है।

इस प्रेम के प्रयोग के क्रम के बारे में सामान्यतः ऐसा

कह सकते हैं कि इस प्रेम को कार्यरूप में परिणत करने के समय इसका प्रारम्भ कुटुम्ब से होता है और यह इष्ट भी है; परन्तु यदि शक्ति हो तो वह वहीं नहीं रुकना चाहिए और शक्ति की अभिवृद्धि के साथ उसके प्रयोग का क्षेत्र भी बढ़ना चाहिए – "Charity begins at home, but it does not end there." अर्थात् दान का प्रारम्भ घर से होता है, परन्तु उसका अन्त वहीं नहीं होता। कुटुम्ब-प्रेम, ग्राम-प्रेम, राष्ट्र-प्रेम और विश्व-प्रेम – ये सब उत्तरोत्तर विकसनशील प्रेम के दृष्टान्त हैं। परन्तु कभी कभी ऐसे आपवादिक प्रसंग उपस्थित हो जाते हैं जब कुटुम्ब अथवा गाँव की उपेक्षा कर के देश अथवा राष्ट्र के कार्य को उठा लेना पड़ता है।

यह बात ख़ास ध्यान में रखने योग्य है कि उपर्युक्त कुटुम्ब-प्रेम आदि प्रेम के कारण अन्य कुटुम्ब, अन्य ग्राम, अन्य देश अथवा अन्य राष्ट्र को यदि नुक़सान पहुँचाया जाय अथवा उसका अनुचितरूप से चोषण किया जाय तो वह शुद्ध प्रेम मिटकर कलुषित राग बन जाता है जो सर्वथा त्याज्य है।

कुछ लोग प्रेम के निषेधात्मक स्वरूप से ही सन्तुष्ट रह कर उसके विधेयात्मक स्वरूप की ओर उदासीनता रखते हैं और इसी में कृतकृत्यता मानकर अथवा मनाकर

अकर्मण्य बने रहते हैं। परन्तु इस प्रकार का प्रेम अपूर्ण ही समझना चाहिए।

अपनी जीवनचर्या के लिये प्राणि-सृष्टि के पास से हम जो लेते हैं उसका ऋण हम पर चढ़ता है, अतः हमें यह ऋण चुकाना है और वह प्राणि समाज के हितकारक प्रवृत्ति करके परोपकार तथा सेवामार्ग से ही हम चुका सकते हैं।

जो अन्तर्जाग्रत् दशा के चारित्रशाली सन्त निःसग दशा में रह कर उच्च आध्यात्मिक विकास की अपनी साधना में निमग्न रहते हैं उन सच्चे त्यागी आत्मपरायण महानुभावों का समाज के लिये किञ्चिन्मात्र भी उपाधिरूप बोझरूप न होना बहुत बड़ी बात है।

सच्चे सन्त पुरुष तो समाज के पास से जो लेते हैं उससे कहीं अधिक वे समाज को देते हैं। इसलिये समाज उनका सदा ही ऋणी रहता है; और ऐसे ही मनुष्यों को अपनी उचित आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए समाज से लेने का नैतिक अधिकार प्राप्त होता है। समाज उन्हें चाहे जितना दे, फिर भी वह सदा कम ही रहने का।

विश्व प्रेम आध्यात्मिक प्रेम है और वह आध्यात्मिक जीवन के विकास पर अवलम्बित है। जैसे जैसे चित्तशुद्धि होती है वैसे वैसे आत्मौपम्य की दृष्टि विकसित होती जाती

है और वैसे वैसे प्राणिवात्सल्य विमल और विशाल बनता जाता है। वैर-विरोध, अभिमान तथा राग-रोष का दूर होना ही मन का निर्मलीकरण है। इन दोषों के दूर होने में ही चित्त की प्रसन्नता है। आसक्ति तथा कषायों का दुबला पड़ना अथवा दुबला पड़ते जाना ही मन की शोधन-क्रिया है। जैसे जैसे कषाय दुर्बल होते जाते हैं वैसे वैसे मन का दुश्चिन्तन भी कम होता जाता है और वैसे वैसे वह शुभ-चिन्तनपरायण बनता है। अनुकूल अथवा प्रतिकूल प्रसंग उपस्थित होने पर भी यदि मन क्षुब्ध न हो, अपनी समतुला न खोए, राग-द्वेष-मोह के वश न हो तब वह चित्त के निर्मलीकरण की साधना समझी जाती है। जब यह साधना सतत जाग्रत् रह कर दृढ़तम अवस्था पर पहुँचती है तब स्थितप्रज्ञ और वीतराग दशा प्राप्त होती है। प्रलोभक अथवा क्षोभक घटना के समय सांसारिक घटनाओं की तथा विषय-भोगों की चमक-दमक की क्षणभङ्गुरता का विचार कर के तथा मोहवासना से उत्पन्न होनेवाला रस परिणाम में सन्तापरूप है यह ध्यान में रख कर और संयोग-वियोग, जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख आदि प्रसंग संसारी जीवन के साथ अनिवार्यरूप से सम्बद्ध हैं ऐसा समझ कर मन की स्वस्थता सुरक्षित रखनी चाहिए।

मानसिक शुद्धि आहिस्ता आहिस्ता सिद्ध होती है। इन्द्रियों के समुचित संयम से मनशुद्धि का मार्ग सरल होता

जाता है। मन की चपल स्थिति तो प्रायः लम्बे समय और लम्बा 'प्रवास' करने के बाद दूर होती है। अतः इसके चांचल्य की चमक से न घबराकर उस पर योग्यरूप से सतर्क रहने के साथ ही साथ इन्द्रियों पर अखण्ड नियन्त्रण रखना चाहिये। जितेन्द्रियत्व प्रतिष्ठित होने पर मनःसंयम पूर्णरूप से प्रकाशमान होने लगेगा और इसीमें से पूर्णशुद्धि एवं दिव्य प्रकाश प्रकट होंगे।

(९)

अन्तर्युद्ध

मानसिक मन्दता की क्या बात करनी! बहुत से मनुष्य ऐसे कमजोर मन के होते हैं कि वे स्वयं ही अपना पतन करानेवाले प्रलोभन के संसर्ग के स्वप्न देखते रहते हैं और उसकी प्राप्ति के लिये इधर-उधर के मिथ्या प्रयत्न करते हैं।

बाहर की परिस्थिति मनुष्य के पतन के लिये कारणभूत होती है, परन्तु सच्ची बात तो यह है कि जिस प्रकार बाता

---

१ भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में कहा है कि—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

अर्थात्—उन इन्द्रियों को संयम में रख कर और समाहित हो कर मनुष्य मत्परायण रहे। जिसके अपनी इन्द्रियाँ वश में होती हैं वह स्थितप्रज्ञ होता है, अर्थात् जितेन्द्रिय होने से स्थितप्रज्ञ हुआ जा सकता है।

वरण में रहे हुए रोग के जन्तु दुर्बल जीवनशक्तिवाले मनुष्य पर आक्रमण करके उसे आक्रान्त करते हैं और समर्थ प्राणशक्तिवाले पर उनका प्रभाव बिलकुल नहीं पड़ता, उसी प्रकार बाहर के प्रलोभन, वासना से भरे हुए दुर्बल मन के मनुष्य का अधःपतन करते हैं, न कि सत्त्वपूर्ण मन के मनुष्य का।

मनुष्य अपनी दुर्बलताओं के लिये परिस्थिति को दोष देता है और ऐसा मनाता है कि 'क्या करूँ ? लालच सामने आई, इसलिये मैं टिक न सका।' परन्तु परिस्थिति को दोष देने की अपेक्षा अपनी मानसिक निर्बलता का दोष निकालना ही अधिक सङ्गत और यथार्थ है। मनुष्य का मन लालच की खोज में रहता है, उसमें उसे रस पड़ता है, अतः लालच सामने आते ही वह गिरता है या स्वयं हर्षावेश से उसका स्वागत करता है! अतएव विकास की इच्छा रखनेवाले मनुष्य को चाहिए कि अपनी निर्बलता समझ करके अपने समग्र दोषों का उत्तरदायित्व अपने पर लेकर उन्हें दूर करने के लिये कटिबद्ध हो। सत्त्वशील मनोबल के आगे बाहर का भौतिक बल किस बिसात में ?

सामान्यतः बाहर की प्रलोभक परिस्थितियों से दूर रहने में ही सुरक्षितता है, परन्तु इसमें भी (दूर रहने में

अथवा दूर हट जाने में भी) मनोबल की आवश्यकता पड़ेगी ही। इतना भी मनोबल जिसमें न हो वह तो कदम कदम पर मरने का। प्रलोभनों के सामने टिक रहने की शक्ति प्राप्त करने का राजमार्ग प्रलोभक परिस्थितियों से हो सके वहाँ तक दूर रहने में और इस प्रकार दूर रह कर मनोबल को विकसित करने में है। ऐसी शक्ति सर्वप्रथम कल्पना में सिद्ध करने की होती है। इसी प्रकार प्रारम्भ करना इष्ट है और सुरक्षा भी इसमें है। तालीम ले रहा हो उस हालत में अर्थात् साधक दशा में सिद्धि का अभिमान करनेवाला व्यक्ति अपने अधःपतन को आमन्त्रित करता है। अविचारी साहस करने में खतरा है, और प्रलोभनों से दूर रह कर प्राप्त की हुई सिद्धि भ्रामक न हो यह भी देखने का है। प्रलोभन विद्यमान हों फिर भी उनके सम्मुख अचलभाव से टिक रहने में ही सच्ची कसौटी है। इसलिये समय समय पर अपनी मोह-वासना का संशोधन और निरीक्षण खूब बारीकी के साथ करते रहना बहुत जरूरी है।

बाह्य परिस्थिति की ओर मनुष्य को असावधान न रहना चाहिए। क्या कोई जान-बूझकर रोग के कीटाणुओं का भक्षण करता है अथवा उनके पास जाता है? परन्तु बाह्य परिस्थिति पर मनुष्य का अधिकार बहुत कम होता है और किस समय मनुष्य कहाँ जाकर पड़ेगा इसकी खबर किसी को नहीं होती। अतः प्रलोभनों से बचने के

लिये मनुष्य को प्रतिक्षण सतर्क, जाग्रत् और शक्तिशाली बने रहने की आवश्यकता है। हमेशा अपने मन को स्वच्छ, वासना अथवा मालिन्य से रहित और धैर्यपूर्ण रखना यही पतन से बचने का सच्चा मार्ग है। ऐसा होने पर ही प्रलोभक अथवा संक्षोभक परिस्थिति के समय मन पतित अथवा पराजित न होकर स्थिर एवं तेजस्वी रह सकेगा।

अच्छे अच्छे मनुष्यों के मन प्रलोभक अथवा संक्षोभक परिस्थिति उपस्थित होने पर विचलित हो जाते हैं। ऐसे समय सुज्ञ मनुष्य को अपने मन के साथ युद्ध करना पड़ता है। इस युद्ध में—ऐसे आन्तर विग्रह में महामना महानुभाव मानव खिल उठता है, खिलता जाता है और उसका संयमबल इतना अधिक बढ़ जाता है कि किसी भी लालच के सामने वह अविचल खड़ा रह कर विजेता के आनन्द का संवेदन कर सकता है।

(१०)

राग और वीतरागता

संसारवर्ती जीव के लिये अतिनिबिड़ बन्धन यदि कोई हो तो वह वस्तुतः राग-द्वेष का है। इनमें भी राग मुख्य है। द्वेष के मूल में भी राग ही है। प्रत्येक दोष के मूल में राग का बल काम करता है। राग जड़ एवं चेतन दोनों प्रकार के पदार्थों के बारे में होता है। जैसे मनुष्यादि चेतन

प्राणियों पर वैसे घड़ी, फाउन्टेन पेन, स्टेशनरी, फर्निचर, वस्त्र आभूषण आदि अच्छी लगनेवाली चीज़ों पर भी रागभाव फैला हुआ है, जबकि द्वेष तो सामान्यतः सचेतन प्राणी के बारे में ही होता है। जड़ वस्तु उसका विषय नहीं है[१]। खम्भे के साथ टकराने पर यदि लग जाय तो खम्भे की ओर द्वेष-जैसा विकार उत्पन्न होता है, परन्तु वास्तविक रूप में वह द्वेष नहीं है, वह तो मोह का (अज्ञान का, बेवकूफी का) पागल आवेश मात्र है।

राग मोह का प्रबलतम रूप है और समग्र संसार चक्र में उसका निर्द्वन्द्व साम्राज्य फैला हुआ है। सब दोष उसके साथ चिपके हुए हैं और उसके हटते ही सब दोष तितर बितर हो जाते हैं। इसीलिये वीतराग शब्द में केवल एक 'राग' शब्द ही रख कर राग के अभाव की सूचना के बल पर ही दूसरे सभी दोषों का अभाव भी सूचित हो जाता है।

सचेतनप्राणिविषयक राग धार्मिक, साम्प्रदायिक और लौकिक इस तरह तीन प्रकार का है। ज्ञानी, महात्मा, सन्त, सत्पुरुष, सद्गुरु के ऊपर कल्याणी भक्ति का राग तथा सद्गुणों के कारण उत्पन्न होनेवाला पवित्र राग धार्मिक

१ इस बारे में हरिभद्राचार्य के अष्टकप्रकरण ग्रन्थ के प्रथम अष्टक के प्रथम श्लोक के तृतीय पाद 'न च द्वेषोऽपि सत्त्वेषु' का श्री जिनेश्वरसूरिकृत टीका देखो।

राग है। यह भक्तिरूप होने से कल्याणरूप है। महर्षि गौतम इन्द्रभूति का भगवान् महावीर पर ऐसा ही धार्मिक अनुराग था। अपने सम्प्रदाय पर का संकुचित राग साम्प्रदायिक-राग है और यह त्याज्य है। स्वजन-कुटुम्ब, सगे-सम्बन्धी तथा मित्रादि की तरफ़ जो रागभाव होता है वह लौकिक राग है। इस लौकिक-राग के भी दो भेद किए जा सकते हैं: स्नेहरूप और स्मरवासनारूप। स्नेहरूप राग यदि कलुषित न हो और निर्मल हो तो वह आदरणीय है। स्मरवासनारूप राग भी निषिद्ध और अनिषिद्ध ऐसा दो प्रकार का गिनाया जा सकता है: स्वपत्नी अथवा स्वपतिविषयक औचित्ययुक्त अनिषिद्ध, और परस्त्री आदि निषिद्धस्थानविषयक निषिद्ध।

हमें यह जान लेना चाहिए कि व्यक्तिविषयक राग की अपेक्षा उसके गुणों का राग उत्तम है, फिर चाहे ऐसे

---

१. कामरागस्नेहरागावीषत्करनिवारणौ।
दृष्टिरागस्तु पापीयान् दुरुच्छेदः सतामपि॥
—हेमचन्द्र, वीतरागस्तोत्र।

अर्थात्-कामराग और स्नेहराग का निवारण सुकर है, परन्तु अति-पापी दृष्टिराग का उच्छेदन तो पण्डित और साधु-सन्तों के लिये भी दुष्कर है। [दृष्टिराग अर्थात् संकुचित साम्प्रदायिक राग]

इस श्लोक में कामराग, स्नेहराग और दृष्टिराग ये तीन राग बतलाए हैं। पवित्र भक्तिरूप या धार्मिक राग का स्नेहराग के सुपवित्र विभाग में समावेश हो सकता है।

व्यक्ति की ओर राग-वृद्धि उसके सद्गुणों के कारण ही क्यों न उत्पन्न हुई हो? यह बात सच है कि ऐसे व्यक्ति की ओर होनेवाला रागभाव आत्मा के ऊर्ध्वीकरण में बहुत अंशों में सहायभूत होता है, परन्तु ऐसा राग उस व्यक्ति का वियोग होने पर निराधारता की भावना पैदा कर के रुदन कराता है और अन्तिम विकास का अवरोधक बनता है। इस बारे में महर्षि गौतम इन्द्रभूति का उदाहरण स्पष्ट है।

वीतरागता अर्थात् राग और द्वेष का आत्यन्तिक अभाव। इसमें रागद्वेषजन्य सभी वृत्तियों का अभाव सूचित हो जाता है। वीतरागता विश्व-बन्धुत्व, विश्वप्रेम अथवा विश्ववात्सल्य की विरोधी नहीं है। जितने अंशों में राग-द्वेष कम होते जाते हैं उतने अंशों में प्राणि-वात्सल्य का विकास होता जाता है और जब वीतरागता पूर्णरूप से प्रकट होती है तब यह वात्सल्यभाव भी पूर्णरूप से विकसित हो कर समग्र लोक के प्राणियों में अभिव्याप्त हो जाता है। जहाँ निर्भ्रान्त ज्ञान देदीप्यमान हो रहा हो, जहाँ संकुचित स्वार्थ और पौद्गलिक सुखोपभोग में आसक्ति न हो, जहाँ कषायादि दोष न हो, जहाँ शुभ कर्मों से प्राप्त विशिष्टताओं के कारण गर्व अथवा अहंकार न हो, जहाँ पक्षपात अथवा अन्यायवृत्ति न हो, जहाँ उच्च नीचभाव न हो और जहाँ पूर्ण

समदर्शिता तथा सर्वप्राणिहितपरायणता हो वहाँ वीतरागता है। वह विश्वक्षेमंकर, पूर्णपवित्र, पूर्णज्योति जीवन का नाम है।

जिस राग के पक्ष में द्वेष, स्वार्थ, पक्षपात आदि दोष हों अथवा जो राग साक्षात् या परम्परा से द्वेषादि दोषों के साथ सम्बद्ध हो वह कलुषित राग है। जगत् इस कलुषित राग के जुल्मी आक्रमण से व्यथित है। परन्तु यह राग द्वेष, स्वार्थ और मूढता आदि मैल से जितना दूर होता जाता है उतना ही वह निर्मल बनने लगता है। इस निर्मलता के कारण वह (राग) निर्मल वात्सल्य अथवा निर्मल प्रेमभाव जैसे सु-नाम से व्यवहृत होता है। विधेयात्मक अहिंसारूप शुद्ध वात्सल्यभाव प्राणिवर्ग में जितना व्यापक बनता है, आत्मा उतना ही महान् बनता है। 'सम्यक्त्व' के निर्मल पुद्गल विशीर्ण होने पर जिस प्रकार श्रेष्ठतर और श्रेष्ठतम (आत्मिक) सम्यक्त्व प्रकट होता है उसी प्रकार अत्युन्नत भूमिका पर आरूढ़ होने पर राग के निर्मल पुद्गल भी जब बिखर जाते हैं तब पूर्ण वीतराग दशा प्राप्त होती है और तब परम-विशुद्ध आत्मिक वात्सल्य (Divine or spiritual love), जो कि अहिंसा की परम ज्योत है, सर्वभूतव्यापी बनता है और इसका सद्व्यवहार वीतराग प्रभु जबतक इस जगत् में (शरीरधारी अवस्था में) रहते हैं तब तक करते हैं।

इसीलिए वे लोकबन्धु, जगन्मित्र, विश्ववत्सल कहलाते हैं। इसी रूप में उनकी स्तुति-प्रार्थना की जाती है।

(११)

ईश्वर-कृपा

स्वास्थ्य अच्छा रहे, बुद्धि अच्छी रहे, विचार-व्यवहार अच्छे रहें, सुख-शान्ति बनी रहे तो यह सब ईश्वर की कृपा से है ऐसा लोगों में बोला जाता है। जैन भी बोलते हैं। और यह कुछ अनुचित भी नहीं है। इस प्रकार के शुद्ध वाणी-व्यवहार में अत्यन्त मधुरता रही हुई है। स्मृतिपूर्वक बोले जानेवाले ऐसे वचनों से हम अहङ्काररहित हो सकते हैं। इससे ईश्वर की तरफ हमारी नम्रता तथा भक्तिभाव पुष्ट होते हैं और उसके चरणों में बैठ जाने जितना प्रेम उमड़ने लगता है।

दूसरी ओर तार्किक बुद्धिवाद से देखने पर प्रतीत होता है कि कल्याणमय ईश्वर ऐसा वीतराग और समत्वधारक है, ऐसा निरंजन और निर्लेप है कि किसी का बुरा भला करने के प्रपञ्च में वह पड़ता ही नहीं है। प्रत्येक प्राणी का बुरा भला उसके अपने कर्मों से होता है। और प्रत्येक व्यक्ति को अपना भला अपने ही प्रयत्नों से करने का है। ईश्वर की 'कृपा' तो, सब जीव अच्छे और सुखी रहें, सद्बुद्धि, सद् विचारवान् और सद्व्यवहारवाले बनें और रहें ऐसी निरन्तर

होती है। सब पर उसकी कृपा ही कृपा होती है यह सिद्ध बात है। अतः यदि केवल उसकी कृपा के ही कारण सुख-शान्ति मिलती हो और सदाचारी बना जाता हो तो उसकी कृपा सब पर एक समान होने से सब के सब एक ही साथ सदाचारी और सुखी बन जाने चाहिए। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। अतः हमें समझना चाहिए कि इसकी सर्व-व्यापी, सर्वसाधारण स्वभावभूत कृपा अथवा प्रसन्नता सब पर समान होने पर भी प्राणियों के सुख-दुःख, उन्नति-अवनति अथवा कल्याण-अकल्याण का आधार अपने कर्म-आचरण पर ही है। हमारा पतन करानेवाला हमारा दुराचरण ही है और हमारा सदाचरण ही हमारा तारक है। अतः सदाचारी बनने के लिये ईश्वर-कृपा की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। उसकी कृपा तो है ही—नित्यनिरन्तर ही उसके कृपारूपी अमृत की वृष्टि हो रही है। यदि हम सदाचारी बनें तो सुखी हुए ही हैं। सदाचरण की साधना के समय पूर्वकृत दुष्कृत के कारण, संभव है, दुःख, तकलीफ़ सहने पड़ें; परन्तु इस सनातन सन्मार्ग में यदि हम निश्चल रहें तो उत्तरोत्तर विकसित होते होते अन्ततः पूर्ण उज्ज्वल बनकर सब दुःखों से विमुक्त हो सकते हैं और पूर्ण शान्ति प्राप्त कर सकते हैं।

दुनिया में दुष्ट, अधम मनुष्य दुष्ट, अधम कार्य करते हैं इसका क्या कारण है? क्या यह कारण है कि उन पर

ईश्वर की कृपा नहीं है ? नहीं, उसकी तो सब पर, ऊपर कहा उस तरह, सब अच्छे और सुखी बनें ऐसी कृपा है ही। ऐसा होने पर भी जगत् कितना कलुषित प्रतीत होता है ! अच्छों की अपेक्षा बुरे, सुखी की अपेक्षा दुःखी और बुद्धिशाली की अपेक्षा ज्ञानहीन प्राणियों की संख्या विश्व में बहुत अधिक है। सच तो यह है कि दुनिया की बातों में उसकी (उस अलख निरंजन ईश्वर की) कृपा अथवा अकृपा जैसा कुछ भी नहीं है। वह तो स्वमग्न है, निर्लेप और तटस्थ है। उसकी ओर का अपना भक्तिभाव और उस भक्तिभाव द्वारा सच्चरित्रता की साधना—इसी को यदि हम उसकी कृपा समझ लें तो तार्किक बुद्धि भी विरोध न कर सके ऐसा जीवनहितका सम्पूर्ण मुद्दा इसमें आ जाता है।

जो कुछ अच्छा होता है वह पुण्य से और जो बुरा होता है वह पाप से—ऐसा आर्य संस्कृति के तत्त्वज्ञान का प्रचलित सिद्धान्त है, अतः यह बात सही है कि सुख-सुविधा मिले, अथवा कुछ अच्छा हो अथवा अनिष्ट अकस्मात् की झपट में से अपना इष्ट जन अथवा स्वयं हम बच जाएँ तो यह पुण्योदय से और असुविधा अथवा संकट उपस्थित हो अथवा खराब दुःखजनक परिस्थिति में फँस जाना पड़े तो वह पाप के उदय से होता है, परन्तु प्रश्न होगा कि यह पुण्य और पाप आए कहाँ से ? इसके उत्तर में यही कहना पड़ेगा कि सत्कृत्य करने से अथवा अमुक अंश में शुभ मार्ग पर

चलने से पुण्य आया और अशुभ कार्य अथवा पापाचार से पाप आया। ठीक, तब यह प्रश्न होता है कि शुभाशुभ मार्ग की सनातन समझ मूल में जगत् पर कहाँ से उतरती रही? इसका उत्तर यही है कि यह समझ मूल में महान् ज्ञानी पुरुषों से उतरती आई है। तब इस पर से ऐसा माना जा सकता है कि ज्ञानी प्रभु की शिक्षा के अनुसार चलने से पुण्य उपार्जित होता है और उस पुण्य द्वारा जो सुख प्राप्त होता है उस सुख के देनेवाले मूल कारणरूप ज्ञानी भगवान् समझे जा सकते हैं। इसी प्रकार ज्ञानी भगवान् की कल्याणमयी हितशिक्षा को न मान कर दुष्कर्म के मार्ग पर चलने से पाप का बन्ध होता है और इसके परिणामस्वरूप जो दुःखी होना पड़ता है यह भी ज्ञानी भगवान् की शिक्षा न मानने का परिणाम कहा जा सकता है। दुनिया के व्यवहार में हम देखते ही हैं कि जिसे जिसके परामर्श से लाभ अथवा सुख मिलता है वह उसे अपना उपकारी मानता है-मुझे यह लाभ अथवा सुख देनेवाला वह है ऐसा वह मनुष्य मानता है। इसी प्रकार ज्ञानी भगवान् के उपदेश के अनुसार चलनेवाला मनुष्य सुख प्राप्त करता है इस लिये उस सुख के कारणभूत ज्ञानी भगवान् उपकारी माने जा सकते हैं, क्योंकि उनके सदुपदेश के अनुसार चलने से ही उसे सुख मिला है। इसी दृष्टि से परमात्मा ईश्वर सुखदायक अथवा मुक्तिदायक समझा जाता है। इतना ही

नहीं, ईश्वर के कर्तृत्व का वाद भी इस दृष्टि के अनुसार और इतने अंश में घटाया जा सकता है।

इस पर से, किसी आपत्ति में से बच जाने पर अथवा इष्ट-लाभ प्राप्त होने पर भगवान् का जो उपकार माना जाता है अथवा उसकी कृपा को जो अंजलि दी जाती है वह युक्त है।

(१२)

'अनशन' व्रत लिए हुए व्यक्ति के बारे में

जैनों में तथा अन्य सम्प्रदायों में 'अनशन' तप में कोई कोई पानी पीने का भी त्याग करते हैं। कभी कभी ऐसे त्यागवाले को पानी की खूब प्यास लगती है जिससे वह बहुत ही बेचैन हो जाता है। उस समय उसे उसके व्रत की याद दिलाने पर भी पानी पीने की उसकी तीव्र इच्छा बनी ही रहती है। ऐसे अवसर पर, जब वह आतुरतापूर्वक पानी माँग रहा हो तब, उस 'व्रती' को दुर्ध्यान न हो जाय और उसकी मौत न बिगड़े इसलिये उसे पानी पिला कर तृप्त करना ही धर्म हो जाता है। उसे पानी न देना और प्यासा रख कर तड़पते रहने देना अक्षम्य और भयंकर अपराध है—भीषण मानवहत्या है। जैन धर्म द्रव्य क्षेत्र-काल भाव (अर्थात् परिस्थिति) का विचार कर के काम करने का आदेश करता है।

इस बारे में यदि कोई प्रश्न करे कि उसका व्रतभंग होता हो उसका क्या ? इसका उत्तर तो यही है कि इसका विचार व्रतधारी को स्वयं करने का है। हमें उसके बारे में आज्ञा करने का अथवा ज़बरदस्ती से व्रत का पालन कराने का अधिकार नहीं है। हम तो केवल उसे उसके व्रत का स्मरण करा सकते हैं। बाद में किस प्रकार बरतना इसके लिये वह स्वतन्त्र है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि पानी देनेवाला व्रती को नहीं परन्तु व्रत से गिरे हुए और पानी के लिये करुण प्रयत्न करनेवाले तथा पानी न मिलने से व्रतभंग की अपेक्षा भी अधिक पाप-रूप दुर्ध्यान में पड़े हुए व्यक्ति को उसके माँगने से पानी देता है। अतः पानी देनेवाले को व्रती के व्रतभंग के दोष के साथ कुछ भी लेना-देना नहीं है। इसके विपरीत, उसे पानी पिलाना अनुकम्पारूप धर्म होने से उस धर्म का आचरण करनेवाला वस्तुतः पुण्य कार्य ही करता है। इससे, 'पानी-पानी' चिल्लानेवाला, पानी के बिना मछली की भाँति तड़फड़ानेवाला वह पानी मिलने से दुर्ध्यान एवं संक्लेशों से बच जाता है और इस तरह उस समय उसकी बिगड़ती मौत रुक जाती है। पानी देने पर व्रतभंग की आपत्ति मानने का कोई भी कारण नहीं है, परन्तु बहुत बड़ी और भयानक आपत्ति तो उसे पानी न देने में है, क्योंकि उस दशा में वह करुण (आर्त्त) और दारुण

(रौद्र) दुर्ध्यान से ग्रस्त होता है। उस समय उसकी माँग के अनुसार पानी अथवा भोजन देने से उसे शान्ति मिलती है। संभव है, उस शान्ति में से वह पुनः धर्म जागृति प्राप्त करे।

'अनशन' ही नहीं, उपवासादि व्रत पालने का उत्तरदायित्व भी समाधिभाव (शान्ति) रहे वहीं तक है। शान्ति अथवा मनोभाव नष्ट होने के बाद उस व्रत का बन्धन नहीं रहता। इसीलिये तो उपवासादि के पच्चक्खाणों में (प्रतिज्ञा-धन्न में) 'सव्वसमाहिवत्तिआगारेण' पाठ रखा हुआ है।

(१२)

व्यापक हितभावना

मनुष्य सामाजिक प्राणी है; समुदाय में एक-दूसरे के साहचर्य और सहयोग पर रहनेवाला, जीनेवाला प्राणी है। एक व्यक्ति के जीवन और संवर्धन के पीछे असंख्य प्राणियोंकी प्रवृत्ति, परिश्रम, कष्टसहन और बलिदान रहे हुए हैं। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति पर प्राणिसमाज का ऋण चढ़ा हुआ है। अतः उसे केवल अपने ही हित की दृष्टि स नहीं, किन्तु सब के हित की दृष्टि से अपने व्यय का विचार करना चाहिए। उसकी कार्य-प्रवृत्ति किसी के लिए अहित

कर न हो इसका ख्याल उसे सदैव रखना चाहिए। उसका मानस लोकबन्धुता के विशद भाव से रँगा हुआ होना चाहिए। 'मैं तो समाज से भिन्न और अलग ही व्यक्ति हूँ'- इस प्रकार मान कर बरतना यह समाज के ऋण का इनकार कर के दिवाला निकालने जैसा है। अपने आप को समाज का एक अंश या घटक मान कर तथा समाजहित के विरुद्ध अकेले मेरा हित होना असम्भव है ऐसा समझ कर उसे अपने हृदय में समाज-हित की भावना का प्रवाह बहता रखना चाहिए।

धर्म और जीवन को अलग नहीं कर सकते। धर्म जीवन में, दूसरों के साथ के व्यवहार में ओतप्रोत बन जाना चाहिए। यदि धर्म को जीवन एवं व्यावहारिक बरताव से अलग कर दिया जाय तो वह धर्म न रह कर व्यर्थ बकवाद का विषय बन जायगा। 'निश्चयदृष्टि' (मूल आदर्श) पर लक्ष रख कर तदनुकूल अथवा कम से कम उसके विरुद्ध नहीं ऐसा सद्व्यवहार रखने में ही धर्म का पालन है। जहाँ व्यवहार में नीति और न्याय की उपेक्षा की जाय वहाँ धर्म नहीं होता। लोकबन्धुभाव अहिंसा की ज्योतरूप होने से धर्म का प्राण है। इससे जीवन आलोकित हो इसी में जीवन का श्रेष्ठतम सौन्दर्य है।

(१४)

सरल मार्ग

जगत् अनेक दुःखों से आक्रान्त है। दुःख अपनी भूल का परिणाम है। मनुष्य धर्म का अर्थात् कर्तव्य मार्ग का पालन न करने की भूल करता है और इसीलिये वह दुःखी होता है। शास्त्रकारों ने यम नियम आदि बतला कर मनुष्य को उसका कर्तव्यमार्ग बता दिया है। इस पर चलने से उसका कल्याण होता है। लोभवृत्ति और उपाधि कम कर के समुचित संयम के द्वारा जीवन को सुखशान्ति पूर्ण बनाना ही व्रतों का उद्देश है। मानवसमाज परस्पर हिलमिलकर सुख शान्ति से रहे और जीवनविकास की ओर गतिशील हो यही धर्ममार्ग का प्रयोजन है। सत्य, अहिंसा संयम, सन्तोष, मैत्री, सेवा इन सद्गुणों की साधना ही मनुष्य मात्रका धर्ममार्ग है।

यह समझा जा सकता है कि जिस समय जो प्राप्त वस्तु मिले उसका प्रसन्नतापूर्वक उपभोग कर के सन्तोष मानना इसमें कुछ ऐसा नहीं है, परन्तु वह वस्तु अच्छी लगन से बार बार मिले ऐसी इच्छा होना और उसके अभाव में अथवा वियोग में मन में बेचैनी रहना अथवा अस्वस्थता का अनुभव करना आसक्ति अथवा तृष्णा है। इसके परिणाम स्वरूप जीवन अस्वस्थ बन जाता है। इस आसक्तिके

वश में न होने का जो धैर्य वह है अनासक्तिमार्ग। सामान्यतः मनुष्य अपने आरोग्य और अपनी चित्तशुद्धि को हानि न पहुँचे उस तरह और स्वादेन्द्रिय के वश हुए बिना न्यायसम्पन्न योग्य रसास्वाद कर सकता है और निर्दोष एवं न्याय्य भौतिक आनन्द ले सकता है। इस प्रकार की दृष्टिवाला सज्जन स्वादेन्द्रिय का दास नहीं होगा और जीवनविकास के अपने मध्यम मार्ग पर मृदु प्रगति सरलता से करता जायगा।

(१५)

आत्मा के स्वरूप का शास्त्रीय विवेचन

जीव का लक्षण चेतना है। चेतना अर्थात् ज्ञानशक्ति। ऐसी शक्ति जीव के अतिरिक्त अन्य किसी रूपी अथवा अरूपी द्रव्य में नहीं है। चेतनस्वरूप–ज्ञानस्वरूप जीव अपनी चेतनाशक्ति द्वारा जानता है, वस्तु का ज्ञान करता है अथवा कर सकता है। जीव इतर पदार्थों का ज्ञान कर सकता है, इतना ही नहीं, वह अपने आप भी ज्ञान कर सकता है। इसीलिये वह स्वपरप्रकाशक कहलाता है। सब प्रकार का (यथार्थ अथवा अयथार्थ) ज्ञान स्वप्रकाशक[1] (स्वसंवेदनरूप अथवा स्वसंविदित) है अर्थात् वह स्वयं

---

१. "स्वनिर्णयस्तु अप्रमाणेऽपि संशयादौ वर्तते। न हि काचित् ज्ञानमात्रा सास्ति या न स्वसंविदिता नाम।"

—हेमचन्द्राचार्य की प्रमाणमीमांसा के तीसरे सूत्र की वृत्ति।

अपने आप को प्रकाशित करता है। परन्तु यथार्थज्ञान स्वप्रकाशक और अर्थप्रकाशक इस प्रकार दोनों स्वरूप वाला होने से स्वपरप्रकाशक (स्वपरव्यवसायी) समझा जाता है। प्रदीप की भाँति ज्ञान भी स्वयं प्रकाशरूप हो कर ही अर्थ को प्रकाशित करता है। जो ज्ञान अयथार्थ (सन्दिग्ध अथवा भ्रान्त) है वह परप्रकाशक नहीं हो सकता यह तो स्पष्ट ही है।

विश्व में जितने पदार्थ हैं वे सब सामान्य तथा विशेष स्वभाववाले हैं। जब चेतना पदार्थ के विशेष स्वभाव की ओर लक्ष्य न करके मुख्यतः पदार्थ के सामान्य स्वभाव को लक्ष्य बनाती है तब चेतना के उस समय के परिणमन को 'दर्शन' कहते हैं। और जब चेतना पदार्थ के सामान्य स्वभाव की ओर लक्ष्य न कर के मुख्यरूप से पदार्थ के विशेष स्वभाव को लक्ष्य बनाती है तब चेतना के उस समय के

---

१ ज्ञानं प्रकाशमानमेव अर्थं प्रकाशयति प्रकाशकत्वात् प्रदीपवत्।
—प्रथम तृतीय सूत्र पर की अवतरणिका में।

अर्थात्—जिस प्रकार प्रदीप को अपने प्रकाशन के लिये दूसरी वस्तु की अपेक्षा नहीं है क्योंकि वह स्वयं प्रकाशरूप है, और ऐसा होने से ही वह अर्थ को प्रकाशित करता है उसी प्रकार ज्ञान भी स्वप्रकाशक हो कर ही परप्रकाश करता है। जो स्वयंप्रकाशरूप न हो वह परप्रकाशक नहीं हो सकता (अर्थप्रकाश नहीं कर सकता)। अतः यह ज्ञान पदार्थ का ज्ञान अर्थप्रकाश करता है इस लिये स्वप्रकाश भी है। इस तरह ज्ञान को स्वसंविदित (स्वप्रकाशरूप) सिद्ध किया जाता है।

परिणमन को 'ज्ञान' कहते हैं। चेतना का, योग्य निमित्त के योग से जानने की क्रिया में परिणमन होने का नाम 'उपयोग' है। इस पर से ज्ञात होगा कि उपयोग दो विभागों में विभक्त है: सामान्य उपयोग और विशेष उपयोग। जो बोध ग्राह्य वस्तु को सामान्यरूप से जाने वह सामान्य-उपयोग और जो बोध ग्राह्य वस्तु को विशेषरूप से जाने वह विशेष उपयोग है। विशेष उपयोग को साकार उपयोग और सामान्य उपयोग को निराकार उपयोग कहते हैं। साकार और निराकार शब्दों में आए हुए 'आकार' शब्द का अर्थ 'विशेष' समझने का है। 'निराकार' उपयोग का अर्थ है आकार अर्थात् विशेष का ग्रहण जिसमें नहीं है ऐसा उपयोग अर्थात् सामान्यग्रहणात्मक उपयोग निराकार उपयोग है। सामान्य उपयोग को 'दर्शन' और विशेष उपयोग को 'ज्ञान' कहते हैं।

दर्शन का लक्ष सामान्य की ओर होने से उससे एकता अथवा समानता का भान उत्पन्न होता है, जबकि ज्ञान का लक्ष विशेषता की ओर होने के कारण उससे विशेषरूपता का—भिन्नता का भान होता है। प्रथम दर्शन और बाद में ज्ञान ऐसा क्रम लगभग सर्वसाधारण समझा जाता है। प्रथम यदि दर्शन न हो तो ज्ञान हो ही कैसे? दर्शन और ज्ञान का भेद समझने के लिये यहाँ पर एक स्थूल दृष्टान्त देना उपयोगी होगा। गायों के समूह को दूर से देखने पर हमें प्रारम्भ में

'ये सब गायें हैं' ऐसा सामान्यतः भान होता है। ऐसे समय हम मुख्यतः गायों में रहे हुए सामान्य तत्त्व की ओर ध्यान देते हैं। गायों का समूह समीप आने पर उनके रंग, सींग, कद आदि में रही हुई विशेषताओं की ओर यदि हम लक्ष दें तो एक गाय से दूसरी गाय में रही हुई भिन्नता हमारी समझ में आती है। ऐसे समय हम मुख्यतः गायों में रही हुई विशेषताओं की ओर ध्यान देते हैं।

दर्शन एवं ज्ञान में तात्त्विक भेद नहीं है। दोनों बोध रूप ही हैं। भेद केवल विषय की सीमा को लेकर ही है। अतः ज्ञान को विशाल अर्थ में यदि हम लें तो उसमें दर्शन का समावेश हो जाता है।

लगभग सभी दर्शन ऐसा मानते हैं कि ज्ञानव्यापार के उत्पत्तिक्रम में सर्वप्रथम ऐसे बोध का स्थान अनिवार्य रूप से आता है जो ग्राह्य विषय के सत्तामात्र स्वरूप का ग्राहक हो और जिसमें कोई भी अंश विशेषण–विशेष्यरूप से भासित न हो।

लोक-व्यवहार का सम्पूर्ण आधार 'ज्ञान' पर है। यही कारण है कि ज्ञान का आवारक 'ज्ञानावरणीय' कर्म

---

१ दर्शन को सामान्य अवबोध सामान्य उपयोग निराकार उपयोग अथवा निर्विकल्पक ज्ञान भी कहते हैं और ज्ञान को विशेष अवबोध विशेष उपयोग साकार उपयोग अथवा सविकल्प ज्ञान भी कहते हैं।

पूर्वोक्त आठ कर्मों में प्रथम रखा है। ज्ञान के सम्बन्ध में पहले थोड़ा निरूपण किया गया है। उसमें ज्ञान के 'मति' आदि पाँच भेद बतलाए हैं। यहां पर हम इनके बारे में तनिक ब्योरे से देखें।

मति और श्रुत ज्ञान मन तथा इन्द्रियों द्वारा होते हैं। मन से युक्त चक्षु आदि इन्द्रियों से रूप आदि विषयों का जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह (सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष) मति-ज्ञान है और मन से सुखादि का जो संवेदन होता है वह मानस (सांव्यवहारिक) प्रत्यक्ष मतिज्ञान है। इस प्रकार मतिज्ञान का एक विभाग प्रत्यक्ष(सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष)-रूप है और मन से तर्क–वितर्क–विचार, स्मरण, प्रत्यभि-ज्ञान, अनुमानादि जो होता है वह परोक्ष मतिज्ञान है। प्रत्यक्षरूप मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ऐसे चार भेद हैं। प्रथम निर्विकल्परूप अव्यक्त 'दर्शन' के बाद अवग्रह होता है। सामान्यतः रूप, स्पर्श आदि का प्रति-भास अवग्रह है। अवग्रह के पश्चात् वस्तु की विशेषता के बारे में सन्देह उत्पन्न होने पर उसके बारे में निर्णयोन्मुखी जो विशेष आलोचना होती है वह 'ईहा' है। किसी दृश्य आकृति का चक्षु द्वारा, किसी शब्द का श्रवणेन्द्रिय द्वारा, किसी स्पर्श का स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा प्रतिभास (अवग्रहरूप प्रतिभास) होने के पश्चात् विशेष चिह्न ज्ञात होने पर 'यह

वृक्ष ही होना चाहिए, मनुष्य नहीं' अथवा 'यह मनुष्य बंगाली होना चाहिए, पंजाबी नहीं' अथवा 'यह शंख का शब्द होना चाहिए, शृंग का नहीं' अथवा 'यह रस्सी का स्पर्श होना चाहिए, सर्प का नहीं' इस प्रकार की निर्णयाभिमुखी जो विचारणा-सम्भावना होती है वह ईहा' है।

ईहा के बाद 'यह वृक्ष ही है,' 'यह बंगाली ही है,' 'यह शंख का ही शब्द है,' 'यह रस्सी का ही स्पर्श है'-इस प्रकार का निर्णय होना 'अवाय' है। और अवाय से निर्णीत पदार्थ का कालान्तर में स्मरण हो सके ऐसा संस्कार वाला ज्ञान 'धारणा' है। इसे 'संस्कार' भी कहते हैं। अर्थात् 'अवाय' रूप निश्चय कुछ समय के बाद लुप्त हो जाने पर भी ऐसा 'संस्कार' रखता जाता है जिससे आगे चा कर उस निश्चित विषय का स्मरण हो जाता है।

१ अवग्रहेण विषयीकृतो योऽर्थोऽवान्तरमनुष्यत्वादिजातिविशेष लक्षणः तस्य विशेषः कर्णाटलाटादिभेदः तस्य आकाङ्क्षणं भवितव्यताप्रत्ययरूपतया ग्रहणाभिमुख्यमीहा।

—रत्नाकरावतारिका २-८

"यथा पुरुष इत्यवगृहीते तस्य भाषावयोरूपादिविशेषैराकाङ्क्षणमीहा।"

—तत्त्वार्थराजवार्तिक १-५-१५

२ अवग्रहगृहीतस्य शब्दादेरर्थस्य किमयं शब्दः शाङ्खः शार्ङ्गो वा इति संशये सति माधुर्यादयः शाङ्खधर्मा एवोपलभ्यन्ते न कार्कश्यादयः शार्ङ्गधर्मा इत्यन्वयव्यतिरेकरूपविशेषपर्यालोचनरूपा मतिश्चेष्टा ईहा।"

—प्रमाणमीमांसा १-१-२७

इस अवायरूप निश्चय की सतत धारा, तज्जन्य संस्कार तथा संस्कारजन्य स्मरण—यह सब मतिव्यापार 'धारणा' है। परन्तु इस समग्र मतिव्यापार में 'संस्कार' प्रत्यक्ष मति-ज्ञान है, जबकि 'स्मरण' परोक्ष मतिज्ञान है।

इस प्रकार 'अवग्रह' आदि चार ज्ञानों का उत्पत्ति-क्रम है।

शास्त्र में औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा और पारिणामिकी इस प्रकार चार तरह की बुद्धि का वर्णन आता है और उनका मतिज्ञानरूप से उल्लेख किया है। किसी विकट उलझन को सुलझाने के समय उसे सुलझा सके ऐसी सहज बुद्धि यदि तुरन्त उत्पन्न हो तो वह औत्पत्तिकी बुद्धि है। इसे प्रत्युत्पन्नमति भी कह सकते हैं। विनय अर्थात् शिक्षण द्वारा विकसित बुद्धि वैनयिकी बुद्धि है, शिल्प एवं कर्म द्वारा संस्कृत बुद्धि कर्मजा बुद्धि है और लम्बे अनुभव से परिपक्व हुई बुद्धि पारिणामिकी बुद्धि है।

इन चार प्रकारों की बुद्धि का ज़िक्र 'नन्दिसूत्र' में उदाहरणों के संक्षिप्त नामों के साथ आता है और वे उदाहरण उस सूत्र की टीका में श्री मलयगिरिने संक्षेप में दिए हैं। इनमें से कुछ बहुत मनोरंजक हैं। यहाँ पर तो विषय का तनिक ख्याल आ सके इस दृष्टि से दो-एक उदाहरण उस टीका में से देते हैं।

औत्पत्तिकी बुद्धि पर टीकाकार ने आज भी सामान्य जनता में अतिप्रसिद्ध ऐसा एक उदाहरण दिया है। जैसे कि—

एक पुरुष की दो विधवा स्त्रियों के बीच पुत्र के लिये झगड़ा हुआ। दोनों कहने लगीं, यह मेरा पुत्र है। न्याया धीश ने आज्ञा दी, पुत्र के दो टुकड़े कर के एक एक टुकड़ा दोनों स्त्रियों को बाँट दो। जो नकली माता थी वह तो इस फैसले पर कुछ भी न बोली, परन्तु जो असली माता थी उसका हृदय कांप उठा और प्रेम के आवेश में उसने कहा : यह मेरा पुत्र नहीं है। यह समूचा पुत्र उसे दे दो। इस पर से वास्तविक माता का पता चल गया। यह न्यायाधीश की औत्पत्तिकी बुद्धि का उदाहरण है।

वैनयिकी बुद्धि का उदाहरण—एक वृद्धा ने दो ज्योतिषियों से पूछा कि देशान्तर से मेरा पुत्र कब आयगा? ऐसा पूछते समय वृद्धा के सिर पर रखा हुआ घड़ा नीचे गिर कर टुकड़े टुकड़े हो गया। इस पर से उन दो ज्योतिषि यों में से एक ने कहा : माँजी, तुम्हारा लड़का, जैसे यह घट नष्ट हुआ वैसे मर गया है। तब दूसरे ने उसे रोक कर कहा : माँजी, तुम्हारा पुत्र घर पर आ गया है। तुम घर पर जाओ। वृद्धा घर गई और पुत्र को देख कर आनन्दित हुई। यह ज्योतिषी की वैनयिकी बुद्धि का उदाहरण है। उसने

ऐसे विचार से-ऐसी तर्कशक्ति से इस प्रकार का भविष्य-कथन किया कि जैसे वृद्धा का घड़ा, प्रश्न पूछते समय ही, अपनी जननी मिट्टी में मिल गया वैसे वृद्धा का पुत्र भी अभी ही उसे मिलना चाहिए।

कर्मजा बुद्धि के उदाहरणों में शिल्प एवं कर्म (कला) में प्रवीणतासूचक उदाहरण दिए हैं।

पारिणामिकी बुद्धि के उदाहरणों में से एक उदाहरण इस प्रकार है—

परस्त्री का त्यागी एक श्रावक एक बार अपनी पत्नी की सखी को देख कर उस पर मोहित हो गया। मोह से पीड़ित अपने पति को देख कर पत्नी ने कहा : 'तुम दुःखी न हो। तुम्हारी इच्छा मैं पूर्ण कर दूँगी।' इसके बाद रात पड़ने पर अपनी सखी के वस्त्राभरण धारण कर के सखीरूप से अपने पति से वह एकान्त में मिली। उसके साथ संग करने के बाद उस पुरुष को अपने व्रतभंग के लिये दुःख हुआ। पत्नी ने जब सच्ची बात कही तब उसका दुःख कुछ हलका हुआ और गुरु के पास जा कर मन में दुष्ट संकल्प करने से जो व्रतभंग हुआ था उसके लिये प्रायश्चित्त किया। यह श्राविका की पारिणामिकी बुद्धि का उदाहरण है।

इस प्रकार हमने मतिज्ञान देखा। अब श्रुतज्ञान को देखें। श्रुतज्ञान अर्थात् श्रुत यानी सुने हुए का ज्ञान।

इसका एक अर्थ होता है शास्त्र–आगम का ज्ञान। सामान्यतः किसी भी विषय के शास्त्र अथवा ग्रन्थ से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। सदुपयोग अथवा दुरुपयोग किसी भी शास्त्र अथवा ज्ञान का हो सकता है। मोक्ष में उपयोगी होना किसी शास्त्र का नियत स्वभाव नहीं है। अधिकारी यदि योग्य और मुमुक्षु हो तो लौकिक समझे जानेवाले शास्त्र को भी वह मोक्ष के लिये उपयोगी बना सकता है और-अधिकारी योग्य न हो तो आध्यात्मिक श्रेणि के शास्त्र भी उसके पतन में निमित्त हो सकते हैं। फिर भी विषय और प्रणेता की योग्यता की दृष्टि से शास्त्र अवश्य अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं।

व्यापक रूप से विचार करने पर श्रुतज्ञान का अर्थ शब्दजन्य ज्ञान अथवा संकेतजन्य ज्ञान होता है। शब्द सुन कर के अथवा लिखा हुआ पढ़कर के जो ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है ही, परन्तु संकेत द्वारा होनेवाला ज्ञान भी श्रुत ज्ञान कहलाता है। जैसे कि, किसी के हाथ के इशारे से अथवा किसी के खाँसने से जो समझ में आता है वह श्रुत-ज्ञान है। यदि कोई अपने मुँह के आगे हाथ रखे तो उस संकेत से जो खाने का अर्थ समझा जाता है वह श्रुतज्ञान है। ऊपर उठे हुए अक्षरों पर हाथ फिराने से एक अन्धा जो पढ़ता है–समझता है वह श्रुतज्ञान है। तार के 'कट् कट्' शब्दों पर से जो समझा जाता है वह श्रुतज्ञान है। सामने

सामने दो मनुष्य एक-दूसरे की संज्ञाओं से जो कुछ समझते हैं वह श्रुतज्ञान है। 'खाँसी आदि से, अन्धेरे में कोई मनुष्य है ऐसा जो ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है। एक गूंगा आदमी दूसरों के हाथ की चेष्टाओं अथवा संकेत से अथवा गूंगे के संकेत आदि से दूसरा जो समझता है वह श्रुतज्ञान है। इसी प्रकार एक बहरे को दूसरे के हाथ की संज्ञाओं से जो ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है। पांचों इन्द्रियों में स्वस्थ पुरुषों में भी बहुत बार वाणीप्रयोग न कर के मुँह, हाथ, मस्तक आदि की संज्ञाओं से–चेष्टाओं से एक-दूसरे को समझा देने का अथवा उत्तर दे देने का प्रचार है। इस से जो बोध होता है वह श्रुतज्ञान है।

शब्द सुन कर जिस प्रकार अर्थ की उपस्थिति होती है उसी प्रकार संकेत से भी अर्थ की उपस्थिति होती है। जिस तरीके से शब्द द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है उसी तरीके से संकेत द्वारा भी ज्ञान पैदा होता है। अतः संकेतजन्य ज्ञान शाब्दबोध जैसा है और इसीलिये वह श्रुतज्ञान है।

शब्द का सुनना तो श्रोत्रेन्द्रिय का अवग्रहादिरूप मतिज्ञान है, परन्तु उससे बोध (शाब्दबोध) होना श्रुतज्ञान है। चेष्टा, संकेत अथवा संज्ञा का देखना चाक्षुष अवग्रहादि मतिज्ञान है, परन्तु उससे अर्थ की उपस्थिति होना–अर्थ का बोध होना श्रुतज्ञान है। इसी प्रकार संकेत का

अथवा श्रोत्रेन्द्रिय का अवग्रहादि मतिज्ञान है, परन्तु उससे शब्दबोध जैसा अर्थबोध होना श्रुतज्ञान है।

मति और श्रुत में भेद क्या है?–इसके बारे में विशेषावश्यकभाष्य के टीकाकार कहते हैं कि 'इन्द्रिय और मन द्वारा उत्पन्न होनेवाला सब प्रकार का ज्ञान 'मतिज्ञान' ही है। सिर्फ परोपदेश और आगम-वचन से पैदा होने पर वह 'श्रुत' कहलाता है, जो (इस प्रकार की विशेषता वाला) मतिज्ञान का एक विशिष्ट भेद ही है।'[1]

सामान्यतः ऐसा कहा जा सकता है कि मति और श्रुत में क्रमशः बुद्धि और विद्वत्ता जैसा भेद है। मतिज्ञानी को बुद्धिमान् और श्रुतज्ञानी को विद्वान् कह सकते हैं। विद्वान् की मति श्रुत से रँगी हुई होती है। इस प्रकार ये दोनों एकरस बन जाते हैं।

मतिज्ञान निमित्त के योग से स्वयं उत्पन्न होनेवाला ज्ञान है, अर्थात् उसमें परोपदेश की अपेक्षा नहीं होती, जबकि श्रुतज्ञान परोपदेश से (आगम अथवा शास्त्रवचन भी

---

१ इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तद्वारेण उपजायमानं सर्वं मतिज्ञानमेव। केवलं परोपदेशाद् आगमवचनाच्च भवत् विशिष्टः कश्चिन्मतिभेद एव श्रुतं नाऽन्यत्।

—मलधारिरचित विशेषावश्यकभाष्य-टीका गाथा ८६

'न मत्यभ्यधिकं श्रुतम्'।—सिद्धसेन दिवाकर निश्चयद्वात्रिंशिका श्लोक १९

परोपदेश ही है) पैदा होता है और उसमें, पहले कहा उस तरह, शब्द एवं अर्थ के संकेत की आवश्यकता है। मतिज्ञान द्वारा ज्ञात वस्तु को दूसरे से कहने के लिये जब हम मन ही मन उस ज्ञान को भाषा के रूप में परिणत करते हैं तब भाषा के रूप में परिणत होने के कारण वह 'श्रुतज्ञान' नहीं हो जाता। उस समय भी वह तो 'मतिज्ञान' ही कहलाता है। 'श्रुतज्ञान' तो भाषा द्वारा पैदा होने से ही होता है। मतिज्ञान से जाना हुआ भी भाषा में रखा जा सकता है और श्रुतज्ञान से जाना हुआ भी भाषा में रखा जा सकता है। श्रुतज्ञान से ज्ञात पदार्थ पर विशेष विचार–विशेष चिन्तन–विशेष ऊहापोह बुद्धिरूप है और बुद्धि 'मतिज्ञान' है। वैनयिकी बुद्धि, जिसका पहले उल्लेख हो चुका है, विशेष विचाररूप है और मतिज्ञान है।

इस प्रकार मतिज्ञान की व्यापकता होने पर भी उसकी संस्कारिता, पुष्टिमत्ता और बलवत्ता का आधार श्रुतज्ञान है। प्रगति और उन्नति के मार्ग पर वह हमें आरूढ़ करता है। पूर्वजों एवं साथियों के अनुभव का लाभ यदि हमें न मिले तो हमारी अवस्था पशुओं की अपेक्षा भी अधम हो जाय। इसलिये श्रुतज्ञान का क्षेत्र भी अत्यन्त विशाल है। यद्यपि मतिज्ञान के बिना श्रुतज्ञान खड़ा नहीं हो सकता किन्तु श्रुतज्ञान के बिना मतिज्ञान पशु से अधिक उन्नत श्रेणि पर नहीं ले जा सकता। इस प्रकार मति और

श्रुत दोनों एक-दूसरे में ओतप्रोत होने पर भी दोनों के बीच का भेद समझा जा सकता है।

मति और श्रुत संसार के समग्र प्राणियों में—सूक्ष्म जीव से लेकर पंचेन्द्रिय तक के सब जीवों में है। शास्त्र के आधार पर मति और श्रुत का विषय सब द्रव्य हैं, अर्थात् रूपी एवं अरूपी सब द्रव्यों का मति और श्रुत द्वारा विचार किया जा सकता है और वे जाने जा सकते हैं। परन्तु ये दोनों ज्ञान किसी भी द्रव्य के परिमित ही पर्याय जानते हैं। इतना अवश्य है कि मतिज्ञान की अपेक्षा श्रुत का पर्यायग्राहित्व अधिक है।

मतिज्ञान इन्द्रियजन्य है और साथ ही मनोजन्य भी है। मन स्वानुभूत अथवा शास्त्रश्रुत सब मूर्त अमूर्त द्रव्योंका चिन्तन करता है। अतः मनोजन्य मतिज्ञान की अपेक्षा से समग्र द्रव्य मतिज्ञान के विषय कहे जा सकते हैं। मानसिक चिन्तन जब शब्दोल्लेखसहित होता है तब श्रुतज्ञान है और जब शब्दोल्लेखरहित होता है तब मतिज्ञान है।

शास्त्रदृष्टि से मति और श्रुत ये दोनों ज्ञान इन्द्रिय—

---

१ शब्दोल्लेख का अर्थ है व्यवहारकाल में शब्दशक्ति के ग्रहण से उत्पन्न होना। अर्थात् श्रुतज्ञान की उत्पत्ति के समय संकेतस्मरण और श्रुतग्रन्थ का अनुसरण अपेक्षित है। ईहा आदि मतिज्ञान की उत्पत्ति में शब्दस्फूर्ति होने पर भी वे ज्ञान इस प्रकार के शब्दोल्लेखवाले नहीं हैं।

मनोजनित होने के कारण—साक्षात् आत्मा द्वारा न होकर अन्य निमित्तों के बल पर उत्पन्न होने से परोक्ष कहलाए हैं। इनमें नेत्र आदि इन्द्रियों से होनेवाले रूप आदि विषयों के ज्ञान भी आ जाते हैं। फिर भी नेत्रादि-इन्द्रियजन्य रूपादिविषयक ज्ञान लोकव्यवहार में प्रत्यक्ष गिने जाते हैं, अतः शास्त्र को भी उन्हें प्रत्यक्ष मानना पड़ा है। पारमार्थिक दृष्टि से ये ज्ञान परोक्ष होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से प्रत्यक्ष माने जाने के कारण उन्हें सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है।

शास्त्रानुसार पारमार्थिक (वास्तविक) प्रत्यक्ष तीन प्रकार का है : अवधि, मनःपर्याय और केवल। ये तीनों इन्द्रिय एवं मन किसी की भी अपेक्षा रखे बिना केवल आत्मशक्ति से प्रकट होते हैं। अतः ये अतीन्द्रिय ज्ञान हैं।

अवधि का विषय रूपी (मूर्त) द्रव्य हैं अर्थात् अवधिज्ञान रूपी द्रव्यों को प्रत्यक्ष करता है।

अवधिज्ञान के असंख्य भेद हैं। ऐसा उच्च कोटि का भी अवधिज्ञान होता है जो मनोद्रव्य को ग्रहण कर सकता है और कार्मिक द्रव्यों को भी जान सकता है।

मनःपर्यायज्ञान भी रूपी द्रव्यों को ही ग्रहण करनेवाला ज्ञान है। परन्तु रूपी द्रव्य दूसरा कोई नहीं, केवल मनो-द्रव्य (मनरूप से परिणत पुद्गल) ही। कहने का अभिप्राय

यह है कि मनःपर्यायज्ञान मनुष्यलोक में रहनेवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मनोद्रव्य को ग्रहण करता है। इस कारण मनःपर्यायज्ञान का विषय अवधिज्ञान के विषय का अनन्तवाँ भाग कहा है।

मनःपर्याय ज्ञान से दूसरे के मन में जिस वस्तु का चिन्तन हो रहा हो उस वस्तु का ज्ञान नहीं होता, परन्तु विचार करते समय मन की (मनोद्रव्य की) जो आकृतियाँ बनती हैं उन आकृतियों का ही साक्षात्कार होता है। चिन्त्यमान वस्तु का ज्ञान तो पीछे से अनुमान द्वारा होता है। जिस प्रकार हम पुस्तक आदि में छपी हुई लिपि को प्रत्यक्ष देखते हैं उसी प्रकार मनःपर्यायज्ञान मनोद्रव्य की विशिष्ट आकृतियों को प्रत्यक्ष देखता है। इन आकृतियों का साक्षात्कार ही मनःपर्याय की साक्षात्क्रिया है। परन्तु लिपिदर्शन पर से (लिपि पढ़कर) हमें जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष नहीं किन्तु शाब्दबोध (श्रुतज्ञान) है उसी प्रकार मनोद्रव्य की विशिष्ट आकृतियों के दर्शन (साक्षात्कार) से जो चिन्त्यमान वस्तुओं का ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष नहीं किन्तु अनुमानज्ञान है और वह मनःपर्याय की सीमा की बाहर का है।

अवधि और मनःपर्याय के बीच विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय द्वारा भेद बतलाया जाता है।

अवधिज्ञान की अपेक्षा मनःपर्यायज्ञान अपने विषय को अधिक स्पष्टरूप से जानता है। यह हुआ विशुद्धिकृत भेद। कोई अवधिज्ञान अत्यन्त अल्प सीमा का स्पर्श करता है तो कोई उससे कुछ अधिक सीमा का। यह तारतम्य असंख्य प्रकार का है। इससे अवधिज्ञान के असंख्य भेद होते हैं। उच्चतम अवधिज्ञान सम्पूर्ण लोक का (समग्र लोक के सम्पूर्ण रूपी द्रव्यों का) स्पर्श करता है-उसे जानता है, जबकि मनःपर्यायज्ञान का विषयक्षेत्र मनुष्यक्षेत्र ही है। यह हुआ क्षेत्रकृत भेद। अवधिज्ञान का स्वामी मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारक चारों गति के जीव हो सकते हैं, जबकि मनःपर्यायज्ञान का स्वामी केवल सर्वविरत मनुष्य ही हो सकता है। यह हुआ स्वामिकृत भेद। अवधि का विषय उत्कृष्टरूप से सम्पूर्ण रूपी द्रव्य हैं, जबकि मनःपर्याय ज्ञान का विषय उसका अनन्तवाँ भाग है, अर्थात् केवल मनोद्रव्य है। यह हुआ विषयकृत भेद।

मनःपर्यायज्ञान का विषय अल्प होने पर भी अवधिज्ञान की अपेक्षा वह विशुद्धतर माना गया है। इसका कारण स्पष्ट है। विशुद्धि का आधार विषय की न्यूनाधिकता पर नहीं, किन्तु विषय में रही हुई न्यूनाधिक सूक्ष्मताओं के जानने में है। जैसे कि, दो मनुष्यों में एक ऐसा है जो अनेक शास्त्रों को जानता है और दूसरा एक

ही शास्त्र को जानता है। अब, यदि एक ही शास्त्र को जाननेवाला अपने शास्त्र-विषय को उस अनेकशास्त्रज्ञ मनुष्य की अपेक्षा अधिक गहराई से, अधिक सूक्ष्मता से जानता हो तो उसका उस विषय का ज्ञान उस अनेक शास्त्रज्ञ मनुष्य के ज्ञान की अपेक्षा विशुद्ध कहलायगा, उच्चतर समझा जायगा। इसी प्रकार विषय अल्प होने पर भी उसकी सूक्ष्मताओं को अवधिज्ञान की अपेक्षा विशेष रूप से जाननेवाला मनःपर्याय ज्ञान अवधिज्ञान की अपेक्षा विशुद्धतर समझा जाता है।

अवधिज्ञान, मनःपर्याय ज्ञान और केवलज्ञान ये तीनों ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष की श्रेणी के हैं। इनमें अन्तिम ज्ञान सर्वविद् (रूपी, अरूपी सर्वविषयग्राही) है, अतः वह सकल प्रत्यक्ष कहलाता है, जबकि पहले के दो (अवधि और मनःपर्याय) अपूर्ण प्रत्यक्ष होने के कारण विकल प्रत्यक्ष कहे गए हैं।

अब 'ज्ञान' से पूर्व अल्प समय के लिये चमकनेवाले 'दर्शन' को देखें। इसके चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन इस प्रकार चार भेद किए गए हैं। चक्षु द्वारा होनेवाले प्रत्यक्ष ज्ञान से पूर्व जो दर्शन होता है वह चक्षुर्दर्शन और चक्षु के अतिरिक्त दूसरी इन्द्रियों तथा मन द्वारा होनेवाले प्रत्यक्ष से पूर्व जो दर्शन होता है वह

अचक्षुर्दर्शन है। अवधिज्ञान से पहले होनेवाला अवधिदर्शन और केवलज्ञान का पूर्ववर्ती केवलदर्शन है। मनःपर्याय ज्ञान के पहले 'दर्शन' नहीं माना गया। इस बारे में ऐसी कल्पना होती है कि अवधिज्ञान का जो प्रकार मनोद्रव्य का स्पर्श करता है वही विशेष सूक्ष्म होने पर 'मनःपर्यायज्ञान' होता है। अतः इसके पूर्वगामी दर्शन के रूप में अवधि-दर्शन के अतिरिक्त अन्य किसी दर्शन की खोज करने की आवश्यकता नहीं है। महान् आचार्य सिद्धसेन दिवाकर अपनी 'निश्चयद्वात्रिंशिका' में अवधिज्ञान असंख्य भेद-वाला होने से मनःपर्याय ज्ञान को उसका एक भेदरूप मान कर उसी में (अवधिज्ञान में) उसे अन्तर्गत करते हैं।

दर्शन से होनेवाला सामान्य बोध इतना अधिक सामान्य स्थिति का है कि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि के दर्शन में कुछ फ़र्क नहीं पड़ता।

सम्यग्दृष्टि के मति, श्रुत एवं अवधि सम्यग्ज्ञानरूप और मिथ्यादृष्टि के वे मिथ्याज्ञान अथवा अज्ञानरूप माने गए हैं।

इस बात पर थोड़ा दृष्टिपात करें।

न्यायशास्त्र में विषय के यथार्थ ज्ञान को प्रमाण और

१. "मन पर्यायज्ञान पट्ठक्षयोपशमप्रभवत्वाद् विशेषमेव गृह्णद् उत्पद्यते, न सामान्यम्, अतो ज्ञानरूपमेवेदम्, न पुनरिह दर्शनमस्ति।"

—मलधारिकृत विशेषावश्यक–टीका गाथा ८१४.

अयथार्थ ज्ञान को अप्रमाण कहा गया है। इस प्रकार का सम्यग् असम्यग्ज्ञान का विभाग जैन अध्यात्मशास्त्र को मान्य है ही; परन्तु सम्यग्दृष्टि का ज्ञान सम्यग्ज्ञान और मिथ्यादृष्टि का ज्ञान मिथ्याज्ञान अथवा अज्ञान—इस प्रकार के निरूपण के पीछे जैनदर्शन की एक खास दृष्टि है। और वह यह कि जिस ज्ञान से आध्यात्मिक उत्कर्ष हो वह सम्यग्ज्ञान और जिस ज्ञान से आध्यात्मिक पतन हो वह मिथ्याज्ञान। सम्यग्दृष्टि जीव को भी संशय हो सकता है, भ्रम हो सकता है, अधूरी समझ हो सकती है, फिर भी वह कदाग्रहरहित और सत्यगवेषक होने से विशेषदर्शी गुरु के अवलम्बन से अपनी भूल सुधारने के लिये तत्पर रहता है और सुधार भी लेता है। वह अपने ज्ञान का उपयोग मुख्यतः विषयवासना के पोषण में न करके आध्यात्मिक विकास के साधन में ही करता है। सम्यग्दृष्टिरहित जीव की स्थिति इससे विपरीत होती है। उसे सामग्री की बहुलता के कारण निश्चयात्मक और स्पष्ट ज्ञान हो सकता है, परन्तु कदाग्रह एवं अहंकारवश, अपनी भूल मालूम होने पर भी उसे सुधारने के लिये वह तैयार नहीं होता। झूठ को भी सच मानने-मनवाने का वह प्रयत्न करता है, सच्ची बात जानने पर भी कदाग्रहादि दोष के कारण, उसे स्वीकारने में हिचकता है। अभिमान के कारण, जो पकड़ा हो वह चाहे मिथ्या हो, चाहे वह गलत तरीके का हो परन्तु उसे वह

छोड़ता नहीं है। अहंकार के आवेश में विशेषदर्शी विज्ञ के विचारों को भी वह तुच्छ मानने लगता है। वह आत्मदृष्टि अथवा आत्मभावना से शून्य होता है। अतः अपने ज्ञान का उपयोग वह आध्यात्मिक हितसाधन में न कर के सांसारिक भोगवासना के पोषण में–उसे सन्तुष्ट करने में ही करता है। भौतिक उन्नति प्राप्त करने में ही उसके ज्ञान की इतिश्री होती है।

कहने का अभिप्राय यह है कि जो मुमुक्षु आत्मा होते हैं वे समभाव के अभ्यासी और आत्मविवेकसम्पन्न होते हैं। इससे वे अपने ज्ञान का उपयोग समभाव की पुष्टि में करते हैं, न कि सांसारिक वासना की पुष्टि में। इस कारण लौकिक दृष्टि से उनका ज्ञान चाहे-जितना अल्प क्यों न हो, फिर भी वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है; क्योंकि वह उन्हें सन्मार्ग पर ले जाता है। इसके विपरीत संसारवासना के रस में लोलुप आत्माओं का ज्ञान चाहे-जितना विशाल और स्पष्ट क्यों न हो, वह समभाव का उद्भावक न होने से और संसारवासना का पोषक होने के कारण ज्ञान न कहा जा कर अज्ञान कहलाता है। क्योंकि उनका वह ज्ञान उन्हें वास्तविक कुशलमार्ग पर ले जाने के बदले दुर्गति के मार्ग पर ले जाता है। संसारवासना के पोषण में उपयुक्त ज्ञान कुशलमार्गी कैसे कहा जा सकता है? वह तो उन्मार्गी

ही कहलायगा । इससे ऐसा ज्ञान मिथ्याज्ञान–अज्ञान कहलाए यह स्पष्ट है ।

वस्तुस्थिति ऐसी है कि प्राप्त किए हुए ज्ञान का सदुपयोग भी हो सकता है और दुरुपयोग भी। प्राप्त किए हुए ज्ञानके बारे में सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी की दृष्टि भिन्न–भिन्न होती है। सम्यक्त्वी अपने ज्ञान का सदुपयोग करने की ओर रुचि रखेगा। और यदि आवेश अथवा स्वार्थवश उसका दुरुपयोग हो जाय तो उससे उसका अन्तःकरण खटकेगा, खिन्न होगा; जबकि मिथ्यात्वी भौतिक विषयानन्द का उपासक होने के कारण अपने ज्ञान का वह अपने संकुचित स्वार्थ के लिए चाहे किसी प्रकार से उपयोग करेगा। उससे यदि कोई दुष्कृत्य अथवा पापाचरण हो जाय तो उस उसके लिये कुछ दुःख नहीं होगा, उल्टा उसमें वह आनन्द मानेगा। सम्यक्त्वी मनुष्य सत् को सत् और असत् को असत् समझता है, अतः उससे यदि कोई पापाचरण हो जाय तो उसके लिये उसे दुःख होता है। वह कल्याणबुद्धि और श्रेयार्थी आत्मा होने से कल्याण के, आत्मोद्धार के मार्ग पर चलता है, जबकि मिथ्यात्वी को पुण्य–पाप का भेद मान्य न होनेसे ऊपर ऊपरसे ' साहुकार ' जैसा क्यों न बरतता हो, प्रामाणिक क्यों न दीखता हो, फिर भी उसकी मनोदशा मिथ्यादृष्टि से दूषित होती है। और उसकी ऐसी स्थिति जबतक चालू रहे तबतक उसके निस्तार का कोई मार्ग नहीं है।

इस प्रकार जैन-दर्शन ने अध्यात्मदृष्टि को सम्मुख रखकर ही ज्ञान का सम्यग्–असम्यग् रूपसे विभाजन किया है।

जीव की स्वाभाविक और वैभाविक अवस्थाएँ बतलानेके लिये ' भाव ' का निरूपण किया गया है। ' भाव ' अर्थात् अवस्था। भाव पाँच प्रकार के हैं : औपशमिक भाव, क्षायिक भाव, क्षायोपशमिक भाव, औदयिक भाव और पारिणामिक भाव। अब इन्हें देखना शरू करें।

आठ प्रकार के कर्मों का उल्लेख पहले हो चुका है : ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय। इन कर्मों का स्वरूप पुनः यहाँ पर याद कर के आगे चलें।

ज्ञान के बारे में आगे किए गए विवेचन पर से देखा जा सकता है कि मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल इस प्रकार ज्ञान के पॉच भेद होने से उनके आवारक कर्म भी पॉच प्रकार के होंगे। अर्थात् मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यायज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण–इस प्रकार ज्ञानावरण कर्म के पाँच भेद होते हैं। मनुष्यों (प्राणियों) में बुद्धि का जो कमोबेश विकास देखा जाता है वह इस ज्ञानावरण कर्म के कमोबेश क्षयोपशम (शिथिलीभाव) के कारण है। दर्शन के चक्षुर्दर्शन,

अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ऐसे चार भेद होने से उनके आवारक कर्म भी चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण रूपसे चार प्रकार के हैं। निद्रा-पंचक[1] का भी दर्शनावरणीय में समावेश किया गया है। वेदनीय कर्म के सातवेदनीय और असातवेदनीय ऐसे दो भेद बतलाए हैं। मोहनीय कर्म के दो भेद बताए हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। आयुष्य कर्म, नाम कर्म, गोत्र कर्म और अन्तराय कर्म के स्वरूप का उल्लेख पहले किया जा चुका है। दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्यशक्ति में विघ्न उपस्थित करनवाले अन्तराय कर्म के दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ऐसे पाँच भेद किए गए हैं। मनुष्यों में (प्राणियों में) जो कमोबेश कार्यशक्ति देखी जाती है उसका कारण अन्तराय कर्म का न्यूनाधिक क्षयोपशम (शिथिलीभाव) है। दानान्तराय आदि का प्रभाव संसार में देखा जाता है और उनके क्षयोपशम से उपलब्ध दानादि सिद्धियाँ भी देखी जाती हैं।

अब हम आत्मा के उपर्युक्त पाँच भाव देखें—

---

१ निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानर्द्धि इस प्रकार निद्रा पाँच प्रकार की बतलाई है। निद्रा के गाम्भीर्य की तरतमता को लक्ष्य में रखकर ये भेद किये गए हैं।

औपशमिक भाव—

मोहनीय कर्म के उपशम से जो अवस्था प्राप्त होती है उसे औपशमिक भाव कहते हैं। मोहनीय के एक भेद दर्शन-मोहनीय के उपशम से एक प्रकार का जो सम्यक्त्व (सम्यग्-दर्शन) प्राप्त होता है और मोहनीय के दूसरे भेद चारित्र-मोहनीय के उपशम से एक प्रकार का जो चारित्र प्राप्त होता है वे दोनों औपशमिक भाव के कहलाते हैं। उपशम से प्रकट होनेवाले सम्यक्त्व और चारित्र क्रमशः औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र कहलाते हैं। इस प्रकार औपशमिक भाव दो हुए—

१ सम्यक्त्व और २ चारित्र।

क्षायिक भाव—

कर्म के क्षय से होनेवाली अवस्था क्षायिक भाव है। क्षायिक भाव में (केवल) ज्ञानावरण के क्षय से उत्पन्न केवल-ज्ञान, (केवल) दर्शनावरण के क्षय से उत्पन्न केवलदर्शन, मोहनीय कर्म के एक भेद दर्शनमोहनीय के क्षय से सम्पादित सम्यक्त्व और मोहनीय के दूसरे भेद चारित्रमोहनीय के क्षय से सम्पादित चारित्र तथा अन्तराय कर्म के क्षय से सिद्ध पाँच दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्य लब्धियाँ इस प्रकार कुल नौ लिए जाते हैं। इसमें केवल घाती कर्मों के क्षय से साधित क्षायिक भाव लिए हैं, क्योंकि यह निरूपण

सिर्फ भवस्थ-दशा को लक्ष में रखकर ही किया गया है। बाकी क्षय तो सम्पूर्ण कर्मों का होता है।

इस प्रकार क्षायिक भाव नौ हुए—

१ केवलज्ञान, २ केवलदर्शन, ३ सम्यक्त्व, ४ चारित्र और ५–९ दानादि पाँच लब्धियाँ।

क्षायोपशमिक भाव—

घाती कर्मों के 'क्षयोपशम' (एक प्रकार के शिथिलीभाव) से प्राप्त होनेवाली अवस्था क्षायोपशमिक भाव कहलाती है। ज्ञानावरण कर्म के प्रारम्भ के चार भेदों के क्षयोपशम से सम्पादित मतिज्ञान तथा मतिअज्ञान, श्रुतज्ञान तथा श्रुतअज्ञान, अवधिज्ञान तथा विभंगज्ञान और मनःपर्यायज्ञान—इस प्रकार सात भेद, दर्शनावरण के क्षयोपशम से साधित चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन और अवधिदर्शन—ये तीन भेद, मोहनीय कर्म के एक भेद दर्शनमोहनीय के क्षयोपशम से प्राप्त सम्यक्त्व और दूसरे भेद चारित्रमोहनीय के क्षयोपशम से प्राप्त देशविरतिरूप अथवा सर्वविरतिरूप चारित्र – इस प्रकार मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से साधित तीन भेद तथा अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से उपलब्ध दानादि पाँच लब्धियाँ—इस प्रकार कुल मिला कर (७+३+३+५) अठारह भेद क्षायोपशमिक भाव के गिनाए गए हैं।

ऊपर के वक्तव्य से देखा जा सकता है कि सम्यक्त्व और चारित्र तीन प्रकार का है : औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक। क्योंकि मोहनीय के उपशम, क्षयोपशम और क्षय तीनों होते हैं अतः इन तीनों से साध्य सम्यक्त्व और चारित्र भी तीन प्रकार का है। अन्तराय कर्म के क्षयोपशम और क्षय ये दो ही होते हैं, अतः दानादि पांच लब्धियाँ क्षायोपशमिक तथा क्षायिक इन दो ही भावों में आती हैं। ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम तथा क्षय ये दो ही होने से सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन क्षायोपशमिक भाव तथा क्षायिक भाव इन दो ही भावों में आते हैं और असम्यग्ज्ञान (मतिरूप, श्रुतरूप तथा विभंगरूप) केवल क्षायोपशमिक भाव में ही आते हैं।

क्षायोपशमिक भाव के १८ भेद इस प्रकार हैं—

१ मतिज्ञान, २ श्रुतज्ञान, ३ अवधिज्ञान, ४ मनःपर्यायज्ञान, ५ मति-असम्यग्ज्ञान, ६ श्रुत-असम्यग्ज्ञान, ७ विभंगज्ञान, ८ चक्षुर्दर्शन, ९ अचक्षुर्दर्शन, १० अवधिदर्शन, ११ सम्यक्त्व, १२ देशविरति, १३ सर्वविरति और १४–१८ दानादि पाँच लब्धियाँ।

औदयिक भाव—

कर्म के उदय से प्राप्त होनेवाली स्थिति को औदयिक भाव कहते हैं। समग्र संसारी जीवों की कर्मों के उदय से

जो जो स्थिति-अवस्था होती है अथवा जो जो अवस्था वे प्राप्त करते हैं वे सब स्थितियाँ-अवस्थाएँ औदयिक भाव में आती हैं। इस प्रकार जीव का औदयिकभाव अनन्त अवस्थाओं की अपेक्षा से अनन्त प्रकार का हो सकता है, परन्तु यहाँ पर तो प्रमुख भावों का निर्देश कर के इक्कीस औदयिक भाव गिनाए गए हैं और वे हैं—

अज्ञान, असिद्धत्व, असंयम, छह लेश्या (कृष्ण-नील कापोत-पीत पद्म-शुक्ल), चार कषाय (क्रोध मान माया लोभ), चार गति (देव मनुष्य-तिर्यंच नरक गति), तीन वेद (पुरुष, स्त्री और नपुंसक वेद) और मिथ्यात्व।

उपर्युक्त अवस्थाओं में से कौनसी अवस्था किस किस कर्म के उदय से होती है यह भी यहाँ देख लें।

अज्ञान (मिथ्यादर्शन) मिथ्यात्व के उदय से होता है। बुद्धिमान्द्यरूप अज्ञान ज्ञानावरण के उदय से होता है। असिद्धत्व आठों प्रकार के कर्मों के उदय से होता है। असंयम अर्थात् अविरति अप्रत्याख्यानावरण कर्म के उदय से होती है। 'लेश्या' मनोयोग का परिणाम है, मनोयोग मनःपर्याप्ति के कारण है और मनःपर्याप्ति 'नामकर्म' का एक भेद है, अतः 'लेश्या' का सम्बन्ध नामकर्म के साथ है। कषाय चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से होते हैं। गति गतिनाम कर्म के कारण होती है। पुरुषादि वेद वेद

मोहनीय के उदय का परिणाम है। मिथ्यात्व मिथ्यात्व-मोहनीय के उदय का प्रभाव है।

इस तालिका के अतिरिक्त दर्शनावरणजन्य निद्रापंचक, वेदनीयकर्म से उत्पन्न सुख-दुःख, मोहनीयजन्य हास्यादि छह, आयुष्यकर्म के चार आयुष्य, नामकर्म की प्रकृति-परम्परा, गोत्रकर्मोदयजन्य उच्च-नीचगोत्र-ये सब औदयिक भाव में समझने, क्योंकि किसी भी कर्म के उदय का परिणाम औदयिक भाव में आता है।

इन निद्रापंचक आदि भावों का उपर्युक्त इक्कीस में शास्त्रों ने समावेश किया है और अन्य भिन्न-भिन्न तरीकों से भी उनका समावेश किया जा सकता है।

इक्कीस औदयिक भाव ये हैं—

१ अज्ञान, २ असिद्धत्व, ३ असंयम, ४–९ छह लेश्या, १०–१३ चार कषाय, १४–१७ चार गति, १८–२० तीन वेद और २१ मिथ्यात्व।

पारिणामिक भाव—

आत्मरूप जीवत्व तथा आत्मा की विशेष स्थितिरूप भव्यत्व और अभव्यत्व इस प्रकार कुल तीन पारिणामिक भाव कहे गए हैं।

तीन पारिणामिक भाव—

१ जीवत्व, २ भव्यत्व और ३ अभव्यत्व।

इस प्रकार उपर्युक्त उल्लेखानुसार—

औपशमिक भाव के	२	भेद
क्षायिक भाव के	९	भेद
क्षायोपशमिक भाव के	१८	भेद
औदयिक भाव के	२१	भेद
पारिणामिक भाव के	३	भेद

हमने देख लिए। अब ये मुख्य मुख्य भाव कित कितने कहाँ कहाँ प्राप्त होते हैं इसका भी तनिक अवलोकन कर लें।

क्षायिक और पारिणामिक ये दो ही भाव सिद्ध आत्मा में होते हैं-ज्ञानादि क्षायिक भाव और जीवत्व पारिणामिक भाव।

क्षायिक-औदयिक पारिणामिक यह त्रिकसंयोग ही (तीन ही भाव) भवस्थ केवली में होता है। उनमें ज्ञानादि क्षायिक भाव हैं, मनुष्यगति और लेश्या औदयिक भाव हैं तथा पारिणामिक भाव जीवत्व है।

क्षायोपशमिक-औदयिक-पारिणामिक ये तीन भाव केवल छद्मस्थ जीवों में ही होते हैं और वह भी सब छद्मस्थ जीवों में। क्योंकि सब छद्मस्थ प्राणियों में क्षायोपशमिक तथा औदयिक भाव होते ही हैं। भावेन्द्रिय अथवा मति श्रुत

(सत् या असत्) ये क्षायोपशमिक भाव और गति, लेश्या आदि औदयिक भाव समग्र छद्मस्थ जीवों में रहते हैं। यह त्रिकसंयोग ही (तीन ही भाव) जिस प्रकार सब गतियों के समग्र मिथ्यात्वी जीवों में होता है उसी प्रकार सब गतियों के सब क्षायोपशमिक सम्यक्त्वधारक जीवों में भी होता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक चारित्र-उभय के धारक तिर्यंचे और मनुष्यों में भी यह त्रिकसंयोग ही (ये तीन ही भाव) होता है।

इन तीन भावों के अतिरिक्त अन्य भी भाव किसी छद्मस्थ में हो सकते हैं। जैसे कि, औपशमिक सम्यक्त्व-धारक अथवा औपशमिक सम्यक्त्व एवं चारित्र उभय के धारक को प्रस्तुत त्रिकसंयोग के अतिरिक्त औपशमिक भाव भी होता है। जो उपशमश्रेणी बिना के क्षायिक-सम्यक्त्वधारक छद्मस्थ हैं तथा जो क्षायिक सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनों के धारक छद्मस्थ हैं उन्हें प्रस्तुत त्रिक संयोग के अतिरिक्त क्षायिक भाव भी होता है। औपशमिक सम्यक्त्व चारों गतियों के प्राणियों में शक्य है, जबकि औप-शमिक सम्यक्त्व और चारित्र उभय के धारक तो केवल मनुष्य ही होते हैं। इस प्रकार के इन दोनों वर्गों में औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक ये चार ही

---

१ सञ्ज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में 'देशविरति' (पंचम) गुणस्थान तक का और देवों व नारकों में चतुर्थ गुणस्थान तक का ही सम्भव है।

भाव हो सकते हैं। क्षायिक सम्यक्त्व भी चारों गतियों में सम्भव है। अतः देव, नरक और तिर्यंच इन तीन गतियों के क्षायिकसम्यक्त्वधारियों में तथा उपशमश्रेणी बिना के अथवा ग्यारहवें गुणस्थान सिवाय के क्षायिक सम्यक्त्वी छद्मस्थ मनुष्यों में तथा क्षायिक सम्यक्त्व और चारित्र उभय के धारक छद्मस्थों में क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक ये चार ही भाव होते हैं।

औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक औदयिक-पारिणामिक ये पाँच भाव एक जीव में प्राप्त हो सकते हैं। जो जीव क्षायिकसम्यक्त्वी होने के साथ ही साथ उपशमश्रेणीवर्ती (एकादशगुणस्थानवर्ती) होता है उसमें ये पाँच भाव एक साथ होते हैं।

कर्म का यथासम्भव उदय, क्षय, उपशम और क्षयोपशम द्रव्य क्षेत्र-काल भाव और भव के कारण होता है।

इस बारे में प्रथम असातवेदनीय कर्म के उदय का विचार करें। असातवेदनीय कर्म सर्प, विष, कण्टक, खराब अशन–पान आदि द्रव्य के कारण, खराब घर, मकान, स्थान अथवा कारावास जैसे क्षेत्र के कारण, अशान्ति-कारक अथवा रोगिष्ठ ऋतु जैसे काल के कारण, खराब प्रकृति,

---

१ नवें-दसवें गुणस्थान में औपशमिक चारित्र न मानने की दृष्टि से।

२ ग्यारहवें उपशान्तमोह गुणस्थानवाले को ही वस्तुतः औपशमिक चारित्र प्राप्त होता है इस दृष्टि से।

चिन्तार्त स्वभाव, वार्धक्य अथवा रोग जैसे भाव के कारण तथा तिर्यंच अथवा दरिद्र मनुष्य आदि गतिरूप भव के कारण उदय में आता है।

अब इसी कर्म के क्षय का विचार करें। इसका क्षय सद्गुरुचरणादिरूप द्रव्य के कारण, पवित्र तीर्थादिरूप क्षेत्र के कारण, अनुकूल समयरूप काल के कारण, सम्यग् ज्ञान चारित्ररूप भाव के कारण और योग्य मानवजन्म-रूप भव के कारण होता है।

मिथ्यात्वमोहनीय कर्म को लेकर घटाएँ। इस कर्म का उदय अज्ञानी, दुर्मति, दुर्जनरूप द्रव्य के आश्रय से, संस्कारहीन क्षेत्र के आश्रय से, कुवातावरण से दूषित अथवा कुसमयरूप काल के आश्रय से, असदुपदेश अथवा दुःसंग जैसे भाव के आश्रय से और असंस्कारी जन्मरूप भव के आश्रय से होता है।

इस कर्म के क्षय-क्षयोपशम-उपशम उत्तम संयोगरूप द्रव्य के आश्रय से, संस्कारसम्पन्न क्षेत्र के आश्रय से, अनु-कूल समयरूप काल के आश्रय से, सम्यग्ज्ञान-सदाचरणरूप भाव के आश्रय से तथा योग्य जन्मरूप भव के आश्रय से होते हैं।

उदय और क्षय सभी कर्मों का होता है। क्षयोपशम केवल घाती कर्मों का और उपशम केवल मोहनीय कर्म का

ही होता है। (क्योंकि घाती कर्म के क्षयोपशम से (उसकी मात्रा के अनुसार) गुण प्रकट होते हैं। अघाती कर्म किसी गुण को दबाता नहीं, अतः उसका क्षयोपशम नहीं होता।)

आठ प्रकार के कर्मों में से प्रत्येक कर्म के उदय से होने वाले परिणाम के बारे में पहले उल्लेख किया जा चुका है। अब उपशम और क्षयोपशम को देखें।

भस्माच्छादित अग्नि की भाँति कर्म की सर्वथा (निश्चित समय तक) अनुदयावस्था [प्रदेश से भी उदय का अभाव] को उपशम कहते हैं। मोहनीय कर्म के दो भेदों में से दर्शन मोह के उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व और चारित्रमोह के उपशम से औपशमिक चारित्र प्राप्त होता है।

घाती कर्मों में से ज्ञानावरण और दर्शनावरण के क्षयो

---

१ क्षयोपशम शब्द में क्षय और उपशम ये दो शब्द हैं। क्षय अर्थात् उदयप्राप्त कर्मदलिकोंका क्षय तो सब प्रकार के क्षयोपशम में होता ही है परन्तु (क्षयोपशम से सम्बद्ध) उपशम दो प्रकार का होता है। एक तो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषायरूप सर्वघाती* प्रकृतियों के क्षयोपशम के समय का और दूसरा मतिज्ञानावरण आदि देशघाती प्रकृतियों के क्षयोपशम के समय का। उपर्युक्त मिथ्यात्वादि सर्वघाती प्रकृतियों के

---

* अनन्तानुबन्धी चार कषाय सम्यक्त्व का अप्रत्याख्यानावरण चार कषाय देशविरतिका और प्रत्याख्यानावरण चार कषाय सर्वविरतिका सर्वथा घात करते हैं। इसी तरह मिथ्यात्व सम्यक्त्व का सर्वथा घात करता है। अतः ये बारह कषाय और मिथ्यात्व सर्वघाती हैं। चार संज्वलन कषाय चारित्रलब्धि का देशसे (अंशतः) घात करते हैं, अतः वे देशघाती

पशम से सत् या असत् ज्ञान और दर्शन (क्षयोपशम के

क्षयोपशम के समय जो उपशम होता है वह उस कर्म के विपाकोदयके निरोधरूप होता है। अर्थात् सत्तागत इन कर्मों को इतना दुर्बल बना दिया जाता है कि स्वरूपत अर्थात् अपनी असली शक्ति के अनुसार फल न दे सके ऐसा वह उपशम होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि ऐसे क्षयोपशम में उस कर्म का प्रदेशोदय ही होता है, विपाकोदय नहीं। अर्थात् इन सर्वघाती कर्मप्रकृतियों का क्षयोपशम तभी शक्य है जब उसमें प्रदेशोदय ही हो।

परन्तु मतिज्ञानावरण आदि देशघाती कर्मप्रकृतियों का क्षयोपशम ऐसा होता है कि उसमें इन कर्मों के मन्दरसयुक्त अमुक दलिकों का विपाकोदय भी साथ ही होता है, फिर भी विपाकोदयवाले कर्मदलिक अल्परसयुक्त होनेके कारण स्वघात्य गुणों का घात नहीं कर सकते। विपाकोदय–प्राप्त कर्मदलिकों की रसशक्ति जितनी मन्द होती है उसके प्रमाण में मतिज्ञानादि गुणों का आविर्भाव होता है।

जीव में अनादिकाल से रहे हुए मति, श्रुत आदि के आवरणभूत

हैं। केवलज्ञान–दर्शनावरण सर्वघाती हैं, परन्तु उनका क्षय ही होता है, 'क्षयोपशम' नाम का शिथिलीभाव नहीं होता।

केवलज्ञान–दर्शनावरण के सिवाय ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहनीय के सञ्ज्वलन कषाय तथा नोकषाय और पाँच अन्तराय इतने देशघाती कर्म हैं। निद्रा की गिनती सर्वघाती में की गई है।

कर्म की फलप्रद शक्ति को 'रस' कहते हैं। उसकी तीव्रता-मन्दता की तरतमता बहुविध है। स्वघात्य गुण का सर्वथा घात करनेवाली कर्मप्रकृतियाँ सर्वघाती और देशत (अशत.) घात करनेवाली देशघाती कहलाती हैं। सर्वघाती कर्म का रस सर्वघाती ही होता है, जबकि देशघाती कर्मका रस कोई तो सर्वघाती होता है और कोई देशघाती।

फलानुसार) प्रकट होते हैं। इन दोनों कर्मों का क्षयोपशम छोटे जीव जन्तु में भी होता है, क्योंकि उसमें भी अल्प, अल्पतर या अल्पतम ज्ञानमात्रा अवश्य होती है। जीव का स्वरूप चेतना है, अतः कोई भी जीव ज्ञानशून्य हो ही नहीं

कर्मों का क्षयोपशम भी अनादि काल से चलता हुआ चला आ रहा है और उसमें उन देशघाती कर्मों के देशघाती रस का ही उदय हो सकता है, न कि सर्वघाती रस का उदय क्योंकि देशघाती कर्म के विपाकोदय से मिश्रित क्षयोपशम के समय उस कर्म का सर्वघातिरसयुक्त कोई भी दलिक उदयमान नहीं होता। परन्तु चक्षुर्दर्शनावरण अवधिज्ञानावरण जैसे आवरण जब तक सर्वघाती रसके उदयमान होते हैं तब तक उनका क्षयोपशम नहीं हो सकता तथा उनसे आवृत गुण भी प्रकट नहीं हो सकते। परन्तु जब इन आवरणों का सर्वघाती रस देशघाती रस बन जाता है तब इन कर्मों का क्षयोपशम होता है। परन्तु ऊपर कहा उस तरह, देशघाती कर्मों का क्षयोपशम उन कर्मों के देशघातिरसयुक्त दलिकों के विपाकोदय से मिश्रित ही होते हैं, किन्तु विपाकोदयप्राप्त दलिक अल्प रसवाले होने से स्वघात्य गुणों का घात नहीं कर सकते।

क्षयोपशम शब्द में आए हुए उपशम शब्द का जो अर्थ ऊपर देखा उसकी अपेक्षा औपशमिक के उपशम का अर्थ अधिक विशाल है अर्थात् क्षयोपशम के उपशम का अर्थ है विपाकोदयसम्बन्धी योग्यता का अभाव अथवा तीव्र रस का मन्द रस में परिणमन अर्थात् मन्दविपाकोदय। परन्तु औपशमिक के उपशम का अर्थ है प्रदेशोदय और विपाकोदय दोनों का (उदय मात्र का) अभाव, क्योंकि क्षयोपशम में कर्म का क्षय जारी रहता है जो कमसे कम प्रदेशोदय के सिवाय बन ही नहीं सकता। परन्तु उपशम में यह बात नहीं है। जिस समय से कर्म का उपशम होता है उस समय से ही उसका क्षय उतने काल के लिये रुक जाता है।

सकता। सूक्ष्मतम जीव का घनघोर ज्ञानावरण भी अत्यल्प, अतिसूक्ष्म छिद्र में से तो खुला होता है—खुला रहता है।

अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से अर्थात् दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्य इन पांच के प्रतिबन्धक अन्तरायों में से जिस अन्तराय का जितना क्षयोपशम होता है उसके अनुसार उस आवरणसे आवृत दानकारिता, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य प्राप्त होते हैं।

मोहनीय कर्म के दो भेदों में से दर्शनमोह के क्षयोपशम से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और चारित्रमोह के क्षयोपशम से क्षायोपशमिक चारित्र प्राप्त होता है।

सम्यक्त्व की विरोधी मिथ्यात्ववृत्तियाँ कैसी होती हैं उसे शास्त्रकार पाँच भेदों द्वारा स्पष्ट करते हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) आभिग्रहिक मिथ्यात्व अर्थात् तत्त्व की परीक्षा किए बिना किसी एक सिद्धान्त का पक्षपाती बनकर दूसरे सिद्धान्त का खण्डन करना।

सम्यक्त्वी कभी अपरीक्षित सिद्धान्त का पक्षपात नहीं करता। अतएव जो व्यक्ति तत्त्वपरीक्षापूर्वक किसी एक पक्ष को मान्य रख कर इतर पक्ष का खण्डन करता है वह आभिग्रहिक मिथ्यात्वी नहीं कहा जा सकता। जो कुलाचार मात्र से अपने आपको जैन (सम्यक्त्वी) मानकर

तत्त्वपरीक्षा नहीं करता, सदसद्विवेकभाव नहीं रखता, निर्विवेकरूप से 'लकीर का फकीर' जैसा है वह भले ही नाम से 'जैन' कहलाए, परन्तु वस्तुतः वह 'आभिग्रहिक मिथ्यात्वी' है। 'माषतुष' मुनि आदि की तरह स्वयं परीक्षा करने में स्वयं असमर्थ मनुष्य भी यदि गीतार्थ (यथार्थ परीक्षाबुद्धिवाले बहुश्रुत) के आश्रय में रहे तो उसकी गणना इस प्रकार के मिथ्यात्वियों में नहीं होती, क्योंकि गीतार्थ के आश्रय में रहने से मिथ्या पक्षपात का सम्भव नहीं रहता।

(२) अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व का अर्थ है गुण-दोष की परीक्षा किए बिना सब पक्ष समान हैं ऐसा मानना।

यह मिथ्यात्व मन्दबुद्धि और परीक्षा करने में असमर्थ ऐसे साधारण मनुष्यों में पाया जाता है। ऐसे मनुष्य भाव समझे बिना ही ऐसा बोलते हैं।

(३) आभिनिवेशिक मिथ्यात्व अर्थात् अपना पक्ष असत्य है ऐसा जानकर भी उसकी स्थापना करने के लिए दुरभिनिवेश (दुराग्रह) रखना।

जो दुराग्रही न होकर शुद्ध सत्यजिज्ञासु तथा यथार्थ कल्याणकामी है उसकी भी श्रद्धा अपनी बुद्धिमत्ता या विचार कुशलता के अभाव में अथवा मार्गदर्शक या गुरु की भूल चूक के कारण विपरीत हो जाती है, फिर भी वह 'आभि

निवेशिक मिथ्यात्वी' नहीं है, क्योंकि वह उक्त सद्‌गुणों से सम्पन्न होने के कारण उसकी उपर्युक्त कारणों से विपरीत बनी हुई श्रद्धा उसके सम्यक्त्व की अवरोधक नहीं होती' और यथार्थ मार्गदर्शक मिल जाने पर उसकी श्रद्धा यथार्थ बन जाती है।

श्री सिद्धसेन दिवाकर, श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आदि आचार्यों ने अपने अपने पक्ष का समर्थन करके बहुत कुछ कहा है, फिर भी उन्हें आभिनिवेशिक मिथ्यात्वी नहीं कह सकते; क्योंकि उन्होंने अविच्छिन्न प्रावचनिक परम्पराके आधार पर शास्त्र के तात्पर्य को अपने अपने पक्ष के अनुकूल समझकर अपने अपने पक्ष का समर्थन किया है, नहीं कि किसी पक्षपात से। इससे विपरीत 'जमालि' आदि ने शास्त्र के तात्पर्य को अपने पक्ष से प्रतिकूल जानकर भी अपने पक्ष का समर्थन किया है। अतः वे 'आभिनिवेशिक' कहलाए हैं।

---

१. यह बात 'कम्मपयडि' के उपशमनाधिकार की २४ वीं गाथा का 'सद्दहइ असब्भावं अजाणमाणो गुरुनियोगा' यह उत्तरार्ध स्पष्ट रूप से सूचित करता है।

इस पर की टीका में उपाध्याय श्री यशोविजयजी कहते हैं कि—

अभिनिवेशरहित मनुष्य मिथ्यादृष्टि के आश्रय से असद्‌भूत अर्थ में श्रद्धा रखे तो वह उसके स्वाभाविक पारमर्षमार्गश्रद्धान में बाधाकारक नहीं होता अर्थात् उसके सम्यक्त्व को बाधा नहीं आती। परन्तु अभिनिवेशी मनुष्य, स्वपक्ष में हो या परपक्ष में, मिथ्यात्ववाला है।

(४) सांशयिक मिथ्यात्व का अर्थ है देव आदि कल्याणभूत तत्त्वों में सन्देहशील बनना।

सूक्ष्म विषयों में उच्चकोटि के साधुओं को भी संशय होता है, परन्तु वह मिथ्यात्वरूप नहीं है; क्योंकि अन्त में तो महान् ज्ञानी सत्पुरुष ही प्रमाणरूप होने से ऐसे सूक्ष्म विषयों के प्रश्न उन पर डाल देने से आध्यात्मिक शान्ति में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती।

(५) अनाभोग मिथ्यात्व का अर्थ है विचार एवं विशेष ज्ञान का अभाव अर्थात् मोह की प्रगाढ़तम अवस्था। यह मिथ्यात्व एकेन्द्रियादि क्षुद्रतम जन्तुओं में तथा विमूढ़ जीवों में होता है।

इस प्रकार का मिथ्यात्व दूर होने पर प्राप्त होनेवाला सम्यक्त्व औपशमिक, क्षायोपशमिक अथवा क्षायिक होता है और इनका स्वरूप हम पहले देख चुके हैं। इन तीनों में औपशमिक सम्यक्त्व अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण ही होता है। भव्यात्मा को मुक्ति की प्राप्ति तक अधिक से अधिक पाँच बार उपशम-सम्यक्त्व प्राप्त हो सकता है। सबसे पहले अनादि मिथ्यादृष्टि को अनन्तानुबन्धी चार कषाय और मिथ्यात्व के उपशमन से यह प्राप्त होता है। इसके बाद उपशमश्रेणी मध्यान्त तक अधिक से अधिक चार बार प्राप्त होने से उस समय चार बार उपशम-सम्यक्त्व प्राप्त होता है। [यह

उपशमश्रेणी अर्थात् अनन्तानुबन्धी चार कषाय और त्रिविध दर्शनमोहनीय—इन सात के उपशमन की क्रिया।]

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व जीव को असंख्य बार प्राप्त हो सकता है। इसकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति किंचित्-अधिक ६६ सागरोपम काल की है।

क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद फिर नष्ट नहीं होता। संसारवास की अपेक्षा से इसकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति किंचित्-अधिक ३३ सागरोपम काल की है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में सत्य की उपलब्धि होती है, सत्य पर अथवा मौलिक कल्याणभूत तत्त्वों पर दृढ़ श्रद्धा होती है, परन्तु साथ ही नाममोह जैसा थोड़ा कतवार भी रहता है। जैसे कि 'अन्य के बनाए हुए देवालयों के देवों की अपेक्षा अपने बनाए हुए देवालय के देव पर उसे अधिक पक्षपात होता है,' 'देवों में से—देवाधिदेवों में से एक की अपेक्षा दूसरे पर अधिक पक्षपात होता

१ स्वकारितेऽर्हच्चैत्यादौ देवोऽयं मेऽन्यकारिते।
अन्यस्यायमिति भ्राम्यन् मोहाच्छ्राद्धोऽपि चेष्टते॥
—गोम्मटसार, जीवकाण्ड-टीका।

२ समेऽप्यनन्तशक्तित्वे सर्वेषामर्हतामयम्।
देवोऽस्मै प्रभुरेषोऽस्मा इत्यास्था सुदृशामपि॥
—गोम्मटसार, जीवकाण्ड-टीका।

है। ' धर्म के नाम साधन अथवा प्रणालिका पर, धर्म के नाम पर, उसे मोह ममता होती है। इतना ही नहीं, इसके लिये वह काषायिक आवेश में भी आ जाता है। नाम मोह, शास्त्रमोह—प्राचीनतामोह, गुरुमोह, गच्छादिमोह आदि मोह के कलापार के सम्बन्ध से सम्यक्त्वसुलभ समभाव में थोड़ीसी खराबी आ जाने से यह सम्यक्त्व तनिक अशुद्ध बन जाता है। इस प्रकार का सम्यक्त्वी सूक्ष्म विषय में सन्दिग्ध अथवा शंकाशील होने पर कभी कभी विकल्पाकुल भी बन जाता है। औपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व में इस प्रकार की अशुद्धि नहीं होती। औपशमिक सम्यक्त्व थोड़े ही समय के लिये और क्षायिक सर्वदा के लिये होता है। शुद्ध आत्मपरिणामरूप इन दो सम्यक्त्वों के बीच कालमर्यादा का बड़ा अन्तर है। अलबत्ता, उपशम एवं क्षय के प्रभाव में भिन्नता होने से इन दोनों सम्यक्त्वों के बीच तत्त्वदर्शन के प्रकाश में उतना फर्क होगा ही।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में विद्यमान आत्मा मिथ्यात्व-मोहनीय और मिश्रमोहनीय इन दो पुञ्जों का क्षय कर के जब सम्यक्त्वमोहनीयरूप शुद्ध पुञ्ज के अन्तिम पुद्गलों को वेदता है तब यह अवस्था क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की अन्तिम-समाप्त होने की अवस्था है। इस अवस्था को ' वेदक ' ऐसा नाम भी दिया गया है। यह अन्तिम-पुद्गल वेदन समाप्त होने पर पुञ्जत्रय का पूरा नाश होने से ' क्षायिक ' सम्यक्त्व

प्रकट होता है। 'क्षायिक' सम्यक्त्व के प्रकटीकरण को उस प्रकार की क्षपकश्रेणी कहते हैं। इसी प्रकार समग्र दर्शनमोह-सप्तक का उपशमन, जिससे औपशमिक सम्यक्त्व प्रकट होता है, उसे उस प्रकार की उपशमश्रेणी कहते हैं। चारित्रमोहनीय की उपशमनक्रिया की धारारूप उपशमश्रेणी अथवा चारित्रमोहनीय की क्षपणक्रिया की धारारूप क्षपकश्रेणी के लिये पूरी तैयारी आठवें गुणस्थान में कर के नवें गुणस्थान में आत्मा उस मोह की उपशमन-क्रिया अथवा क्षपण-क्रिया करना शुरू करता है। इसमें चारित्रमोहरूप क्रोधादि कषाय और उनके सहचारी तथा उनके पोषक हास्यादि नो कषायों के उपशमन अथवा क्षपण का प्रारम्भ होता है। नवें और दसवें गुणस्थानों में उपशमक उपशमन का और क्षपक क्षपण का कार्य करता है। यह कार्य जब पूर्ण होने की अवस्था पर पहुँचता है तब दसवें गुणस्थान से आगे इन दोनों साधकों के मार्ग जुदे हो जाते हैं। उपशमक जिस ओर जाता है, जहाँ पहुँचता है वह 'उपशान्त' गुणस्थानक (११ वाँ), और क्षपक जिस ओर जाता है, जहाँ पहुँचता है वह 'क्षीणमोह' गुणस्थानक (१२ वाँ)। 'क्षीणमोह' आत्मा पूर्ण कृतार्थ होकर पूर्ण आत्मा बनता है, परन्तु 'उपशान्तमोह' आत्मा का मोह उपशान्त ही होने से अर्थात् क्षीण न होने से पुनः अत्यन्त अल्प समय में उदय में आता है जिससे वह आत्मा जैसा चढ़ा था वैसा नीचे गिरता है।

नीचे गिरता हुआ कोई आत्मा योग्य भूमि पर अपने को सम्भाल ले और अदम्य आत्मवीर्य प्रकट कर के यदि वह पूर्ण उत्क्रान्तिरूप क्षपकश्रेणि का मार्ग ग्रहण करे तो वह तुरन्त ही केवली बन सकता है। अन्यथा यदि उसकी प्रमाद-वृत्ति बढ़ती जाय तो वह सम्यक्त्व का भी वमन कर के पहली मिथ्यात्व की भूमि पर आ गिरता है।

आठ कर्मों में से चार 'घाती' कर्मों का झुण्ड साथ ही नष्ट होता है और अवशिष्ट चार कर्म भी (मृत्यु के समय) साथ ही नष्ट होते हैं। आठों कर्मों के क्षय का फल इस प्रकार है–

ज्ञानावरण के क्षय का फल अनन्त ज्ञान, दर्शनावरण के क्षय का फल अनन्त दर्शन, वेदनीय के क्षय का फल अनन्त सुख, मोहनीय के दो भेदों में से दर्शनमोह के क्षय का फल परिपूर्ण सम्यक्त्व तथा चारित्रमोह के क्षय का फल परिपूर्ण चारित्र, आयुष्य कर्म के क्षय का फल अक्षय स्थिति, नाम तथा गोत्र इन दोनों कर्मों के क्षय का संयुक्त फल अमूर्त अनन्त आत्माओं की एकत्र अवगाहना और अन्तराय के क्षय का फल अनन्तवीर्य–इस प्रकार आठों कर्मों के क्षय से उत्पन्न होनेवाले फल की श्रुति है।

इस सम्पूर्ण विवेचन का सारांश यह है कि सच्ची समझ और सच्चा आचरण इन दोनों पर ही कल्याणसिद्धि का दारोमदार है। इन दो भूमिकाओं में पहली को सम्यक्त्व

अथवा सम्यग्दृष्टि और दूसरी को चारित्र (सम्यक् चारित्र) कहते हैं। इनमें पहली भूमिका मोहनीय कर्म के जिस विभाग का विदारण करने से प्रकट होती है वह 'दर्शन-मोह' है और मोहनीय कर्म के जिस विभाग को ध्वस्त करने से दूसरी भूमिका प्रकट होती है वह है 'चारित्रमोह'। इस प्रकार जीवन के मूलभूत उच्च तत्त्व—सच्ची (कल्याणभूत) समझ और सच्चा आचरण मोहनीय कर्म के पराभव पर अवलम्बित हैं। अर्थात् मोहनीय कर्म का दृष्टि (दर्शन) का आवारक जो पहला 'दर्शनमोह' नाम का विभाग है वह जितने प्रमाण में हटता है उतने प्रमाण में दृष्टि खुलती है और जब यह विभाग पूर्णरूप से टूट जाता है तब दृष्टि भी पूर्णरूप से प्रकट होती है। दृष्टि के खुलने अथवा प्रकट होने के बाद भी चारित्र के अवरोधों को हटाने का अतिकठिन और प्रखरप्रयत्नसाध्य कार्य अव-शिष्ट रहता है। परन्तु दृष्टि के खुल जाने पर यह कार्य जल्दी या देर से अवश्य सिद्ध होता है। मोहनीय कर्म का चारित्ररोधक दूसरा 'चारित्रमोह' नाम का विभाग जितने प्रमाण में हटता है उतने प्रमाण में चारित्र प्रकट होता है और जब यह विभाग पूर्णरूप से हट जाता है तब पूर्ण चारित्र प्रकट होता है। इस प्रकार दर्शनमोह का पर्दा विशीर्ण होने के पश्चात् चारित्रमोह का विनाश होते सम्पूर्ण मोहनीय कर्म समाप्त हो जाता है और उसकी समाप्ति

होते ही तुरन्त ही उसके सहयोगी दूसरे सभी 'घाती' (आत्मगुण का घात करनेवाले) कर्म नष्ट हो जाते हैं और आत्मा मुक्त बनता है – शारीरिक जीवन जब तक विद्यमान हो तब तक जीवनमुक्त और बाद में विदेहमुक्त।

संक्षेप में आत्मा–सम्बन्धी जब वास्तविक समझ प्रकट होती है तब 'दर्शनमोह' का आवरण दूर होता है जिससे 'सम्यक्त्व' अर्थात् सम्यग्दृष्टि प्राप्त होती है। सम्यग्दृष्टि प्राप्त होने पर ज्ञान सम्यग्ज्ञान बन जाता है, और आगे बढ़ कर जब आवरण में से असंयम, मोह और कषाय का नाश होता है तब यह चारित्रमोह का नाश होने से उसका फलरूप सम्यक्चारित्र प्रकट होता है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञान और तदनुरूप सम्यक्चारित्र इन तीनों से मुक्ति प्राप्त होती है।

(१९)

लेश्या

जैनशास्त्रों में निरूपित 'लेश्या' के विषय को देखें।

बन्ध मोक्ष का आधार मुख्यतया मन के भाव ऊपर रहता है, अतः अमुक क्रिया प्रवृत्ति के बारे में मन के भाव–मन के अध्यवसाय कैसे रहते हैं इस ओर लक्ष देने की आवश्यकता है।

मन के अध्यवसाय एक जैसे नहीं होते, नहीं रहते। वे बदलते रहते हैं। कभी काले—कलुषित होते है, कभी भूरे से होते हैं, कभी मिश्र, कभी अच्छे, कभी अधिक अच्छे और कभी उच्च श्रेणी के-उज्ज्वल होते हैं। यह हमारे अनुभव की बात है। मन के इन परिणामों अथवा भावों को 'लेश्या' कहते हैं। स्फटिक के समीप जिस रंग की वस्तु रखी जाय उसी रंग से युक्त स्फटिक देखा जाता है, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के संयोग से मन के परिणाम (अध्यवसाय) बदला करते हैं। मनुष्य को जब क्रोध आता है तब उसके मनोगत क्रोध का प्रभाव उसके चेहरे पर कैसा दीखता है? उस समय उसका चेहरा क्रोध से लाल और विकृत बन जाता है। क्रोध के अणुसंघात का मानसिक आन्दोलन जो उसके चेहरे पर घूम जाता है उसी की यह अभिव्यक्ति है। भिन्न-भिन्न अणुसंघात के योग से मन पर भिन्न-भिन्न प्रभाव अथवा मन के भिन्न-भिन्न परिणाम होते हैं। इसी का नाम लेश्या है। ऐसे अणुसंघात अथवा पुद्गल-द्रव्यों का वर्गीकरण छह प्रकार का किया गया है; जैसे कि कृष्ण वर्ण के, नील वर्ण के, कापोत (बैंगन के फूल जैसे) वर्ण के, पीत वर्ण के (उगते हुए सूर्य के वर्ण के), पद्म वर्ण के (स्वर्ण-जैसे वर्ण के) तथा शुक्ल वर्ण के द्रव्य। ऐसे द्रव्यों में से जिस प्रकार के द्रव्य का सान्निध्य प्राप्त होता है उसी द्रव्य

के अनुरूप रंगवाला मन का अध्यवसाय भी हो जाता है। इसी का नाम लेश्या। कहा है कि—

कृष्णादिद्रव्यसान्निध्यात् परिणामो य आत्मनः।
स्फटिकस्येव तत्राय 'लेश्या' शब्दः प्रवर्तते॥

अर्थात्—कृष्ण आदि वर्ण के द्रव्यों के सान्निध्य से जैसे स्फटिक में वैसे आत्मा में जो परिणाम पैदा होता है उसे 'लेश्या' कहते हैं।

कृष्ण, नील, कापोत वर्ण के द्रव्य अशुभ हैं तथा तेज, पद्म और शुक्ल वर्ण के द्रव्य शुभ हैं। अशुभों में भी अशुभतम, अशुभतर और अशुभ तथा शुभों में शुभ, शुभतर और शुभतम इस प्रकार अनुक्रम से तारतम्य है। शुभ द्रव्यों के सान्निध्य से पैदा होनेवाले मन के शुभ अध्यवसाय को शुभ लेश्या और अशुभ द्रव्यों के सान्निध्य से पैदा होनेवाले मन के अशुभ अध्यवसाय को अशुभ लेश्या कहते हैं। कृष्णवर्ण के पुद्गलों के सान्निध्य में मन का अथवा आत्मा का जो काला—अशुद्धतम परिणाम (अध्यवसाय) उत्पन्न होता है वह कृष्ण-लेश्या। नीलवर्ण के पुद्गलों के सान्निध्य से उत्पन्न होनेवाला मन का नीलवर्ण-जैसा अशुद्धतर परिणाम वह नीललेश्या। कापोत (बैंगन के फूल जैसे) वर्ण के पुद्गलों के सान्निध्य से मन का कापोतरंग-जैसा अशुद्ध परिणाम वह कापोतलेश्या। तेजोवर्ण के (उगते हुए सूर्य जैसे वर्ण के) पुद्गलों के सान्निध्य में

मन का उस वर्ण जैसा जो शुद्ध परिणाम वह तेजोलेश्या। पद्म वर्ण के (कनेर अथवा चम्पा के फूल जैसे रंग के) पुद्गलों के सान्निध्य में मन का पद्मवर्ण-जैसा जो शुद्धतर परिणाम वह पद्मलेश्या। शुक्लवर्ण के पुद्गलों के सान्निध्य में मन का जो शुक्लरूप शुद्धतम परिणाम वह शुक्ललेश्या[1]।

---

१. आधुनिक वैज्ञानिक खोज में भी यह ज्ञात हुआ है कि मन पर विचारों के जो आन्दोलन होते हैं वे भी रंगयुक्त होते हैं।

उपर्युक्त, जीवों के आन्तरिक भावों की मलिनता तथा पवित्रता के तरतमभाव का सूचक छह लेश्याओं का विचार जैनशास्त्रों में है, और आजीवकमत के नेता मखलिपुत्त गोशालक के मत में कर्मों की शुद्धि-अशुद्धि को लेकर कृष्ण, नील आदि छह वर्णों के आधार पर कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र, शुक्ल, परमशुक्ल ऐसी मनुष्यों की छह अभिजातियाँ बतलाई गई हैं। [बौद्धग्रन्थ अगुत्तरनिकाय]

[इस गोशालक ने श्री महावीर प्रभु की छद्मस्थ अवस्था में उनके शिष्य के रूप में उनका सहचार लगभग छह वर्ष तक रखा था।]

महाभारत के बारहवें शान्तिपर्व के २८६ वें अध्याय में—

षड् जीववर्णाः परमं प्रमाणं कृष्णो धूम्रो नीलमथास्य मध्यम्।
रक्तं पुनः सह्यतरं सुखं तु हारिद्रवर्णं सुसुखं च शुक्लम् ॥ ६॥
परं तु शुक्लं विमलं विशोकं × × × ।

इन वचनों से छह 'जीववर्ण' बतलाए हैं : कृष्ण, नील, रक्त, हारिद्र, शुक्ल और परमशुक्ल।

महाभारत में जिन छह जीववर्णों का उल्लेख है वे ही छह वर्ण गोशालकमत में बतलाए गए हैं।

पातञ्जल योगदर्शन के चौथे पाद के

'कर्म अशुक्लाकृष्णं योगिनः, त्रिविधमितरेषाम्।'

ये द्रव्य (लेश्या द्रव्य) मन-वचन शरीररूप योगों के अन्तर्गत द्रव्य हैं। जिस तरह शरीरगत पित्त क्रोधोद्दीपक होता है और मद्य आदि पदार्थ ज्ञानावरण के उदय में तथा ब्राह्मी आदि पदार्थ उसके क्षयोपशम में हेतुभूत होते हैं—इस तरह योगान्तर्गत और बाह्य द्रव्य भी जैसे कर्म के उदयादि में हेतुभूत होते हैं वैसे योगान्तर्गत लेश्या-द्रव्य जब तक कषाय होते हैं तब तक उनके सहायक और पोषक बनते हैं। इस प्रकार लेश्या कषायोद्दीपक होने पर भी कषायरूप नहीं हैं, क्योंकि अकषायी केवलज्ञानी को भी लेश्या—अत्युत्तम शुक्ललेश्या होती है। लेश्या मन-वचन-शरीर के योग के परिणामस्वरूप होने से जब तक ये योग रहते हैं तब तक विद्यमान रहती है। इसीलिये सयोग केवली को भी यह होती है। और योग का

इस सातवें सूत्र में कृष्ण शुक्लकृष्ण शुक्ल और अशुक्लाकृष्ण इस प्रकार कर्म के चार विभाग कर के जीवों के भावों की शुद्धि-अशुद्धि का पृथक्करण किया है।

१ सदेह केवलज्ञानी को लेश्या होती है। लेश्या होने से ही मन-वचन-काय की प्रवृत्तियाँ हैं, धर्मप्रभावक और लोककल्याणकारक धर्म प्रचार है, शुभ और तेजस्वी प्रवृत्तिमय उनका जीवन है। इस पर से जनसमूह के बीच विहरमान केवली भगवान् की जीवनचर्या का ख्याल आ सकता है। सद्गुणी की ओर उनमें प्रमोदभाव होता है, करुणा उत्पन्न होती है और दौर्जन्यपूर्ण व्यवहार करनेवाले शठ की ओर औदासीन्य-भाव होता है। दूसरों को समझाने के लिये वे उनके साथ वार्तालाप करते हैं, लोगों का वहम-भ्रम दूर करने के लिये उन्हें समाधान का

सम्पूर्ण निरोध होने पर अर्थात् 'अयोगी' अवस्था में [निर्वाण के समय] ही उसका अस्तित्व दूर होता है।

शास्त्राधार के अनुसार (मन-वचन-काय के) योग प्रकृतिबन्ध तथा प्रदेशबन्ध का कारण है और कषाय स्थिति-बन्ध तथा अनुभावबन्ध का कारण है। लेश्या यद्यपि योग-

---

मार्ग दिखलाते हैं, किसी को आशीर्वाद कहलाते हैं, तो किसी को आश्वासन और प्रोत्साहन प्रदान करते हैं। लोकहितके लिये लोकहित के विरोधी अथवा भिन्नदृष्टिवालों के साथ उन्हें चर्चा भी करनी पडती है। इस प्रकार ऊपर ऊपर से वे लौकिक पुरुष जैसे ही लगते हैं। इसीलिये अपरिचित मुमुक्षु साधु-सन्त तथा गौरवार्ह स्थविर श्रमण भी उन्हें केवली-रूप से नहीं जान सकते, क्योंकि केवलित्व अथवा जिनत्वसूचक कोई विशिष्ट बाह्य चिह्न उन्हें नहीं होता अथवा अर्हत्-जिन होने पर प्रकट नहीं होता। जब उनके पास से विशिष्ट ज्ञानसम्पत्ति का परिचय होता है तब ज्ञान-दृष्टिवाले सन्त उन्हें अर्हत् अथवा जिनरूप से पहचानने लगते हैं। सामान्य जनता में तो 'नगर में दो जिन-सर्वज्ञ आये हैं' इस प्रकार की बातें फैल सकती हैं-जिस प्रकार श्रावस्ती नगरी में भगवान् महावीरदेव तथा अपने आपको जिन तीर्थंकर कहलानेवाले आजीवकमतप्रस्थापक धर्माचार्य मंखलि-पुत्त गोशालक दोनो का निवास था उस समय वहाँ की जनता में फैली थी। भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के स्थविर श्रमण भगवान् महावीर के पास आते हैं, परन्तु उन्हें वन्दन किए विना ही थोडी दूर पर खडे रहकर प्रश्न पूछते हैं और जब उन स्थविरों को अपने प्रश्नों के उत्तर सन्तोषप्रद मिल जाते हैं तब वे भगवान् महावीर को सर्वज्ञरूप से पहचानने लगते हैं और इस तरह पहचान होने के पश्चात् भक्तिपूर्ण हो कर उन्हें विधिपूर्वक वन्दन करते हैं। इस बात का उल्लेख श्री भगवतीसूत्र के

परिणामरूप है फिर भी कषाय के साथ ऐसी ओतप्रोत हो जाती है कि वह भी अनुभागबन्ध के कारणरूप से गिनने में आती है। इतना ही नहीं, उपचार से तो यह कषायरूप भी समझी जाती है।

लेश्या अर्थात् मानसिक अध्यवसाय को समझने के लिये शास्त्र में उल्लिखित एक दृष्टान्त इस प्रकार है—

छह मित्र जामुन खाने के लिये जामुन के पेड़ के पास गए। उनमें से एक ने कहा, "अरे यार! मूल के साथ ही पेड़ को काट कर नीचे गिरा दो। बाद में आराम से जामुन खाने का मजा आयगा।" [यह अध्यवसाय कृष्णलेश्या है।] दूसरे ने कहा, "नहीं भाई, पेड़ को क्यों काटना! बड़ी बड़ी शाखाओं को ही काट डालो।" [यह अध्यवसाय नीललेश्या है।] तीसरा बोला, "बड़ी

पाँचवें शतक के नवें उद्देश में है*। इसी प्रकार इस सूत्र के नवें शतक के बत्तीसवें उद्देश में भगवान् पार्श्वनाथसन्तानीय गांगेय नामक स्थविर श्रमण की बात आती है।

---

* तेणं कालेणं तेणं समएणं पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छन्ति समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते ठिच्चा एवं वयासी × × ×। तप्पभिइं ते पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो समणं भगवं महावीरं पच्चभिजाणंति- सव्वण्णू सव्वदरिसी × × × पंचति

शाखाएँ क्यों काटना? जामुन तो इन छोटी छोटी टहनियों पर हैं। इसलिये वे ही तोड़ो।" [यह अध्यवसाय कापोत-लेश्या है।] चौथे ने कहा, "तुम्हारा यह तरीक़ा ग़लत है। सिर्फ़ फल के गुच्छों को ही तोड़ लो जिससे हमारा काम हो जायगा।" [यह अध्यवसाय तेजोलेश्या है।] पाँचवें ने कहा, "तुम ठीक नहीं कहते। यदि हमें जामुन ही खाने हैं तो पेड़ पर से जामुन तोड़ लो।" [यह अध्यवसाय पद्मलेश्या है।] इस पर छठा मित्र बोला, "भाइओ, यह सब झंझट छोड़ो। यहाँ नीचे ज़मीन पर पके हुए जामुन पड़े हैं। इन्हीं को उड़ाओ।" [यह अध्यवसाय शुक्ललेश्या है।]

कार्य तो एक ही है जामुन खाने का, परन्तु उसकी रीति–नीतिविषयक भावनाओं में जो भिन्नता है, अथवा जो भिन्न-भिन्न अध्यवसाय हैं वे ही भिन्न-भिन्न लेश्याएँ हैं।

द्रव्य-लेश्या और भाव-लेश्या इस प्रकार लेश्या के दो भेद हैं। द्रव्य-लेश्या, ऊपर कहा उस तरह, पुद्गलविशेषरूप है। भाव-लेश्या संक्लेश और योग का अनुसरण करनेवाला आत्मा का परिणामविशेष है। संक्लेश के तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम अथवा मन्द, मन्दतर, मन्दतम आदि अनेक भेद होने से वस्तुतः भावलेश्या असंख्य प्रकार की है, फिर भी संक्षेप में उसके उपर्युक्त छह विभाग शास्त्र में बतलाए हैं।

पहली तीन लेश्याओं में अविवेक और अन्तिम तीन लेश्याओं में विवेक रहा हुआ है। प्रथम लेश्या में अविवेक और अन्तिम लेश्या में विवेक पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ होता है। पहली तीन लेश्याओं में अविवेक की मात्रा उत्तरोत्तर घटती जाती है, जब कि अन्तिम तीन लेश्याओं में विवेक की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। पहली तीन लेश्याओं में निषिद्ध पापरूप बन्धन क्रमशः कम होता जाता है, जब कि अन्तिम तीन लेश्याओं में पुण्यरूप कर्मबन्ध की अभिवृद्धि होती जाती है तथा पुण्यरूप निर्जरा का तत्त्व उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है।

(१७)

कार्यकारणसम्बन्ध

किसी भी कार्य की उत्पत्ति के साथ कारण के सम्बन्ध को कार्यकारणसम्बन्ध कहते हैं। इसे समझने के लिये घड़े का उदाहरण लें।

न्यायशास्त्र का नियम है कि ' जानाति, इच्छति, यतते ' अर्थात् मनुष्य पहले जानता है, पीछे इच्छा करता है और उसके बाद उसके लिए प्रयत्न करता है। इस प्रकार घड़ा बनाने की जानकारी रखनेवाले कुंभार में घड़ा बनाने की इच्छा उत्पन्न होती है और इच्छा के बाद प्रवृत्ति होती है। घड़ा बनाने के लिये तैयार हुए कुंभार की कल्पना में

घड़े की अपनी पसन्दगी की आकृति अंकित होनी चाहिए, उसे जो कार्य उत्पन्न करनेका है उसकी उत्पत्ति की प्रक्रिया भी उसे ज्ञात होनी चाहिए और उस कार्य का समुचित ख्याल भी उसे रहना चाहिए। अन्यथा एक के बदले दूसरा ही हो जाय–घड़े के बदले पुरवा बन जाय।

इस घटोत्पत्ति के कार्य में कर्ता कुंभार है; क्योंकि वह स्वाधीनतापूर्वक (Voluntarily) कारणों का अवलम्बन लेकर अपनी ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों तथा मनोयोग द्वारा [इन इन्द्रियों तथा मनरूप स्वयंप्राप्त करणों की सहायता से] क्रिया कर के कार्य उत्पन्न करता है।

कार्य के उत्पादन में कुँभार को कारणों की (बाह्य साधनों की) अपेक्षा रहती है; क्योंकि "कारण के बिना कार्य नहीं होता।" जब हम किसी कार्य को देखते हैं तब वह किस प्रकार बनने पाया इसकी खोज करने की तथा उसे समझने की आकांक्षा होती है; और जब हमारे मर्यादित अनुभव के अनुसार हमें उस कार्य के कारण की खबर नहीं पड़ती तब उसे चमत्कार कह कर हम सन्तोष मान लेते हैं अथवा कोई अदृष्ट कारण बताकर मन मना लेने का प्रयत्न करते हैं; किन्तु वह अदृष्ट क्या है और वह किस प्रकार कार्य करता है उसका तो हमें कुछ भी ख्याल नहीं होता और उसके बारे में गहरी जाँच-पड़ताल करने के लिये असमर्थ

होने से हम चुप्पी साध लेते हैं। यहाँ पर हमें यह कहना पड़ेगा कि आधुनिक विज्ञान ने चमत्काररूप मानी जानेवाली अनेक घटनाओं तथा कार्यों के कारणों की खोज कर के युक्तियुक्त रूप से उन्हें समझाने में सफलता प्राप्त की है। और जैसे जैसे विज्ञान आगे बढ़ेगा वैसे वैसे अभी तक चमत्कार रूप मानी जानेवाली अनेक घटनाओं का विशेष खुलासा मिलता जायगा। परन्तु जब मनुष्य को किसी घटना के कारणों की खोज में कुछ सन्तोषप्रद खुलासा नहीं मिलता तब उसे चमत्कार मानकर वह किसी साधुपुरुष की तथाकथित सिद्धि के साथ अथवा किसी मूर्ति आदि की प्रभुता के साथ सम्बन्ध स्थापित कर देने को ललचाता है। इसमें बहुत अंशों में भ्रम का ही प्राधान्य होता है, और ऐसे अनेकविध वहम लोगों में प्रचलित हैं—इसका स्वीकार किए बिना दूसरा चारा ही नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि विज्ञान की भौतिक दिशा के साथ साथ यदि आध्यात्मिक दिशा की ओर भी विशेष संशोधन हो तो बहुतसा सन्तोषप्रद खुलासा हो सकेगा। परन्तु हमें यह समझ लेना चाहिए कि वहम अथवा विभ्रम का वातावरण जब तक बना रहेगा तब तक आगे प्रगति होनी कठिन है। किसी घटना का कारण हमारी बुद्धि से अगम्य हो तो ऐसा मान कर बैठे रहना उत्तम है, परन्तु उस घटना का सम्बन्ध चाहे-किसी के साथ केवल कल्पना द्वारा जोड़ देना

अनुचित है, क्योंकि इसी में से वहमों की परम्परा का उदय होता है।

कुँभार जानता है कि घड़ा मिट्टी की खदान में से लाई हुई चिकनी मिट्टी का बनता है, इसलिये वैसी मिट्टी लाकर, उसे साफ कर उसमें पानी डालकर और बराबर गूँध कर मुलायम पिण्ड बनाता है। वह मिट्टी का पिण्ड ही क्रिया के अन्त में घड़ा बनता है। इसीलिये मिट्टी को घडे का उपादानकारण कहा जाता है। घड़े के लिये मिट्टी को जिस तरह उपादानकारण कहते हैं उसी तरह 'परिणामी कारण' के नाम से भी उसका व्यवहार होता है, क्योंकि स्वयं मिट्टी ही घटरूप से परिणत होती हैं। अवग्रह ईहारूप से, ईहा अवायरूप से, अवाय धारणारूप से और धारणा [संस्कार] स्मृतिरूप से परिणत होते हैं, इसलिये पूर्व-पूर्व उत्तर-उत्तर का परिणामी कारण है।

अब, कुँभार को घड़ा बनाने की क्रिया में साधन भी चाहिए। इसलिये वह चक्र, दण्ड आदि भी इकट्ठे करता है। क्योंकि वह जानता है कि दण्ड से चक्र को घुमा कर उसकी सहायता से यदि क्रिया की जाय तो कार्य बहुत सरलता से सम्पन्न होगा। अतः वह उनका उपयोग करता है। इस प्रकार कार्य की साधना में उपयोगी होनेवाले बाह्य साधन निमित्तकारण कहलाते हैं—जैसे कि दण्ड आदि।

जो जिसमें पूरेपूरा उतर जाए वह उसका उपादान कारण है। मिट्टी घड़े में उतर आती है (घड़े के रूप में परिणत होती है), अतः मिट्टी घड़े का उपादानकारण है। तन्तु पट में समग्रभाव से आ जाते हैं (पटरूप से परिणत होते हैं), अतः तन्तु पट का उपादानकारण हैं। सोना कटक, कुण्डल आदि में उतरता है (कटकादि रूप से परिणत होता है), अतः सोना कटकादि का उपादानकारण है। और इस प्रकार उपादान को कार्य में परिणत करने में जो व्यापक रूप से आवश्यक साधन (उपकरण) होते हैं उन्हें 'निमित्तकारण' कहते हैं। ये निमित्तकारण कार्य की साधना में सीधे सक्रिय सयोग से सम्बद्ध होते हैं। इस प्रकार की निमित्तकारण की विशेषता है। घट के लिये दण्डादि निमित्तकारण ऐसे ही हैं।

इस तरह घड़े की निष्पत्ति में कुम्हार कर्ता है, मिट्टी उपादानकारण है और दण्ड आदि निमित्तकारण हैं। किसी भी कार्य की निष्पत्ति में ये तीन (त्रिपुटी) मुख्य और प्रधानरूप से आवश्यक हैं।

कार्य-साधन की क्रिया के समय साधनों के साथ बैठने-उठने के लिये अनुकूल खुले आकाश (अवकाश) वाली जमीन अपेक्षित होने से वे (जमीन, आकाश) अपेक्षा कारण हैं। आकाश को कहीं लेने जाना पड़ता है ? नहीं।

वह सर्वत्र विद्यमान है। वह न हो तो कोई कार्य ही नहीं हो सकता, परन्तु वह न हो यह बात ही असम्भव है। अतः साक्षिमात्र की अपेक्षा से वह अपेक्षाकारण माना जा सकता है। आकाश की भाँति ज़मीन सर्वत्र नहीं होती और आकाश की अपेक्षा वह अधिक सुविधारूप है, फिर भी उसकी सुलभता और कार्यसिद्धि के लिये उपयोगिता की मात्रा की अपेक्षा से वह भी अपेक्षाकारण मानी गई है। सब कार्यों में किसी भी तरह सहजभाव से उपस्थित अथवा विद्यमान रहकर साधारणतया जो सर्वसामान्य योग देनेवाला हो उसे 'अपेक्षाकारण' कहते हैं। इस प्रकार के कारण के निर्देश को सहजसिद्ध उपयोगी तत्त्व का अथवा अपेक्षित बाह्य सुविधा का निर्देश कह सकते हैं। अपेक्षाकारण भी निमित्तकारण ही कहा जा सकता है, क्योंकि निमित्तकारण के मुख्य दो भेद हैं : एक तो कार्यसिद्धि में व्यापक रूप से आवश्यक, सक्रिय सीधा योग देनेवाला और दूसरा आकाश आदि की भाँति केवल साक्षिभाव से अथवा कर्त्ता आदि को सुविधा के रूप में जिसकी उपस्थिति आवश्यक हो वह। जिसके बिना चल सके फिर भी उसका योग यदि मिल जाय तो वह उस कार्य में कमोबेश उपयोगी हो सके ऐसा जो हो वह आगन्तुकनिमित्त कहा जा सकता है।

कुँभार को मिट्टी लाने में गदहा भी काम में आता है,

फिर भी दण्ड-चक्र की श्रेणी का कारण (निमित्तकारण) वह नहीं गिना जा सकता। ऐसे पदार्थ कार्य की सिद्धि में उपयोगी होने पर भी उन्हें 'अन्यथासिद्ध' कहा है, अथवा अधिक से अधिक उन्हें आगन्तुककारण कह सकते हैं।

कुँभार दण्ड, चक्र आदि साधनों द्वारा मिट्टीरूप उपादान में से जब घड़ा बनाता है तब मिट्टी के पिण्ड में से एकदम घड़ा नहीं बन जाता। परन्तु क्रिया के समय उस पिण्ड में से एक के बाद दूसरी ऐसी अनेक आकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। इन भिन्नभिन्न आकृतियों अथवा स्थितियों में से गुजरने के बाद ही अन्त में घड़ा बनता है। घट की उत्पत्ति से पूर्व की इन भिन्नभिन्न स्थितियों में पूर्व की स्थिति बाद की स्थिति का कारण (उपादान) है और बाद की स्थिति पूर्व की स्थिति का कार्य है। इस कार्यकारणपरम्परा की शृंखला पर से यह समझ में आ सकता है कि विकास क्रमिक होता है। घटरूप कार्य की ओर बढ़नेवाली अनेक स्थितियों

---

१ न्याय-वैशेषिक दर्शन की प्रक्रिया के अनुसार गदहा आकाश आदि को अन्यथासिद्ध कहा गया है—"तृतीयं तु भवेद् व्योम ××× पञ्चमो रासभादिः स्यात्" [कारिकावली १२]। इसके अनुसार कार्य-सिद्धि में (कार्यसिद्धि से पूर्व) जो साक्षात् व्यापारशील होकर अव्यवहित रूप से आवश्यक हो उसी की गणना कारण की (निमित्तकारण की) कोटि में की जा सकती है। इसके अतिरिक्त दूसरे सब अन्यथासिद्ध हैं।

में से गुज़रने के बाद अन्त में घड़ा बनता है, अनेक स्थिति-यों में से व्यतीत होने के पश्चात् फूल और फल तैयार होते हैं, इसी प्रकार जीवनविकास भी विकासगामी अनेकानेक स्थितियों में से गुज़रने के बाद ही सधता है। घड़े की उत्पत्ति से पूर्व मिट्टी के पिण्ड में से जो उत्तरोत्तर परिणाम उत्पन्न होते जाते हैं, उनमें घड़े का स्वरूप उत्तरोत्तर अधिकाधिक विकसित होता जाता है और अन्तिम परिणाम में जब घड़े की उत्पत्ति में रही हुई न्यूनतम कमी दूर हो जाती है तब चट घड़ा प्रकट होता है। इस प्रकार घड़े की उत्पत्ति से पूर्व क्रमशः होनेवाले भिन्न भिन्न आकार—परिणामों की परम्परा घड़े की उत्पत्ति के लिये अत्यन्त आवश्यक है। यह कार्य की सिद्धि में असाधारण योग प्रदान करती है, अतः इसका निर्देश 'असाधारण-कारण' के रूप से किया जाता है। इस असाधारण कारण का निर्देश कार्यसिद्धि की क्रमिक गति का ख्याल कराता है।

कार्यसिद्धि से पूर्व उत्तरोत्तर विकसनशील भिन्न-भिन्न परिणामधारा वस्तुतः उपादान की ही परिणामधारा है। उपादान की परिणामधारा का अन्तिम पक्क फल है कार्य। मिट्टी के पिण्ड की परिणामधारा का अन्तिम पक्क फल है घड़ा।

इस पर से ज्ञात होगा कि कार्य की सिद्धि के लिये कार्य

एवं उसके उपाय का सम्यग्ज्ञान होना चाहिए तथा उस उपाय का यथार्थ रूप से प्रयोग करना भी आना चाहिए।

अब आध्यात्मिक जीवनविकास के बारे में विचार करें। आध्यात्मिक जीवनविकास साधने का श्रेष्ठ सामर्थ्य मनुष्य में है, यह समझ कर इस साधना का अभिलाषी जो सज्जन इसके लिये तैयार होता है उसका ध्येय सम्पूर्ण वीतरागता होता है। वीतरागता अर्थात् रागादि दोषों का विदारण। ज्ञानस्वरूप आत्मा में ज्ञान तो यथारूप से भरा पड़ा है, परन्तु सबसे बड़ी विकट समस्या तो उसके आवारक आवरणों को हटाने में है। यह एक अतिमहान् पुरुषार्थ का कार्यक्षेत्र होने से ज्ञानदृष्टिसम्पन्न पुरुषार्थपरायण मुमुक्षु ही इस कार्य को सिद्ध कर सकता है। सम्पूर्ण वीतरागता आने पर आत्मा परमात्मा बनता है। लगभग सभी दार्शनिक वीतरागता के तत्त्व को परमध्येयरूप से मान्य रखते हैं। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, बौद्ध, वेदान्त ये सभी अपने अपने दर्शनशास्त्र के प्रणयन का परम और चरम उद्देश निःश्रेयस का अधिगम बतलाते हैं। हाँ, इसके (निःश्रेयस के) स्वरूप के सम्बन्ध में अर्थात् वीतराग परम आत्मा की मरणोत्तर स्थिति–मोक्ष के स्वरूप के बारे में इन सबकी विचारदृष्टि भिन्न-भिन्न है। फिर भी इसकी प्राप्ति के लिये वीतरागत्व की प्राप्ति की अनिवार्य आवश्यकता सब स्वीकार करते हैं तथा यही (वीतरागता)

मुक्ति का वास्तविक स्वरूप है ऐसा वे प्रतिपादित भी करते हैं।

वीतरागत्वरूप ध्येय की साधना के रूप में जिस क्रिया की उपयोगिता है वह है संयम। संयम अर्थात् हिंसादि दोषों को दूर कर के अहिंसा, सत्य आदि सद्गुणों को तथा काम, क्रोध, लोभ, अहंकार जैसी दुर्वृत्तियों को हटा कर सात्त्विक शुद्ध रसवृत्ति और शम, सन्तोष, मृदुता, मैत्री आदि पवित्र भावों को विकसित करने में तत्पर रहना। इसी का नाम सदाचरण है।

ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों तथा चित्त के सुप्रशस्त योग से सम्पन्न साधक की संयम-साधना जैसे जैसे खिलती जाती है वैसे वैसे उसका आत्मा ऊपर चढ़ता जाता है।

जिस प्रकार मिट्टी में घड़ा 'शक्तिरूप से विद्यमान है उसी प्रकार आत्मा में परमात्मा शक्तिरूप से विद्यमान है। प्रत्येक आत्मा अपने मूल स्वरूप में परमात्मा है। मिट्टी को साधनप्रयोग द्वारा जिस प्रकार घड़े में परिवर्तित किया जाता है उसी प्रकार साधक अपने आत्मा को संयम-योग के साधन द्वारा परमात्मा में बदल देता है। परमात्मभाव को प्राप्त करने के लिये क्रमिक प्रयत्नों की–उत्तरोत्तर विकास-गामी प्रयत्नों की परम्परा चलती है और तदनुसार उत्तरोत्तर विकास सधता जाता है। इस विकास-क्रम की धारा का

नाम ही गुणस्थानक्रमारोह है और इसे हम पहले गुणस्थानों के विवरण में देख चुके हैं। संक्षेप में, मिथ्यादृष्टि निरस्त होने पर सम्यग्दृष्टि की उपलब्धि होना प्रथम और अनिवार्य विकास है। इसके पश्चात् देशविरति (अर्थात् मर्यादित संयमी जीवन), सर्वविरति (व्यापक संयमी जीवन), अप्रमत्त महात्मजीवन और इसके बाद उच्च श्रेणी का योगी जीवन– इस प्रकार प्रगति क्रम के पथ पर साधक जैसे जैसे क्रमशः आगे बढ़ता जाता है वैसे वैसे उसका उत्तरोत्तर अधिकाधिक विकास होता जाता है। अन्ततः इन सब विकासों का पूर्ण रूप परमात्मभाव के प्रादुर्भाव में आता है। ये सब अवान्तर विकास पूर्णतारूप पूर्ण सिद्धि में पूर्ण होते हैं, अतः ये असाधारण कारण गिने जाते हैं।

प्रत्येक कार्य की सिद्धि में निमित्तकारण का योग अवश्य अपेक्षित है। प्रस्तुत विषय में भी निमित्तकारण भूत सद्देव, सद्गुरु तथा बाह्य क्रिया के अवलम्बन की आवश्यकता है।

जिसने पूर्ण परमात्मपद प्राप्त किया है वह वीतराग देव सद्देव है। वह हमारा आदर्श और अनुकरणीय व्यक्ति है। उसकी वीतरागता के बारे में विचार करने पर, उसका चिन्तन–मनन करने पर हम भी वीतरागता सिद्ध कर सकते हैं ऐसा हमें प्रतीत होता है और वैसा विश्वास हममें

पैदा होता है। रागी के संग से जिस प्रकार रागी बनते हैं उसी प्रकार वीतराग के संग से (अर्थात् उनके चिन्तन-मनन-प्रणिधान-ध्यान से) वीतराग हुआ जा सकता है—जैसे 'इलिका भ्रमरी जाता ध्यायन्ती भ्रमरीं यथा' अर्थात् भ्रमरी ने जिसे काट लिया है ऐसा कीड़ा भ्रमरी का ध्यान करता हुआ स्वयं भ्रमरी बन जाता है। जिस प्रकार भेड़ों के समूह में पले हुए सिंह के बच्चे को सच्चे सिंह का स्वरूप देखने पर तथा उसकी गर्जना सुनने पर अपने सच्चे स्वरूप का भान होता है उसी प्रकार सद्देव के स्वरूप का, हमारी कल्पना में भी, परिचय होने पर हमारा स्वरूप भी वस्तुतः सत्तारूप से वैसा ही है ऐसा भान हममें जागरित होता है।

सद्गुरु अपने शास्त्राभ्यास तथा अनुभव से प्राप्त ज्ञान के आधार पर हमें हमारे ध्येय की पहचान कराते हैं और उस ध्येय पर पहुँचने का मार्ग हमारी योग्यता के अनुसार बतलाते हैं, जिससे हम जहाँ हों वहाँसे क्रमशः आगे प्रगति कर सकें। जो दम्भी, आडम्बरी, यशोलोलुप, ज्ञानदरिद्र और अविवेकी होता है वह तो गुरु (सद्गुरु) कहला ही नहीं सकता। धीर-गम्भीर, शान्त, समभावी, समदर्शी, तत्त्वज्ञ, उदारतत्त्वविवेचक और लोककल्याण की विशाल भावना से युक्त तथा सदाचरण की मूर्तिरूप पवित्र सन्त ही गुरु (सद्गुरु) है। वही 'स्वय तरंस्तारयितुं क्षमः परान्' है। ऐसा गुरु हमें अनुचित रूप से कुदान भरने को या दौड़

लुभाने को नहीं कहेगा, परन्तु उचितरूप से प्रगति के पुण्य पथ पर आरोहण करने के लिए प्रेरित करेगा।

शरीरधारी कोई भी व्यक्ति मानसिक क्रिया की तो क्या बात, शारीरिक क्रिया के बिना भी नहीं रह सकता। धार्मिक प्रेरणा को जागरित करने के लिये सभी सम्प्रदायों में अपने अपने ढंग से धार्मिक क्रियाओं की आयोजना की गई है और उनका उद्देश जीवन को सदाचरणी बनाने का है। यह बात खूब ध्यान में रखने योग्य है कि धार्मिक मानी जानेवाली क्रिया सदाचार की दिशा की ओर ले जाय इसी में उसकी सच्ची सफलता है। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की भिन्न भिन्न प्रकार की क्रियाओं पर असहिष्णु बनना और झगड़ा करना हमारी अज्ञानदशा का सूचक है। हमें अत्यन्त दृढ़तापूर्वक यह समझ लेना चाहिए कि जिसमें भगवत्स्मरण हो, अपने पापों की आलोचना तथा गर्हणा हो और आत्म कल्याण साधन की पवित्र भावना हो — ऐसी कोई भी (किसी भी सम्प्रदाय अथवा मजहब की) क्रिया श्रेयस्कर है।

आध्यात्मिक विकास के लिए मनुष्यभव, योग्य क्षेत्र, शक्तिसम्पन्न शरीरसंगठन आदि सुविधाएँ अपेक्षित होने से वे अपेक्षाकारण कहे जा सकते हैं। वे सब योग्य साधन मिलने पर भी उनका सदुपयोग न कर के मनुष्य अन्धकार में भटकते रहते हैं! ये सब, निःसन्देह, आत्मविकास की साधनावाले को आगे बढ़ने में बहुत सहायक होते हैं।

निमित्तकारण का मुख्य और गौण अथवा प्रथम कक्षा का और उत्तर कक्षा का इस तरह दो विभागों में विभाजन करने पर सन्तसमागम, क्रियानुष्ठान आदि मुख्य अथवा प्रथम कक्षा के निमित्तकारण तथा मनुष्यशरीर आदि गौण अथवा उत्तर कक्षा के निमित्तकारण कहे जाते हैं।

बोध लेने की दृष्टि से एक छोटा किस्सा भी यहाँ सुना दूँ—

मथुरा के दो अलमस्त चौबे मथुरा से गोकुल जाने के लिये रात के समय नाव में बैठे और खूब ज़ोरों से उसे खेने लगे, परन्तु प्रभात होने पर देखा तो वे जहाँसे नाव में बैठे थे वहाँसे तनिक भी आगे नहीं बढ़े थे। उन्हें खूब आश्चर्य हुआ कि इतना अधिक परिश्रम करने के बाद भी ऐसा क्यों हुआ? किसी ने जब उनका ध्यान रस्से की ओर आकर्षित किया तभी वे जान सके कि नाव को किनारे पर के पेड़ के साथ जिस रस्से से बाँधा था वह रस्सा ही छोड़ना रह गया था!

इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि और क्रोध, लोभ आदि कषाय-दोषों के जिस त्रिकट बन्धन से हम बद्ध हैं उस बन्धन को तोड़े बिना अथवा उसे ढीला किए बिना दूसरा कोई मार्ग भवसागर से पार उतरने के लिये नहीं है यह एक ध्रुव सत्य है।

अब प्रस्तुत लेख के सारूप से कारण कलाप के नाम निर्देश को पुनः देख लें।

घट के बारे में—

कर्ता : कुंभार। कार्य : घट। क्रिया : हस्तकौशल से होनेवाली क्रिया।

उपादानकारण : मिट्टी। निमित्तकारण : दण्ड, चक्र आदि।

असाधारणकारण : मिट्टी के पिण्ड में से घट के बनने तक में जो अवान्तर आकार [परिणाम] होते हैं वे सब।

अपेक्षाकारण : ज़मीन, आकाश आदि।

आध्यात्मिक विकास के बारे में—

कर्ता : आत्मा। कार्य : आत्मा का परमात्मभाव।

क्रिया : सदाचरण। उपादानकारण : स्वयं आत्मा।

निमित्तकारण : सद्देव, सद्गुरु सत्क्रिया आदि का अवलम्बन

असाधारणकारण : अवान्तर विकासपरम्परा।

अपेक्षाकारण : मानवभव, शरीरसामर्थ्य आदि।

(१८)

निर्यातिवाद

नियतिवाद अर्थात् दैववाद अथवा भवितव्यतावाद। इसे भाग्यवाद भी कहते हैं। ज्ञानहीन कायर मनुष्य ऐसा

समझता है कि मनुष्य के हाथ में है ही क्या ? जो कुछ भाग्य में बदा है अथवा पहले से नियत है वह हो कर ही रहेगा। अतः कुछ करने की अथवा प्रयत्न करने की बात ही व्यर्थ है। धन-संचय करने के लिये पाप करनेवाले धनी लोग धृष्टतापूर्वक दैववाद को आगे करते हैं। ऐसे मनुष्य कहते हैं कि जो कुछ हो रहा है उसमें हमारा क्या अपराध ? यह तो सब पहले से नियत ही था और जो नियत हो वह हज़ार प्रयत्न कर के भी थोड़े ही बदला जा सकता है ? अतः जो कुछ हो रहा है उसका उत्तरदायित्व हम पर नहीं है।

इस प्रकार यह नियतिवाद अथवा दैववाद जीवन-सुधार का शत्रु है। यह तो पापियों को अपना पाप छुपाने का, धनिकों को अपनी वैधानिक—मफ़ेद लूट छुपाने का और कायरों को अपनी कायरता छुपाने का सहारा है। दैववाद का सहारा लेने से शान्ति मिलती है ऐसा कहा जाता है, परन्तु वस्तुतः वह शान्ति नहीं है किन्तु जड़ता है, जीवन का पतन है। एक मनुष्य मर कर यदि पेड़ बने तो उसकी संवेदनशक्ति घट जायगी; उसे जीने-मरने की, कर्तव्य-अकर्तव्य की कोई चिन्ता ही नहीं रहेगी। इससे क्या ऐसा कहा जा सकता है कि मनुष्य मर कर पेड़ हुआ इससे उसे बहुत शान्ति मिली ? ऐसी जड़ता को शान्ति कहा जा सकता है ? एक मनुष्य शराब के नशे में यदि चूर हो जाय तो उसकी जड़भाव-दशा को क्या शान्ति कह सकते हैं ?

यदि मनुष्य अपना उत्तरदायित्व भूल जाय, अपने पापमय अथवा पतनमय जीवन में भी शान्ति या सन्तोष मानने लगे तो यह क्या उसके लिये अच्छी बात है? नहीं, यह तो उसकी दुर्गति है। इस पर से यह स्पष्ट है कि दैववाद अथवा नियतिवाद का प्रचार जनता को अहितकर अथवा दुर्गति कारक मार्ग की ओर ले जाता है।

श्रमण भगवान् महावीर के समय में श्रीमान् कुंभार सद्दालपुत्त आजीवकमत के नेता मक्खलिपुत्र गोशालक के नियतिवाद में मानता था। भगवान् महावीर ने उसे मर्म जानने की दृष्टि से पूछा, "सद्दालपुत्र! मिट्टी के ये सब बरतन तुम्हारे प्रयत्न से ही बने हैं या स्वतः बने हैं?" उसने कहा, "भगवन् सब पदार्थ नियतिस्वभाव हैं। अपने अपने स्वभाव के अनुसार स्वयं नियतिबल से बनते हैं। इसमें पुरुषप्रयत्न अथवा निमित्तप्रयोग क्या कर सकता है?" इस पर भगवान् ने पूछा, "यदि कोई मनुष्य डण्डे से तुम्हारे ये बरतन फोड़ डाले अथवा तुम्हारी पत्नी पर यदि कोई बलात्कार करे तो सच कहो, सद्दालपुत्र! इन कुकृत्यों का उत्तरदायित्व उस मनुष्य पर डालोगे या उस पर न डाल कर नियति पर डालोगे और नियति पर डाल कर शान्त रहोगे?"

---

१ उपासकदशाओ सूत्र में भगवान् महावीर के दस श्रावकों का जीवनचरित दिया है। उन दस श्रावकों में एक सद्दालपुत्त नाम का कुंभार भी था। उसके चरित में से यह उल्लेख यहाँ दिया गया है।

सद्दालपुत्त ने कहा, "उस समय मैं शान्त नहीं रह सकूँगा, भगवन्! उस मनुष्य को बराबर पीटूँगा।" महावीर ने कहा, "इसका अर्थ तो यह हुआ कि तुम उस मनुष्य को उसके कार्यों का उत्तरदायी मानते हो, परन्तु जब प्रत्येक कार्य नियतिबद्ध है, तो फिर उस मनुष्य को उसके कार्यों का उत्तरदायी क्यों मानना चाहिए? क्या नियतिवाद का यह अर्थ है कि मनुष्य अपने पापों को नियतिवाद के नाम के नीचे ढँक दे और दूसरों के पापों का बदला लेने के लिये नियतिवाद को एक ओर हटा दे? सद्दालपुत्त, नियतिवाद के आधार पर क्या प्रगति हो सकेगी? क्या जगत् की व्यवस्था बन सकेगी?"

श्री महावीर के समझाने से भद्रात्मा सद्दालपुत्त की आँखें खुल गईं। वह बोला, "मैं समझ गया, प्रभो! कि नियतिवाद एक प्रकार का जड़ता का मार्ग है, दम्भ है, अपने पापमय और पतनमय जीवन के उत्तरदायित्व से बचने के लिये एक ओट है। यह तो बहुत बड़ी आत्मवंचना और परवंचना है, भगवन्!" प्रभु ने कहा, "आत्मवंचना से अपनी आँखों में धूल डाली जा सकती है, सद्दालपुत्त! और परवंचना से दूसरों की आंखों में धूल झोंकी जा सकती है, परन्तु जगत् की कार्यकारण की व्यवस्था की दृष्टि में धूल नहीं झोंकी जा सकती।"

नियतिवाद को भी स्थान है ही। विरोध केवल उसी एक को सर्वेसर्वा मानकर दूसरे कारणों को उड़ा देने के सामने है। किसी भी कार्य में काल, स्वभाव, उद्यम, पूर्व कर्म, नियति ये सब अपनी अपनी योग्यतानुसार गौण मुख्य भाव से भाग लेते हैं। अतः इन सब कारणों को उनके स्थान एवं विशिष्टता के अनुसार स्वीकार करने में ही न्यायसिद्धता है[1]।

आचार्य सिद्धसेन सन्मतितर्क में कहते हैं—

कालो सहाव णियई पुव्वकय पुरिस कारणेगंता।
मिच्छत्तं ते चेव य समासओ होंति सम्मत्तं॥ ३–५३॥

अर्थात्—काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकर्म और उद्यम इनमें से किसी एकका एकान्त पक्षपात करने में मिथ्यात्व है और इन पाँचों का योग्यरूप से स्वीकार करने में सम्यक्त्व है।

प्रस्तुत विषय में थोड़ा और विचार करें।

सब द्रव्यों की अपनी मूल शक्तियाँ नियत हैं। जड़ द्रव्य चेतनरूप से और चेतन द्रव्य जड़रूप से परिणत नहीं होता। पुद्गल में पुद्गलसम्बन्धी परिणाम और

---

१ पाठक इस विषय का विस्तार पंचम खण्ड के स्याद्वाद प्रकरण के अन्त में देखें।

जीव में जीवसम्बन्धी परिणाम यथासमय होते रहते हैं। द्रव्यमात्र की भिन्न-भिन्न परिणामधारा प्रतिसमय अविच्छिन्न-भाव से वहती रहती है। अर्थात् प्रत्येक द्रव्य भिन्न-भिन्न पर्याय में प्रतिसमय परिणत हुआ करता है। परन्तु द्रव्य में अमुक समय पर अमुक ही परिणमन—अमुक ही पर्याय हो ऐसा नियत नहीं है। मिट्टी के पिण्ड में घड़ा, कुंडा, गगरी आदि अनेक पर्यायों को प्रकट करने की योग्यता है, परन्तु इनमें से जिसके लिये निमित्तयोग मिले उसी का उद्भव होता है। जिस समय मिट्टी के पिण्ड में से घड़ा बना उस समय ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उस पिण्ड में से घड़ा बनना नियत ही था। जिस प्रकार घड़े का निमित्त मिला तो घड़ा बना उसी प्रकार यदि गगरी का निमित्त मिला होता तो गगरी बनती। जिस पात्र का निमित्त-योग मिलता वह पात्र बनता। इस प्रकार कार्यकारणसम्बन्ध का बल निश्चित है। जैसी जैसी अविकल कारणसामग्री उपस्थित होती है वैसा वैसा कार्य या परिणाम होता है। मनुष्यप्रयत्न के योग से कार्य बनता है और नैसर्गिक कारणसंयोग से भी कार्य बनता है। द्रव्य के परिणमन उपस्थित परिस्थिति या निमित्त के अनुसार होते हैं। पुद्गल-परमाणु घट बन सकते हैं, परन्तु वे सीधे तौर से नहीं बन सकते। जब पुद्गलपरमाणुओं को अनुकूल सामग्री मिलती है तब स्कन्ध बन कर वे मिट्टी के पिण्ड में परिवर्तित होते

है और पीछे जब उस पिण्ड को घड़े में परिवर्तित करने वाले साधन मिलते हैं तब वह घटका रूप धारण करता है। पुद्‌गल में जिस पौद्‌गलिक परिणाम की निकट-योग्यता होती है वह तदनुकूल निमित्त के संयोग से प्रकट होता है। रेती में काँच बनने की, कोयले में हीरा बनने की योग्यता (निकट-योग्यता) होने स प्रयत्न करने पर उनमें से वे प्रकट होते हैं। वस्तुविरूप खाद को निमित्तयोग मिलता है तब वह कैसा रूप धारण करती है! प्रयोगविशेष से विष अमृत बनता है और अमृत विष। इस प्रकार अनेकानेक परिणामों में परिवर्तित होने की योग्यता द्रव्य में होने पर भी जैसा निमित्त मिलता है उसके अनुरूप परिणाम में वह द्रव्य परिवर्तित हो जाता है। मूर्ख लड़के पर सुयोग्य परिश्रम करनपर उसकी बुद्धि तथा ज्ञान का विकास हो सकता है। विष में अमृतत्व और अमृत में विषत्व योग्यता-रूप स था ही, मूर्ख लड़के में गुप्त रूप स ज्ञान था ही, और वह कारणसमवधान से बाहर आया। इस प्रकार द्रव्य में—उपादान में जो होता है अर्थात् जिस प्रकटनीय पर्याय की योग्यता होती है वह निमित्त मिलने पर बाहर आता है और जो न हो वह बाहर नहीं आता। रेती पुद्गल है और तेल भी पुद्गल है, परन्तु रेती में स तेल नहीं निकलता। जिसमें जिस पर्याय की प्रकट अथवा निकट योग्यता नहीं होती उसमें से वह पर्याय उत्पन्न नहीं हो सकता। रेती के

परमाणु जब विशिष्ट प्रकार के स्कन्ध बनें तभी उनमें से तेल निकल सकता है। द्रव्य में बहुत बहुत प्रकट होने की शक्यता अर्थात् प्रकटनीय अनेक पर्यायों के प्रादुर्भाव की सम्भावना है, फिर भी जिस परिणाम अथवा पर्याय के लिये निमित्त का योग मिलता है, वही प्रकट होता है। इस प्रकार द्रव्यनिष्ठ शक्तियाँ नियत हैं, परन्तु उन शक्तियों में से कौनसी कब प्रकट होगी यह नियत नहीं है। जिसके लिये निमित्त मिलेगा वह प्रकट होगी और जैसा निमित्त मिलेगा उसके अनुसार कार्य प्रकट होगा।

सब कुछ नियत हो–पहले से ही निश्चितरूप से ठहरा हुआ हो तो प्रयत्न-क्रिया की कोई अपेक्षा ही नहीं रहने की और हिंसा-अहिंसा, पुण्य-पाप सब ख़त्म हो जायगा। किसी मनुष्य को छुरा भोंक कर हत्या करनेवाले को हिंसा अथवा पाप नहीं लगेगा, क्योंकि हत्या करनेवाले का ऐसा भाव होने का ही था, मरनेवाले का इस प्रकार मरना निश्चित ही था, मरनेवाले के शरीर में शस्त्र घुसने ही वाला था, यह सब नियत था, तब हत्या करनेवाले का क्या अपराध? अग्नि की ज्वाला में फँसे हुए साधुपुरुष को आग बुझाकर योग्य उपचार कर के बचानेवाले को अथवा भूख से प्राणान्त स्थिति में आए हुए किसी महात्मा आदि को भोजन दे कर बचानेवाले को पुण्य क्या मिलेगा? क्योंकि बचानेवाले का उस स्थान में आना नियत था। अग्नि का

शान्त हो जाना नियत था। महात्मा के मुख में भोजन का पड़ना नियत था। यह सब नियत था, फिर तथा कथित बचानेवाले ने नया क्या किया? उफ़! कैसा भयंकर यह वाद!

इस नियतिवाद में भविष्यनिर्माण जैसा कुछ रहता है? सारा भविष्य नियत होकर पड़ा हो वहाँ आगे का विचार अथवा योजना करने की बात ही नहीं रहती, फिर प्रयत्न करने की तो बात ही क्या? सचमुच, प्रयत्न अथवा पुरुषार्थ का उच्छेद करनेवाला कोई भी वाद मानवजाति के लिये घोर अन्धकाररूप है, भीषण शापरूप है।

हमें यह समझना चाहिए कि निमित्त कारण अपने स्थान में बलवान् है। द्रव्य में—कार्य के उपादान में कार्य विद्यमान होता है परन्तु वह विद्यमान होता है शक्तिरूप से—अव्यक्तरूप से। उसे व्यक्त (आविर्भूत) करने के लिये निमित्तयोग की सख्त जरूरत है। मन्दिर मूर्ति, शास्त्र वाचन, सन्त का समागम, उनके उपदेश का श्रवण तथा अनुकूल स्थान में निवास, अनुकूल भोजनपान—इन सबकी उपयोगिता किसे मंजूर नहीं है? यह सब उपयोगी है ऐसा मानकर उसका अमल करनेवाला निमित्तकारण की योग्य शक्ति को कबूल न करे तो वह दर्शन-विसंवादी वाग्व्यापार समझा जायगा।

(१९)

जाति-कुलमद

आचार्य हेमचन्द्र योगशास्त्र में कहते हैं—

जातिलाभकुलैश्वर्यबलरूपतपःश्रुतैः ।

कुर्वन् मदं पुनस्तानि हीनानि लभते नरः ॥ ४–१३ ॥

अर्थात्–जाति, लाभ, कुल, ऐश्वर्य, बल, रूप, तप और ज्ञान का मद करनेवाले मनुष्य को इस मद के दुष्परिणामस्वरूप ये चीज़ें हीन कोटि की मिलती हैं।

भौतिक सम्पत्ति विनाशशील है, अतः उस पर अभिमान करना समझदारी की कमी को सूचित करता है। विद्या-सम्पत्ति अभिमान करने के लिये नहीं है, परन्तु विद्याहीनों की ओर अनुकम्पा-भाव रखकर उनके जीवन के कल्याण के लिये उन पर ज्ञान का प्रकाश डालने में उसकी सार्थकता है। कुल-जाति का गौरव अथवा उच्च समझे जाने-वालों का उच्चत्व मानवता के सद्गुणों कोअपनाने में और निम्न श्रेणी के गिने जानेवाले मनुष्यों के साथ आत्मीय भाव से बरतने में है, नहीं कि अपने बड़प्पन का अभिमान कर के और दूसरों को उनके कुल-जाति के कारण हीन समझ कर उनके साथ हीनतायुक्त व्यवहार करने में। उच्चता अथवा नीचता, बड़ाई अथवा छुटाई जन्म के कारण

नहीं है। शुभ कर्मों से सम्पादित बड़ाई ही सच्ची बड़ाई है। जहाँ इस प्रकार की बड़ाई हो वहाँ अभिमान जैसे दोषों को अवकाश ही नहीं मिल सकता। सद्गुणों का अभिमान भी सद्गुणों के लिये लाञ्छनरूप है। अभिमान प्रगति का अवरोधक है। वह जीवन की नैसर्गिक मधुरिमा को खट्टी बना देता है। अभिमान करने का कोई स्थान ही नहीं है। अपने को ऊँचा समझ कर घमंड करनेवाला अपने आपको ऊपर से नीचे गिराता है। उच्चता सद्गुणों और सत्कर्मों के सत्कार में है। जहाँ पर संस्कारिता प्रकाशित हो वहाँ ऊँच नीचता की भेददृष्टि होने नहीं पाती; वहाँ तो निम्न स्तर के मनुष्यों के साथ भी सहानुभूति और मैत्री का पवित्र प्रवाह बहता ही रहता है। उच्चता सद्गुणों-सत्कर्मों में और नीचता गुण-कर्महीनता में समझना यही सच्ची दृष्टि है। जन्म के कारण मनुष्य को उत्तम अथवा अधम मानना यह एक भ्रामक दृष्टि है।

समाज के धारण पोषण के लिये समाज के व्यक्तियों को जो अनेकानेक व्यावसायिक प्रवृत्तियाँ करनी पड़ती हैं उनको स्थूलरूप से चार विभागों में बाँटा गया और उन चार प्रकार की व्यावसायिक प्रवृत्तियाँ करनेवालों को अलग अलग रूपसे पहचानने के लिए अलग अलग–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नाम दिए गए।

जो मनुष्य मुख्यतया शास्त्राभ्यास कर के तथा पठन-पाठन से लोगों में ज्ञानसंस्कार सींचने का व्यवसाय करने लगे उन्हें ब्राह्मण कहा गया। जो मुख्यतः अपने जीवन की भी परवा किए बिना आततायियों तथा दुष्ट आक्रमणकारों से प्रजा का रक्षण करने का तथा समाज में चलनेवाली दुष्प्रवृत्तियों को रोककर समाज को स्वस्थ रखने का व्यवसाय करने लगे वे क्षत्रिय कहलाए। जो लोग मुख्यतः खेती तथा अन्य व्यापार-रोज़गार कर के समाज के लिये आवश्यक वस्तुएँ हाज़िर करने का व्यवसाय ले बैठे वे वैश्य कहलाए। और जो लोग मुख्यतः शारीरिक श्रम कर के समाज की दूसरे रूप से सेवा करने लगे वे शूद्र कहलाए।

इस पर से ज्ञात होगा कि ये चारों प्रकार की प्रवृत्तियाँ समाज की सुख-सुविधा तथा सामाजिक विकास के लिये आवश्यक हैं। इनमें की एक भी प्रवृत्ति के बिना समाज टिक नहीं सकता और न अपना विकास अथवा उन्नति साध सकता है। अतः अमुक मनुष्य अमुक व्यवसाय करता है इसलिये वह ऊँचा है और अमुक मनुष्य दूसरा व्यवसाय करता है इसलिये वह नीचा है ऐसा न समझना चाहिए। केवल व्यवसाय के भेद पर दृष्टि रख कर ऊँच-नीच का वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। उसके लिये तो दूसरी बातें ध्यान में लेने की हैं। मनुष्य चाहे जो हो और चाहे जो धन्धा-रोज़गार करता हो, परन्तु वह गुण से उच्च

(सच्चरित) होना चाहिए। इतना ही नहीं, वह अपने कर्म से भी उच्च होना चाहिए। कर्म से उच्च अर्थात् अपना अपना विशिष्ट व्यवसाय प्रामाणिकतापूर्वक धर्मबुद्धि से तथा मन लगा कर योग्य रूप से करनेवाला। इस तरह मनुष्य यदि गुण एवं कर्म से उच्च हो तो वह उच्च है। ब्राह्मण का व्यवसाय करनेवाला मनुष्य यदि दुश्चरित हो अथवा अपने कर्तव्य के पालन में धूर्तता करे तो वह नीच है और शूद्र का व्यवसाय करनेवाला मनुष्य यदि सच्चरित हो और अपने कर्तव्य का बराबर पालन करता हो तो वह उच्च है। अतः जन्म के कारण से किसी को ऊँच-नीच नहीं कहा जा सकता।

वस्तुतः मनुष्य में ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व तथा शूद्रत्व इन चारों तत्त्वों का सुभग संगम होना चाहिए, क्योंकि जीवनचर्या में स्वाध्याय या विद्योपासना, बल-शूरता, कृषि आदि व्यापार विकास एवं व्यावहारिक बुद्धि तथा सेवा वृत्ति-इन चारों तत्त्वों की अमुक मात्रा में आवश्यकता है। इन चारों की समुचित मात्रा होने पर ही मनुष्य मनुष्यत्व सम्पन्न होता है।

और शरीर में मस्तक, हाथ, पेट व पैर इन अंगों में से किसे उच्च और किसे नीच कहें ? पैर की क्या कम उपयोगिता है ? इसी प्रकार पैर के स्थान के शूद्र की उपयोगिता कम कैसे समझी जाय ? सब अंग यदि परस्पर मिलजुलकर कार्य करें तो वे स्वयं तथा अवयवी शरीर जीवित और

सुखी रह सकते हैं, और यदि एक-दूसरे के साथ लड़ने-झगड़ने लगे अथवा ईर्ष्यावश रूठ बैठे तो उन सबके लिये मरने का समय आ जाय। ठीक इसी भाँति ब्राह्मणादि वर्ण परस्पर उदारता से, वात्सल्यभाव से हिलमिलकर रहें तो इसमें उन सबका उदय-अभ्युदय है और झूठे अभिमानवश एक-दूसरे का तिरस्कार करने में इन सबका विनिपात है।

थोड़ा और अधिक विचार करें।

उच्चता और नीचता प्रकृतिधर्मकृत और मानव-समाज द्वारा कल्पित ऐसी दो प्रकार की गिनाई जा सकती हैं। इन दोनों में से सर्वप्रथम हम दूसरे प्रकार को देखें।

यह तो मानी जा सके ऐसी बात है कि दुःखजनक परिस्थिति में पैदा होना पापोदय का और सुखजनक परिस्थिति में पैदा होना पुण्योदय का परिणाम है। इस तरह यदि रोगी घर में, दुर्बुद्धि अथवा मूर्ख परिवार में अथवा दरिद्र-कंगाल कुटुम्ब में पैदा होना पापकर्मों के उदय का परिणाम है, तो ख़राब राज्य अथवा ख़राब शासनवाले देश में पैदा होना भी पापोदय का परिणाम समझा जा सकता है और इसी प्रकार ख़राब सामाजिक रचनावाले समाज में पैदा होना भी पापोदय का परिणाम माना जा सकता है। रोगी वातावरणवाले घर में पैदा होकर मनुष्य

कालक्रमेण अपने घर को सुधारे और आरोग्य के अनुकूल बनावे तब की बात अलग, और इसी प्रकार कोई मनुष्य दरिद्र घर में पैदा होकर कालक्रमेण अपने घर की आर्थिक स्थिति सुधारे तब की बात अलग, परन्तु जन्म के समय दुःखोत्पादक परिस्थिति में जन्म लेना और जब तक उस परिस्थिति में सुधार न हो तब तक योग्य पुरुषार्थ करने पर भी जो सहन करना पड़े वह पापोदय का ही परिणाम गिना जाय।

यहाँ पर हमारा प्रश्न समाजरचना के बारे में है। स्वराब समाजरचनाओं में से एक रचना वर्णाश्रम-व्यवस्था की है। इस दूषित प्रणालिका के अनुसार समाज ने जन्म एवं कुछ धन्धे-रोजगारों के कारण अमुक वर्गों को उच्च और अमुक वर्गों को नीच मान लिया है। ऐसे दूषित-रचनावाले समाज में अथवा देश में समाज द्वारा कल्पित नीचवर्ग में उत्पन्न होने से उसे दूषित समाजरचना का बलि होना पड़ता है, अपने से उच्च माने जानेवाले वर्गों की ओर से हीनदृष्टि तथा घृणा और अपमान आदि का सन्ताप सहन करना पड़ता है। इस प्रकार का अन्याय्य क्लेश-सहन समाजद्वारा सर्जित, नहीं नहीं, कल्पित समाज रचना के आभारी है। क्रान्तिकार वीरपुरुष पैदा हो कर दूषित समाजरचना को सुधारने का प्रयत्न करें और उनके प्रयत्नों की परम्परा के परिणामस्वरूप समाजरचना में यदि सुधार हो और जन्म के तथा धन्धे-रोजगारों के

कारण ऊँच-नीच मानने की दृष्टि में परिवर्तन हो तब वातावरण सुधर जाने पर समाज-कल्पित जातिगत ऊँच-नीच के भेदों के बखेड़े सहन करने नहीं पड़ेंगे; परन्तु जब तक इस प्रकार की सुधारणा का योग्य प्रचार और प्रसार न हो तब तक तथाकथित नीच वर्ग में पैदा होनेवाले को योग्य पुरुषार्थ करने पर भी कष्ट सहन करना पड़े और वह क्लेश-सहन मूल में जिस कर्म पर आश्रित माना जाय उसे 'नीच गोत्र' कर्म कहते हैं।

ऊपर कहा वैसा यदि सामाजिक रचना में सुधार हो, जन्म-जाति अथवा धन्धे-रोज़गारों के आधार पर खड़ी की हुई ऊँच-नीच के भेदों की कल्पना नाबूद हो अर्थात् इस प्रकार की कल्पना के आधार पर कोई ऊँच-नीच न समझा जाय ऐसा युग आए तब भी 'गोत्रकर्म' का स्थान तो रहने का ही और वह ऊपर के प्रकार की नहीं तो दूसरे प्रकार की उच्च-नीचता का खुलासा बैठाने के लिये। संस्कारी, सदाचरणी कुल-कुटुम्ब में पैदा होना अथवा असंस्कारी, असभ्य और हीन आचारवाले कुटुम्ब में पैदा होना इसके मूल में कोई 'कर्म' तो मानना ही पड़ेगा। अतः वह परिस्थिति गोत्र-कर्म पर अवलम्बित समझी जायगी—अनुक्रम से उच्च-गोत्र और नीच-गोत्र कर्म पर। यह ऊँच-नीचता प्रकृतिधर्मकृत समझनी चाहिए।

वस्तुतः आजकल की सामाजिक रचना में भी तथा कथित नीच कुल में उत्पन्न मनुष्य भी यदि सम्यग्दृष्टि के साथ साथ सदाचरणसम्पन्न हो तो उसका नीच-गोत्र का नहीं किन्तु उच्च-गोत्र का उदय है—ऐसा जैन कर्मशास्त्र कहते हैं। अर्थात् दृष्टि और आचरण के सुसंस्कारवाले को, फिर वह किसी भी जाति—कुल—वर्ग का क्यों न हो, जैन शास्त्र नीच-गोत्र का नहीं परन्तु उच्च-गोत्र के उदयवाला मानता है। अरे! चाण्डाल जाति के होने पर भी जो उत्तम चारित्रसम्पन्न बने हैं उनके लिए जैन आगमों ने पूजावाचक शब्दों का प्रयोग कर के उनका अत्यन्त सम्मान पूर्वक उल्लेख किया है।

(२०)

ज्ञान–भक्ति–कर्म

ईश्वरवाद की अर्थात् ईश्वर के-भगवान् के अस्तित्व के सिद्धान्त की उपयोगिता अन्तःकरण को निर्मल बनाने में, चारित्र-गठन में तथा जीवनविकासक प्रेरणा प्राप्त कर के सन्मार्ग की ओर प्रगति करने में प्रतीत होती है। इसी प्रकार कर्मवाद अथवा भाग्यवाद की उपयोगिता सुख-दुःख के समय समता रखने में तथा सत्कार्य में उद्यत रहने में प्रतीत होती है। शुद्ध ईश्वरवादी अथवा भगवदुपासक व्यक्ति प्रभु की ओर अपनी निर्मल भक्ति को विकसित कर के अपने चारित्र को

समुन्नत बनाएगा और इस तरह ईश्वरवाद उसके जीवन के लिये कल्याणकारक सिद्ध होगा। इसी प्रकार शुद्ध भाग्यवादी अर्थात् 'कर्म' के नियम को माननेवाला सुख के समय घमण्डी और दुःख के समय दीन-हीन-कायर नहीं बनेगा, परन्तु इन सब परिस्थितियों को कर्म का खेल समझ कर मन की समता (Balance of mind) सँभाल रखेगा, और सत्कर्म अथवा सत्पुरुषार्थ द्वारा दुःख में से मार्ग निकाला जा सकता है तथा सन्मार्ग पर प्रगति करते रहने से अपने जीवन को अधिकाधिक सुखी बनाया जा सकता है— इस प्रकार की सुदृष्टि से अपने जीवन को समुन्नत बनाने में प्रयत्नशील रहेगा। कर्मवाद अथवा ईश्वरवाद जैसे महान् सिद्धान्तों का निष्क्रियता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। वे निष्क्रियता का पाठ नहीं पढ़ाते, परन्तु कर्तव्यपरायण बनने की शिक्षा देते हैं। इतना ही नहीं, वे सच्चा कर्मण्य बनने के लिये योग्य 'मसाला' प्रस्तुत करते हैं। कर्मवाद के सिद्धान्त में सत्कर्म-द्वारा सुभाग एवं महाभाग बनने की ध्वनि है और ईश्वरवाद के सिद्धान्त में सच्चरित बनने के लिये परमात्मा का अवलम्बन लेने की ध्वनि है अथवा सच्चरितद्वारा भगवत्प्राप्ति की अभिव्यंजना है। जीवन की ग्लानि दूर करने में, आत्मा को धीरज देने में, सन्तोष और शान्ति के प्रदान में तथा सदाचरण की प्रेरणा करने में ये दोनों सिद्धान्त बहुत समर्थ हैं।

कर्म (भाग्य) भी मनुष्यों के (प्राणियों के) अपने प्रयत्न से ही उत्पन्न होनेवाली वस्तु है। अच्छे काम से मनुष्य अपने अच्छे कर्म (भाग्य) को और बुरे काम से अपने बुरे कर्म को पैदा करता है। अर्थात् अपने भाग्य (कर्म) का स्वयं निर्माण कर के उसका शुभाशुभ परिणाम (कडुए मीठे फल) प्राप्त करना मनुष्य के अपने हाथ की बात है—Man is the architect of his fortune इसीलिये सुख अथवा अभ्युदय चाहनेवाला मनुष्य उत्साहपूर्वक सदाचरणपरायण बनता है। सद्भाग्य से मिली हुई सम्पत्ति में यदि मनुष्य बहक जाय, घमण्डी बनकर मद-प्रमत्त उन्मत्त बने तो भविष्य के लिये वह खराब कर्म बाँधता है और उसका वर्तमान सुखोपभोग उसके बाद्ध कर्मोदय की अवधि तक ही सीमित रहता है। अतः कर्मवाद के साथ यह भी सुबोध गूँथा हुआ है कि जिस प्रकार दुःख समता से भोगना चाहिए उसी प्रकार शुभ कर्म के अच्छे फल भी समता से भोगने चाहिए।

ऊपर कहा इस तरह भाग्य(कर्म)वाद भी मनुष्य को सदाचरण की ओर प्रेरित करनेवाला वाद है, और सदाचरण की भावना ईश्वर का (परमात्मा का) अवलम्बन लेने से [ईश्वरनिष्ठा से] विकसित होती है। बाकी, सीधे तौर से हमारे कर्म(भाग्य)में परिवर्तन अथवा उसका नवविधान या विधातन कर सके ऐसा कोई ईश्वर अथवा भगवान् नहीं है।

परन्तु उसका (भगवान् का) आश्रय लेने से जो धर्म-भावना खिलती है, जो धर्म की साधना होती है वह अपनी मात्रा के अनुसार कर्म (भाग्य) पर भी प्रभाव डाल सकती है। इस तरह अशुभ भाग्य अथवा कर्म में परिवर्तन लाया जा सकता है—अशुभ कर्म को शुभ में बद-लाया जा सकता है और उसे (अशुभ कर्म को) प्रायः विनष्ट भी किया जा सकता है। हमें यह सर्वदा ध्यान में रखना चाहिए कि कोई कर्म अथवा भाग्य क़ायम के लिये नहीं टिकता। उसकी मुद्दत पूर्ण होने पर उसका जब अन्त आता है तब उसका फलोदय समाप्त होता है। यही कारण है कि अच्छी स्थिति को सदा चालू रखने के लिये उसके साधनरूप शुभ-भाग्य के सर्जन में (यह सर्जन-क्रिया दूसरी कोई नहीं, परन्तु सदाचरणमय जीवनचर्या होने से उसमें) सुज्ञ मनुष्य सदा तत्पर रहता है। ऐसा कर के वह अपने आप को सदा सुखी बनाता है और साथ ही अपनी उन्नति तथा विकास करता जाता है। उत्तरोत्तर विकसनशील जीवन के शुभ प्रवाह में ऐसा महान् अपूर्व अवसर आता है जब आत्मविकास की पूर्णता पर पहुँचने की भूमिका उसे उपलब्ध होती है, फलतः पुण्यपापातीत ऐसे मोक्ष की वह प्राप्ति करता है।

कर्मवाद का सद्बोध आत्मसाधक मुमुक्षु को अपना

बुरा करनेवाले मनुष्य के ऊपर क्षमाभाव रखने में भी उप-
योगी होता है, और अपना बुरा करनेवाले मनुष्य की
बुराई का न्याय्य मार्ग से शक्य प्रतीकार करनेवाले को
भी बुराई करनेवाले मनुष्य के ऊपर वैरभाव न रखकर
उसकी ओर क्षमाभाव रखने में सहायक होता है।

'मेरा विरोधी मेरे साथ जो दुर्व्यवहार करता है वह
मेरे अपने कर्म के बल पर करता है। मेरा कर्म उसे हथि-
यार बना कर उसके द्वारा ऐसा कराता है। अतः उस
मनुष्य के ऊपर क्रोध करना अनुचित है। क्रोध तो उस
मनुष्य को निमित्त (हथियार) बनानेवाले मेरे अपने कर्म
पर ही करना चाहिए'—ऐसी विचारसरणी का आश्रय
मुमुक्षु को सात्त्विक क्षमाशील बनने में तथा क्रोध-कषाय
या झगड़े-फसाद के दुष्कर्मबन्धक कलुषित वातावरण से
अपने मन को दूर रखने में सहायक हो सकता है।

कर्म-तत्त्व का जानकार यह बराबर समझता है कि
दुर्जन के दौर्जन्य के पीछे उसका अज्ञान-रोग अथवा
कषाय-रोग प्रेरक है। अतः उस मनुष्य की ओर वैरवृत्ति
न रखकर वह ज्वरार्त अथवा रोगार्त मनुष्य की भाँति
भावदया और क्षमाभाव का पात्र है ऐसा वह समझता है।

कर्म का सिद्धान्त समझनेवाला नियतकालिक कर्म के
नियतकालिक फल पर मद या अहंकार न करे अथवा

विषण्ण न हो। आया हुआ कष्ट अथवा संकट स्वयं अपने दुष्कर्म द्वारा ही उत्पन्न है ऐसा समझ कर वह समतापूर्वक सहे। इस प्रकार समभावपूर्वक सहन करने का सामर्थ्य, जीवन को अहंकार तथा ग्लानि से मुक्त रखने का बल कर्मनियम के तत्त्वज्ञान में से ही प्राप्त होता है और भगवान् के आलम्बन का योग उसमें खूब शान्ति, सान्त्वन, आश्वासन और प्रेरणा प्रदान करता है।

मनुष्य की स्तुति अथवा उसकी भक्ति के उपचारों से भगवान् यदि खुश होता हो तो स्तुति अथवा भक्ति न करनेवाले के ऊपर वह नाखुश भी हो, परन्तु भगवान् (परमात्मा) ऐसी प्रकृति का नहीं होता। वह तो वीत-राग है। उसे तो पूर्ण–पूर्णात्मा–पूर्णानन्द–विश्वम्भर कहते हैं। वह हमारी भक्ति के गाने-बजाने से, अलंकार–आ-भूषण चढ़ाने से अथवा मिठाई की थालियाँ भर भर कर भोग चढ़ाने से प्रसन्न होता है ऐसा मानना वस्तुतः भग-वान् की भगवत्ता के बारे में अपना अज्ञान सूचित करना है। मनुष्य का हृदय यदि कल्याणकामी हो, भगवदभिमुख–भगवद्भक्त–भगवदेकशरण हो और भगवत्स्मरण से सत्त्व-संशुद्ध तथा प्रसादपूर्ण बनता जाता हो तो उसकी यह सधती हुई उज्ज्वलता अथवा निर्मलता ही किसी का न दिया हुआ और अपने ही सामर्थ्य से उपार्जित-सम्पादित सहज पुरस्कार है। भगवत्स्मरण कोई साधारण मार्ग नहीं

है। यह तो एक सफल साधन है। परमशुभ्र, परमदीप्त, परमोज्ज्वल परमतत्त्व के एकाग्र ध्यान का पक्ष होता जा रहा वह ध्याता के हृदय के दरवाजे खोल देता है और उस पर एक ऐसी प्रतिक्रिया करता है जिससे उसकी मोह वासना पर जबरदस्त धक्का लगता है और ध्येयतत्त्व की शुद्धता की रोशनी उस (ध्याता) पर फैलने लगती है। शुद्ध एवं उच्च विषय की भावना मन पर वैसी ही शुद्ध तथा उन्नत छाया डालती है, जबकि अशुद्ध एवं निकृष्ट विषय की भावना का प्रभाव मन पर अशुद्ध एवं निकृष्ट पड़ता है। ध्यान का विषय जैसा हो मन पर उसका असर भी वैसा ही होता है। वीतराग परमात्मा के चिन्तन, स्मरण, उपासन [इस प्रकार का परमात्मा के साथ का मानसिक सत्संग] मन के मोहरूपी कालुष्य का प्रक्षालन करने में खूब कार्यक्षम होते हैं। इस प्रकार की भगवदुपासना से चित्तशुद्धि, मानसिक विकास और प्रसन्नता का जो लाभ प्राप्त होता है वह भगवान् का दिया हुआ कहा जा सकता है, किन्तु केवल उपचार से। भगवान् के हाथ में सीधे तौर से प्रकाश देने का यदि होता तो किसी के अन्तःकरण में वह अन्धकार रहने न देता, अधम और दुराचारी सबको सद्बुद्धि सम्पन्न और सदाचारी बना देता, प्रत्येक प्राणी को उसकी नीची भूमिका पर से उठा कर ऊपर की भूमिका पर चढ़ा देता, सम्पूर्ण विश्व के आत्माओं को पूर्ण प्रकाश

मय तथा आनन्दी बना देता। परन्तु यह सब तो मनुष्य (प्राणी) को स्वयं अपने सामर्थ्य से ही सिद्ध करने का है – स्वयं अपने ही प्रयत्न से, अपने ही पुरुषार्थ से बनाने का है। दूसरा कोई (ईश्वर) भी इसे नहीं बना देता, नहीं साध देता।

भगवान् यदि प्रसन्न होता हो तो वह सिर्फ़ हमारे अच्छे गुण-कर्मों पर ही प्रसन्न हो सकता है, हमारी सच्चरितता अथवा सदाचरणशीलता पर ही प्रसन्न हो सकता है। इसके अतिरिक्त उसे प्रसन्न करने का दूसरा कोई मार्ग नहीं है—नाऽन्यः पन्था विद्यते शिवाय।

जिस प्रकार सूर्य प्रकाशित होता है परन्तु उसका प्रकाश लेना या नहीं यह मनुष्य की अपनी इच्छा की बात है, परन्तु लेनेवाले को लाभ है और न लेनेवाले का स्वास्थ्य बिगड़ जाता है उसी प्रकार सन्त अथवा महान् आत्मा के सदुपदेश का जो प्रकाश लेगा उसका कल्याण होगा, वह उस पार उतर सकेगा और नहीं लेनेवाला अन्धकार में भटकता रहेगा।

यद्यपि परमात्मा अथवा भगवान् नहीं दीखता, परन्तु उसके स्वरूप की अपने स्वच्छ अन्तःकरण में यथार्थ रूप से कल्पना कर के उसके मानसिक सान्निध्य में रहने से मनुष्य की दृष्टि का शोधन होता है, उसे बल और प्रेरणा

मिलते हैं। इस सान्निध्य का लाभ जैसे जैसे अधिक लेने में आता है वैसे वैसे मन के मल, उल्लास और शुद्धता बढ़ते जाते हैं। इस प्रकार उसका मोहावरण हटता जाता है, वासना हटती जाती है और उसका आत्मा सत्त्वसम्पन्न (अधिक व अधिक सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र से सम्पन्न) होता जाता है। इस भाँति उच्च दशा पर आरूढ़ होकर आत्मा महात्मा की भूमिका में से आगे बढ़कर परमात्मपद की भूमिका में प्रविष्ट होता है। भगवद्भक्ति इस प्रकार विकास के पथ पर आरूढ़ होने में और आगे बढ़ने में उपयोगी होती है। इस तरह भगवद् विषयक और आत्मकल्याण साधने का सच्चा ज्ञान होना यह ज्ञान भगवान् की शरण में जाकर भगवत्प्रणीत सन्मार्ग का पूजक बनना यह भक्ति और उस सन्मार्ग पर चलना यह कर्म—इस भाँति ज्ञान भक्ति कर्म का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है और ये परस्पर एकरस बनकर मुक्तिसाधक एक परमतत्त्व बनते हैं।

विशेषरूप से विचार करने पर ज्ञात हो सकता है कि भक्ति (भक्तिभाव) के साथ ज्ञान मिला हुआ है। जिसे हमारी भक्ति हमें अर्पित करनी है उसे पहचाने बिना उस पर भक्तिभाव कैसे उत्पन्न हो सकता है ? भक्तिपात्र की विशिष्टता का ज्ञान होने के बाद उसकी ओर जो सात्त्विक शुभ आकर्षण पैदा होता है उसी का नाम भक्तिभाव है। इस तरह भक्ति के पीछे भक्तिपात्र की विशिष्टता का ज्ञान

रहा हुआ है। और साथ ही साथ 'इस भक्तिपात्र के सत्संग से मेरा उद्धार हो सकेगा' ऐसा भी ज्ञान अथवा संवेदन रहा हुआ है। इस प्रकार भक्ति के मूल में ज्ञान रहा हुआ है। ज्ञान के बिना भक्ति क्या? ज्ञान के आधार पर ही भक्ति उत्पन्न होती है। दूध में जो स्थान शक्कर का है वही स्थान ज्ञान में भक्ति का है। जिस प्रकार दूध में शक्कर मिलने पर वह एक मिष्ट पेय बन जाता है उसी प्रकार ज्ञान में भक्ति मिलने पर वह एक विशिष्ट ही प्रकार का तत्त्व बन जाता है। भक्तिपात्र की विशिष्टता का ज्ञान होने के पश्चात् उसकी ओर, ऊपर कहा उस तरह, कल्याणरूप आकर्षण अथवा शुद्ध सात्त्विक भक्तिभाव जब पैदा होता है तब उस ज्ञान में भक्तिरस मिला ऐसा कहा जा सकता है। इस प्रकार ज्ञान में भक्ति मिलने पर वह एक सुन्दर मिश्रित रस बन जाता है।

और यह समझ में आ सके ऐसा है कि जिसका जिसमें उन्नत भक्तिभाव होता है वह उसका अनुसरण करता है, वह उसमें तन्मय हो जाता है, उसकी आज्ञा के अधीन वह रहता है, उसके निर्दिष्ट मार्ग पर वह चलता है और अपने आप को—अपना सम्पूर्ण व्यक्तित्व उसको अर्पित कर देता है; और आगे बढ़कर भक्तजन अपने उपास्य जैसा ही बनने के लिये उत्कण्ठित हो जाता है,

उसकी पदपंक्तियों का अनुसरण कर के उसके जैसा बनने का सबल प्रयत्न करता है, उसके जैसा सद्गुणी, उसके जैसा सच्चारित्री और उसके जैसा सत्कर्मा बनने के लिये उसके चरणों में अपना जीवन न्योछावर कर देता है। समर्पण केवल ज्ञान से नहीं होता। ज्ञानसंयुक्त भक्ति के बल पर ही समर्पण की भावना और उसका उत्थान शक्य है। इस तरह ज्ञान से युक्त भक्ति अथवा भक्ति से सुवासित ज्ञान कर्म का (चारित्र अथवा जीवनविधि का) निर्माता बनता है।

इस प्रकार ज्ञान, भक्ति और कर्म ये तीनों मिलकर, एक दूसरे में ओतप्रोत होकर, एकरस बनकर मोक्ष का—निःश्रेयस का—परमकल्याणपद का एक, अनन्य और असाधारण मार्ग बनता है।

संसार में सबसे अधिक प्रेम भाजन माता समझी जाती है। उसके आगे जिस प्रकार उसका बालक प्रेममस्त बनकर मातृवात्सल्य के मधुर आनन्द-रस का आस्वाद करता है उसी प्रकार भगवान् के आगे भक्तजन भक्ति के आवेग में मुग्ध बनकर निर्मल भक्तिमय सात्त्विक प्रेमरस का उपभोग करता है। इस प्रकार अपने जीवन तथा आचरण को शुद्ध

१ जैनदर्शनप्रसिद्ध ज्ञान-दर्शन-चारित्र ही ज्ञान-भक्ति-कर्म हैं। दर्शन को भक्ति से अथवा भक्ति को दर्शन से निर्दिष्ट किया जा सकता है। और चारित्र कहो या कर्म कहो एक ही बात है।

करने का मार्ग भी उसके लिये सरल बन जाता है। प्रभु का भक्त होकर यदि आचरण मलिन रखे तो यह कैसे संगत हो सकता है? निर्मल आत्मा के साथ मलिन आत्मा का मिलाप ही कैसे? इस तरह की स्वामी-सेवक की जोड़ ही नहीं बन पाती। भक्त को तो भक्ति के मार्ग द्वारा निर्मलचेता और सदाचरणी बनना ही होगा। तभी प्रभु के साथ उसका मेल जम सकता है। इस तरह भक्ति का पर्यवसान आचरण की–व्यवहार की–चारित्र की शुद्धि में ही आता है और आना चाहिए। तभी और उसी में भक्ति की सफलता है।

और मैं तो यहाँ तक कह सकता हूँ कि एक बार यदि ईश्वरवाद असिद्ध रह जाय तो भी बुद्धिभावित–भावना में विराजित ईश्वर अथवा ईश्वरनिष्ठा हृदय को सान्त्वना और जीवन को गति देने में स्पष्ट उपयोगी है। अतः अनुभव से भी यह कहा जा सकता है कि ईश्वरवाद का अवलम्बन–परमात्मा का आसरा जीवन के लिये सचमुच आश्वासक और प्रेरक है।

(२१)

श्रद्धा

किसी भी कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिये तीन

बातों की आवश्यकता है: श्रद्धा, ज्ञान और क्रिया। इन तीन को जैनदर्शन में क्रमशः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कहते हैं। ये तीन कार्यसिद्धि अथवा मोक्ष का मार्ग हैं। ये तीन मार्ग के भेद नहीं हैं, किन्तु मार्ग के अवयव-अंश हैं। ये तीनों मिलकर एक मार्ग होता है।

श्रद्धा का अर्थ है विवेकपूर्वक दृढ़ विश्वास। जानने को ज्ञान और तदनुसार आचरण को चारित्र कहते हैं।

औषध की रोगनिवारक शक्ति में भरोसा हो, उसका ज्ञान हो और उसका यथायोग्य सेवन किया जाय तो रोग दूर हो सकता है। इसी प्रकार दुःख से मुक्त होने के लिये अथवा सुख या मोक्ष प्राप्त करने के लिये उसके मार्ग के बारे में श्रद्धा, उसका ज्ञान और उस पर चलना

---

1 The unity of heart, head and hand leads to liberation

अर्थात्—हृदय (जो श्रद्धा का प्रतीक है) मस्तिष्क (जो ज्ञान का प्रतीक है) और हाथ (जो क्रिया-प्रवृत्ति का प्रतीक है) इन तीनों के सुसम संयोग से मुक्ति मिलती है।

यह अंग्रेजी वाक्य भी दर्शन [श्रद्धा] ज्ञान तथा चारित्र [आचरण] इन तीन के सहयोग से ही मुक्ति मिलती है इस आर्ष उपदेश को अथवा 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इस महर्षि उमास्वातिप्रणीत तत्त्वार्थसूत्र के आद्य सूत्र की बात को ही प्रकट करता है।

महात्मा गाँधीजी के अन्यतम शिष्य सन्त विनोबा भावे का सूत्र है: श्रद्धा + प्रज्ञा + वीर्य = सत्य।

(आचरण) आवश्यक हैं। इन तीनों के एकत्रित होने पर ही दुःख से मुक्ति अथवा सुख या मोक्ष प्राप्त हो सकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि इष्टसिद्धि का साधनभूत उपाय अथवा मार्ग यों ही इष्टसाधक नहीं हो सकता, किन्तु उस साधनभूत उपाय अथवा मार्ग का सच्चा ज्ञान चाहिए, उसमें श्रद्धा चाहिए तथा उस साधनभूत उपाय का यथायोग्य प्रयोग करनेरूप अथवा उस मार्ग पर चलनेरूप आचरण होना चाहिए।

ऊपर औषध का उदाहरण दिया है। उसके बारे में कोई ऐसा कह सकता है कि औषध का ज्ञान और उसका सेवन ये दो ही पर्याप्त हैं, अर्थात् सच्चे औषध का यथोचित सेवन ही कार्यकारी है, तो फिर वहाँ श्रद्धा के लिये कौनसा अवकाश है? परन्तु हमें यह जान लेना चाहिए कि उसमें भी श्रद्धा की आवश्यकता है। औषध का तात्कालिक लाभ मालूम न होने पर मनुष्य अधीर होकर उसे छोड़ देने के लिये तैयार हो जाता है। वह ऐसा न करे और योग्य समय तक उसका सेवन जारी रखे इसके लिये श्रद्धा की भी उपयोगिता है।

अनजान में भी यदि विषभक्षण किया जाय तो भी वह मारक होगा, इसी प्रकार अनजान में कोई अच्छी चीज़ ले ली जाय तो भी वह शरीर को लाभप्रद होगी,

इसमें श्रद्धा-अश्रद्धा का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; इसी प्रकार सच्चा औषध गुणकारक ही होगा, उसके साथ श्रद्धा अश्रद्धा का कुछ भी सरोकार नहीं है—यह बात मान ली जाय तो भी सुख अथवा कल्याण के मार्गरूप सत्य-संयम में तो श्रद्धा की आवश्यकता है ही। यदि श्रद्धा हो तो इस मार्ग में स्थिर रहा जा सकता है। अतः सुख अथवा कल्याण के मार्गरूप सत्य-संयम यदि श्रद्धा, ज्ञान एवं आचरण इन तीनों के विषय बनें तभी सुखकारक अथवा कल्याणकारक होंगे, अन्यथा नहीं।

वैज्ञानिक खोजों की प्रवृत्ति में जैसे जैसे प्रयोग की सचाई का आभास मिलता जाता है वैसे वैसे श्रद्धा जमती जाती है। अतः श्रद्धा ज्ञानपूर्वक ही होती है, और ज्ञानपूर्वक हो कर के ही वह सुस्थिर बन सकती है तथा सच्चे अर्थ में श्रद्धा कहला सकती है। मतलब कि श्रद्धा के पीछे ज्ञान—भान होता ही है। ज्ञान—भान के आधार के बिना श्रद्धा क्या?

इस तरह श्रद्धा ज्ञानपूर्वक होती है और श्रद्धासम्पन्न ज्ञान का प्रयोग जैसे जैसे आगे बढ़ता जाता है वैसे वैसे ज्ञान का विकास होता जाता है, और ज्ञान के विकास पर श्रद्धा का भी विकास होता जाता है। इस प्रकार ये दोनों एक-दूसरे के पोषक हैं।

श्रद्धा एवं ज्ञान ये दोनों आचरण की अथवा कार्य-प्रवृत्ति की नींव जैसे हैं। श्रद्धा एवं ज्ञान में जितना बल होता है उतना ही वह प्रवृत्ति में उतरता है और तदनुसार प्रवृत्ति का सामर्थ्य भी सतेज होता है।

कार्य की साधना में उत्साह पैदा करनेवाली और उसे बढ़ानेवाली श्रद्धा ही है। ज्ञान के आधार पर किसी भी बात में प्रवृत्ति की जा सकती है परन्तु वह तभी ज़ोरदार बनती है जब उसे श्रद्धा का सहयोग मिले। इतना अवश्य है कि कार्य करने की कुशलता का आधार ज्ञान पर है, ज्ञान जितना अधिक होगा काम भी उतना ही अच्छा बनाया जा सकेगा, परन्तु यदि श्रद्धा न हो तो वह कार्य-प्रवृत्ति जोर नहीं पकड़ सकती, जबकि सुदूरवर्ती भी फल की सिद्धि में श्रद्धा होती है तब इसके (श्रद्धा के) बल पर तत्सम्बन्धी कार्य-प्रवृत्ति में वेग आता है। कार्य में रसोत्पादक श्रद्धा है और इसी के प्रभाव से कार्यपरायणता उत्साहयुक्त एवं सतेज बनी रहती है।

शास्त्र में 'सम्यग्दर्शन' शब्द से भी श्रद्धा का निर्देश किया गया है।

ज्ञान का कार्य वस्तु को ठीक-ठीक जान लेना है। परन्तु ज्ञान द्वारा जानी हुई वस्तु के बारे में जिस दृष्टि से कर्तव्य-अकर्तव्य का अथवा हेय-उपादेय का विवेक प्रकट

होता है वह है सम्यग्दर्शन। विवेकदृष्टि अथवा विवेकमूलक श्रद्धामयी दृष्टि ही सम्यग्दर्शन है।

श्रद्धा और अन्धविश्वास में जमीन आसमान जितना अन्तर है। श्रद्धा विवेकपूत होती है, जबकि अन्धविश्वास 'अन्ध' शब्द से ही विवेकशून्यतावाला जाहिर होता है। विश्वास विवेकप्रसूत होने पर 'श्रद्धा' के सुनाम से अभिहित होता है। विवेकदृष्टिद्वारा वस्तु का विवेक किया जाता है और उस तरह वर्तन के लिये श्रद्धा की आवश्यकता है। इस प्रकार विवेक और श्रद्धा का घनिष्ठ सम्बन्ध समझा जा सकता है।

ज्ञान में जब श्रद्धा का रस मिलता है तब ये दोनों एकरस हो जाते हैं। उस समय वैसा ज्ञान एक विशिष्ट तत्त्व बन जाता है। जिस प्रकार दूध में शक्कर घुल जाती है उसी प्रकार ज्ञान में घुली हुई श्रद्धा यह ज्ञान का एक विशिष्ट बल है। इस प्रकार का ज्ञान कल्याणसाधन की सुवर्ण आधारभूमि बनता है। इस तरह का ज्ञान सम्यग्दर्शन ही है अथवा इस तरह का ज्ञान ही सम्यग्दर्शन है।

दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीन की (तीन के सहयोग की) भाँति ही 'नाणकिरियाहिं मोक्खो' आदि प्राचीन आर्ष

---

१ Knowledge is the wing with which we fly to heaven.—Shakespeare

२ विशेषावश्यकभाष्य की ३री गाथा।

उल्लेखों से ज्ञान और क्रिया (क्रिया अर्थात् चारित्र) इन दो के सहयोग को भी मोक्ष का मार्ग बतलाया है। वहाँ पर दर्शन [श्रद्धान] का समावेश ज्ञान में किया है। "ज्ञान-विशेष एव सम्यक्त्वम्"[1] [ज्ञानविशेष का ही नाम सम्यक्त्व है] ऐसा पूर्वकालीन श्रुतधर ऋषियों का कथन है।

श्रद्धा के बारे में तनिक अधिक स्पष्टीकरण करें।

आत्मस्पर्शी तत्त्वश्रद्धा ही वास्तविक श्रद्धा [कल्याणी श्रद्धा] समझने की है। जिन तत्त्वों पर की श्रद्धा आत्म-जीवन में प्रेरणादायी आन्दोलन जगाए, दृष्टि में विकास-गामी परिवर्तन करे वही मंगलरूप तत्त्वश्रद्धा श्रद्धा है। इस तत्त्वश्रद्धा के विषयभूत तत्त्व हैं : आत्मा, पुण्यपाप, पुनर्जन्म, मोक्ष और मोक्ष का मार्ग। इन तत्त्वों की श्रद्धा–सच्ची समझ के साथ की श्रद्धा–दृढ़ विश्वासरूप श्रद्धा ही आध्यात्मिक जीवन में उपयोगी श्रद्धा है और इसी को सम्यग्दृष्टि, सम्यग्दर्शन अथवा सम्यक्त्व कह सकते हैं। इस सम्यक्त्व के लिये स्वर्ग-नरक के वैदिक, बौद्ध अथवा जैन वा मय में किए हुए वैविध्यपूर्ण पौराणिक वस्तुवर्णनों में आस्था होना अनिवार्य नहीं है। जिस मनुष्य को आत्मा में, आत्मा की सुगति-दुर्गति में और आत्मा के पूर्ण विकास की शक्यता में श्रद्धा है वह सम्यक्त्वशाली है। ऐसी श्रद्धा जीवन

1. विशेषावश्यकभाष्य की ११७४वीं गाथा की वृत्ति में।

के लिये अमृततुल्य होने से अमृतश्रद्धा है। वह जीवन के लिये—जीवनयात्रा के लिये बड़े से बड़ा आलम्बन है।

सम्यक्त्वस्वरूप श्रद्धा में षड्द्रव्यों पर की श्रद्धा की शर्त भी अनिवार्य नहीं है। जिसे 'धर्मास्तिकाय' आदि द्रव्यों की जानकारी नहीं है वह भी अपनी—आत्मा की शुभ दृष्टि के [कल्याणसाधनविषयक सम्यग्दृष्टि के] आधार पर सम्यक्त्वी है अथवा हो सकता है। 'अन्यलिंग'वालों को अथवा अन्य सम्प्रदायवालों को जैनदर्शनसम्मत 'धर्मास्तिकाय' आदि पदार्थों की खबर न हो, फिर भी वे आत्म श्रद्धा की बलिष्ठ नींव पर सच्चारित्रशील बनकर और वीतरागता की दिशा में पूर्ण प्रगति कर के ['अन्यलिंगसिद्ध' के सूत्रानुसार] मुक्ति—केवलज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। 'संवर', 'आस्रव', 'निर्जरा' आदि शब्द जिसने सुने ही नहीं हैं ऐसा मनुष्य भी यदि यह बराबर समझता हो कि हिंसा आदि मार्ग का अवलम्बन लेने से आत्मा का अहित होगा

---

१ उपाध्याय श्री यशोविजयजी कहते हैं—

अन्यलिङ्गादिसिद्धानामाधारः समतैव हि।
रत्नत्रयफलप्राप्तेर्यया स्याद् भावजैनता ॥ २१ ॥

—अध्यात्मसार, समताधिकार।

अर्थात्— अन्यलिङ्ग आदि अवस्थाओं में सिद्ध होनेवालों का आधार समता—समभाव ही है। इस समता के बल पर रत्नत्रय की (सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की) प्राप्ति होने से वे भाव जैन बनते हैं।

और अहिंसा-सत्य-संयम के मार्ग पर चलने से ही उसका हित होगा तो वह सम्यग्दृष्टि है। ऐसी समझ ही सम्यग्दृष्टि की समझ है, ऐसी समझ ही सम्यग्दृष्टि का लक्षण है। हाँ, इतना अवश्य है कि ऐसी समझ दृढ़ विश्वासरूप होनी चाहिए, क्योंकि सम्यग्दृष्टिरूप से मानी जानेवाली श्रद्धा में एक विशिष्ट प्रकार के विश्वास का भाव समाविष्ट है।

शरीर के भीतर परन्तु शरीर से भिन्न और विलक्षण गुणवाला आत्मतत्त्व है और वह योग्य प्रक्रिया द्वारा जन्म-मरण के चक्र में से मुक्त हो सकता है–ऐसी श्रद्धा रखने का नाम सम्यग्दर्शन अथवा सम्यक्त्व है। और ऐसा नहीं है कि ऐसी श्रद्धा अथवा मान्यता कोई एक ही धर्म अथवा सम्प्रदायवाले रख सकते हों, दूसरे नहीं। कोई भी आत्मवादी, फिर वह चाहे किसी भी धर्म अथवा सम्प्रदाय का क्यों न हो, इस प्रकार की श्रद्धा रख सकता है और जो कोई इस श्रद्धा को आचरण में रखकर सम्यक्चारित्र द्वारा रागभाव व कषायभाव से मुक्त हो वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

आत्मतत्त्वविषयक तत्त्वज्ञान बहुत गहन है। अतः इसे न जाननेवाला मनुष्य भी यदि सत्य, अहिंसा के सन्मार्ग में निष्ठा रखे तो वह सम्यक्त्व का धारक कहा जा सकता है। वस्तुतः सत्य, अहिंसा के सन्मार्ग पर की श्रद्धा ही आत्मतत्त्व की श्रद्धा है अथवा आत्मतत्त्व की यथास्थित श्रद्धा के

साथ उसका निकटतम सम्बन्ध है। इस श्रद्धा में सात अथवा नौ तत्त्वों की श्रद्धा का सार आ जाता है।

प्रत्येक प्राणी दुःख से दूर रहने की चेष्टा करता है और सुखी बनने की अभिलाषा रखता है। 'मैं सुखी बनूँ' इस प्रकार की भावना सब जीवों में रहती है। ऐसी भावना में संविदित 'मैं' तत्त्व को कट्टर से कट्टर नास्तिक भी मानता है।

'आत्मा और शरीर भिन्न भिन्न हैं' ऐसा अनुभव करने का शास्त्रों में लिखा है। इसका अर्थ है – स्व-परभेद विज्ञान। यह स्व-परभेदविज्ञान समझदार नास्तिकों को भी होता है और वह इस तरह : 'मैं' तत्त्व को ('मैं' से जिस किसी तत्त्व का संवेदन होता हो उसे) वे 'स्व' और शरीर तथा दूसरे बाह्य पदार्थों को 'पर' समझते हैं। इस तरह इस 'मैं' तत्त्व को मुख्य आधाररूप से स्थापित करके स्वसंविदित सुख दुःख की इष्टानिष्ट अनुभूति के प्रकाश में दूसरे प्राणियों के सुख-दुःख को समझ कर उन्हें सुख-सन्तोष देने में वे अपने कर्तव्य का पालन समझते हैं। इसी प्रकार दूसरों के साथ अनीति-अन्याय करने को वे अपकृत्य मानते हैं। ऐसा नैतिक मार्ग स्व पर के लिये आशीर्वादरूप है और इस तरह के सर्वोदय के मार्ग पर विचरण करनेवाला अपने जीवन को धन्य बना जाता है।

बुद्धि स्वर्ग-नरक आदि परलोक मानने जितनी यदि तैयार न हो, तो भी धर्म की आवश्यकता और उपयोगिता है ही, क्योंकि उसका परिणाम प्रत्यक्ष देखा जाता है। जिस प्रकार आहार-विहार का परिणाम शरीर पर स्पष्ट दिखाई देता है उसी प्रकार धर्मचर्या का परिणाम भी मन पर स्पष्ट दिखाई देता है। मन की कलुषित या विकृत दशा का संशोधन अथवा सत्य, संयम, अनुकम्पा आदि भव्य गुणों द्वारा जीवन का संस्करण ही वस्तुतः धर्म पदार्थ है। यह जीवन की स्वाभाविक वस्तु है, यह जीवन की सच्ची स्थिति है, यही सच्चा जीवन है। यह कुछ स्वर्ग-नरक आदि के दार्शनिक तत्त्वज्ञान पर अवलम्बित नहीं है। जीवन की इस सच्ची स्थिति में ही सुख की कुंजी रही हुई है। इसके बिना सुख की खोज के सब प्रयत्न व्यर्थ हैं, और अन्ततः वे दुःख में ही परिणत होनेवाले हैं।

जहाँ धर्म की भूख हो वहाँ धर्मशाला का प्रश्न गौण बन जाता है। धर्म की भूखवाला मनुष्य अपनी उस भूख को तृप्त करने के प्रयत्न में ही हमेशा तत्पर रहेगा। वह समझता है कि किसी भी 'शाला' में भूख की तृप्ति की जा सकती है, फिर 'शाला की बड़ाई' हांकने का क्या अर्थ है? परन्तु मनुष्य को जब दूसरी बातों की तरह इस बात का भी अहंकार होने लगता है तब धर्मशाला के पीछे

रहा हुआ धर्मसेवन का उद्देश वह भूल जाता है अथवा भुला देता है और धर्म का पूजक मिट कर धर्मशाला का पूजक बन जाता है। भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय पड़ौसी-जैसे हैं और यदि वे पड़ौसीधर्म को बराबर समझें तो उन सबके बीच कितना अच्छा मेलजोल हो सकता है ? अपनी 'शाला' की यदि कोई विशेषता हो अथवा उसमें विशेष सुविधा हो तो अपने पड़ौसियों को वह अवश्य समझायी जा सकती है, परन्तु वह नम्रतापूर्वक तथा उदार वात्सल्यभाव से। इतना ही नहीं, हम उन्हें उसका लाभ लेने की भी प्रेमभाव से सूचना कर सकते हैं। चाहे कोई 'धर्मशाला' अपनी किसी खास विशेषता के कारण बड़ी क्यों न समझी जाती हो, परन्तु उसके मुसाफिर को यदि भूल ही न हो अथवा वैसी भूल को दूर करने में वह सावधान न हो तो किसी भी शाला के निवासी रूप से अथवा किसी भी महाशाला के झण्डाधारी की मुहर लगाने से उसका कोई कल्याण नहीं होने का, जबकि छोटीसी शाला का यात्री भी यदि अपनी भूल को यथावत् दूर करता होगा तो वह वहाँ पर अवश्य ही अपने जीवन का पोषण प्राप्त करेगा और अपना कल्याण साधेगा।

वास्तविक धर्म या कल्याणमार्ग सच्चारित्र है। कल्याण-साधन के इस अमोघ साधन को बराबर समझना ही सम्यग्

ज्ञान है और इस साधन में बराबर श्रद्धा या विश्वास रखना ही सम्यग्दर्शन है तथा उसका सम्यक् पालन ही सम्यक्चारित्र है। इस तरह सम्यग्दर्शन (श्रद्धा), सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र इन तीनों का विषय सच्चारित्र है। [यहाँ पर सम्यक्-चारित्र का विषय सच्चारित्र कहा, इसका अर्थ यह है कि आचरण-पालन-आराधन का विषय सच्चारित्र है।]

श्री हेमचन्द्राचार्य योगशास्त्र के चतुर्थ प्रकाश के १०९ वें श्लोक की वृत्ति में 'श्रद्धा धर्माभिलाषः' इन शब्दों से श्रद्धा का अर्थ धर्म की अभिलाषा बतलाते हैं। धर्म अर्थात् कर्तव्यमार्ग, और इस मार्ग पर चलने की अभिलाषा ही धर्माभिलाषा है। इस अर्थ से यही सूचित होता है कि श्रद्धा अथवा सम्यक्त्व किसी एक सम्प्रदाय के चौके में ही सीमित हो ऐसा नहीं है।

हमें यह समझना चाहिए कि धर्म का फल केवल पार-लौकिक ही नहीं है। अनात्मवादी अथवा परलोक में अश्रद्धालु या सन्दिग्ध किन्तु समझदार मनुष्य धर्म अर्थात् न्याय-नीति के सन्मार्ग पर उत्साहपूर्वक चलता है, क्योंकि वह समझता है कि 'मानव-समाज यदि न्यायसम्पन्न सौजन्य-भूमि पर विचरण करने लगे तो उसका ऐहिक जीवन खूब स्वस्थ बन सकता है और यदि मरणोत्तर परलोक होगा तो वह भी ऐहिक जीवन के स्वच्छ एवं सुन्दर प्रवाह के कारण अच्छा और सुखाढ्य ही मिलने का।'

निःसन्देह, धर्म को ऐहिक-प्रत्यक्षफलदायक समझना यथार्थ ही नहीं, अपितु आवश्यक भी है। यदि मनुष्य यहाँ पर देव (दैविकगुणाढ्य) बने तभी मरकर वह देव हो सकता है। यहाँ पर पशु जैसा जीवन जीने से ही मरणोत्तर पशुजीवन की (तिर्यंच) गति में और यहाँ पर घोरदुष्टतारूप नारकीय जीवन जीने के कारण ही मरणोत्तर नारकीय गति में जीव जाता है। इसी प्रकार इस देह में मानवता के योग्य सद्गुणों का विकास करनेवाला मरकर पुनः मानव जन्म लेता है।

इस सबका फलितार्थ यही है कि अनीति अन्याय-असंयमरूप कुचरित्र की हेयता में तथा नीति-न्याय संयमरूप सच्चरित्र की उपादेयता में विशुद्ध समझ, विशुद्ध विश्वास होने का नाम ही सम्यग्दर्शन, सम्यक्त्व अथवा तत्त्वार्थ श्रद्धान है। इसके विस्तृत प्रचार के प्रभाव से मानव-समाज में फैली हुई विलासलम्पटता, पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, सत्ता-अधिकारवाद, गुण्डमवाद के भयकर भ्रष्टाचार के अति विषम आक्रमण पर संचित अनीति-अन्याय अत्याचार व शोषण की भयानक बदी और ऊँचनीचभाव के समाज शोषक उन्मादक रोग नष्टभ्रष्ट होकर अहिंसा, सत्य, आवश्यक परिमित परिग्रह, समदृष्टि तथा प्राणिवात्सल्य के सर्वोदयसाधक सद्गुणों के आलोक से यह लोक आलोकित होकर स्वर्ग का भी स्वर्ग बन सकता है।

शास्त्रों में विशुद्धतत्त्वश्रद्धानरूप अथवा सम्यग्दृष्टिरूप सम्यक्त्व की पहचान के लिये पाँच लक्षण बतलाए हैं—

शमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्यलक्षणैः।
लक्षणैः पञ्चभिः सम्यक् सम्यक्त्वमुपलक्ष्यते॥

—हेमचन्द्र, योगशास्त्र, २-१५.

अर्थात्-शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये सम्यक्त्व की पहचान के पाँच लक्षण हैं।

१ शम—क्रोध, लोभ आदि कषायदोषों को पतला करना तथा कामलालसा को अंकुश में [समुचित संयम में] रखना।

२ संवेग—आत्मकल्याण साधने की उत्कट आकांक्षा।

३ निर्वेद—पापाचरण, अनाचार, अपकृत्यों की ओर घृणाभाव।

४ अनुकम्पा—करुणा-दयावृत्ति।

५ आस्तिक्य—सदाचरण में कल्याण है और दुराचरण में दुर्गति है ऐसी पक्की और सुदृढ़ श्रद्धा।

(२२)

शास्त्र—

हमें यह समझ लेने की आवश्यकता है कि शास्त्र की

उत्पत्ति अनुभव में से होती है, परन्तु शास्त्र से सीधा अनु-
भव नहीं मिलता। शास्त्रोपदेश के योग्य परिशीलन के
पश्चात् भी मुमुक्षु जब अन्तर्योग की साधना का मार्ग ग्रहण
करता है तब उसके विकास में से, शास्त्रों में से न मिल
सके ऐसा अनुभव उसे प्राप्त होता है। इस प्रकार के उज्ज्वल
अनुभव में से लोकप्रकाशरूप पवित्र शास्त्रों का सर्जन
होता है। इस तरह अनुभव का स्थान बहुत ऊँचा है, शास्त्र—
ग्रन्थ की भूमिका से भी उसका स्थान अत्युन्नत है।

दुनिया में शास्त्रों के प्रवाह कितनी भिन्न भिन्न विचार
धाराओं में बह रहे हैं! इन शास्त्रों के प्रणेता ऋषियों की
भूमिका समान नहीं थी। उन सबकी आन्तरिक निर्मलता
तथा समताभाव एकसरीखे नहीं थे। शास्त्रविद्या के महा
रथी महापुरुष आचार्यों के बीच कितकितने और कैसे-कैसे
मतभेद देखे जाते हैं! और अपने मन्तव्य के बार में
समतुला न रहनेपर मताग्रह के अतिरेक के प्रदर्शन में आवेश
वश भी दिखाई देते हैं। ऋषि मुनियों और आचार्यों के पर
स्पर खण्डन मण्डन से भरे हुए शास्त्र कहाँ कम हैं!

कहन का अभिप्राय यह है कि शास्त्रमोह से शास्त्र का
पूजक न बनकर अपने प्रज्ञारूप प्रदीप को साथ में रखकर के
शास्त्रविहार करना चाहिए। इसी में उसका क्षेम है।
प्रत्येक समझदार व्यक्ति के लिये शास्त्र-बल अथवा उपदेश

जल अपने स्वच्छ बुद्धिरूप वस्त्र से छानकर लेने में ही कुशल है, इसी में उसकी बुद्धिमत्ता है। शास्त्ररूपी समुद्र में से मोती तो 'जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ'। इस तरह शास्त्रों से काम लेने का है, परन्तु डूब मरने के लिये किसी एक शास्त्र को कूआँ बनाने का नहीं है।

आर्ष, पारमर्ष शास्त्रों में ज्ञानसम्पत्ति तथा पवित्र विचार-सम्पत्ति बहुत भरी हुई है, किन्तु वे लम्बे भूतकाल के अनेक झंझावातों में से गुजर चुके हैं यह बात भी शास्त्रों के अव-लोकन के समय अपनी सहज एवं तटस्थ बुद्धि या प्रज्ञा के उपयोग को साथ रखने की आवश्यकता सूचित करती है। कोरे 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' से नहीं चल सकता। आज-कल के प्रतिभाशाली प्राज्ञों के विचार यदि शास्त्र परम्परा से विरुद्ध प्रतीत होते हों तो भी उनसे न भड़क कर उन विचारों को समतापूर्वक समझने का प्रयत्न करना चाहिए और यदि ठीक जँचें तो, बतौर एक सत्यशोधक, उन विचारों को अपनी विचारनिधि में समाविष्ट कर लेना चाहिए। किसी के भी विचार जितने अंश में युक्त-उपयुक्त मालूम पड़ते हों उतने अंश में उनका मूल्याङ्कन करना चाहिए। सत्यपूजा अथवा ज्ञानपूजा का यह एक प्रशस्त लक्षण है।

सत्य के लिये शास्त्र है, न कि शास्त्र के लिये सत्य।

उत्पत्ति अनुभव में से होती है, परन्तु शास्त्र से सीधा अनुभव नहीं मिलता। शास्त्रोपदेश के योग्य परिशीलन के पश्चात् भी मुमुक्षु जब अन्तर्योग की साधना का मार्ग ग्रहण करता है तब उसके विकास में से, शास्त्रों में से न मिल सके ऐसा अनुभव उसे प्राप्त होता है। इस प्रकार के उज्ज्वल अनुभव में से लोकप्रकाशरूप पवित्र शास्त्रों का सर्जन होता है। इस तरह अनुभव का स्थान बहुत ऊँचा है, शास्त्र—ग्रन्थ की भूमिका से भी उसका स्थान अत्युन्नत है।

दुनिया में शास्त्रों के प्रवाह कितनी भिन्न भिन्न विचार धाराओं में बह रहे हैं! इन शास्त्रों के प्रणेता ऋषियों की भूमिका समान नहीं थी। उन सबकी आन्तरिक निर्मलता तथा समभावना एकसरीखे नहीं थे। शास्त्रविद्या के महारथी महापुरुष आचार्यों के बीच कितकितने और कैसे-कैसे मतभेद देखे जाते हैं! और अपने मन्तव्य के बारे में समतुला न रहनेपर मताग्रह के अतिरेक के प्रदर्शन में आवेश वश भी दिखाई देते हैं। ऋषि मुनियों और आचार्यों के परस्पर खण्डन मण्डन से भरे हुए शास्त्र कहाँ कम हैं!

कहने का अभिप्राय यह है कि शास्त्रमोह से शास्त्र का पूजक न बनकर अपने प्रज्ञारूप प्रदीप को हाथ में रखकर के शास्त्रविहार करना चाहिए। इसी में उसका क्षेम है। प्रत्येक समझदार व्यक्ति के लिये शास्त्र-बल अथवा उपदेश

प्रकार शास्त्र की परीक्षा श्रुत, शील, तप और दया (अहिंसा) इन चार गुणों से होती है। (१) जिसमें प्रत्यक्ष तथा बुद्धि से अविरुद्ध (अबाधित) ऐसा श्रेयोमूलक श्रुत (तत्त्व-ज्ञान हो, (२) जिसमें सदाचार को मुख्य प्रतिष्ठा दी गई हो, (३) जिसमें जीवन के ऊर्ध्वीकरण में सहायभूत तप का विधान किया गया हो और (४) जिसमें अहिंसा-दया का कर्तव्यरूप से विवेकपूर्ण निरूपण किया गया हो, वह शास्त्र (आदरणीय शास्त्र) है। ऐसे शास्त्र द्वारा प्रतिपादित स्वाध्याय-शील-तप-अहिंसा का सन्मार्ग ही धर्म है, वही कल्याणमार्ग है।

यहाँ पर प्रसंगोपात्त यह सूचित करना आवश्यक प्रतीत होता है कि कुलाचार के तौर पर भी यदि अच्छा आचरण अथवा अच्छा कार्य होता हो तो वह प्रशंसनीय है, परन्तु समझ के साथ जो सत्कर्म होता है उसका मज़ा कुछ और ही होता है। कुलाचार से जो जैन, बौद्ध अथवा वैष्णव है उसकी उतनी महत्ता नहीं है, परन्तु जो समझ के साथ, बुद्धिपूर्वक जैन, बौद्ध अथवा वैष्णव है अर्थात् जैनत्व, बौद्धत्व अथवा वैष्णवत्व के उच्च एवं विशुद्ध आदर्श पर जो जैन, बौद्ध अथवा वैष्णव है वही सच्चा जैन, बौद्ध अथवा वैष्णव है। क्योंकि जो बुद्धिपूर्वक सन्मार्ग की दीक्षा ग्रहण करता है वह उस मार्ग की परम्परा में कूड़ा-करकट-जैसा जो कुछ जमा हो गया होना

जो सत्य है, जो विचारपूत अथवा बुद्धिपूत है, जो युक्तिसिद्ध और उपयुक्त है उसे शास्त्र पलट नहीं सकता, और यदि उसे पलट देने का प्रयत्न करे तो वह स्वयं ही औंधा जाय, खतरे में पड़ जाय। जो बुद्धि से अगम्य हो, जो बुद्धि की पहुँच से बाहर हो उसके सामने विरोध करने की सम्भवता ही कहाँ है? उसके बारे में समझ न पड़े तो भी चुप्पी ही साधनी पड़ती है। परन्तु यदि कोई तत्त्व बुद्धिविरुद्ध हो अथवा लोकहित के विरुद्ध हो तो उसका, शास्त्र में उल्लेख होने मात्र से, स्वीकार नहीं किया जा सकता। 'बृहस्पति स्मृति' में कहा है कि—

केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो विनिर्णयः।
युक्तिहीनविचारे तु धर्महानिः प्रजायते॥

अर्थात्—केवल शास्त्र के आधार पर निर्णय नहीं करना चाहिए, क्योंकि युक्तिविरुद्ध विचार के अनुसरण में धर्म की हानि होती है।

शास्त्रपरीक्षा के लिए कहा है—

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते निघर्षण-च्छेदन-ताप-ताडनैः।
तथैव शास्त्रं विदुषा परीक्ष्यते श्रुतेन शीलेन तपो-दयागुणैः॥

अर्थात्—जिस प्रकार सोने की परीक्षा घर्षण, छेदन, तापन और ताडन इस प्रकार चार तरह से होती है उसी

अर्थ है (और वह है उन गुणों को धारण करना), अतः जैन, बौद्ध, वैष्णव एक ही हैं। [वैष्णव, जैन, बौद्धों की भाँति अन्यसम्प्रदायानुयायी धार्मिक भी लेने।]

संसार में दार्शनिक (Philosophical or logical) मन्तव्य सर्वदा भिन्न भिन्न ही रहने के। इसी प्रकार क्रियाकाण्ड की प्रणालिकाएँ भी पृथक् पृथक् ही रहने की।

बौद्धिक क्षयोपशम की भिन्न-भिन्नता के कारण विद्वानों की दार्शनिक विचारधाराएँ एक-दूसरे से अलग पड़ती हैं। दार्शनिक विचारधाराओं में से कोई युक्त, कोई अयुक्त, तो कोई युक्तायुक्त हो सकती है, परन्तु क्रियाकाण्ड की बात कुछ निराली है। भगवत्प्रार्थना अथवा आत्मभावना की क्रिया का बाह्यरूप शरीर के अंगोपांगों के साथ, बाह्य उपकरणों के साथ तथा दिन-रात के एवं साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक अथवा वार्षिक रूपसे पसन्द किए गए समय के साथ सम्बद्ध होकर वह क्रिया सहजरूप से ही भिन्न-भिन्न देश काल के रंगढंग के अनुसार, भिन्न-भिन्न मनुष्यों एवं वर्ग की रुचि के अनुसार हमेशा भिन्न-भिन्न प्रकार की ही रहने की। भिन्न-भिन्नता अथवा वैविध्य बाह्य क्रिया का नैसर्गिक स्वभाव है।

---

१ इन शब्दों के शब्दार्थ का भी एक ही तात्पर्य है। इन्द्रिय-विजय का अभ्यास करनेवाला जैन, सद्बुद्धि के मार्ग पर विचरण करनेवाला बौद्ध और आत्ममैत्री द्वारा विश्वके समग्र प्राणियों के साथ जो व्याप्त [सम्मिलित] होकर रहे वह वैष्णव।

है उसे दूर करने का विवेक भी दिखला सकता है। ऐसे विवेक से वह असत् तत्त्व को दूर कर के अपने जीवन विकास की साधना के साथ ही साथ सामान्य जनता के सम्मुख भी एक स्वच्छ ज्ञानमार्ग प्रस्तुत करता है।

जैन, बौद्ध, वैष्णव आदि यदि संकुचित मनोवृत्ति के हों तो एक-दूसरे से अलग भिन्न भिन्नमार्गगामी बनते हैं, परन्तु यदि विवेकदृष्टिसम्पन्न और सच्ची कल्याणकामना वाले हों तो भिन्न भिन्न साम्प्रदायिक नाम रखते हुए भी वे वस्तुतः एक ही कल्याणमार्ग पर विचरनेवाले पथिक हैं। ऐसे समभावी, शुद्ध जिज्ञासु, गुणपूजक सज्जन वस्तुतः एक ही मार्ग के सहप्रवासी हैं।

'वैष्णव जन तो तेने कहीए जे पीड पराई जाणे रे' इस सुप्रसिद्ध भजन में बतलाए हुए नैतिक सद्गुण जिस प्रकार वैष्णव होने के लिये आवश्यक हैं उसी प्रकार बौद्ध अथवा जैन बनने के लिये भी आवश्यक हैं। इन सद्गुणों को धारण करना ही यदि वैष्णवत्व, बौद्धत्व अथवा जैनत्व हो तो वैष्णवत्व, बौद्धत्व अथवा जैनत्व कोई जुदी वस्तु नहीं रह जाती, किन्तु वह एक ही वस्तु बन जाती है; क्योंकि जिस प्रकार जल, पानी, वारि, वोटर, नीर आदि शब्दों का एक ही अर्थ है, अतः जल, पानी, वारि, वोटर, नीर एक ही है, उसी प्रकार वैष्णवत्व, जैनत्व, बौद्धत्व इन सबका एक ही

अर्थ है (और वह है उन गुणों को धारण करना), अतः जैन, बौद्ध, वैष्णव एक ही हैं। [वैष्णव, जैन, बौद्धों की भाँति अन्यसम्प्रदायानुयायी धार्मिक भी लेने।]

संसार में दार्शनिक (Philosophical or logical) मन्तव्य सर्वदा भिन्न भिन्न ही रहने के। इसी प्रकार क्रिया-काण्ड की प्रणालिकाएँ भी पृथक् पृथक् ही रहने की।

बौद्धिक क्षयोपशम की भिन्न-भिन्नता के कारण विद्वानों की दार्शनिक विचारधाराएँ एक-दूसरे से अलग पड़ती हैं। दार्शनिक विचारधाराओं में से कोई युक्त, कोई अयुक्त, तो कोई युक्तायुक्त हो सकती हैं, परन्तु क्रियाकाण्ड की बात कुछ निराली है। भगवत्प्रार्थना अथवा आत्मभावना की क्रिया का बाह्यरूप शरीर के अंगोपांगों के साथ, बाह्य उपकरणों के साथ तथा दिन-रात के एवं साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक अथवा वार्षिक रूपसे पसन्द किए गए समय के साथ सम्बद्ध होकर वह क्रिया सहजरूप से ही भिन्न-भिन्न देश काल के रंगढंग के अनुसार, भिन्न-भिन्न मनुष्यों एवं वर्ग की रुचि के अनुसार हमेशा भिन्न-भिन्न प्रकार की ही रहने की। भिन्न-भिन्नता अथवा वैविध्य बाह्य क्रिया का नैसर्गिक स्वभाव है।

---

१ इन शब्दों के शब्दार्थ का भी एक ही तात्पर्य है। इन्द्रिय-विजय का अभ्यास करनेवाला जैन, सद्बुद्धि के मार्ग पर विचरण करने-वाला बौद्ध और आत्ममैत्री द्वारा विश्वके समग्र प्राणियों के साथ जो व्याप्त [सम्मिलित] होकर रहे वह वैष्णव।

यह बात बहुत ही सीधी सादी है, फिर भी क्रियाभेद के ऊपर जो नाक भौंह सिकोड़ कर लड़ने पर तुल जाते हैं यह उनकी भूल है।

यहाँ पर यह समझ लेने की आवश्यकता है कि दार्शनिक मन्तव्यों अथवा क्रियाकाण्डों की भिन्नता के कारण धर्म में भिन्नता नहीं आ सकती। हजारों मनुष्यों में दार्शनिक मान्यता अथवा क्रियाकाण्ड की पद्धति एक-दूसरे से भिन्न होने पर भी यदि वे सत्य अहिंसारूप एक धर्म में मानने वाले हों तो वे सब एक धर्म के कहे जा सकते हैं।

यह बात स्पष्ट है कि धार्मिकता का नाप धर्म से (जीवन धर्म के निर्मल रंग से जितना रँगा हो उस पर से) होता है, न कि दार्शनिक पटुता अथवा क्रियाकाण्ड के बाह्य आचरण पर से। इसी तरह यह भी स्पष्ट है कि जीवन का उद्धार एकमात्र धर्म से (अहिंसा-सत्यरूप सद्धर्म के पालन से) ही शक्य है, कोरे दार्शनिक मन्तव्यों के स्वीकार से अथवा केवल क्रियाकाण्ड से नहीं। ऐसा होने पर भी भिन्न भिन्न प्रकार के दार्शनिक वादों में से कोई भी वाद यदि किसी मनुष्य की पवित्र धर्म-साधना में सहायक होता हो अथवा किसी पद्धति का क्रियाकाण्ड उसकी पवित्र धर्म-साधना में प्रोत्साहक होता हो तो उस मनुष्य के लिये वे दोनों श्रेयस्कर हो सकते हैं।

इस प्रकार धर्म मुख्य मुद्दे की चीज़ है, जबकि दार्शनिक मतवाद तथा क्रियाकाण्ड का सौष्ठव धर्मपालन में उपयोगी अथवा सहायक होने में ही है। जिसके पवित्र धर्मसाधन में जो तत्त्वज्ञान और जिस प्रकार का क्रियाकाण्ड सहायक हो वह उसके लिये अमृतरूप है। अतः दार्शनिक मन्तव्यों के भेदों अथवा क्रियाकाण्ड की भिन्न-भिन्न पद्धतियों के ऊपर से धर्म को भिन्न-भिन्न मान लेने की दृष्टि ग़लत है, इसलिए वह दूर करनी चाहिए और अहिंसा-सत्य के सन्मार्ग में धर्म माननेवाले सब, चाहे वे लाखों और करोड़ों हों, एक ही धर्म के हैं—साधर्मिक हैं ऐसा समझना चाहिए।

जीवन का कल्याण शास्त्रज्ञान की विशालता अथवा अधिकता पर अवलम्बित नहीं है। जीवन का कल्याण तो तत्त्वभूत समझ पर दृढ़रूप से अमल करने में है। मोटी बुद्धि के मनुष्य भी अनीति-अन्याय तथा राग-रोष न करने के उपदेश को जीवन में उतार कर झपाटे में तैर गए हैं, जबकि बड़े बड़े पण्डित, शास्त्री अथवा दार्शनिक तत्त्वदृष्टि का स्पर्श करने में असमर्थ रहने के कारण भवसागर में गोते लगाते रहते हैं!

'मेरा सो सच्चा' ऐसा नहीं, किन्तु 'सच्चा सो मेरा' ऐसा बोलने में बहुत से लोग चतुराई तो दिखलाते हैं, परन्तु व्यवहार में वे पक्ष-मोह से आकृष्ट होकर सच्चा क्या

है इसका विचार करने के लिये नहीं रुकते। वे तो 'अपना सो सच्चा और दूसरे का सब खोटा' ऐसे मनोबद्ध पूर्वग्रह से प्रेरित होकर दूसरे को मिथ्यात्वी, कुसंगी, नास्तिक, काफिर आदि कहने में तनिक भी संकोच नहीं रखते। परन्तु यह खूब नासमझी की बात है।

जिसे हम अपना आप्तपुरुष मानते हों उसके बारे में हम श्रद्धाभाव रखें यह स्वाभाविक है, परन्तु वह श्रद्धा अन्धश्रद्धा न होनी चाहिए। वास्तविक आप्तपुरुष के बारे में भले ही श्रद्धा रखी गई हो परन्तु उस श्रद्धा की नींव में विवेक-विचार न हो तो वह जागरित एवं अटल श्रद्धा नहीं होगी। जब उस श्रद्धा के पीछे विवेक विचार का बल होता है तभी वह सच्ची और पक्की श्रद्धा बनती है।

हरिभद्राचार्य का 'युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः' [जिसका वचन युक्तियुक्त हो उसी को स्वीकार करना] वाक्य अथवा उसके जैसे दूसरे उद्गार मुँह से निकालने तो सरल हैं, परन्तु जब कोई अपनी परम्परा की युक्तिरहित बात को वैसी (युक्तिरहित) कहे तो क्रोध आ जाता है और समतापूर्वक उस पर विचार नहीं किया जाता। इसी प्रकार अन्य परम्परा की युक्तियुक्त बात को स्वीकार करने में मन हिचकिचाता है। यदि हमारी ऐसी स्थिति हो तो हरिभद्राचार्य की उपर्युक्त उदार उक्ति का हमने आदर अथवा उस पर अमल किया यह कैसे कहा जायगा?

आचार्य हरिभद्र एक विद्वान् ब्राह्मण और दर्शन-शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। जैनधर्म स्वीकार करके वे जैन-शासन के महान् प्रभावक आचार्य बने थे। उन्होंने

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

[लोकतत्त्वनिर्णय, ३८]

ऐसा कहकर स्पष्टरूप से उद्घोषित किया है कि यद्यपि मैं भगवान् महावीर का अनुयायी हूँ, फिर भी मुझे भगवान् महावीर की ओर न तो पक्षपात ही है और कपिल आदि अन्य सम्प्रदायों के पुरस्कर्ता महर्षियों की ओर न द्वेषभाव ही। अमुक वचन भगवान् महावीर का है इसलिये तुम उसे मानो और अमुक वचन महर्षि कपिल आदि का है इसलिये उसे फेंक दो—ऐसा मेरा कहना नहीं है। वचन चाहे जिसका हो, वह किसका है यह बात तुम भूल जाओ, परन्तु उस पर तुम विचार करो, उसे बुद्धि की कसौटी पर कसो और वह युक्तिसंगत प्रतीत हो तभी उसका स्वीकार करो, ऐसा मेरा कहना है।

इस महान् आचार्य के कहने का तात्पर्य यह है कि 'मेरा सो सच्चा' ऐसा पक्षपात अथवा पूर्वग्रह छोड़कर सुसंस्कृत एवं मध्यस्थ बुद्धि से परीक्षा करने पर 'जो सच्चा

सो मेरा' ऐसा स्वीकार करनेजितनी विशाल भावना विकसित करो, जिससे साम्प्रदायिक मूढ़ता दूर हो और हृदय विशाल, निष्पक्षपात एवं सत्यग्राही बने। अस्तु

यहाँ पर हमें यह जान लेना उपयोगी होगा कि मानव जीवन के सर्वांगीण विकास के लिये बुद्धि (जो कि ज्ञान का स्थान है) और हृदय (जो कि श्रद्धा का स्थान है) इन दोनों का सामञ्जस्य आवश्यक है। ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। बुद्धि यदि कर्तव्यमार्ग सुझाती है तो हृदय उस मार्ग पर चलने की प्रेरणा करता है। हृदय के बिना बुद्धि निष्क्रिय है और बुद्धि के बिना हृदय दिग्भ्रान्त है। बुद्धि और हृदय इन दोनों के युगल-सामञ्जस्य से ही जीवनयात्रा चल सकती है।

चारित्रमार्ग में ज्ञान की अपूर्णता को श्रद्धा द्वारा पूर्ण कर के आगे बढ़ा जा सकता है। जैसे जैसे अनुभवज्ञान का क्षेत्र बढ़ता जाता है वैसे वैसे श्रद्धा का क्षेत्र कम होता जाता है—यद्यपि श्रद्धा की घनिष्ठता तो बढ़ती ही जाती है। और जब अनुभवज्ञान अपनी पूर्णता पर पहुँचता है तब श्रद्धा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व खो कर अनुभवज्ञान में विलीन हो जाती है।

जब किसी भी वस्तु के अस्तित्व के बारे में अथवा किसी कार्यकारणभाव के सम्बन्ध में सन्देह के लिये किंचित्

भी अवकाश रहता हो तब श्रद्धा रखने न-रखने का प्रश्न उपस्थित होता है, परन्तु जब उस बात का प्रत्यक्षरूप से अथवा प्रयोगद्वारा अनुभवज्ञान होता है तब श्रद्धा रखने न-रखने का प्रश्न नहीं रहता।

(२३)

वैराग्य—

संसार यह कुछ ईंट-पत्थर का मकान नहीं है। माता-पिता-बन्धु अथवा मित्र ये संसार नहीं है। वह बाग़-बग़ीचे अथवा द्रव्य-सम्पत्तिरूप नहीं है। वह उद्योग अथवा प्रवृत्ति-व्यापाररूप नहीं है। संसार इनमें से किसी में नहीं है। अत-एव इन सबके त्याग से संसार का वास्तविक त्याग होता हो ऐसा समझना योग्य नहीं है। मनुष्य का वास्तविक संसार उसके हृदय में—मन में है। ऐसे मन के साथ वह बस्ती में रहे अथवा जंगल में रहे—कहीं भी रहे उसका संसार उसके साथ ही होता है। वासना (मोहवासना, क्लेशवासना) ही संसार है। इस वासना से जीव जबतक आक्रान्त होता है तबतक, फिर वह चाहे गृहस्थ-अवस्था में हो अथवा संन्यासी अवस्था में, वह भवभ्रमण के फन्दे में फँसा हुआ है। मनुष्य स्थूल पदार्थों का त्याग कर के भले उन सबसे दूर-सुदूर चला जाय, उन सबसे भले वह भाग खड़ा हो, परन्तु अपने चित्त से वह कैसे दूर जा सकता है?

अपने चित्त से—वासनामय चित्त से वह भाग नहीं सकता। और जबतक वासनामय चित्त है तबतक उसके साथ संसार चिपका हुआ ही है। संसार की सभी रंगभूमि प्राणी के अन्तःप्रदेश में है। बाहर तो केवल उसके आन्तरिक भावों का स्थूल प्रकटीकरण ही है।

अनीति-अन्याय तथा स्वार्थान्धता आदि दोषों का नाम राग है, अतः उसे दूर करने पर जो वैराग्यभाव प्राप्त होता है वह मनुष्य को उदार, सत्याचरणी, विवेकदृष्टि और वत्सल (स्नेहार्द्र) प्रकृति का बनाता है। राग-वासना जैसे जैसे हटती जाती है और उसके परिणामरूप वैराग्य का सात्त्विक भाव जैसे जैसे खिलता जाता है वैसे वैसे मनुष्य त्यागी और परोपकारपरायण बनता है, वैसे वैसे उसकी लोकबन्धुता की भावना विकसित होती जाती है। त्याग और परोपकारभाव उसके स्वभाव बन जाते हैं और इन्हीं में वह आनन्दित रहता है।

वैराग्य में [शब्द और अर्थ दोनों दृष्टि से] राग वासना को दूर करने का ही मुख्य भाव है। अत्यन्त कठिन और प्रखर प्रयत्नों से साध्य यह वैराग्य उतनी ही स्थिर और ज्वलन्त विवेकदृष्टि पर अवलम्बित है। इस दृष्टि में यदि तनिक भी मन्दता आई तो तुरन्त ही वैराग्य दूध की भाँति फट जायगा। जाज्वल्यमान विवेकदृष्टि पर चमकता हुआ

वैराग्य मानवसमूह के बीच, बाग़-बगीचे और मकानों में तथा भोजन-पान के अवसर पर सदा अबाधित रहता है। अर्थात् मकान में रहने पर, भोजन-पान लेने पर और मानव-समूह के बीच रहने पर भी उसका वैराग्य अक्षुण्ण बना रहता है, जब कि ऊपर-ऊपर से खूब त्यागी–तपस्वी दिखाई देनेवाला वनवासी अथवा संन्यासी मोहवासनाओं में लिप्त हो सकता है। सच्ची वैराग्यदृष्टि प्राप्त होने पर उपलब्ध सुख-सामग्री में उलझानेवाली आसक्ति से हम बच सकते हैं। राग में बद्ध होकर एक स्थान पर चिपके रहना, उन्नति तथा विकास के मार्ग पर प्रकृति के महानियम के अनुसार आगे और आगे न बढ़कर एक ही प्रदेश में अथवा एक ही पदार्थ में व्यामोहवश लिपटे रहना निःसन्देह वैराग्य के विरुद्ध है। व्यामोह को हटा कर के ऊपर उठने में ही वैराग्य है। विश्व के वातावरण को अमृतमय अथवा विषाक्त बनाना हमारी अपनी दृष्टि-कला पर अवलम्बित है। विष वस्तुतः मनुष्य के विकृत मानस में है और इसी कारण वह अपने चारों ओर विष ही देखता है और विष ही फैलाता है। मधुर एवं प्रसन्न मन (विचारदृष्टि) सर्वत्र अमृत की वृष्टि करता है, उसे सर्वत्र अमृत और अमृत की ही अनुभूति होती है। आत्मकल्याणरूप उन्नतिमार्ग में पदे पदे आनन्द ही

१. वनेऽपि दोषा प्रभवन्ति रागिणां गृहेषु पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तप।
अकुत्सिते वर्त्मनि य. प्रवर्तते निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम्॥

अपने चित्त से—वासनामय चित्त से वह भाग नहीं सकता। और जबतक वासनामय चित्त है तबतक उसके साथ संसार चिपका हुआ ही है। संसार की सच्ची रंगभूमि प्राणी के अन्तःप्रदेश में है। बाहर तो केवल उसके आन्तरिक भावों का स्थूल प्रकटीकरण ही है।

अनीति-अन्याय तथा स्वार्थान्धता आदि दोषों का नाम राग है, अतः उसे दूर करने पर जो वैराग्यभाव प्राप्त होता है वह मनुष्य को उदार, सत्याचरणी, विवेकदृष्टि और वत्सल (स्नेहार्द्र) प्रकृति का बनाता है। राग-वासना जैसे जैसे हटती जाती है और उसके परिणामरूप वैराग्य का सात्त्विक भाव जैसे जैसे खिलता जाता है वैसे वैसे मनुष्य त्यागी और परोपकारपरायण बनता है, वैसे वैसे उसकी लोकबन्धुता की भावना विकसित होती जाती है। त्याग और परोपकारभाव उसके स्वभाव बन जाते हैं और इन्हीं में वह आनन्दित रहता है।

वैराग्य में [शब्द और अर्थ दोनों दृष्टि से] राग वासना को दूर करने का ही मुख्य भाव है। अत्यन्त कठिन और प्रखर प्रयत्नों से साध्य यह वैराग्य उतनी ही स्थिर और ज्वलन्त विवेकदृष्टि पर अवलम्बित है। इस दृष्टि में यदि तनिक भी मन्दता आई तो तुरन्त ही वैराग्य दूध की भाँति फट जायगा। आत्मस्यमान विवेकदृष्टि पर चमकता हुआ

वैराग्य मानवसमूह के बीच, बाग़-बग़ीचे और मकानों में तथा भोजन-पान के अवसर पर सदा अबाधित रहता है। अर्थात् मकान में रहने पर, भोजन-पान लेने पर और मानव-समूह के बीच रहने पर भी उसका वैराग्य अक्षुण्ण बना रहता है, जब कि ऊपर-ऊपर से खूब त्यागी–तपस्वी दिखाई देनेवाला वनवासी अथवा संन्यासी मोहवासनाओं में लिप्त हो सकता है। सच्ची वैराग्यदृष्टि प्राप्त होने पर उपलब्ध सुख-सामग्री में उलझानेवाली आसक्ति से हम बच सकते हैं। राग में बद्ध होकर एक स्थान पर चिपके रहना, उन्नति तथा विकास के मार्ग पर प्रकृति के महानियम के अनुसार आगे और आगे न बढ़कर एक ही प्रदेश में अथवा एक ही पदार्थ में व्यामोहवश लिपटे रहना निःसन्देह वैराग्य के विरुद्ध है। व्यामोह को हटा कर के ऊपर उठने में ही वैराग्य है। विश्व के वातावरण को अमृतमय अथवा विषाक्त बनाना हमारी अपनी दृष्टि-कला पर अवलम्बित है। विष वस्तुतः मनुष्य के विकृत मानस में है और इसी कारण वह अपने चारों ओर विष ही देखता है और विष ही फैलाता है। मधुर एवं प्रसन्न मन (विचारदृष्टि) सर्वत्र अमृत की वृष्टि करता है, उसे सर्वत्र अमृत और अमृत की ही अनुभूति होती है। आत्मकल्याणरूप उन्नतिमार्ग में पदे पदे आनन्द ही

---

१ वनेऽपि दोषा प्रभवन्ति रागिणा गृहेषु पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तप ।
अकुत्सिते वर्त्मनि य. प्रवर्तते निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् ॥

आनन्द, रस ही रस भरा है। ऊर्ध्वगामी आत्मा अपने उन्नत शिखर में उस रस और आनन्द में मस्त रह कर उन्नति के समुन्नत शिखर पर, परमपद की स्थिति पर पहुँच जाता है।

रस के मोह-राग में लिपट जाना पामरता है, परन्तु जो रस का स्वामी बनकर निर्मम भाव से रस का उपभोग करता है, जिसे भौतिक रस की अपेक्षा आत्मविकास के सन्मार्ग में उपलब्ध होनेवाले आनन्दरस की चाट लग गई है वही सच्चा मर्द है। ऐसा वीर मनुष्य सांसारिक धरातल से बहुत ऊपर उठा हुआ होता है। वह अपने सच्चे आत्मिक समुन्नत वैराग्यरस में अनुपम आनन्द लूटता है और विश्व के अन्धकारपीड़ित मनुष्यों के लिए तूफानों के बीच एक प्रकाशस्तम्भ जैसा बन जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सहज ही समझा जा सकता है कि वैराग्य का उपदेश मनुष्यों को आलसी और निष्क्रिय नहीं बनाता अथवा निष्क्रिय बनने के लिए नहीं कहता। वह तो उसे अहिंसा एवं सत्य के पाठ सिखाता है। इस प्रकार के शिक्षणद्वारा वह उसे प्रामाणिक, सत्यवादी, परोपकारशील तथा सेवाभावी बनाता है। परोपकार अथवा सेवाभाव की इतिश्री वाणी में ही नहीं होती। सन्तजन भी अपने शरीर द्वारा भी उसका आनन्द लूटने में सदा उद्यत रहते हैं। सच्ची दृष्टि खुल जाने पर महाभाग्यशाली को

समझ में आता है कि सब जीव एक हैं[1] अर्थात् एक-रूप हैं। ऐसी दिव्यदृष्टि उपलब्ध होने पर वह दूसरे को सुखी देखकर प्रमुदित होता है और दूसरे को दुःखी देखकर उसका हृदय करुणा से आर्द्र हो जाता है। इस तरह वह समग्र आत्माओं के साथ अभेदानुभव करता है। यह अभेदभावना जब परम उन्नत अवस्था पर पहुँचती है तब आत्मा विकास की परा काष्ठा पर पहुँच कर अपना मूल (परमात्म)-स्वरूप प्राप्त करता है।

(२४)

मुक्ति—

संसारी (कर्मावृत) जीव जबतक ससार में (कर्मावृत दशा में) है तबतक वह अकेला नहीं है। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि इन सबसे—अपने इस परिवार से वह सतत घिरा हुआ है। अतः यह स्पष्ट है कि इन सब अंगों के विकास में जीव का—जीव के जीवन का विकास है। इन सबके आरोग्य-सम्पन्न होने में जीवन की आरोग्यसम्पन्नता है। इन सबकी हीनता अथवा अल्पता में जीवन की भी हीनता अथवा अल्पता है। अतः इन सबकी विकृतता से अर्थात् बुरी आदत, बुरा झुकाव, बुरा विचार, रोग, निर्बलता, भीरुता, आलस, जड़ता, हृदय की कठोरता, विलासिता, कार्पण्य, अभिमान, लोभ-लालच, दम्भ, वहम, गुलामी आदि विकारों से मुक्त

1. 'एगे आया'—ठाणांग, सूत्र दूसरा।

होना सर्वप्रथम आवश्यक है। यह प्राथमिक मुक्ति की साधना है। [अंगविकलता की यदि अनिवार्य हालत हो तो उस भाव को न लेकर] शरीर, हृदय, मन, बुद्धि और इन्द्रियों को उनके दोषों से मुक्त करने का यथावश्य प्रयत्न करना वस्तुतः मुक्ति का ही प्रयत्न है। यह प्रयत्न अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार की मुक्ति सच्चे ज्ञान शिक्षण के प्रभाव से मिलती है; अथवा जो ज्ञान, शिक्षण इस प्रकार की मुक्ति की साधना में उपयोगी होता है वही वास्तविक ज्ञान है, वही वास्तविक शिक्षण है। 'सा विद्या या विमुक्तये'—यह प्राचीन आर्ष वचन कहता है कि वही विद्या है जो बन्धनों से मुक्त करे; अर्थात् जो धार्मिक, सामाजिक, राजकीय, तथा बौद्धिक दासता में से छुड़ाकर मनुष्य को बलवान्, विवेकी, प्रज्ञाविशील, परोपकारपरायण तथा सद्गुणी बनाए वही विद्या है। इस प्रकार की मुक्ति का सम्बन्ध अन्तिम आध्यात्मिक मुक्ति के साथ है। जो शिक्षण विचारों को सुधारने में सहायक न हो, जो इन्द्रिय एवं मन को वश में रखना न सिखलाए, जो निर्भयता एवं स्वाश्रय के पाठ न पढ़ाए, जो निर्वाह का मार्ग उन्मुक्त न करे, जो स्वातन्त्र्य की भावना प्रदीप्त न करे, जो इस भावना को प्रज्वलित रखने में प्रेरक न बने उस शिक्षण में चाहे जितनी तार्किक पटुता, चाहे जितना भाषा पाण्डित्य और चाहे जितनी जानकारी क्यों न भरी हो, परन्तु वस्तुतः वह अर्थसाधक शिक्षण नहीं

है। बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार की मुक्ति जो प्रदान करे अथवा उस प्रकार की मुक्ति के मार्ग की ओर जो ले जाय वही वास्तविक शिक्षण है। ऐसे उज्ज्वल शिक्षण के द्वारा जो जीवन-विकास सधता है वही जीवन्-मुक्ति की साधना है, जो अन्ततः परम-मुक्ति की समर्पक होती है।

मुक्ति के अनुसन्धान में कुछ और भी देखें।

कल्याणसाधना की पूरी सफलता तभी है जब मनुष्य सर्वज्ञता प्राप्त करे। सर्वज्ञता क्या है? अनन्तकाल की सब वस्तुओं की सब अवस्थाओं का एक साथ प्रत्यक्ष करना यह सर्वज्ञता की प्रचलित परिभाषा है। इसका आधार लेकर मनुष्य सोचने लगता है कि भविष्य की सारी घटनाएँ तो सर्वज्ञ के ज्ञान में पहले से निश्चित हैं, इसलिये मैं प्रयत्न कर के भी उन्हें बदल नहीं सकता। इस प्रकार वह एकान्त दैववादी और अकर्मण्य बन जाता है। यह जीवन की बड़ी से बड़ी विफलता है। 'काल' आदि द्रव्यों और वस्तुगत पर्यायों को अनन्त मान कर भी उनका इस तरह की सर्वज्ञता से अन्त भी मान लेना यह अद्भुतसी बात कई तार्किक मेधावियों को हृदयङ्गम नहीं होती।

विश्वकल्याण के प्रत्येक कर्तव्य का पूर्ण प्रत्यक्ष-ज्ञान, जिसका उत्तुङ्ग शिखर प्रखर प्रयत्नशाली प्राणवान् महात्मा ही पा सकता है, कोई कम सर्वज्ञता नहीं है।

मनुष्य का परम और चरम ध्येय सुख है, पर वह सुख या आनन्द तबतक पूरा प्राप्त नहीं होता जबतक मुक्ति नहीं मिल जाती। दर्शन, स्पर्शन आदि का काम मुक्त जीवन में प्रचलित ही है और हृदयात्रा में अनिवार्य भी है, फिर भी यह सुख अधूरा है। उस मुक्ति-सुख से ही पूरा किया जा सकता है। मुक्ति-सुख सुख का भीतरी स्रोत है जो बाहर के दुःख के समय भी बहता रहता है और बाहर के दुःख की ज्वाला को बुझाता रहता है। बाहर के सुख में—काम-सुख में तृष्णा का दाह हो सकता है, तुलनात्मक दृष्टि से न्यूनता की वेदना हो सकती है, पर मुक्तिप्राप्त मनुष्य न तृष्णा का शिकार होता है, न तरतमता से पैदा होनेवाले दैन्य या अहंकार का। वह अन्तरंग महावीर तो खिलाड़ी की तरह जीवन के सारे खेल खेलता है।

मुक्ति तो इसी जीवन में मिलनेवाला आत्मा का परमोत्कर्ष है। मरने के बाद जो मुक्ति की प्राप्ति मानी जाती है वह तो इस जीवन्त दशा में सिद्ध की गई मुक्ति की पुनरुक्ति मात्र है। सत्यमय जीवन से प्राप्त होनेवाली ऐहिक मुक्ति है—अखण्ड आनन्द का अन्तःस्रोत, जो सदा और सतत बहता रहता है, न अमीरी से प्रसन्न पाता है और न गरीबी से।

चतुर्थ खण्ड

कर्मविचार

[१]

प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने कृत्यों के लिये उत्तरदायी है, परन्तु समाज के सामुदायिक कृत्यों का परिणाम भी समाज को-समाज के सब व्यक्तिओं को भोगना पड़ता है, अरे! भविष्य के वंशजों को भी भोगना पड़ता है। उदाहरणार्थ, हमारे पूर्वजों की पारस्परिक फूट के कारण भारत पराधीन हुआ जिसका फल उनके वंशजों को-हमें भोगना पड़ा। और अब राजकीय स्वातन्त्र्य-स्वराज्य मिलने पर भी रिश्वत, काला बाज़ार आदि अनेक देशद्रोही प्रवृत्तियों का बाज़ार खूब गरम है जिससे देश की निर्दोष जनता आर्थिक शिकंजे में फँसकर खूब तकलीफ़ उठा रही है।

'जो जैसी करनी करे सो वैसा फल पाए' यह कर्मवाद का सनातन नियम है। कर्मवाद के ज्ञान का सच्चा उपयोग किसी भी कार्य के प्रारम्भ के समय करने का है। अच्छे काम का अच्छा फल और बुरे का बुरा-यह नियम यदि बराबर ध्यान में रखा जाय तो मनुष्य अशुभ कार्य करने से डरे, उससे हिचकिचाए और सत्कार्य करने की

ओर ही प्रोत्साहित रहे। पहले किए हुए दुष्कृत्यों का जब कटु फल चखने का समय आए तब विचार करने के लिये अथवा रोने धोने के लिये बैठना निरर्थक है। यह तो 'फिर पछताए क्या होत है जब चिड़िया चुग गई खेत' जैसा है। परन्तु इस कटु अनुभव के पश्चात् यदि पश्चात्ताप की भावना हो, और उसमें से भविष्य के लिये शिक्षा ग्रहण कर के तदनुसार चलने की तत्परता हो तो अवश्य वह कल्याणकारी हो सकता है।

परन्तु सच्ची बात तो यह है कि सर्प, विष आदि की भयानकता तथा उनकी दुःखकारकता में हमें जितना विश्वास है उतना दुष्कृत्य की भयानकता में नहीं है। उतना विश्वास अनीति अन्यायरूप पापाचरणों की भयानकता एवं दुःखकारकता में उत्पन्न होना चाहिए। ऐसा विश्वास जब उत्पन्न हो तभी कर्मवाद में यथार्थ श्रद्धा पैदा हुई है ऐसा समझा जायगा।

'कर्मवाद का सिद्धान्त सच्चा है'—ऐसा मुँह से बोलना तो सही, परन्तु काम के समय इस नियम का जानबूझ कर अनादर करना वस्तुतः कर्मवाद पर की अश्रद्धा सूचित करता है, अथवा भविष्य में मिलनेवाले कटु फल की अपेक्षा तात्कालिक भौतिक लाभ विशेष अच्छा लगता है ऐसा प्रकट करता है। किसी समय परिस्थितिवशात् लाचारी से

अथवा किसी के अनिवार्य दबाव के कारण कर्मवाद के नियम की यदि उपेक्षा करने के लिये विवश होना पड़े तो उस समय भी कर्मबन्ध होता ही है, परन्तु उसके स्थिति और रस अल्प होते हैं।

[२]

उदय में आए हुए कर्म को समतापूर्वक–समभाव से भोग लेने में ही बुद्धिमत्ता है। इस तरह उन्हें भोग लेने से वे कर्म समाप्त हो जाते हैं और नये दुःखद कर्मों का बन्ध नहीं होता। परन्तु जब कर्म के सुखभोगरूप फल का आसक्तिपूर्वक उपभोग किया जाता है और दुःखभोगरूप फल दुर्ध्यान से सहे जाते हैं तब दूसरे नये कर्मों का बन्ध होता है। अतः सुखभोग के उदयकाल में सुखभोग में लिप्त न रह कर अर्थात् अनासक्तभाव से समभावपूर्वक उदय में आए हुए इन कर्मों का सुखोपभोग कर लेने से तथा दुःखद स्थिति के समय हिम्मत से मन में शान्ति रख कर दुःख को (उदय में आए हुए असात-कर्म को) सह लेने से वह (उदयागत) कर्म इस तरह क्षीण हो जाता है कि उसके अनुसन्धान में नये अशुभ कर्म नहीं बँधने पाते।

कर्मयोग से भोगसामग्री उपस्थित होने पर भी उसमें आसक्त होना या न होना, अथवा मोहविकार के वश होना या न होना यह आत्मा के अपने सामर्थ्य की बात है।

"विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ।"[1] अर्थात् जो विकार की सामग्री उपस्थित होने पर भी विकार के वश नहीं होते वे ही धीर हैं। षड्रस से युक्त भोजन जीभ पर बलात्कार कर के जबरदस्ती मुँह में नहीं घुसता। श्रुति मनोहर राग हमारे कानों में जबरदस्ती घुस कर हमें लुब्ध नहीं करता। इसी प्रकार इन्द्रियों के सब विषय आत्मा की अनिच्छा होने पर जबरदस्ती उसे भोग में नहीं खींचते। इन्द्रियों के विषय जबरदस्ती कर क नहीं लिपटते, तो भी उनक भोग (स्थूल भोगोपभोग) सामान्यतः देहधारी की जीवनयात्रा के साथ अनिवार्यरूपेण संयुक्त हैं। ऐसा होन पर भी ध्यान में रखने योग्य बात तो यह है कि जबतक स्वयं आत्मा लुब्ध न हो तब तक स्थूल भोग में विलासवृत्ति का उदय बलवान् नहीं हो सकता। और उस विलासवृत्ति में लुब्ध होना या नहीं यह आत्मा की अपनी शक्ति की बात है। मतलब यह कि कर्मोदय में रसवृत्ति न रखना और ज्ञानबल स रसवृत्ति दूर करना—यही कर्मोदयजन्य विकार को पराजित करने का उपाय है।

भोग की सामग्री उपस्थित होन पर भी यदि मनुष्य अपने आन्तरिक सामर्थ्य के बल पर स्वनिग्रही हो कर

---

१ कालिदास के कुमारसम्भव के प्रथम सर्ग के उपान्त्य श्लोक का उत्तरार्ध।

अपने आसन पर से चलित न हो तो भोगसामग्री अपने-आप उससे लिपटेगी क्या ? कहने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य अपने दृढ़ मनोबल का उपयोग कर के भोग में अपने आप को जोड़ने से दूर रह सकता है। परन्तु यदि वह धीरज खो बैठे तो भोग में फिसला ही समझो ! ऐसी स्थिति में इसका दोष कर्म के मत्थे मढ़ने की अपेक्षा अपनी आत्मिक निर्बलता के ऊपर डालना ही अधिक औचित्य-युक्त और संगत है।

अनेक ज्ञानी जनों के उदाहरणों पर से ज्ञात होता है कि भोजन-पानादि का उपभोग करने पर भी उन सबमें वे जाग्रत्-अनासक्तभाव से विचरण करते हैं जिससे कर्म-बन्ध के बाधाकारक संयोगों से विमुक्त रहते हैं। न्याय-युक्त, औचित्ययुक्त उपयोगी भोग यदि समतापूर्वक किया जाय, जाग्रत् रह कर किया जाय तो उसमें कुछ डरने-जैसा नहीं है यह हम ध्यान में रखें।

[३]

समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपना भौतिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक हित साधने की स्वाधीनता होनी चाहिए, परन्तु इसके साथ ही उसे सामाजिक नीति-न्याय के नियमों के बन्धन भी मान्य रखने चाहिए। जो सामाजिक रूढ़ियाँ न्याय एवं नीति के अनुकूल हों उनका पालन

सामाजिक सुव्यवस्था के लिये आवश्यक है। परन्तु जो सामाजिक रूढ़ियाँ अज्ञानजनित एवं विवेकहीन हों, अपने उत्पत्तिकाल में चाहे जिस परिस्थिति में उत्पन्न हुई हों पर वर्तमान काल में अनुपयोगी, असंगत एवं हानिकारक हों-कुरूढ़ियों में गिनी जा सके ऐसी हों, और जिन रूढ़ियों को निकाल देने से सामाजिक व्यक्तियों के सुख में अभिवृद्धि होती हो अथवा कम से कम दुःख तो कम होते ही हों, फिर भी ऐसी कुरूढ़ियों से अज्ञान अथवा दुराग्रहवश समाज यदि जोंक की तरह चिपका रहे तो उससे उस समाज के व्यक्तियों को दुःख उठाना पड़ता है। उस समय जिन्हें ऐसा दुःख उठाना पड़ता है उन्हें कोई कहे कि यह दुःख तो कुरूढ़ियों के कारण नहीं किन्तु पूर्वकृत कर्म के कारण है, अतः ऐसा दुःख सिर झुकाकर सह लेना ही चाहिए, तो ऐसा कथन उन्हें अफ़ीम देकर उसके नशे में सुला देने जैसा है। ऐसी परिस्थिति में प्रत्यक्ष दोष इन कुरूढ़ियों का है। जिस प्रकार काँटा चुभने से होनेवाली वेदना काँटे के कारण होती है, उसी प्रकार कुरूढ़ि के आक्रमण से होनेवाली पीड़ा और दुःख कुरूढ़ि के कारण है, और इस तरह के दुःख के उत्तरदायी इन कुरूढ़ियों के प्रचारक एवं पोषक ही हैं। अतः संगठनशक्ति के न्यायपूत आन्दोलन से ऐसे लोगों का सामना कर के कुरूढ़ि के दुःखद तथा अवनतिकारक वातावरण को मिटा देना चाहिए। ऐसा होने से पूर्वकर्म का

यह कुरूढ़िरूपी हथियार का) बल विनष्ट हो जायगा। जो बात कुरूढ़ियों को लागू होती है वही बात दरिद्रों का शोषण करनेवाले पूँजीवाद तथा दुर्बल जातियों का शोषण करनेवाले साम्राज्यवाद को भी लागू होती है। इसी प्रकार अत्याचारियों की ओर से निर्दोषों के ऊपर गुज़रनेवाले अत्याचारों को तथा सत्ताशाली वर्ग की ओर से दलितों को मानवोचित सुविधा प्रदान न करके उन्हें दबाए रखने के प्रयत्नों को भी लागू होती है।

[४]

संसारवर्ती जीव की किसी भी जीवनघटना के पीछे सामान्यतः पूर्वकर्म का कारण रहा हुआ है। अतः जब कोई भौतिक, शारीरिक या आर्थिक आपत्ति आए तब उसके पीछे पूर्वकर्म का बल कार्य करता ही है। ऐसा होने पर भी इस प्रकार की आपत्ति को जानबूझ कर लानेवाला मनुष्य ऐसी आपत्ति लाने के अपने अपराध से छूटक नहीं सकता। ऐसे अपराध के लिये उसे यहां पर सज़ा मिले या न मिले, परन्तु प्रकृति की (कार्मिक शासन की) सज़ा से वह बच नहीं सकता।

किसी मनुष्य की हत्या में उस मरनेवाले का अथवा किसी को लूट लेने में उस लुटे जानेवाले का पूर्वकृत कर्म तो

काम करता ही है, तो भी हत्या करनेवाला अथवा लूटने वाला हत्या अथवा लूट के अपराध के लिये निःशंक उत्तर दायी है। ऐसे अपराधी जिस प्रकार यहाँ पर दण्ड के पात्र हैं उसी प्रकार कुदरत (कर्म) की सजा भी उन्हें मिलती है। ऐसे खूनी अथवा लुटेरे मरनेवाले अथवा लुटे जानेवाले के भाग्य का कारण दिखाकर अपना बचाव नहीं कर सकते। धार्मिक सिद्धान्त की दृष्टि से अथवा न्यायशास्त्र के कायदे की दृष्टि से भी इस तरह उनका बचाव नहीं हो सकता। इस प्रकार मरनेवाले अथवा लुटे जानेवाले के भाग्य का कारण दिखाना कितना ही वास्तविक क्यों न हो फिर भी इन खूनी और लुटेरे के पक्ष में तो ऐसा कहना वस्तुतः पूरे पूरी उद्दतता ही है। ऐसी उद्दण्डता कुछ काम नहीं आती और उन्हें अपने कर्मों का फल भुगतना ही पड़ता है।

यहाँ पर हमें यह समझ लेना भी उपयुक्त होगा कि अपराध अपराध में फ़र्क होता है। जो अपराध तुच्छ एवं सामान्य प्रकार का हो अथवा जिसके विरुद्ध योग्य प्रतीकार की शक्यता न हो उस अपराध के बारे में मन में वैरवृत्ति प्रज्वलित रखने से कोई लाभ नहीं है। पुराने वैरभाव को निरर्थक याद करके विरोधवृत्ति अथवा कषायभाव का विष पुनः जगाने में कोई सार नहीं है। इसलिये विवेकबुद्धि को जागरित करके उस अपराधी की ओर वैरवृत्ति न रखकर उस समय कर्मसंस्कार के बल का (कर्मवाद के सिद्धान्त

का) विचार करना उपयुक्त है। ऐसे समय इस प्रकार का विचार करके शमभाव धारण करना उपयोगी और हितावह है।

परन्तु यदि कोई तुम्हें मारने के लिये आए और तुम उसका प्रतीकार करो तो तुम वैरभाव रखते हो ऐसा कोई नहीं कहेगा। दिए हुए पैसे वापिस न मिलने पर यदि तुम दावा करो तो तुमने वैर लिया ऐसा किसी से नहीं कहा जा सकता। कोई तुम्हारी चीज़ उठाकर ले जाय और उसकी रक्षा के लिये यदि तुम प्रयत्न करो तो तुम उसके विरुद्ध वैरभाव रखते हो ऐसा कौन कह सकता है? ऐसे अवसरों पर तुम शठ, चोर, ठग, झूठे, लुच्चे अथवा गुण्डे का योग्य सामना करो तो उसमें कुछ भी बुरा नहीं है— धर्मशास्त्र की दृष्टि से भी। कर्म के उदय में तथा कर्म के उदय को दुर्बल बनाने में भी योग्य उद्यम को अवकाश है, ऐसा कर्मशास्त्र मानता है। जीवनयात्रा में योग्य उद्यम, प्रयत्न, पुरुषार्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान है ऐसा वह असन्दिग्ध-रूप से मानता है और जोरों से इसका समर्थन भी करता है। गई हुई-खोई हुई वस्तु प्राप्त करने में उद्यम उपयोगी हो सकता है। बीमार पड़ने पर हम दवाई करते ही हैं। हम सब सुख एवं सुख के साधन प्राप्त करने के लिये तथा दुःख एवं दुःख के मार्ग से दूर रहने के लिये अथवा आए हुए दुःख को दूर करने के लिये सर्वदा प्रयत्न करते ही रहते हैं। समग्र विश्व की ऐसी ही प्रवृत्ति है। स्वरक्षा, पररक्षा अथवा

न्याय की प्रतिष्ठा के लिए योग्य प्रतीकार के कार्य वैरवृत्ति से किए जाते हैं, ऐसा कभी नहीं कहा जा सकता। श्रीरामचन्द्रजी द्वारा रावण का किया गया सामना न्याय्य था। कोई डाकू तुम्हारी कोई चीज़ उठा जाय और तुम कायर बन कर बैठे रहो, उसकी ओर आँखें फाड़कर देखते रहो, मन ही मन जलते रहो तो यह बुज़दिली है। अवश्य, तत्कालीन परिस्थिति का नाप निकालना आवश्यक है और तदनुसार उचित प्रयत्न करना ही योग्य समझा जायगा। क्योंकि—

'अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभाति लोके'[1]।'

अर्थात्—थोड़े के लिये बहुत खोने की इच्छा रखने वाला मनुष्य विचारमूढ ही है।

[५]

भाग्य अज्ञेय होने से मनुष्य के हाथ में तो उद्यम करना ही बाकी रहता है। जिस प्रकार खोदने पर ज़मीन में यदि पानी हो तो निकलता है, उसी प्रकार यदि भाग्य में हो तो उद्यम द्वारा उपलब्ध होता है। सद्बुद्धि की पवित्र रोशनी से युक्त प्रयत्नशीलता मनुष्य की वर्तमान दुर्दशा को नष्ट कर

---

१ कालिदास के रघुवंश के दूसरे सर्ग के ४७ वें श्लोक का उत्तरार्ध—स्थानपूर्ति के लिये अन्तिम दो अक्षर दूसरे रखकर तथा सि के स्थान पर ति लगाकर।

सुख के द्वार उसके लिये खोल देती है। इसी तरह वह अशुभ कर्मों के भावी आक्रमणों पर भी बराबर प्रत्या-क्रमण का कार्य कर सकती हैं। यह उद्यम की महिमा है। मतलब यह है कि कर्मवाद के नाम पर निर्बल या निराश न होकर और आत्मा के सामर्थ्य की सर्वोपरि महत्ता को ध्यान में रख कर मनुष्य को यथाशक्य पुरुषार्थशील बनना चाहिए। आया हुआ दुःख किसी तरह दूर न हो और वह भोगना ही पड़े तो कायरता के साथ रोते रोते भोग कर नए अशुभ कर्मों का उपार्जन करना इसकी अपेक्षा प्रशस्त समभाव से ही सह लेने में मनुष्य की सच्ची समझदारी और मर्दानगी है। ऐसे समय मन को स्वस्थ रखने का बल कर्मवाद देता है; क्योंकि वह सूचित करता है कि अवश्यम्भावी कर्म किसी को नहीं छोड़ता। बड़े से बड़ा भी उसके फलविपाक में से छूट नहीं सका है। हमें यह जान लेना चाहिए कि दुःख और कष्ट स्वतः नहीं आते। हमारे बोए हुए ही वे उगते हैं। अतः उन्हें दूर करने का यथाशक्य प्रयत्न करने पर भी जितनी मात्रा में वे सहने पड़ें, बराबर शूरतापूर्वक (आध्यात्मिक वीरता के साथ) हम सहें—सह लें। इस प्रकार कष्ट सहन करने से नए दुःखद कर्म नहीं बँधने पाते, और साथ ही उतना बोझ कम हो जाता है। जीवन-प्रवाह शुभ एवं निष्पाप रूप से बहता रखने से नए अशुभ कर्म बँधने नहीं पाते। इसका परिणाम

यह होता है कि जीवन प्रवाह उत्तरोत्तर सुखी एवं उज्ज्वल होता जाता है। यह तो स्पष्ट ही है कि अनीति, विश्वास घात अथवा दुराचरण से खराब कर्म बँधने का (बुरे भाग्य के निर्माण का) और सच्चाई, सेवा, संयम के सद्गुणों के पालन से शुभ कर्म बँधने का (सद्भाग्य के निर्माण का) सिद्धान्त (अर्थात् कर्मवाद) मनुष्य को सदाचारी बनने के लिये प्रेरित करता है। यह सदाचार की भावना लोक व्यवस्था तथा समाज जीवन के स्वास्थ्य के लिये भी अत्यन्त आवश्यक है।

[९]

मनुष्य जब रोगी होता है, पैसा गँवाता है अथवा दूसरी ऐसी किसी आपत्ति में फँसता है तब वह अपने कर्म को दोष देता है। पूर्वजन्म के कर्म के सीधे प्रभाव के कारण ही यदि ऐसी स्थिति पैदा हुई हो तो इस तरह कहना

१ पूर्वजन्म में किए हुए कर्मों का फलोपभोग जिस प्रकार हम इस जन्म में करते हैं उसी प्रकार इस जन्म में किए हुए कर्म भी इसी जन्म में फल दे सकते हैं। यह बात भगवतीसूत्र के निम्नोल्लिखित श्लोक पर से ज्ञात होती है—

'परलोगकडा कम्मा इहलोए वेइज्जंति
इहलोगकडा कम्मा इहलोए वेइज्जंति।'

योगदर्शन का—

'क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।'

यह (२-१२) सूत्र भी यही व्यक्त करता है।

उचित है। परन्तु ऐसे समय भी उस कष्ट के निवारण के लिये योग्य प्रयत्न तो करना ही चाहिए और वैसा करने पर भी यदि वह विपत्ति दूर न हो तो फिर मनुष्य के लिये यही उचित है कि बिना दुर्ध्यान किए हिम्मत और धीरज के साथ वह उस दुःख को सह ले। विपत्ति के समय उसे दूर करने लिये यदि यथायोग्य प्रयत्न न किया जाय और ऐसी स्थिति में जो दुःख सहन करना पड़े तो उसके लिये मनुष्य का प्रमाद अथवा उसकी अकर्मण्यता उत्तरदायी है। इसके लिये केवल अपने पूर्वकर्मों को दोष देकर बैठे रहना समझदारी का काम नहीं समझा जायगा। इस जन्म के हमारे कार्यों अथवा आचरणों के कारण यदि हम पर शारीरिक, आर्थिक अथवा किसी दूसरे प्रकार की आपत्ति आए तो उस समय सबको अपने 'पूर्वकर्म' को दोष देना तो आता है, परन्तु जिन कृत्यों के कारण अथवा जिस प्रकार के बरताव के परिणामस्वरूप हमें ऐसी स्थिति प्राप्त हुई है उन कृत्यों और वैसे बरताव को दोष देना अधिक योग्य है। वैसे कार्यों अथवा वर्तन-व्यवहार के लिये वास्तविक रूप से पश्चात्ताप करके उन्हें पुनः न करने का निश्चय करना चाहिए। आहार-विहार में असावधान अथवा अनियमित बन करके, अपथ्य का सेवन करके, शरीर को लम्बे समय तक भूखा

१ अपनी शक्ति के अनुसार किसी उदात्त हेतु के लिये प्रसन्नतापूर्वक यदि उपवास किया जाय अथवा किसी दुर्दान्त रोग को दूर करने के

रसकर अथवा शरीर के लिये आवश्यक पोषक तत्त्व भोजन द्वारा न लेकर आरोग्य खोना और शक्तिहीन बनना, जूआ अथवा सट्टे के दुर्व्यसन में फँसकर पैसे बरबाद करके दरिद्र बनना, भोगविलासिता के कारण अथवा फ़ज़ूलियत आमदनी की अपेक्षा खर्च अधिक करके कर्ज़दार बनना, आलस अथवा सुखचैन में पड़कर अपनी पढ़ाई लिखाई को बराबर पक्का न कर के परीक्षा में अनुत्तीर्ण होना, शारीरिक रोग की कुशल वैद्य अथवा डाक्टर के पास चिकित्सा न करा के भूत प्रेत आदि के वहम में पड़कर रोगी का जीवन भय में डाल देना और फिर इन सबका दोष सिर्फ़ 'पूर्वकर्म' के मत्थे मढ़ देना वस्तुतः बौद्धिक जड़ता ही सूचित करता है। इस प्रकार के दोषों का आरोपण अपने मूर्खतापूर्ण व्यवहार अथवा अपनी विचारहीनता पर करना चाहिए और उसमें से योग्य बोध लेना चाहिए।

कर्म के सुगुप्त एवं अगोचर 'कारखाने' की गूढ़ क्रिया की हमें कुछ भी जानकारी नहीं है, अतः हमारे हाथों में तो केवल विवेकयुक्त उद्यम करना ही रहता है। फिर चाहे वह उद्यम अपने ऊपर अथवा दूसरे किसी के ऊपर आई हुई आपत्ति दूर करने के लिये हो अथवा वैयक्तिक या सामाजिक उन्नति सिद्ध करने के लिये हो। ऐसे

किस विश्वास के परामर्श के अनुसार अमुक समय के लिये विधिपूर्वक अन्नत्याग किया जाय तो वह दूसरी बात है।

उद्यम का फल दिखाई देने पर मनुष्य को न तो फूलना चाहिए और न दिखाई देने पर न तो उद्विग्न ही होना चाहिए। इस तरह उद्यम करने में हम कर्म के नियम का उल्लंघन करते हों ऐसा नहीं है, परन्तु उसके क़ायदे-क़ानून का सन्मान करके आपत्ति हटाने का और उन्नति साधने का हम लाभ उठाना चाहते हैं। जिस तरह नदी की बाढ़ से गाँव डूबते हों तो नहरें आदि खुदवाकर पानी को दूसरे रास्ते से ले जाने की योजना करने में प्रकृति के किसी नियम का भंग नहीं होता, अपितु गाँव की रक्षा के लिये उद्यम करके प्रकृति के ही नियम का लाभ उठाते हैं, उसी प्रकार आपत्ति दूर करने के लिये अथवा उत्कर्ष साधने के लिये उद्यम करके, कर्म के नियम को मान देते हुए, हम बन सके उतना लाभ उठाना चाहते हैं।

किसी असहाय अथवा निराधार मनुष्य पर यदि कोई विपत्ति आ पड़े अथवा उस पर अन्याय गुज़रता हो तो उस समय उसके पूर्वभव का दोष न निकाल कर उसकी सहायता के लिये अविलम्ब दौड़ जाना ही मनुष्य का सर्व-प्रथम कर्तव्य है। किसी को दुःख से आक्रान्त देखकर उसका उद्धार करने का प्रयत्न न करके उसे उसके भाग्य पर छोड़ देना वस्तुतः निर्दयता है, पाप है। धर्मशास्त्र अथवा कर्मशास्त्र की उद्घोषणा है कि कर्मवाद के आधार पर हाथ जोड़ कर बैठे रहने के बदले कर्म को – कर्म के

प्रमाद को विध्वस्त करने के लिये यत्नशील होना चाहिए। जब से मनुष्य गर्भ में आता है, जन्म लेता है तब से लेकर जीवनपर्यन्त वह दूसरे के सहयोग एवं साहाय्य पर ही जीता है। इस तरह मानवजाति एक कुटुम्ब-परिवार जैसी है। अतः परस्पर मानवीय स्नेह के साथ मिल-जुलकर रहने में और एक-दूसरे को मदद करने में ही उसकी सुख शान्ति रही हुई है। इसी में उसका उदय एवं विकास है। निपट स्वार्थी बन कर और अपना जो हो उसे पकड़ कर बैठे रहना, दूसरों की ओर दुर्लक्ष करना, निष्ठुरता रखना—यह आध्यात्मिक शासन में अपराध है।

जन्मान्तरवाद अथवा कर्मवाद वस्तुतः निरुद्यमवाद अथवा आलस्यवाद नहीं है, किन्तु वह तो योग्य पुरुषार्थ, उद्यम और प्रगतिगामी प्रयत्न करने का निर्देश करनेवाला उपयोगी वाद है। वह तो स्पष्ट कहता है कि योग्य पुरुषार्थ द्वारा कर्म के आवरणों को भेद कर मनुष्य को आगे प्रगति करनी चाहिए और प्रगति की दिशा में आगे बढ़ते बढ़ते पूर्ण मोक्ष प्राप्त करना चाहिए। कर्मवाद के 'कर्म' का कार्यक्षेत्र तो जन्मान्तर का अनुसन्धान करना है, परन्तु यदि वह सुधरा हुआ न हो तो उसे सुधारने के लिए उद्यम करने का तथा अनिष्ट कर्म या अनिष्ट कर्मोदय में परिवर्तन लाने का मनुष्य के हाथ में अवकाश भी है ऐसा कर्मशास्त्र का कथन है।

यह हमें ध्यान में रखना चाहिए कि जीव अपनी क्रिया-द्वारा कर्म का बन्ध करता है और अपनी क्रिया से ही उस बन्ध को तोड़ भी सकता है। सभी पूर्वकर्म अभेद्य नहीं होते। बहुत से कर्म योग्य प्रयत्न द्वारा भेद्य भी होते हैं। अरे, शास्त्र तो यहाँ तक भी कहते हैं कि 'निकाचित' कर्म का भी भेदन हो सकता है,[1] हाँ, वह पवित्रतापूर्ण अत्युत्कट आत्मसाधना से ही शक्य है। कहने का अभिप्राय यह है कि कर्म के भरोसे में रहकर अकर्मण्य बने रहना ठीक नहीं है। हाँ, योग्य प्रयत्न भी जब सफल न हो अथवा प्रयत्न करने की योग्य भूमिका ही न मिले उस समय और उस दशा में कर्म को अभेद्य, दुर्दान्त अथवा दुर्घट समझा जा सकता है। और ऐसी स्थिति में चित्त को प्रशान्त रखने जितनी धीरज धारण कर के प्रतिकूल परिस्थिति को सहन कर ही लेना चाहिए।

अपने कृत्य का कैसा परिणाम अपने शरीर या मन पर

---

१. निकाचित (अभेद्य) समझा जानेवाला कर्म भी किस तरह टूट सकता है इसके बारे में उपाध्याय श्री यशोविजयजी अपनी २६ वीं द्वात्रिंशिका में कहते हैं कि—

निकाचितानामपि य. कर्मणां तपसा क्षयः।
सोऽभिप्रेत्योत्तमं योगमपूर्वकरणोदयम् ॥ २४ ॥

अर्थात्—निकाचित कर्म का भी तप द्वारा जो क्षय कहा गया है वह उच्च श्रेणी के–उच्च भूमिका के योग को लक्ष में रखकर कहा गया है। बाह्य तप अथवा वैसे जिस किसी तप के लिये यह बात नहीं है।

अथवा दूसरे मनुष्यों एवं प्राणियों पर होगा इसका विचार किए बिना अर्थात् परीक्षित या सम्भाव्य कार्यकारणभाव के सम्बन्ध की अवगणना कर के अन्धश्रद्धा, गतानुगतिकता, अज्ञानता अथवा लोभ-लालच से की हुई प्रवृत्ति का अभिलषित परिणाम न आने पर अथवा कुछ अनिष्ट दुष्परिणाम आने पर मनुष्य को चाहिए कि उसके लिये वह अपने अज्ञान, अविवेकभाव अथवा अपनी लोभवृत्ति को दोष दे। सम्भाव्य असम्भाव्य अच्छे-बुरे परिणाम को समझने की बुद्धिरूप विवेक कार्यकारण के सम्बन्ध का विचार किए बिना कुछ काम नहीं करता और जहाँ विवेकबुद्धि का अभाव होता है वहाँ अन्धश्रद्धा, गतानुगतिकता, अज्ञानता या लोभ लालच अपना अड्डा जमाते ही हैं। समझने पर भी लोभ आदि दोषवश मनुष्य अनुचित कार्य करता है, परन्तु इसके दुष्परिणाम का भोग उसे होना ही पड़ता है।

[७]

लोग कहते हैं कि दान, पूजा, सेवा आदि कार्य करने से पुण्य प्राप्त होता है और किसी को कष्ट पहुँचाने से अथवा उसकी इच्छा विरुद्ध कार्य करने से पाप बंधता है। परन्तु पुण्य-पाप का निर्णय करने की मुख्य कसौटी ऐसी बाह्य क्रिया नहीं है। क्योंकि किसी को कष्ट पहुँचाने पर भी अथवा किसी की इच्छा विरुद्ध कार्य करने पर भी मनुष्य पुण्य का

उपार्जन कर सकता है और दान-पूजादि करने पर भी वह पुण्योपार्जन न करके पाप का उपार्जन कर सकता है। एक परोपकारी चिकित्सक जब किसी पर शस्त्र-क्रिया करता है तब उस रोगी को अवश्य कष्ट होता है, हितैषी माता-पिता बेसमझ बालक को पढ़ाने के लिये जब उसकी इच्छा विरुद्ध प्रयत्न करते हैं तब उस लड़के को दुःख जैसा लगता है; परन्तु इतने मात्र से वह चिकित्सक अनुचित कार्य करनेवाला नहीं समझा जाता अथवा उस लड़के के माता-पिता दोषी नहीं समझे जाते। इसके विपरीत, जब कोई मनुष्य भोलेभाले लोगों को ठगने के इरादे से अथवा कोई तुच्छ आशय से दान-पूजन आदि क्रिया करता है तब वह पुण्य के बदले पाप ही बाँधता है। अतः पुण्य-पाप के उपार्जन की सच्ची कसौटी केवल ऊपर ऊपर की क्रिया नहीं है, उसकी यथार्थ कसौटी तो कर्ता का आशय है। शुभ आशय से जो कार्य किया जाता है वह पुण्य का निमित्त और खराब आशय से जो कार्य किया जाता है वह पाप का निमित्त होता है। पाप-पुण्य की इस कसौटी को सब मान्य रखते हैं, क्योंकि 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' यह सिद्धान्त सर्वमान्य है। परन्तु शुभ आशय होने पर भी विचारमूढ़ मनुष्य की प्रवृत्ति मूर्खतापूर्ण, अनिष्टरूप तथा पापबन्धक हो सकती है। अतः शुभ आशय से किए जानेवाले कार्य में भी सावधानता

और विवेकबुद्धि की ख़ास आवश्यकता है। उपयोग में [अप्रमत्तभाव में] धर्म माना गया है और 'विवेको दशमो निधिः' है। इसमें यदि कमी हो तो लाभ के बदले हानि की सम्भावना है।

[८]

कर्म के सामान्यतः दो अर्थ होते हैं: एक तो है कोई काम (कर्म–कम्म–काम), क्रिया अथवा प्रवृत्ति और दूसरा अर्थ है जीव की क्रिया–प्रवृत्ति द्वारा कर्मवर्गणा के जो पुद्गल आकृष्ट होकर उसके साथ चिपक जाते हैं उन पुद्गलों को भी कर्म कहते हैं। 'जो किया जाता है वह कर्म' यह कर्म शब्द की व्युत्पत्ति कर्म शब्द के इन दोनों अर्थों में घटती है। वैसे तो 'कर्म-वर्गणा' के पुद्गल लोकाकाश में सर्वत्र भरे हुए हैं, परन्तु ये पुद्गल जीव की क्रिया प्रवृत्ति द्वारा आकृष्ट होकर जब जीव के साथ चिपक जाते हैं – जीव के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं तभी ये 'कर्म' संज्ञा से अभिहित होते हैं। इस तरह जीव के साथ बद्ध कार्मिक (कर्मरूप से परिणत) पुद्गलों को 'कर्म' कहा जाता है। इसके बारे में विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जाता है कि जीवबद्ध कार्मिक पुद्गलों को 'द्रव्यकर्म' कहते हैं और जीव के रागद्वेषात्मक परिणाम को 'भावकर्म।' जीव (विभाव दशा में) भावकर्म का कर्ता है, इसी तरह द्रव्य

कर्म का भी वह कर्ता है। बीज से अंकुर और अंकुर से पुनः बीज की भाँति भावकर्म से द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म से पुनः भावकर्म इस प्रकार इन दोनों का परस्पर कार्यकारण सम्बन्ध है[1]।

[९]

कर्म-पुद्गल सर्वप्रथम आकर्षित होते हैं और बाद में उनका बन्ध होता है। कर्म-पुद्गलों को आकर्षित करने का कार्य 'योग' (मन-वचन-शरीर की क्रिया) करता है, अतः उसे 'आस्रव' कहते हैं। उन कर्म-पुद्गलों को आत्माके साथ चिपका देने का कार्य मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय करते हैं, अतः वे बन्ध के हेतु कहे जाते हैं। इस बन्ध के कार्य में मिथ्यात्व आदि चार के साथ 'योग'

---

१ जैनेतर दर्शनों में माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, सस्कार, दैव, भाग्य आदि शब्द 'कर्म' के स्थान में व्यवहृत हैं। माया, अविद्या, प्रकृति ये तीन शब्द वेदान्तदर्शन में मिलते हैं। 'अपूर्व' शब्द मीमासकदर्शन का है। 'वासना' बौद्धदर्शन में प्रसिद्ध है। योगदर्शन में भी इस शब्द का प्रयोग मिलता है। 'आशय' शब्द योग और साख्यदर्शन में तथा धर्माधर्म, अदृष्ट और सस्कार शब्द न्याय-वैशेषिकदर्शन में प्रचलित हैं। दैव, भाग्य, पुण्य-पाप आदि अनेक शब्द ऐसे हैं जो सब दर्शनशास्त्रों में तथा सामान्य जनता में प्रचलित हैं। जितने दर्शन आत्मवादी हैं और पुनर्जन्म को मानते हैं वे सब कर्म के सिद्धान्त को मान्य रखते हैं। पुनर्जन्म की उपपत्ति भी इसी से शक्य है जिस पर आत्मा की अमरता टिकी हुई है।

तो होता ही है। इसीलिये तत्त्वार्थसूत्र के अष्टम अध्याय के आदिम सूत्र में बन्ध के पाँच हेतु गिनाए गए हैं और इसी ग्रन्थ के छठे अध्याय के प्रारम्भ के सूत्र में 'योग' को ही आस्रव कहा है, मिथ्यात्वादि चार को नहीं। इस पर से ज्ञात होता है कि 'योग' आस्रव और बन्ध दोनों का हेतु है। इसी प्रकार बन्ध के हेतु मिथ्यात्वादि चार की गणना आस्रव में भी की जा सकती है और वह इस प्रकार—

शास्त्रों में आठ कर्म और उनकी अवान्तर प्रकृतियों के पृथक् पृथक् आस्रव बतलाए हैं, उनमें मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमाद आदि दोषरूप भिन्न भिन्न वृत्ति-प्रवृत्तियाँ उस उस कर्म के आस्रवरूप हैं ऐसा बतलाया है। कर्म पुद्गलों को आकर्षित करनेवाला 'योग' जब मिथ्यात्वादि दोषों से दूषित होता है तब वैसे 'योग' से आकृष्ट कर्मपुद्गल मिथ्यात्वादि दोषयुक्त 'योग' द्वारा आकर्षित होने से मिथ्यात्वादि को भी 'आस्रव' कह सकते हैं, अर्थात् बन्ध के हेतुभूत मिथ्यात्वादि की गणना आस्रव में भी की जा सकती है।

इस अवलोकन पर से देखा जा सकता कि 'योग' कर्मपुद्गलों को आकर्षित करता है, अतः वह 'आस्रव' रूप से तो प्रसिद्ध है ही, साथ ही उसकी गणना बन्ध हेतुओं में की गई है, अतः वह बन्ध हेतु भी है। कार्मिक-पुद्गलों को आकर्षित करनेवाले 'योग' में मिथ्यात्वादि चिपके हुए हैं,

अतः वे आस्रव हैं, क्योंकि प्रायः मिथ्यात्व, कषाय आदि से युक्त 'योग' कर्म-वर्गणा को आत्मा की ओर आकृष्ट किए रहता है, अन्यथा नहीं। अतः ये मिथ्यात्व आदि भी आस्रव हैं। और वे बन्ध-हेतु तो हैं ही। इसका अर्थ यह हुआ कि 'योग' आस्रव और बन्ध-हेतु दोनों है और बन्ध-हेतु मिथ्यात्व आदि 'आस्रव' भी हैं। इस पर से हम देख सकते हैं कि कर्मों को खींचने का और उन्हें आत्मा के साथ चिपका देने का कार्य एक ही 'टोली' करती है। इस प्रकार आस्रव और बन्ध का अभेद बतलाया जाता है[1]।

---

१ देखो आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र के चतुर्थ प्रकाश का ७८वाँ श्लोक—

कषाया विषया योगाः प्रमादाविरती तथा।
मिथ्यात्वमार्त्तरौद्रे चेत्यशुभं प्रति हेतवः॥

अर्थात्—कषाय, विषय, योग, प्रमाद, अविरति, मिथ्यात्व और आर्त व रौद्र ध्यान अशुभ कर्म के हेतु (आस्रव) हैं।

इस श्लोक पर की अपनी टीका में वे स्वयं आस्रव-बन्ध के बारे में प्रश्नोत्तरपूर्वक चर्चा करते हैं। प्रश्न इस प्रकार का है—

इन (कषायादि) को बन्ध का हेतु कहा गया है, तो फिर आस्रव की भावना में इन बन्धहेतुओं के कथन का क्या प्रयोजन?

इस प्रश्न और इसके उत्तर की चर्चावाला मूल लेख ही यहाँ पर हम उद्धृत करते हैं—

"नन्वेते बन्धं प्रति हेतुत्वेनोक्ताः, यद् वाचकमुख्याः—'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः' इति।

अब कैसा काम करने से कौन से, कर्म का बन्ध होता है यह देखें।

ज्ञानी व्यक्ति का अनादर, उसकी ओर प्रतिकूल आचरण, अवज्ञा, कठोर व्यवहार, ज्ञान के साधन पुस्तकादि की ओर असावधानी—अथवा, विद्याभ्यासी के विद्याभ्यास में विघ्न डालना, ज्ञान अथवा ज्ञान के साधन अपने पास होने पर भी चित्त की कलुषितता के कारण दूसरे को देने से इनकार करना, झूठे बहाने बता कर ना करना—ऐसे ऐसे बरताव से तथा आलस्य, प्रमाद, मिथ्या उपदेश से ज्ञानावरण कर्म का बन्ध होता है।

और दर्शन, दर्शनवान् तथा दर्शन के साधन के साथ इसी प्रकार के बरताव से दर्शनावरणीय कर्म का बन्ध होता है।

तत् किमर्थमसाधनायां बन्धहेतूनामेतेषामभिधानम्? सत्यम्, आश्रवभावनया बन्धभावमापि न महर्षिर्यथनाश्रवेणोक्ता आश्रव भावनयैव गतार्थत्वात्। आश्रवेण ह्युपात्ताः कर्मपुद्गला आत्मना सम्बध्यमाना बन्ध इत्यभिधीयते। यथाह— सकषाय त्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः इति। ततश्च बन्धाश्रवयोर्भेदो न विवक्षितः। ननु कर्मपुद्गलैः सह नीरक्षीर-न्यायेनाऽऽत्मनः सम्बन्धो बन्ध उच्यते तत्कथमाश्रव एव बन्धः। युक्तमेतत् तथाप्याश्रवेणानुपात्तानां कर्मपुद्गलानां कथं बन्धः स्यात्? इत्यतोऽपि कर्मपुद्गलाऽऽदानहेतावाश्रवे बन्धहेतूनामभि धानमयुक्तम्। ननु तथापि बन्धहेतूनां पाठो निरर्थकः। नैवम्, बन्धाश्रवयोरेकत्वज्ञापनार्थत्वाद् आश्रवहेतूनामेषाऽपि पाठ इति-सर्वमवदातम्।"

अनुकम्पा, सेवा, क्षमा, दया, दान, संयम से सातवेदनीय कर्म का बन्ध होता है। बाल-तप से भी उसके प्रमाण के अनुसार सातवेदनीय का बन्ध होता है।

दूसरे का वध करने से अथवा दूसरे को शोक-सन्ताप-दुःख देने से असातवेदनीय कर्म का बन्ध होता है। स्वयं भी शोक-सन्ताप-दुःखग्रस्त रहने से अथवा दुर्ध्यान से दूषित आत्महत्या करने से भी इस कर्म का बन्ध होता है।

असन्मार्ग का उपदेश, सन्मार्ग का अपलाप और सन्त-साधु-सज्जन एवं कल्याणसाधन के मार्गों की ओर प्रतिकूल बरताव करने से दर्शनमोहनीय कर्म का बन्ध होता है।

कषायोदयजन्य तीव्र अशुभ परिणाम से चारित्र-मोहनीय कर्म बँधता है।

महारम्भ, महापरिग्रह, पंचेन्द्रियवध व रौद्रपरिणाम से नारक आयुष्य का बन्ध होता है।

मायावी भाव से तिर्यंच आयुष्य का बन्ध होता है।

अल्प आरम्भ, अल्प परिग्रह और मृदुता-ऋजुता के गुणों से मनुष्य आयुष्य का बन्ध होता है।

संयम यदि मध्यम कक्षा का अथवा रागयुक्त हो, तपस्विता यदि बाल कक्षा की हो तो उसके प्रमाणमें देव

(स्वर्ग) का आयुष्य बँधता है। तप संयम की साधना के अनुसार देवायुष्य का बन्ध होता है।

ऋजुता, मृदुता, सच्चाई और मैत्री मिलाप करा देने के प्रयत्न से—इस प्रकार के सौजन्य से शुभ नामकर्म का बन्ध होता है।

और इससे विरुद्ध दुर्जनता धारण करने से, कुटिलता, शठता, लुच्चाई, ठगाई, विश्वासघात आदि से अशुभ नाम कर्म का बन्ध होता है।

गुणग्राहिता, निरभिमानता, विनीतता आदि गुणों से उच्च गोत्र कर्म का बन्ध होता है।

परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, दूसरे के विद्यमान गुणों का आच्छादन और सम्भव असम्भव दोषों का उद्घाटन, अपने दोषों का आच्छादन और अविद्यमान गुणों का उद्घाटन तथा जाति-कुलादि के अभिमान से नीच गोत्र कर्म का बन्ध होता है।

किसी को दान करने में, किसी के लाभ में अथवा भोगोपभोग आदि में बाधा उपस्थित करने से अन्तराय कर्म का बन्ध होता है।

कर्म प्रकृतियों के इन आस्रवों का (बन्धहेतुओं का) यह स्थूल उल्लेख मात्र दिशासूचक है।

यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अमुक कर्म-प्रकृति के जो आस्रव कहे हैं वे उस प्रकृति के अतिरिक्त दूसरी कर्मप्रकृति के बन्धक हो सकते हैं या नहीं ? यदि इसका उत्तर 'हाँ' है तो प्रत्येक प्रकृति के भिन्न-भिन्न आस्रवों का कथन निरर्थक है, और यदि इसका उत्तर 'ना' है अर्थात् एक प्रकृति के गिनाए गए आस्रव उसी प्रकृति के बन्धक हैं, दूसरी प्रकृतियों के नहीं, तो शास्त्र का विरोध आता है। शास्त्र का सिद्धान्त है कि सामान्यतः आयुष्य कर्म को छोड़ कर अन्य सातों कर्म-प्रकृतियों का बन्ध एक साथ होता है। इस नियम के अनुसार जब ज्ञानावरण कर्म का बन्ध होता हो तब वेदनीय आदि छह प्रकृतियों का भी बन्ध होता है, ऐसा मानना पड़ेगा। आस्रव तो एक एक कर्मप्रकृति का एक समय में एक होता है और बन्ध तो उस प्रकृति के अतिरिक्त दूसरी अविरोधी प्रकृतियों का भी उस समय होता है। अतः अमुक आस्रव अमुक कर्मप्रकृति का ही बन्धक है इस प्रकार का निरूपण शास्त्रनियम से बाधित होता है। इसलिये प्रत्येक प्रकृति के भिन्न-भिन्न आस्रवों का जो वर्गीकरण किया है उसका क्या अभिप्राय है ?

इसका खुलासा तो यही है कि प्रत्येक प्रकृति के गिनाए गए उपर्युक्त आस्रव उस उस कर्म प्रकृति के अनुभाव(रस)बन्ध में ही निमित्त हैं और शास्त्रों में एक-

साथ अनेक कर्मप्रकृतियों के बन्ध का जो उल्लेख है वह प्रदेश-बन्ध की अपेक्षा से है। इस प्रकार दोनों में किसी प्रकार की असंगतता नहीं रहती।

आस्रवों का विभाग अनुभाव की दृष्टि से किया गया है ऐसा उपर्युक्त उल्लेख भी मुख्यता की अपेक्षा से समझने का है; अर्थात् जिस प्रकृति के जो आस्रव गिनाए हैं उन आस्रवों के सेवन के समय उस कर्मप्रकृति का अनुभाव बन्ध मुख्यरूप से होता है और उस समय बँधनेवाली इतर प्रकृतियों के अनुभाव का बन्ध गौणरूप से होता है। यह तो कैसे हो सकता है कि एक समय में एक ही कर्मप्रकृति का अनुभाव-बन्ध तो हो और दूसरी प्रकृतियों का न हो? क्योंकि जिस समय जितनी कर्मप्रकृतियों का प्रदेशबन्ध योग द्वारा होता है उस समय कषाय द्वारा उतनी ही कर्म प्रकृतियों का अनुभावबन्ध भी होता है। अतः मुख्य रूप से होनेवाले अनुभावबन्ध की अपेक्षा से प्रस्तुत आस्रव विभाग का समर्थन युक्त मालूम होता है। शुभ अशुभ कर्मबन्ध के सदाचार अनाचाररूप मार्गों का नामनिर्देश कर के कर्म-प्रकृतियों का बन्ध बताने से प्राणी को स्पष्ट समझ में आ जाय और सदाचार को ग्रहण करने का तथा दुराचार को त्यागने का भाव उनमें जगे—यही प्रयोजन आस्रव विभाग के विवेचन के पीछे है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है।

[१०]

(आयुष्य के बारे में)

आयुष्य कर्म के चार विभाग पहले बतलाए जा चुके हैं: देव का आयुष्य, मनुष्य का आयुष्य, तिर्यंच का आयुष्य और नारक का आयुष्य।

जिस प्रकार घड़ी को चाभी देने के बाद, यदि बीच में कोई विघ्न उपस्थित न हो तो, नियत समय तक चलने के बाद वह स्वतः बन्द हो जाती है उसी प्रकार आयुष्य कर्म द्वारा इस जीव का मनुष्य, तिर्यंच आदि भवों में स्थूल शरीर के साथ का सम्बन्ध यदि बीच में कोई विघ्न उपस्थित न हो तो नियत काल तक जारी रहता है और कालमर्यादा पूर्ण होने पर जीव उस शरीर में क्षणभर भी नहीं रहता। जब यह शरीररूपी घड़ी विष, भय, शस्त्राघात, संक्लेश-वेदना आदि के कारण नियत समय से पहले ही बिगड़ जाती है तब इस प्रकार के आघात-प्रहार के मृत्युरूप परिणाम को 'अकाल मरण' कहते हैं।

एक तरफ से क्रमशः जलनेवाली रस्सी को जलने में देर लगती है, परन्तु उसकी गेंडुली बना कर यदि उसे आग लगाई जाय तो वह शीघ्र जल जाती है; भीगे कपड़े की तह लगाकर यदि सूखने के लिये रखा जाय तो उसे

सूखने में देर लगेगी, परन्तु उसे फैला कर यदि सुखाया जाय तो वह जल्दी ही सूख जायगा। इसी प्रकार यदि आयुष्य-दल क्रमशः भुगता जाय तो अपने समय पर वह पूर्ण होगा, परन्तु शस्त्र, अस्त्र, विष, अग्नि आदि किसी उपद्रव से यदि यह समूचा दल एक साथ ही भुगत लिया जाय तो तुरन्त ही मृत्यु होती है। सत्तर वर्ष के आयुष्य के दल क्रमशः भुगतने पर सत्तर वर्ष पर मृत्यु होती है, परन्तु इन दलों का क्रमशः उपभोग होने के बदले पचीस वर्ष की आयु में यदि कोई घातक दुर्घटना हो अथवा कोई विघातक प्रयोग किया जाय और इससे अवशिष्ट ४५ वर्ष के आयुष्यदल एक साथ ही दो चार मिनट में अथवा दो चार घड़ी अथवा दो चार प्रहर जैसे अल्प समय में भुगत लिये जायें तो उसी समय मृत्यु होती है। एक हजार रुपयों की पूँजी में से यदि प्रतिदिन एक एक रुपया खर्च किया जाय तो वह पूँजी एक हजार दिन तक चलेगी, परन्तु एक ही दिन में अथवा एक ही घंटे में वह पूँजी अथवा बाकी रही हुई रकम खर्च कर दी जाय तो निर्धनता तुरन्त ही आ जायगी। पूर्व जन्म में यदि आयुष्य का बन्ध शिथिल हुआ हो तो किसी घातक उपद्रव का निमित्त मिलने पर उसकी भोगकाल की काल मर्यादा कम हो जाती है और अपनी नियत काल मर्यादा पूर्ण होने से पूर्व ही जल्दी ही वह भुगता जा कर खत्म हो जाता है। परन्तु यदि उसका (आयुष्य का) बन्ध

-बन्ध हुआ हो तो विनाशक निमित्त मिलने पर भी बन्ध-काल की कालमर्यादा कम नहीं होती, अर्थात् अपनी नियत कालमर्यादा से पहले आयुष्य समाप्त नहीं होता। इस पर से आयुष्य के अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय ऐसे दो भेद होते हैं। निमित्त मिलने पर जो आयुष्य शीघ्र भुगत लिया जाता है वह अपवर्तनीय कहलाता है; अर्थात् घातक उपद्रव के कारण अवशिष्ट आयुष्य, जो अनेक वर्षों तक भुगतने योग्य था, उसे अत्यन्त अल्प समय में भुगत लेना आयुष्य का अपवर्तन है, और इस तरह जिस आयुष्य का अपवर्तन होता है उसे 'अपवर्तनीय' कहते हैं। इस अपवर्तन का ही दूसरा नाम 'अकाल मृत्यु' है। और जो आयुष्य किसी भी निमित्त के आक्रमण से समेटा न जा कर अपनी नियत कालमर्यादा तक बराबर भुगता जाता है वह 'अनपवर्तनीय' कहलाता है।

जीव शाश्वत, सनातन, नित्य तत्त्व है। उसका न तो जन्म [उत्पत्ति] है और न मृत्यु [विनाश]। ऐसा होने पर भी सकर्मक दशा में किसी भी योनि में स्थूल शरीर धारण कर के उसके प्रगट होने को हम 'जन्म' और उसके स्थूल शरीर के साथ के वियोग को 'मृत्यु' कहते हैं।

ऊपर कहा उस तरह अकाल मृत्यु द्वारा आयुष्य के नियत काल में कमी तो हो सकती है, परन्तु किसी

प्रकार का प्रयत्न करने पर भी नियत आयुष्य काल में अभिवृद्धि नहीं होती। मोहनीय कर्म के नेतृत्व के नीचे इस भव में ही आगामी भव के आयुष्य का बन्ध हो जाता है। अतः जब तक मोहनीय कर्म का प्रभाव चालू रहता है तब तक इस प्रकार की भवोभव की शृंखला लम्बी होती जाती है—भवभ्रमण चालू ही रहता है।

[१९]

जैनदर्शन में 'कर्म' क्रिया-प्रवृत्ति का संस्कार मात्र नहीं है, यह एक द्रव्यभूत वस्तु है। पहले अनेक बार कहा जा चुका है कि जीव की क्रिया प्रवृत्ति [शारीरिक, वाचिक, मानसिक], जिसे योग कहते हैं, उससे कर्म के पुद्गल आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं और कषाय (राग-द्वेष) के बल से आत्मा के साथ चिपक जाते हैं। जीव में राग द्वेष की वासना अनादि काल से है और शरीर धारण भी अनादिकाल से है; अर्थात् अनादि काल से कर्म क आकर्षण एवं बन्धन के चक्र में वह फँसा हुआ है। इस चक्र का नाम ही संसार अथवा संसारचक्र है। इस तरह कर्म के सम्बन्ध से जीव संसार की विविध योनियों में (गतियों में) परिभ्रमण कर रहा है।

कर्म के सम्पूर्ण बन्धनों से जब यह छूट जाता है तब वह 'मुक्त' कहलाता है। इस प्रकार की मुक्ति अन्तिम

और पूर्ण मुक्ति है। कर्मदल के अनन्त विस्तार में मोह का—राग-द्वेष-मोह का—काम, क्रोध, मद, माया, लोभरूप गिरोह का—प्रमुख और अग्रिम आधिपत्य है। भवचक्र का मुख्य आधार इन पर है। ये सब दोषों के नायक हैं। सम्पूर्ण कर्मतन्त्र के ऊपर इनका अग्रगामी प्रभुत्व और नेतृत्व है। यदि इनसे मुक्त हुआ जाय तो समग्र कर्मचक्र के फंदे से मुक्ति मिली ही समझो। इसीलिये कहा है कि 'कषाय-मुक्तिः किल मुक्तिरेव' अर्थात् कषायों से मुक्त होने में ही मुक्ति है।

संसार के नानाविध प्राणियों में मनुष्य श्रेष्ठ है। उसके पास विवेक और बुद्धि हैं। वह जब अपनी विवेकबुद्धि का सदुपयोग करता है और सदाचरण के सन्मार्ग पर चलता है तब उसके कर्मबन्ध के बलों की कटुता कम होती है और मिष्टता में अभिवृद्धि होती है। जीव का अपना चैतन्य-बल जब विशिष्ट रूप से पुरुषार्थशील बनता है तब उसके पुराने बँधे हुए कर्म झड़ने लगते हैं और साथ ही साथ नए कर्मों का चिपकना उत्तरोत्तर कम होता जाता है। जीव की यह परिस्थिति उसकी मोक्ष तरफ़ की प्रगति है।

संसारवर्ती जीव क्रियारहित नहीं होता। दूसरी कोई नहीं तो अन्त में मानसिक क्रिया तो होती ही रहती है। अतः

में किसी भी प्रवृत्ति अथवा क्रिया के कारण उसे कर्म का बंध होने का ही। परन्तु जो व्यक्ति विवेकबुद्धि के साथ सदाचरण के उन्नायक मार्ग पर चलता है उसे क्रियाप्रसूत कर्मबन्ध से डरने की आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि उसकी इस प्रकार की विकासगामी जीवनचर्या के समय जो कर्म बंधेंगे वे कटुफलदायक नहीं होने के। शुभ जीवनचर्या के समय अधिकांशतः सत्कर्मों का (पुण्य कर्मों का) ही संचय होने का और साथ ही उभनिर्जरारूप पुण्य भी सधता जायगा। जीवन की यह प्रक्रिया सुखदायक और साथ ही आत्मकल्याण की साधना में उपकारक भी है।

मनुष्य का कार्य तो बस इतना ही है कि वह अपनी बुद्धि को शुद्ध रखे और सत्कर्मपरायण रह कर आत्मकल्याण के सन्मार्ग से चलित न हो। इतना वह ध्यान में रखे तो बस है। इसमें समग्र दुःखों और तज्जनक कर्मों का औषध सम्पूर्णतया समाया हुआ है।

जिस प्रकार पवन से धूल उड़ कर किसी स्थान पर गिरे और यदि वहाँ चिकनी वस्तु पड़ी हो तो उससे वह चिपक जाती है उसी प्रकार जीव की मनो-वाक्-काय की प्रवृत्ति (योग) रूपी पवन से कार्मिक पुद्गल जीव पर गिरते हैं और कषाय के कारण उसके साथ चिपक जाते हैं। कषाय का नाश होने पर भी जब तक 'योग' रहते हैं

तब तक कर्मपुद्गल 'योग' से आकृष्ट हो कर जीव के साथ लगते हैं तो सही, परन्तु टिकते नहीं। जीव को छूकर तुरन्त ही झड़ जाते हैं।

यहाँ पर ऐसा प्रश्न हो सकता है कि जीव तो अमूर्त है, तो फिर उसके साथ मूर्त कर्मपुद्गलों का बन्ध कैसे हो सकता है? इसका उत्तर तो यही है कि, यद्यपि जीव स्वरूप से (अपने मूल स्वरूप से) अमूर्त है फिर भी अनादि-कालीन राग द्वेष मोह की वासना से, जो उसके वास्तविक शुद्ध स्वरूप के साथ सर्वथा असंगत है, वासित होने के कारण और इसीलिये उसके साथ कार्मिक पुद्गल निरन्तर जुड़ते रहने से वह स्वयं अमूर्त होने पर भी मूर्त जैसा बन गया है—अनादिकाल से उसकी मूर्त जैसी स्थिति हो गई है। यह शरीरधारण, भवभ्रमण, सुख-दुःख तथा वासनामय जीवनप्रवाह—ये सब जीव के हैं। शरीरधारक जीव है, भवभ्रमण करनेवाला जीव है, सुख-दुःख का वेदक जीव है, वासना से वासित जीव है। यह सब—यह सब झमेला—यह सब झंझट अकारण तो कैसे हो सकता है? अतः उसकी इस परिस्थिति का कारण भी उसके साथ ही सम्बद्ध हो यह सहज ही समझा जा सकता है, और उसकी यह परिस्थिति अनादिकालीन होने से उसका कारण-योग भी उसके साथ अनादिकालीन होना चाहिए यह स्पष्ट है। यह कारणयोग मोह, अविद्या, माया, वासना,

कर्म जो कुछ कहो पर उसके साथ अनादिकाल से संयुक्त होने के कारण, ऊपर कहा उस तरह, अमूर्त होने पर भी यह सर्वदा से मूर्त जैसा है। और इसी कारण निरन्तर कर्मों के बन्ध व उदय आदि के झंझट में यह फँसा हुआ रहता है तथा भव-कान्तार में भटकता फिरता है।

चेतनाशक्ति-ज्ञानशक्ति अमूर्त है, फिर भी मदिरा आदि से उस पर आवरण आ जाता है, इसी प्रकार आत्मा अमूर्त होने पर भी उसकी आवरणयुक्त दशा उपपन्न हो सकती है।

जिस प्रकार बोया हुआ बीज तुरन्त ही न उग कर समय आने पर ही उगता है, पी हुई शराब तुरन्त ही नशा उत्पन्न न कर के अमुक प्रकार की उसकी परिणति होने के बाद ही उसका नशा चढ़ता है, उसी प्रकार जीव को क्रिया प्रवृत्ति द्वारा उसे जो कर्म का बन्ध होता है वह अमुक समय बीतने के बाद ही अपना फल दिखाता है। फल दिखाने का समय जब तक न आए तब तक वह कर्म जीव के साथ सत्ता रूप से अन्तर्निहित रहता है। कर्म उदय में आया इसका अर्थ यह है कि वह अपना फल चखाने के लिए तैयार हुआ। प्रत्येक कर्म कर्म तभी कहा जाता है जब वह जीव के साथ बँधे—उसके साथ संयुक्त हो, और जब उसका बन्ध हुआ तब, यह निश्चित है कि, उस कर्मी

न कभी हटना ही पड़ेगा। विपाकोदय में आकर अर्थात् प्रगटरूप से उदय में आकर और अपना फल जीव को चखा कर कोई भी कर्म नष्ट हो जाता है—जीव पर से झड़ जाता है। परन्तु कर्म की एक ऐसी भी अवस्था होती है या हो सकती है जब वह उदय में आकर के भी फल चखाए बिना ही नष्ट हो जाय। ऐसे फलदानरहित उदय को 'प्रदेशोदय' कहते हैं। कर्मों के सुमहान् विस्तार को विपाकोदय द्वारा यदि जीव भुगतने बैठे तो मोक्ष की प्राप्ति अशक्य ही बन जाय। साधक की साधना के बल के प्रताप से बहुत से कर्मपुंज इस तरह (प्रदेशोदय से) नष्ट होते हैं। अन्ततः इस तरह कर्म का बड़ा गोदाम ख़ाली होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है[1]।

---

१ प्रत्येक कर्म अवश्य भोगना पड़ता है—यह नियम बराबर है, परन्तु यह नियम प्रदेशानुभव की अपेक्षा से है, अनुभाव (रस) की अपेक्षा से नहीं। प्रत्येक कर्म का रसोदय अथवा विपाकोदय भोगना ही पड़े ऐसा कोई नियम नहीं है। अध्यवसायविशेष से विपाकानुभव किए बिना ही प्रदेशानुभव द्वारा कर्म झड़ जाते हैं। 'प्रसन्नचन्द्र' आदि महापुरुषों ने जो नरकयोग्य कर्म बाँधे थे उन कर्म के अनुभाव (रस) को उन्होंने शुभ अध्यवसाय के बल से नष्ट कर दिया था और उनके नीरस प्रदेशों का ही उन्होंने अनुभव किया था। यही कारण है कि नरक के योग्य कर्म का बँध करने पर भी उन्हें नरक के दुःख सहने नहीं पड़े, क्योंकि विपाकानुभव होने पर ही सुख-दुःख का वेदन होता है। (देखो विशेषावश्यकभाष्य गाथा २०४९ की वृत्ति)

विपाकोदय से ही कर्म झाड़े जा सकते हैं [illegible] ऐसा

प्रथम खण्ड के 'बन्ध' शीर्षक के नीचे किए गए विवेचन में कर्मबन्ध के प्रकृति, स्थिति आदि जो चार भेद बतलाए हैं उन्हें समझाने के लिये मोदक का दृष्टान्त दिया जाता है। जिस प्रकार वायुनाशक वस्तुओं से बना हुआ मोदक वायु को शान्त करता है, पित्तनाशक चीजों से बना हुआ मोदक पित्तशामक होता है और कफनाशक वस्तुओं का बना हुआ मोदक कफ का उपशामक होता है; कोई मोदक चार दिन तक खराब नहीं होता तो कोई आठ दिन तक; किसी मोदक में कटुता कम होती है तो किसी में अधिक;

नियम यदि माना जाय तो किसी भी जीव को मोक्ष नहीं मिल सकेगा क्योंकि उसी भव में मुक्त होनेवाले जीव को भी सत्ता में तो अनेकानेक भवोपार्जित कर्म होते हैं और वे कर्म नानाविध अध्यवसायों द्वारा बँधे हुए होने से नरकादि अनेक गतियों के कारण होते हैं। अतः यदि वे सब कर्म विपाकोदय द्वारा ही निःशेष करने के हों तो उस एक और अन्तिम भव में नानाविध भवों का अनुभव करना पड़ेगा। परन्तु यह तो असम्भव है क्योंकि एक मनुष्यभव में नारक आदि अनेक अन्य भवों का अनुभव नहीं हो सकता। अब यदि वह नाना गतियों के कारणभूत कर्म का नाना गतियों में जा कर क्रमशः विपाकरूप से अनुभव करने लगे तो पुनः नाना गतियों के कारणभूत कर्म का बन्ध होने का और पुनः नाना भवों में भ्रमण होने का और फिर नाना गतियों के कारणभूत कर्म बँधने के। इस प्रकार कर्मबन्ध और भव भ्रमण की परम्परा निरन्तर चलती रहेगी और उसका अन्त कभी भी नहीं आयेगा। इस प्रकार मोक्ष वस्तु असम्भव ही बन जायगी। (देखो विशेषावश्यकभाष्यगाथा २ ५२-५१ की वृत्ति)

तथा कोई मोदक पावभर का होता है तो कोई आधे सेर का, अर्थात् भिन्न-भिन्न मोदकों का पौद्गलिक परिमाण कमोबेश होता है; इसी प्रकार कर्मों में भी, ऊपर कहा उस तरह, किसी का स्वभाव ज्ञान को तथा किसी का दर्शन को आवृत करने का होता है तो किसी का सुख-दुःख का अनुभव कराने का होता है। इसी प्रकार कर्मों की जीव के साथ चिपके रहने की कालमर्यादा भी अलग अलग होती है। शुभाशुभ (मधुर अथवा कटु) फल देने की शक्तिरूप रस भी किमी कर्म में तीव्र तो किसी में मन्द होता है [तीव्र मन्दता में भी नानाविध तारतम्य होता है] और भिन्न-भिन्न कर्मों के परमाणुसमूह भी न्यूनाधिक होते हैं।

इन चार प्रकार के बन्धों में से पहला और अन्तिम ये दो बन्ध 'योग' के कारण होते हैं, क्योंकि योग के तरतमभाव के ऊपर ही प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध की तरतमता अवलम्बित है। मतलब यह कि जीव की ओर आकर्षित होनेवाले कर्मपुद्गलों में भिन्न-भिन्न स्वभाव का निर्माण होना तथा इन पुद्गलों की संख्या में न्यूनाधिकता होना ये दो काम (पहला प्रकृतिबन्ध और दूसरा प्रदेशबन्ध) 'योग' पर निर्भर हैं। और कर्म के स्थितिबन्ध तथा अनुभावबन्ध कषाय पर आश्रित हैं। इसके बारे में आगे के पृष्ठों में अधिक स्पष्टीकरण किया जायगा।

अनुभागबन्ध को रसबन्ध भी कहते हैं। [अनुभाव के स्थान पर 'अनुभाग' शब्द भी प्रचलित है।] रस तीव्र और मन्द इस तरह दो प्रकार का है। इन दोनों प्रकारों के रसबन्ध शुभ एवं अशुभ दोनों प्रकार की कर्म प्रकृतियों में निष्पन्न होते हैं। अशुभ प्रकृति के अनुभाव (रस) की उपमा नीम के जैसे कडुए रस के साथ दी जाती है, अर्थात् जैसे नीम का रस कडुआ होता है वैसे अशुभ प्रकृति का रस भी बुरा-दुःखरूप होता है, और शुभ प्रकृति के रस की उपमा गन्ने के रस के साथ दी जाती है, अर्थात् गन्ने का रस जैसे मीठा होता है वैसे ही शुभ प्रकृति का रस मीठा-सुखदायक होता है।

कषाय की तीव्रता के समय शुभ अथवा अशुभ कोई भी कर्मप्रकृति जो बंधती है उसका स्थितिबन्ध भी अधिक होगा और कषायकी मन्दता के समय शुभ अथवा अशुभ कोई भी कर्मप्रकृति जो बंधती है उसका स्थितिबन्ध कम होगा; अर्थात् सब कर्मों के स्थितिबन्ध की न्यूनाधिकता कषाय की न्यूनाधिक मात्रा पर अवलम्बित है। कषाय जितना तीव्र, किसी भी शुभ अशुभ प्रकृति का स्थिति बन्ध भी उतना ही अधिक बंधता है और कषाय जितना मन्द, किसी भी शुभ-अशुभ कर्मप्रकृति का स्थितिबन्ध उतना ही कम बंधता है। सब कर्मों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अशुभ ही होता है।

परन्तु अनुभाव की (रस की) बात इससे भिन्न प्रकार की है। वह इस प्रकार : कषाय की तीव्रता के समय अशुभ कर्मप्रकृति का रस अधिक बंधता है और शुभ कर्मप्रकृति का कम; और कषाय की मन्दता के समय शुभ कर्मप्रकृति का रस अधिक बंधता है और अशुभ कर्मप्रकृति का रस मन्द। कषाय जितना तीव्र, अशुभ कर्मप्रकृति का रसबन्ध भी उतना ही अधिक बंधता है और शुभ कर्मप्रकृति का रस-बन्ध उतना ही कम बँधता है; और कषाय जितना मन्द, शुभ प्रकृति का रसबन्ध भी उतना ही अधिक तथा अशुभ कर्मप्रकृति का रसबन्ध उतना ही कम बँधता है। मतलब कि तीव्र कषाय से अशुभ कर्मप्रकृति में तीव्र रस और शुभ कर्मप्रकृति में मन्द रस आता है। इसके विपरीत जब कषाय मन्द होते हैं तब शुभ कर्मप्रकृति में तीव्र रस और अशुभ कर्मप्रकृति में मन्द रस आता है। शुभ कर्म का उत्कृष्ट रसबन्ध शुभ है।

जब जीव कर्म पुद्गलों को ग्रहण करता है तब उसी समय (ग्रहण होते ही) उन कार्मिक पुद्गलों में विचित्र प्रकार का जोश आ जाता है और जीव के कषायरूप परिणामों का निमित्त पाकर उनमें अनन्तगुना रस उत्पन्न हो जाता है। यही रस जीव के गुणों का घात आदि करता है। जीव को भाँति भाँति के फल चखाने का काम यह रस ही करता है।

जीव की बड़ी से बड़ी उपाधि यह रस ही है। शुभ रस से सुख मिलता है और अशुभ रस से दुःख।

जिस प्रकार सूखा घास नीरस होता है, परन्तु गाय, भैंस, बकरी आदि के पेट में जाकर वह दूधरूप रस में परिणत होता है तथा उस रस में (दूध में) चिकनाहट कमोबेश मालूम होती है अर्थात् सूखा घास खा कर के भैंस गाढ़ा दूध देती है और उसमें चिकनाहट भी अधिक होती है, गाय का दूध कम गाढ़ा और कम चिकना होता है और बकरी का दूध तो उससे भी कम गाढ़ा और कम चिकना होता है—इस तरह एक ही प्रकार का घास भिन्न-भिन्न पशुओं के पेट में जा कर भिन्न-भिन्न दूधरूप रस में परिणत होता है, उसी प्रकार एक ही प्रकार के कर्मवर्गणा के पुद्गल भिन्न-भिन्न जीवों के भिन्न भिन्न कषायरूप परिणामों का निमित्त पा कर भिन्न भिन्न रसवाले बनते हैं। इसका नाम रसबन्ध अथवा अनुभाव-बन्ध अथवा अनुभाग-बन्ध है। जिस प्रकार अनेक प्रकार के दूध में से किसी में अधिक शक्ति होती है और किसी में कम, उसी प्रकार शुभ अथवा अशुभ कर्मप्रकृतियों का अनुभाव (रस) तीव्र भी होता है और मन्द भी होता है।

---

१ परन्तु शुभोपभोग में अनासक्तभाव रखना बहुत कठिन जानकर स्वामी भर्तृहरि अपने वैराग्यशतक में कह रहे हैं कि—

विपाकः पुण्यानां जनयति भयं मे विमृशतः।

अर्थात्—पुण्य का विपाक विचार करने पर, मुझे भय उत्पन्न करता है। श्लोक के इस दूसरे चरण के बाद उत्तरार्ध में वे कहते हैं कि—

महर्षि उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र के छठे अध्याय का तीसरा-चौथा सूत्र है : 'शुभः पुण्यस्य', 'अशुभः पापस्य'-अर्थात् कायिक, वाचिक, और मानसिक क्रियारूप योग यदि शुभ हों तो शुभ कर्म अर्थात् पुण्य कर्म का और यदि अशुभ हों तो अशुभ कर्म अर्थात् पाप कर्म का बन्ध होता है। परन्तु शुभ योग के समय भी पापप्रकृतियों का और अशुभ योग के समय भी पुण्यप्रकृतियों का भी बन्ध होता है ऐसा कर्मशास्त्रों में उल्लेख है। अतः उपर्युक्त दो सूत्रों का तात्पर्य यह बताया जाता है कि शुभ योग की सबलता के समय (जबकि संक्लेश—कषायपरिणाम मन्द होते हैं) पुण्यप्रकृतियों के अनुभाव (रस) की मात्रा अधिक बँधती है और पापप्रकृतियों के अनुभाव की मात्रा कम। इसके विपरीत अशुभ योग की प्रबलता के समय (जबकि संक्लेश—कषायपरिणाम तीव्र होते हैं) पाप-प्रकृतियों का अनुभावबन्ध अधिक और पुण्यप्रकृतियों का अनुभावबन्ध अल्प होता है। इस तरह, शुभ योग के कारण पुण्य कर्म के रस की और अशुभ योग के कारण पाप कर्म के रस की जो अधिक मात्रा होती है उसे मुख्य

'महद्भिः पुण्यौघैश्चिरपरिगृहीताश्च विषया
महान्तो जायन्ते व्यसनमिव दातुं विषयिणाम् ॥'

अर्थात्—महान् पुण्यसमूहों के द्वारा चिरकाल से मिले हुए विषयभोग विषयी मनुष्यों को दुःख देने के लिये ही मानो फलते जाते हैं।

समझकर उपर्युक्त सूत्रों में शुभ योग को पुण्य के और अशुभ योग को पाप के बन्ध का कारण कहा है। इस प्रकार उक्त सूत्रों का विधान अनुभाग-बन्ध की अधिक मात्रा की अपेक्षा से समझने का है। यहाँ पर शुभयोगकालीन पाप कर्म के रस की और अशुभयोगकालीन पुण्यकर्म के रस की हीन मात्रा विवक्षित नहीं है। इस प्रकार प्रधानता को लक्ष्य में रख कर यह कहा गया है। 'प्राधान्येन हि व्यपदेशा भवन्ति।'

कर्मों की मुख्य दस अवस्थाएँ इस प्रकार बतलाई गई हैं—

(१) बन्ध—कर्मयोग्य वर्गणा के पुद्गलों के साथ आत्मा का नीर क्षीर की भाँति अथवा लोहा और तप्त अग्नि की भाँति एक-दूसरे में मिल जाना यह बन्ध कहा जाता है। कर्म के इन सूक्ष्म पुद्गलस्कन्धों का जो ग्रहण होता है वह आत्मा के समग्र प्रदेशों द्वारा होता है, न कि किसी एक ही दिशा में रहे हुए आत्मा के प्रदेशों द्वारा। सब संसारी जीवों को एक जैसा कर्मबन्ध नहीं होता, क्योंकि सब का मानसिक-वाचिक शारीरिक योग (व्यापार) समान नहीं होता। इसीलिये योग के तरतमभाव के अनुसार प्रदेश बन्ध में भी तरतमभाव आता है। प्रत्येक कर्म के अनन्त स्कन्ध आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशों के साथ बँधते हैं। जीव जिस क्षेत्र में रहता है उसी क्षेत्र में विद्यमान कर्मवर्गणा के

पुद्गलस्कन्ध बँधते हैं, न कि बाहर के क्षेत्र में रहे हुए पुद्गलस्कन्ध। आत्मा के साथ बँधनेवाला प्रत्येक कर्मस्कन्ध अनन्तानन्त परमाणुओं का बना हुआ होता है।

कर्म की पहली अवस्था बन्ध है। इसके बिना दूसरी कोई भी अवस्था शक्य नहीं है। बन्ध के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इस प्रकार ये चार भेद पीछे हम देख चुके हैं।

(२-३) उद्वर्तना-अपवर्तना—कर्म के स्थिति एवं रस की अभिवृद्धि को उद्वर्तना और उनके कम होने को अपवर्तना कहते हैं। अशुभ कर्म का बन्ध होने के बाद यदि जीव अच्छे अर्थात् शुभ कार्य करे तो पहले के बँधे हुए बुरे कर्म की स्थिति एवं रस कम हो सकते हैं। इस पर से यही बोधपाठ मिलता है कि यदि किसी मनुष्यने अज्ञान अथवा मोहवश दुर्व्यवहार कर के अपना जीवन कलुषित बनाया हो, परन्तु समझ में आने के बाद अपना चारित्र सुधार कर वह यदि सदाचारी और सत्कर्मा बने तो उसके सच्चरित के पवित्र भावोल्लास के बल से उसके पहले के बुरे कर्मों की स्थिति तथा कटुता में कमी अवश्य हो सकती है। गिरा हुआ अवश्य ऊपर उठ सकता है। घोर नरक में ले जानेवाले कर्मदलिक का जिन्होंने बन्ध किया है ऐसे महापापी भी जब वापस लौटे हैं (जग गए हैं) और अपने

अभिपलित आत्मबल से कल्याणपथ पर आरूढ़ हुए हैं तब उनके उस तपोबल के प्रभाव से उनके घोरातिघोर कर्म विध्वस्त हो गए हैं और महात्मा बन कर परमात्मपद प्राप्त करने में समर्थ हुये हैं। आत्मा प्रमाद निद्रा में पड़ा हुआ होने पर भी वह सोए हुए सिंह जैसा है। वह जब जगता है—वस्तुतः अपनी निद्रा को त्याग कर खड़ा होता है और अपने आत्मवीर्य को प्रगट करता है तब उत्तरोत्तर प्रखर होनेवाले उसके महान् आत्मबल के आगे महामारक मोहमातङ्ग पराजित हो जाता है और अन्त में पूर्ण रूप से हत प्रहत हो कर विनष्ट हो जाता है।

यह तो देखा हमने अपवर्तना के बारे में। इसी प्रकार उद्वर्तना के बारे में भी समझा जा सकता है। जैसे कि, किसी जीव ने अल्प स्थिति के अशुभ कर्म का यदि बन्ध किया हो परन्तु बाद में वह और अधिक बुरे काम करे तथा उसके आत्मपरिणाम अधिक कलुषित बनें तो पहले बँधे हुए उसके अशुभ कर्म की स्थिति एवं रस, उसके बुरे भावों के

---

१ ब्रह्म-स्त्री-भ्रूण-गो-घातपातकान्नरकातिथेः।
दृढप्रहारिप्रभृतेर्योगो हस्तावलम्बनम्॥

—हेमचन्द्र योगशास्त्र १ । १२

अर्थात्—ब्राह्मण स्त्री भ्रूण और गाय इन सब की हत्या करने से नरक के अतिथि बने हुए दृढ़प्रहारी और उसके जैसे अन्य महा पापी भी योग की शरण लेकर पार उतर गए हैं।

प्रभाव से, बढ़ सकते हैं। इसी प्रकार अशुभ परिणामों के बल से शुभ कर्मों के स्थिति एवं रस कम हो सकते हैं। इस अपवर्तना-उद्वर्तना के कारण कोई कर्म जल्दी से फल देता है तो कोई देर से। कोई कर्म मन्दफलदायी होता है तो कोई तीव्रफलदायी।

(४) सत्ता—कर्म का बन्ध होने के बाद तुरन्त ही वह फल न दे कर कुछ समय तक सत्ता रूप से रहता है-यह बात पहले कही जा चुकी है। जितने समय तक वह सत्ता-रूप से रहता है उतने समय को 'अबाधाकाल'[1] कहते हैं। यह काल स्वाभाविक क्रम से अथवा अपवर्तना द्वारा शीघ्र पूरा होने पर कर्म अपना फल देने के लिये तत्पर होता है। इसे कर्म का—

(५) उदय कहते हैं। कर्म का नियत समय पर फल देने के लिये तत्पर होना वह उदय है और नियत समय से पूर्व ही फल देने के लिये तत्पर होना उसे-

(६) उदीरणा कहते हैं। 'अबाधाकाल' पूर्ण होने पर

---

१ कर्म बद्ध होने के पश्चात् जितने समय तक बाधा (उपाधि) नहीं पहुँचाता अर्थात् उदय में नहीं आता-शुभाशुभ फल चखाने के लिये तत्पर नहीं होता उतने समय को 'अबाधाकाल' कहते हैं। जिस कर्म का जितना अबाधाकाल हो वह पूर्ण होने के बाद ही वह कर्म अपना फल देना शुरू करता है।

उदय में आए हुए कर्म का नियतकालीन क्रमिक उदय यह उदय है और उस उदयमान कर्म के जो दलिक पीछे से उदय में आनेवाले हैं उन्हें विशेष प्रयत्न से खींचकर उदयप्राप्त दलिकों के साथ मिला देने और भोगने को 'उदीरणा' कहते हैं। जिस प्रकार आम की मौसम में आम को जल्दी पकाने के लिये पेड़ पर से तोड़ कर घास आदि में दबा देते हैं जिससे वह पेड़ पर की अपेक्षा जल्दी ही पक जाय, उसी प्रकार कर्म का विपाक कभी कभी नियत समय से पूर्व भी हो सकता है। इसे उदीरणा कहते हैं। इसके लिये 'अपवर्तना' क्रिया द्वारा प्रथम कर्म की स्थिति कम कर दी जाती है। स्थिति कम हो जाने पर कर्म नियत समय से पूर्व उदय में आ जाता है। जब कोई मनुष्य आयुष्य पूर्णरूप से भुगतने से पूर्व ही असमय में मर जाता है तब वैसी मृत्यु को लोग 'अकालमृत्यु' कहते हैं। ऐसा होने का कारण आयुष्य कर्म की उदीरणा हो जाना ही है, और उदीरणा अपवर्तना से होती है। अमुक अपवाद के सिवाय कर्मों के उदय और उदीरणा सर्वदा चालू रहते हैं। उदित कर्म की ही (उदित कर्मवर्ग के अनुदित कर्मपुद्गलों की ही) उदीरणा होती है और उदय होने पर उदीरणा प्रायः अवश्य होती है।

(७) संक्रमण—एक कर्मप्रकृति के अन्य सजातीय प्रकृतिरूप हो जाने को 'संक्रमण' क्रिया कहते हैं।

संक्रमण कर्म के मूल भेदों में नहीं होता, अर्थात् पहले गिनाए गए कर्मों के मूल ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठ भेदों में से एक कर्म अन्यकर्मरूप नहीं हो सकता, किन्तु एक कर्म के अवान्तर भेदों में से कोई एक भेद स्व-सजातीय अन्य भेदरूप बन सकता है; जैसे कि सातवेदनीय असातावेदनीयरूप और असातवेदनीय सातवेदनीयरूप बन सकता है। यद्यपि संक्रमण सजातीय प्रकृतियों में ही हो सकता है, किन्तु इसमें भी अपवाद है; जैसे कि आयुष्य कर्म के चार प्रकारों का परस्पर संक्रमण नहीं होता। नरकादि के आयुष्यों में से जिस आयुष्य का बन्ध किया हो वह उससे भिन्न गति के आयुष्य रूप से नहीं बन सकता। इसी प्रकार दर्शनमोहनीय कर्म और चारित्रमोहनीय कर्म एक-दूसरे में संक्रान्त नहीं हो सकते।

(८) निधत्ति—यह कर्मबन्ध की ऐसी कठोर अवस्था है जो उदीरणा तथा संक्रमण की पहुँच से बाहर है। परन्तु इस अवस्था में उद्वर्तन-अपवर्तन हो सकते हैं।

(९) निकाचना—यह कर्म की कठोर से कठोर अवस्था है। इसमें उदीरणा, संक्रमण, उद्वर्तन या अपवर्तन कोई भी क्रिया नहीं चल सकती। यह निकाचित कर्म, जब उसका समय पकने पर उदय में आता है तब, प्रायः अवश्य भोगना पड़ता है।

(१०) उपशमन—अर्थात् उदित कर्म को उपशान्त करना। कर्म को—उदित कर्म को भस्मच्छन्न अग्नि की भाँति यदि दबा दिया जाय तो यह उपशमन है।

[११]

कोई यह कहे कि 'आत्मा कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है। यह तो पञ्च भूतों के मिश्रण से पैदा होनेवाली एक शक्ति है। अलग अलग भूतों में जो गुण दिखाई नहीं देता वह उनके मिश्रण में दिखाई देता है। जैसे मद्य में जो मादकता है वह मद्य के पृथक् पृथक् घटकों में कहाँ है?' तो उसका यह कहना ठीक नहीं है। मद्य के पृथक् पृथक् अंगों में भी मादकता है, पर वह अल्प है। भोजन का भी नशा होता है, निद्रा भी एक नशा है, पर अल्प है। शराब सरीखे मिश्रण से उत्तेजित नशा होता है। असत् का उत्पाद नहीं होता, यह मूल सिद्धान्त है। जब प्रत्येक भूत में चेतना है ही नहीं तब उनके मिश्रण से चेतनरूप आत्मतत्त्व कैसे पैदा हो सकता है? जब कोई द्रव्य पैदा नहीं होता तब कोई गुण भी पैदा नहीं होता, क्योंकि गुणों का समुदाय ही तो द्रव्य है। गुणों के पर्याय बदल सकते हैं, बदलते हैं, पर नया गुण नहीं आता।

कोई भी भूत द्रव्य क्या कभी यह अनुभव कर सकता है कि 'मैं हूँ'? और 'मैं हूँ' इस अनुभव के दूसरे

टुकड़े क्या हो सकते हैं ? अर्थात् 'मैं हूँ' इस अनुभव का एक टुकड़ा पृथ्वी अनुभव करे, एक टुकड़ा जल अनुभव करे, एक टुकड़ा अग्नि, वायु, आकाश अनुभव करे—इस तरह अनुभव के टुकड़े क्या सम्भव हैं ? नहीं। तो यह सिद्ध हुआ कि 'मैं हूँ' यह अनुभव कोई एक द्रव्य ही करता है। तब पांच भूतों में से वह कौनसा एक भूत है जो अनुभव करता है कि 'मैं हूँ'? कहना पड़ेगा कि कोई नहीं। अतः यह सिद्ध होता है कि भूतों से अतिरिक्त कोई द्रव्य ऐसा है जो यह अनुभव करता है। जब 'मैं हूँ' ऐसा अनुभव करनेवाला एक स्वतन्त्र द्रव्य सिद्ध होता है तब उसका न तो उत्पाद हो सकता है, न नाश; क्योंकि असत् से सत् बन नहीं सकता और सत् का नाश नहीं हो सकता। इस स्वतन्त्र द्रव्य का नाम ही आत्मा या जीव है।

हम देखते हैं कि सब प्राणी एक जैसे नहीं हैं। इस विषमता का कारण तो कोई होना ही चाहिए। अपने मूल रूप में सब जीव समान हैं, इसलिये जीव से भिन्न कोई पदार्थ मिले बिना उनमें विषमता नहीं आ सकती। अतः जीव से भिन्न जो पदार्थ जीव के साथ लगा हुआ है वही बन्धनरूप 'कर्म' है। इस तरह निश्चित तर्क पर आश्रित अनुमान से आत्मसंयुक्त बन्धनरूप 'कर्म' का होना सिद्ध होता है।

आत्मा अमूर्त है, इसलिये उस पर मूर्त 'कर्म' का क्या

प्रभाव पड़ा, क्या नहीं पड़ा यह दीख नहीं सकता, किन्तु अमूर्त के गुणों का हमें स्वसंवेदन प्रत्यक्ष तो है ही। उन गुणों पर भौतिक (कर्म) के प्रभाव का पता यदि लग जाय तब यह समझने में कोई बाधा नहीं रहेगी कि मूर्त द्रव्य का अमूर्त के गुणों पर प्रभाव पड़ता है। मद्यपान से अमूर्त चेतना पर प्रभाव पड़ता है यह स्पष्ट है। इसी तरह क्रोध आदि तथा स्मृति आदि जो अमूर्त आत्मा के गुण या पर्याय हैं उन पर मूर्त द्रव्य का असर पड़ता है। किसी मूर्त पदार्थ को देखकर स्मृति पैदा हो जाती है या क्रोध आदि भाव पैदा हो जाते हैं। इससे सिद्ध है कि आत्मिक गुणों पर भौतिक पदार्थ प्रभाव डालते हैं। तब 'कर्म' भी आत्मा पर प्रभाव डाल सकते हैं यह सिद्ध होता है।

यह (संसारवर्ती) जीव अपने कर्म के अनुसार भिन्न भिन्न योनियों में जाता है—भिन्न-भिन्न शरीर धारण करता है। जैसे एक मनुष्य जीर्ण मकान को छोड़कर अच्छे मकान में रहने जाता है अथवा अच्छे मकान को छोड़कर उसे खराब मकान में रहने के लिये जाना पड़ता है, उसी तरह जीव अच्छे कर्म के अनुसार अच्छी गति में जाता है और बुरे कर्म के अनुसार उसे बुरी गति में जाना पड़ता है। इसलिये, जैसे जौ के बीज से चावल पैदा नहीं हो सकता वैसे मनुष्य का आत्मा पशु या पशु का आत्मा मनुष्य कैसे हो सकता है यह प्रश्न या तर्क भी निरस्त हो जाता है। जैसे जौ से चावल पैदा नहीं होता वैसे

मनुष्य से पशु पैदा नहीं होता, किन्तु मनुष्य का आत्मा मनुष्य-शरीर से निकलकर पशुगति में जाय—पशुयोनि में जन्म ले—पशु बने इसमें क्या आपत्ति है ? एक शरीर को छोड़कर अन्य शरीर धारण करना क्या है, मानो एक कोट को उतार कर दूसरा पहनना। जौ भी अपना जौपन छोड़कर मिट्टी जैसे विभिन्न रूपान्तर प्राप्त करता है तब वह किसी भी धान्य के रूप में परिणत हो सकता है।

देव या स्वर्ग गति कहाँ है इसके बारे में भी ज़रा देख लें।

मान लीजिए कि किसी मनुष्य ने ऊँचे से ऊँचे भोगों का त्याग कर दिया, इस लोक में जो भी समृद्धि मिल सकती है वह उसने लोककल्याण में लगा दी, तब उसका बड़ा हुआ फल यहाँ तो मिल नहीं सकता, क्योंकि यहाँ मिलने लायक ऊँची से ऊँची सम्पत्ति का तो उसने त्याग कर दिया है। अतः उससे ज्यादह फल मिलने के लिये तो कोई दूसरा लोक ही होना चाहिए। जो ऐसा लोक होगा वही देवगति है। बीज की अपेक्षा वृक्ष महान् ही होता है।

जो पुण्य-फल यहाँ मिल नहीं सकता उसके लिये जैसे स्वर्ग की ज़रूरत है, उसी तरह जो पाप-फल यहाँ मिल

नहीं सकता उसके लिये नरक की जरूरत है। इस प्रकार नारक गति के लिये भी क्षेत्र आ सकता है।

अशुभ परिणति नरक या दुर्गति का मार्ग है और शुभ परिणति स्वर्ग या सद्गति का मार्ग है, किन्तु मोक्ष का मार्ग शुद्ध परिणति है। शुभ परिणति में शुभ भावना और दूसरों की भलाई तो होती है, पर उसमें मोह रहता है और किसी-न किसी तरह की स्वार्थवासना रहती है, जबकि शुद्ध परिणति में केवल विश्वहित की दृष्टि से कर्तव्यभावना रहती है, विकासगामी निर्मोहता से उद्भूत विश्वात्सल्य रहता है। इसलिए आत्मा की वैसी निर्मल शुभ अवस्था सीधी मोक्षप्रद बनती है। शुभ और शुद्ध परिणति के कार्यों में बाहर की दृष्टि से विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता, किन्तु उसके मूल में आशा और निःस्पृहता का, भौतिक स्पृहा और विशुद्ध आत्मनिष्ठा का बड़ा ही अन्तर रहता है। आशा-स्पृहा-लालसामूलक शुभ परिणति से किया जानेवाला कार्य अन्त में क्लेशरूप भी बनता है। शुभ परिणति से किया जानेवाला कार्य यदि शुद्ध परिणति से किया जाय तो वीतरागता के कारण कोई अनिष्ट प्रतिक्रिया नहीं होती और उससे अनन्त शान्ति प्राप्त होती है।

जीव का प्रत्येक जन्म उसके पूर्वजन्म की अपेक्षा से पुनर्जन्म ही है। उसका कोई जन्म ऐसा नहीं है जिसके

पहले जन्म न हो। उसके जन्मों की (भिन्न-भिन्न देह के धारण की) परम्परा सर्वदा से अर्थात् अनादिकाल से चली आ रही है ऐसा मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। आत्मा के भूतकाल के किसी जन्म को सर्वप्रथम जन्म मान लें तो ऐसा मानना पड़ेगा कि आत्मा उस जन्म तक 'अजन्मा' था और बाद में उसका सर्वप्रथम और नया जन्म शुरू हुआ। ऐसा माना जाय तो अजन्मा अर्थात् शुद्ध आत्मा के लिये भी कभी जन्म धारण करना सम्भवित हो सकता है ऐसा मानना पड़ेगा और यदि ऐसा मानना पड़े तो भविष्य में, मुक्ति प्राप्त करने के बाद भी, किसी समय पुनः जन्म के पाश में फँसने की सम्भावना रहेगी। इससे पूर्ण स्थिर एवं पूर्ण मुक्ति का अस्तित्व ही उड़ जायगा। आत्मा अमुक समय तक बिना जन्म का (बिना शरीरधारण का) रहकर पुनः कभी जन्म धारण करता है ऐसा मानना युक्ति-युक्त नहीं है। देहधारण की परम्परा यदि चले तो वह अखण्ड रूपसे ही चले – बीच में कभी भी टूटे बिना ही अविच्छिन्न रूप से ही चले और एक बार यदि देह का संसर्ग छूट जाय तो वह सर्वदा के लिये छूट जाय। इस तरह मानना ही संगत प्रतीत होता है।

एक ही माता-पिता के सन्तानों मे अन्तर दिखाई देता है। इतना ही नहीं, एक साथ जन्मे हुए युगल में

भी अन्तर दिखाई देता है। माता-पिता आदि की ठीक ठीक देखभाल होने पर भी उनके शिक्षण, संस्कार, बुद्धि, अनुभव, व्यवहार आदि में फर्क मालूम होता है। यह फर्क रज वीर्य और वातावरण की विभिन्नता के कारण है, ऐसा कहना पर्याप्त नहीं है। पूर्वजन्म के संस्कारों के परिणाम को भी यहाँ स्थान है, ऐसा मानना युक्त मालूम होता है। ऐहिक कारण अवश्य अपना प्रभाव डालते हैं, परन्तु इतने से ही विचारणा नहीं रुक जाती। इन कारणों के पीछे भी किसी न किसी निगूढ हेतु का संचार होना चाहिए ऐसी कल्पना होती है। अतः मूल कारणों की खोज के लिये वर्तमान जीवन की परिस्थिति से आगे बढ़ना पड़ेगा।

संसार में ऐसे भी मनुष्य दिखाई देते हैं जो अनीति, अनाचार के कार्य करने पर भी धनी और सुखी हैं, जबकि नीति और धर्म के मार्ग पर चलनेवालों में कुछ लोग दरिद्र एवं दुःखी दीख पड़ते हैं। ऐसा होने का क्या कारण है? जैसा कार्य वैसा फल कहाँ रहा? इसका खुलासा वर्तमान जन्म के साथ पूर्वजन्म के अनुसन्धान का विचार करने पर हो सकता है। पूर्वजन्म के कर्म-संस्कार के अनुसार वर्तमान जीवन का निर्माण होता है और विविध परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। इसी तरह वर्तमान जीवन के अनुसार भावी जीवन की निष्पत्ति होती है, अर्थात् पूर्वजन्म के कर्म संस्कारों का परिणाम वर्तमान जीवन में प्रकट होता है और

वर्तमान जीवन के कर्म-संस्कारों का परिणाम भावी जीवन में प्रकट होता है। ऐसा क्या नहीं बनता कि कितने ही बद-माश, डाकू और खूनी घोर अपराध करने के बाद इस तरह छुप जाते हैं कि वे अपने अपराध के दण्ड से बच जाते हैं, जबकि दूसरे निरपराधियों को अपराध न करने पर भी अपराध का भयङ्कर दण्ड सहन करना पड़ता है ? यह कितना अन्याय है ? 'जैसा बोओगे वैसा काटोगे' का नियम कहाँ रहा ? परन्तु यह सब गुत्थी पुनर्जन्म अथवा पूर्वजन्म के सिद्धान्त के आगे सुलझ जाती है। पूर्वजन्म में किए हुए विभिन्न और विचित्र कर्मों के विभिन्न और विचित्र परिणाम वर्तमान जन्म में उपस्थित होते हैं।

परन्तु इस पर से ऐसा समझने का नहीं है कि अनीति, अन्याय अथवा अत्याचार करके एकत्रित किए हुए धन के बल पर भोगविलास करनेवाले को उस तरह भोगविलास करने का नैतिक अथवा धार्मिक दृष्टि से कोई अधिकार प्राप्त होता है। ऐसे लोगों ने प्रायः अपना धन सीधे तौर से अथवा परोक्षरूप से गरीब और श्रमिकों के पास से छल-बल द्वारा ठगकर अथवा लूटकर प्राप्त किया होता है। जहाँ ऐसा हो वहाँ कोई भी सुराज्य अथवा जागरित समाज ऐसी परिस्थिति लम्बे समय तक नहीं निबाह सकता। और यदि निबाह ले तो प्रथम दोष उस राज्य का और दूसरा दोष उस सोते हुए समाज का है। समाज का अर्थोत्पादन और उसका

योग्य विभाजन हो यह राज्य और समाज को देखने का है। कोई भी धर्म, समाज में प्रवर्तित ऐसी अराजकता का अनुमोदन कर के उसे टिकाने का प्रयत्न नहीं कर सकता और वैसे धन का धर्मप्रभावना करने की इच्छा से धार्मिक समझे जानेवाले कार्य में उपयोग करने-कराने से उसे न्यायोपार्जित प्रशस्त धन के रूप से प्रतिष्ठा नहीं दे सकता। यदि दे तो वह धर्म अनीति, अनाचरण का पोषक बन जायगा। गृहस्थाश्रमी का प्रथम सद्गुण न्याय से धनोपार्जन करने का है। न्याय से कमाना और उसमें से जितना बन सके उतना धार्मिक कार्य में खर्च करना यही प्रशस्त और पुण्य मार्ग है। धार्मिक कार्य में व्यय करने के लिये अथवा धर्म-प्रभावना की इच्छा से वैसे बड़े कार्य करने के लिये अच्छे-बुरे किसी भी मार्ग से धन एकत्रित करना अनुचित है, श्रेयस्कर नहीं है। शास्त्रकारों का यह स्पष्ट उपदेश है कि धर्म के लिए धन की इच्छा करना इसकी अपेक्षा तो वैसी इच्छा न करना ही अधिक उत्तम है। कीचड़ में पैर डालकर फिर धोना इसकी अपेक्षा तो कीचड़ में पैर न डालना ही अच्छा है। इस पर से यह समझना

---

१ धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वर तस्य निरीहता।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्॥
—महाभारत वनपर्व १ अध्याय २ श्लोक ४८

इस श्लोक का उत्तर चरण तस्यानीहा गरीयसी ऐसा भी मिलता है।

सुगम है कि धार्मिक कार्य यदि न्यायोपार्जित द्रव्य से किए जायँ तो धर्म की पवित्रता सुरक्षित रह सकती है। धर्म की महिमा को बढ़ाने का यही अच्छा और सच्चा मार्ग है। बाह्याडम्बर के लिये धर्म की पवित्रता को ख़तरे में नहीं डालना चाहिए। नीति से यदि धन इकट्ठा किया जाय और ऐसे न्यायपूत धन का धार्मिक कार्य में उपयोग किया जाय तो उसका प्रभाव समाज और सामान्य जनता पर बहुत अच्छा पड़ेगा।

अब मूल बात पर आएँ। ऊपर कहा उस तरह समान परिस्थिति में पोषित और संवर्धित व्यक्तियों में भी एक की बुद्धि और स्मरणशक्ति प्रखर होती है, जबकि दूसरे की मन्द। दोनों के विचार-वर्तन में भी विभिन्नता होती है। साधन, सुविधा और श्रम समान होने पर भी एक विद्या अथवा कला जल्दी सीख लेता है, जबकि दूसरा उसमें पिछड़ जाता है। समान अभ्यासवाले और समान परिस्थिति में बढ़े हुए मनुष्यों में से एक में वक्तृत्व, कवित्व अथवा संगीत कला जैसी शक्तियाँ खिलती हैं, जबकि दूसरा जन्मभर उनसे वंचित ही रहता है, अथवा पहले के विकास की तुलना में बहुत मन्द रह जाता है। छह-सात

आचार्य हरिभद्र और आचार्य हेमचन्द्र के ग्रन्थों में यह श्लोक श्रद्धेयतापूर्वक उद्धृत किया हुआ दिखाई देता है। जैन साहित्य में यह श्लोक ठीक ठीक प्रचलित है।

वर्ष का बालक अपनी संगीतकला से सहृदय जनता को मुग्ध करता है, छोटासा बालक गणित में अपनी कुशलता दिखाता है, नाट्य रचना जैसी साफलता प्राप्त करता है! क्या यह सब पूर्वजन्म की संस्कारशक्ति की स्फुरणा के बिना संभव है?

ऐसे भी अनेक उदाहरण हमारे सम्मुख उपस्थित हैं जिनमें माता पिता की अपेक्षा उनके बालक की योग्यता सर्वथा भिन्न प्रकार की होती है। अशिक्षित माता पिता का पुत्र शिक्षित, विद्वान् और महाविद्वान् बनता है। इसका कारण केवल उसके चारों ओर की परिस्थिति में ही विद्यमान नहीं है। यदि ऐसा कहा जाय कि यह परिणाम तो बालक के अद्भुत ज्ञानतन्तुओं का है, तो यह प्रश्न होता है कि बालक का शरीर तो उसके माता पिता के शुक्र शोणित से बना है, तो फिर उनमें (माता पिता में) अविद्यमान ज्ञानतन्तु बालक के मस्तिष्क में आए कहाँ से? कहीं कहीं माता-पिता के जैसी ही ज्ञानशक्ति बालक में भी दिखाई देती है। इस पर भी यह प्रश्न होता है कि ऐसा सुयोग मिला कैसे? और इसका क्या कारण कि किसी माता पिता की योग्यता अत्यन्त उच्च कक्षा की होती है, जबकि उन्हीं का बालक उनके अनेक प्रयत्नों के बावजूद साधारण बुद्धि का अथवा गँवार ही रह जाता है?

ऐसे अनेक उदाहरण हमें विचार करने के लिये प्रेरित करते हैं।

खूब सावधानी से चलनेवाले मनुष्य के सिर पर ऊपर से अचानक ईंट या पत्थर गिरे और उससे उसे गहरी चोट लगे तो ऐसी तकलीफ़ पड़ने में उस मनुष्य का क्या कुछ गुनाह था? नहीं। तो फिर अपराध के बिना यह कष्ट क्यों? एक मनुष्य ने मूर्खतावश शंका से उत्तेजित होकर दूसरे मनुष्य के पेट में छुरा भोंक दिया और इससे वह मर गया तो इसमें उस मरनेवाले का कौनसा अपराध था? उस मरनेवाले को यदि वस्तुतः निर्दोष और सज्जन मान लें तो इस प्राणान्तक प्रहार का भोग उसे क्यों बनना पड़ा? परन्तु यदि पूर्वकर्म के अनुसन्धान का विचार किया जाय तो ऐसी बातों का खुलासा हो सकता है।

गर्भ से ले कर जन्म तक बालक को जो कष्ट सहने पड़ते हैं वे सब क्या बालक की अपनी करनी के परिणाम हैं, अथवा उसके माता-पिता की करनी के परिणाम हैं? उन कष्टों को बालक की इस जन्म की करनी का परिणाम नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उसने गर्भावस्था में तो अच्छा-बुरा कोई भी कार्य नहीं किया है। और माता-पिता की करनी का परिणाम यदि कहा जाय तो वह भी युक्त नहीं है; क्योंकि माता-पिता अच्छा या बुरा कार्य करें तो

उसका परिणाम बिना कारण बालक को क्यों भुगतना पड़े ? और बालक जो कुछ सुख दुःख का अनुभव करता है वह ऐसे ही—बिना कारण ही करता है ऐसा तो माना ही नहीं जा सकता; क्योंकि कारण के बिना कार्य का होना असम्भव है।

इन सब उदाहरणों पर से मालूम हो सकता है कि इस जन्म में दिखाई देती अनुविध विलक्षणताओं का मूल केवल वर्तमान जीवन में नहीं है; न तो यह सिर्फ माता पिता के संस्कार का ही परिणाम है और न केवल बाह्य परिस्थिति का ही परिणाम। अतः आत्मा का अस्तित्व गर्भारम्भ के समय से पूर्व भी था ऐसा मानना ही उपयुक्त है। इसी का नाम पूर्वजन्म है। उस जन्म में इच्छा-प्रवृत्ति द्वारा जिन कर्म-संस्कारों का सञ्चय हुआ हो उन्हीं के आधार पर वर्तमान जन्म और उक्त विलक्षणताओं का खुलासा हो सकता है। जिस युक्ति से पहले का एक जन्म सिद्ध हुआ उसी युक्ति के बल पर उससे आगे का और उससे भी आगे का इस प्रकार अनेक [अनन्त] जन्म सिद्ध हो सकते हैं। और इसी तरह आत्मा का [मोक्षागत आत्मा का] भावी जन्म भी सिद्ध हो सकता है।

जन्म लेते ही अशिक्षित बालक स्तनपान में स्वयं प्रवृत्त होता है। इस पर से भी पूर्वभव के चैतन्य की अनुवृत्ति का अनुमान अवश्य बतलाया गया है।

पूर्वजन्म यदि हो तो वह याद क्यों नहीं आता ?–ऐसा प्रश्न प्रायः किया जाता है। परन्तु इस पर पूछा जा सकता है कि इस जीवन में बनी हुई सब घटनाएँ क्या हमें याद आती हैं ? नहीं। बहुतसी बातें हम भूल जाते हैं। अरे, सुबह का खाया हुआ शाम को याद नहीं रहता! तो फिर पूर्वजन्म की बात ही क्या करना ? जन्मक्रान्ति, शरीरक्रान्ति और इन्द्रियक्रान्ति–इस प्रकार समूची ज़िन्दगी ही जहाँ बदल जाती हो वहाँ फिर पूर्वजन्म का स्मरण कैसे शक्य है ? फिर भी किसी किसी महानुभाव को आज भी पूर्वजन्म का स्मरण हो आता है। प्रतिष्ठित समाचार-पत्रों में ऐसी अनेक घटनाओं का ब्योरेवार वर्णन प्रकट भी हुआ है। जातिस्मरण की ये घटनाएँ मनुष्य को पुनर्जन्म के बारे में विचार करने के लिये प्रेरित करती हैं।

पुनर्जन्म मानने पर ही मनुष्य के कृत्यों का उत्तरदायित्व सुरक्षित रहता है। सुजन महानुभाव पर भी कभी घोर आपत्ति आती है और अपराध के बिना भी दण्ड भुगतना पड़ता है। परन्तु उस समय उसकी मानसिक शान्ति में पुनर्जन्म का सिद्धान्त बहुत उपकारक होता है। वर्तमान जीवन की सत्कृतियों का अनुसन्धान यदि आगे न हो तो मनुष्य हताश हो जाय, विपत्ति के समय उसके चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दिखाई दे !

हमारे अपने जीवन में 'अकस्मात्' घटनाएँ कुछ कम

नहीं घटतीं। उन्हें अकस्मात् (अ-कस्मात् अर्थात् किसी सचेतन के बुद्धिपूर्वक प्रयत्न का सम्बन्ध न होने से) भले कहा जाय, परन्तु वे निर्मूल हों ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। उनका कोई-न-कोई मूल कारण तो होना ही चाहिए। अकस्मात् भी कस्मात्–किससे—क्यों? इस दुर्गम और अज्ञेय वस्तु की खोज का विचार करने पर अदृष्ट (कर्म) के नियम तक पहुँचना पड़ता है।

संसार में कोई मनुष्य यदि ऐसा विचार करे कि आत्मा आदि कुछ भी नहीं है, जितने दिन मैं इस जीवन में अमन-चैन से गुजारूँ उतने ही दिन मेरे हैं, इस जिन्दगी की समाप्ति के बाद मेरा यह देह पंचभूतों में मिल जायगा और 'मैं' जैसा कोई व्यवहार नहीं रहेगा तो फिर मैं जीवदया पालूँ या जीवहिंसा करूँ, सत्य बोलूँ या झूठ बोलूँ, संयमित रहूँ या उच्छृंखल बनूँ अथवा मन में जो आए सो करूँ तो इसमें हर्ज क्या है? क्योंकि मेरे किए हुए कर्मों का दण्ड अथवा पुरस्कार मुझे देनेवाला कोई है ही नहीं।

परन्तु ऐसा विचार सर्वथा भ्रान्त है। इस जीवन में यदि कोई अनीति अनाचार, चोरी–डकैती अथवा किसी की हत्या आदि करके मालदार हो जाय और गुलछर्रे उड़ाए, तो भी उसके इन दुष्कृत्यों के उत्तरदायित्व से वह दूर नहीं हो सकता, उसका उत्तरदायित्व नष्ट नहीं हो जाता।

सज्जनों की दुःखी दशा और दुर्जनों की सुखी दशा के पीछे ऐहिक परिस्थिति के अतिरिक्त यदि कोई 'अदृष्ट' कारण न हो और उनकी वैसी दशा का हिसाब यहीं पर चुकता हो जाता हो, उसका अनुसन्धान आगे न चलता हो तो आध्यात्मिक जगत् में अथवा सृष्टि की व्यवस्था में यह कम अन्धेर नहीं समझा जायगा।

कर्म का नियम एक ऐसा सुनिश्चित एवं न्याय्य विश्व-शासन है कि वह प्राणीमात्र के कार्य का योग्य उत्तर देता है। इसीलिये मानवसमाज को अच्छा बनाने में कर्मवाद का शासन, जोकि पुनर्जन्मवाद का स्रष्टा भी है, अत्यन्त उपयोगी है। इस शासन का एकमेव तात्पर्य ख़राब काम छोड़कर अच्छे काम करने में ही रहा हुआ है। इसी के परिणाम-स्वरूप उत्तरोत्तर विकास साधकर पूर्णता के शिखर पर पहुँचा जा सकता है।

जन्मान्तरवाद के सिद्धान्त से परोपकार-भावना पुष्ट होती है और कर्तव्यपालन में तत्परता आती है। परोपकार अथवा कर्तव्यपालन के लौकिक फल प्रत्यक्ष हैं, फिर भी यदि ज़िन्दगी के दुःखों का अन्त न आए तो भी इससे जन्मान्तरवादी हताश नहीं होता। आगामी जीवन की श्रद्धा उसे कर्तव्यमार्ग पर स्थिर रखती है। वह समझता है कि 'कर्तव्य-पालन कभी निष्फल नहीं जाता; वर्तमान जीवन में नहीं

तो आगामी जन्म में उसका फल मिलेगा ही।' इस प्रकार परलोक के श्रेष्ठ लाभ की भावना से मनुष्य सत्कर्म में प्रवृत्त रहता है। उसे मृत्यु का भय भी नहीं रहता, क्योंकि आत्मा को नित्य और अमर समझनेवाला मनुष्य मृत्यु को शरीर परिवर्तन के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं समझता। वह तो मृत्यु को एक कोट उतारकर दूसरा कोट पहनने जैसा मानता है, और सत्कर्मशाली के लिये वह प्रगतिमार्ग का द्वार है ऐसा वह समझता है। इस प्रकार मृत्यु के भय पर विजय प्राप्त करने से और *जीवनप्रवाह निरन्तर असण्डित* रूप से बहता हुआ अनन्त और सदा सत् है ऐसा समझने से जीवन को उत्तरोत्तर अधिक विकसित बनाने की विवेक सुलभ भावना के बल पर उसकी कर्तव्यनिष्ठा विशेष बल वती बनती है। आत्मा की नित्यता समझनेवाला ऐसा भी समझता है कि 'दूसरे का बुरा करना वस्तुतः स्वयं अपना बुरा करने जैसा है। वैर से वैर बढ़ता है। किए कर्मों के बन्ध अनेक जन्मों तक जीव के साथ लगे रहते हैं और अपना फल कभी कभी तो लम्बे अर्से तक चखाते हैं।' इस तरह समझनेवाला आत्मवादी मनुष्य सब जीवों को अपने आत्मा के समान समझकर सब के साथ मैत्री भाव रखता है। मैत्री के प्रकाश में उसका राग द्वेष का अन्धकार कम होता जाता है। इस प्रकार उसके समभाव का संवर्धन होता है और उसका विश्वप्रेम—विश्व

वात्सल्य प्रतिदिन विकसित होता जाता है। देश, जाति, वर्ण अथवा सम्प्रदाय के भेदों के बीच भी उसका दृष्टिसाम्य (दृष्टि में समभाव) अबाधित ही रहता है। वह समझता है कि ' मरने के बाद आगामी जन्म में मैं कहाँ, किस भूमि पर, किस वर्ण में, किस जाति में, किस सम्प्रदाय में, किस वर्ग में और किस स्थिति में पैदा हूँगा इसके बारे में क्या कहा जा सकता है? अतः किसी देश, जाति, वर्ण अथवा सम्प्रदाय के तथा ग़रीब अथवा निम्न पंक्ति के समझे जानेवाले मनुष्य के साथ असद्भाव रखना, उसे तुच्छ समझना, उसकी ओर तुच्छ दृष्टि से देखना अथवा मद–अभिमान या द्वेष करना उचित नहीं है।' इस प्रकार आत्मवाद के सिद्धान्त से निष्पन्न होनेवाले उच्च दृष्टि-संस्कार के परिणामस्वरूप आत्मवादी अथवा परलोकवादी सज्जन किसी भी प्राणी के साथ विषमभाव न रखकर ' पण्डिताः समदर्शिनः ' के महान् वाक्यार्थ को अपने जीवन का ध्येय बनाता है और ऐसा करके परहित के साधन के साथ आत्महित के साधन को गूँथने के कार्य में यत्नशील बनता है।

अनेक तार्किक मनुष्य ईश्वर अथवा आत्मा के अस्तित्व के बारे में सन्देह रखते हैं, परन्तु जब उनके ऊपर कोई महान् विपत्ति आती है अथवा वे किसी दारुण व्याधि के शिकार बनते हैं तब उनके हृदय का तार्किक आवेश मन्द

पड़ जाता है और उनका मन ईश्वर को (किसी अज्ञेय-अलक्ष्य चेतनशक्ति को) याद करने में लीन हो जाता है। वे उसकी ओर झुकते हैं, उसका स्मरण करते हैं और उसके आगे अपनी दुर्बलता, असहायता एवं पापपरायणता बारबार बता कर अपनी सम्पूर्ण दीनता प्रगट करते हैं तथा उत्कण्ठित हृदय के भक्तिपूर्ण भाव से उसकी शरण चाहते हैं। मनुष्य की मानसिक कट्टरता और नास्तिकता चाहे जितनी प्रबल क्यों न हो, परन्तु दुःख के समय उसमें अवश्य फर्क पड़ता है। घोर विपत्ति के समय उसकी सारी उच्छृंखलता हवा हो जाती है। और उसमें भी मरण की नौबत ! यह तो गम्भीर से गम्भीर परिस्थिति है। उस समय तो कट्टर से कट्टर नास्तिक भी एकदम ढीला हो जाता है। उसकी नास्तिकता मोम की तरह पिघल जाती है और, दुःख के पंजे में से छूटने के लिये किसे प्रार्थना करना, किसकी शरण में जाना इसी की खोज में उसकी आँखें घूमती रहती हैं।

आत्मा, पुनर्जन्म और परमात्मा का अस्तित्व यदि न माना जाय, पुण्य-पाप को कल्पनासम्भूत एवं मिथ्या समझ लिया जाय तो आध्यात्मिक जगत् में अथवा सृष्टि की व्यवस्था में जीवनगति के एक श्रेष्ठ आधार से वंचित होना पड़े। सात्त्विक उत्कर्ष का यात्री अपनी अनुभूति को उद्बोधन करके कहता है कि 'आत्मा नहीं है, भगवान् नहीं '—ऐसा विचार करने के साथ ही हृदय की सब प्रसन्नता

छुट जाती है और नैराश्य का घोर अन्धकार उस पर छा जाता है।

आत्मा, कर्म (पुण्य-पाप), पुनर्जन्म, मोक्ष और परमात्मा—यह पंचक ऐसा है कि एक के मानने पर बाकी के सब उसके साथ आ जाते हैं; अर्थात् एक का स्वीकार करने पर पाँचों का स्वीकार हो जाता है और एक को स्वीकृत न किया जाय तो पाँचों ही अस्वीकृत हो जाते हैं। आत्मा का स्वीकार किया तो पुनर्जन्म का स्वीकार हो ही गया। इसके साथ पाप-पुण्यरूप कर्म भी आ गए। आत्मा की पूर्ण शुद्धि ही मोक्ष है, अतः मोक्ष का स्वीकार भी आत्मा के साथ ही हो जाता है। और मोक्ष ही ईश्वरत्व है अर्थात् परम शुद्ध मुक्त आत्मा ही परमात्मा है और वही ईश्वर है। अतः ईश्वरवाद भी आत्मवाद में ही आ जाता है।

ईश्वर की सिद्धि के लिये लम्बे पारायण की आवश्यकता नहीं है। थोड़े में ही वह समझा जा सकता है। जगत् में जिस प्रकार मलिन दर्पण का अस्तित्व है उसी प्रकार शुद्ध दर्पण का भी अस्तित्व है, अथवा जिस प्रकार मलिन सुवर्ण का अस्तित्व है उसी प्रकार शुद्ध सुवर्ण का भी अस्तित्व है ही। इस प्रकार यदि अशुद्ध आत्मा का अस्तित्व है त शुद्ध (पूर्ण शुद्ध) आत्मा की विद्यमानता भी न्यायसंगत है। जिस तरह मलिन दर्पण पर से शुद्ध-स्वच्छ दर्पण क

अथवा मलिन सुवर्ण पर से शुद्ध सुवर्ण का अस्तित्व ध्यान में आता है (और अपनी आँखों से देखा भी जा सकता है), उसी तरह अशुद्ध आत्मा पर से शुद्ध (पूर्ण शुद्ध) आत्मा के अस्तित्व की बात भी हृदय में उतर सकती है। अशुद्ध वस्तु शुद्ध हो सकती है तो अशुद्ध आत्मा भी शुद्ध बन सकता है। जीवों की अंशतः शुद्धि देखी जाती है तो उनकी पूर्ण शुद्धि भी सम्भव है और जहाँ वह सिद्ध हुई है वही परमात्मा है, और जो उसे सिद्ध करेगा वह परमात्मा होगा। परमात्म पद की प्राप्ति ही ईश्वरत्व का प्रकटीकरण है। यही ईश्वरपद है।

[१४]

यह जगत् किसी समय नया बना हो ऐसा नहीं है। यह हमेशा से है। हाँ, इसमें परिवर्तन होता रहता है। अनेक परिवर्तन ऐसे होते हैं जिनमें मनुष्य आदि प्राणी-वर्ग के प्रयत्न की अपेक्षा होती है और अनेक परिवर्तन ऐसे होते हैं जिनमें किसी के प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रहती। ये जड़ तत्त्वों के विविध संयोगों से—प्राकृतिक प्रयोगों से बनते रहते हैं। उदाहरणार्थ, मिट्टी, पत्थर आदि पदार्थों के एकत्रित होने से छोटे-बड़े टीले अथवा पहाड़ आदि का बनना, यहाँ-वहाँ के जलप्रवाह के मिलने से उनका नदी रूप से बहना, वन के वन का वनराजि से हरा भरा हो जाना, भाप का पानी के रूप में बरसना और फिर पानी की भाप हो जाना।

यह बात पहले अच्छी तरह से कही गई है कि 'कर्म' जड़ होने पर भी जीव के–चेतन के विशिष्ट संसर्ग से उसमें एक ऐसी शक्ति पैदा होती है जिससे वह अपना अच्छा-बुरा फल नियत समय पर जीव को चखाता है। जीव मात्र चेतन है और इस चेतन के सम्बन्ध के बिना जड़ कर्म फल देने में समर्थ नहीं होते। चेतन जैसा कर्म करता है उसी के अनुसार उसकी बुद्धि होती है। इसी से बुरे कर्म के बुरे फल की इच्छा न होने पर भी वह ऐसा काम कर बैठता है जिससे उसे अपने कर्म के अनुसार फल मिल जाता है। कर्म का करना एक बात है और फल न चाहना दूसरी बात है। किए हुए कर्म का फल न चाहने मात्र से वह फल मिलना रुक नहीं जाता। सामग्री एकत्रित होने पर कार्य स्वतः होने लगता है। दृष्टान्त के तौर पर, यदि एक मनुष्य धूप में घूमे, गरम चीज़ें खाए और ऐसा चाहे कि मुझे प्यास न लगे तो क्या प्यास लगे बिना रहेगी ? तात्पर्य यह है कि जीव के अध्यवसाय के अनुसार विचित्र द्रव्य के संयोगरूप 'संस्कार' उसमें पड़ते हैं। इसी को कर्मबन्ध कहते हैं और यह (कर्मबन्ध) ही चेतन जीव के संसर्ग से सबल हो जाने के कारण अपना फल जीव पर प्रगट करता है। इस प्रकार कर्म से प्रेरित हो कर जीव कर्म के फल भुगतता है। कर्मवादी जैनों का

ऐसा मन्तव्य होने से जीव को उसके कर्मों का फल भुगतने में ईश्वर प्रेरणा मानने की उन्हें आवश्यकता नहीं रहती। सांख्य और मीमांसक भी ईश्वर की प्रेरकता में नहीं मानते। श्रमणसंस्कृति तो उसे मानती ही नहीं।

मन-वचन काय के शुभ अशुभ कार्यों से शुभाशुभ कर्म उपार्जित होते हैं — कर्म के इस सामान्य और सुप्रसिद्ध नियम को ध्यान में रख कर मनुष्य यदि स्वयं अच्छे कार्य करे, कराए और अच्छे कर्म का अनुमोदक बने तो अपना भविष्य अच्छा और सुखकर बना सकता है। इसके विपरीत, दूसरे की निन्दा करनेवाला, कटु एवं क्रूर मजाक उड़ानेवाला, कडुए और बीभत्स शब्द बोलनेवाला तथा असत्यभाषी

---

१ न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥
—भगवद्गीता अ. ५ श्लो. १४

अर्थात्—ईश्वर लोगों का कर्तृत्व नहीं रचता उनसे कर्म नहीं कराता अथवा उनके कर्मों का सर्जन नहीं करता तथा जीवों के कर्मों के साथ फल का सम्बन्ध स्थापित नहीं करता अर्थात् जीवों के कर्मों को फल देने के लिये प्रेरित नहीं करता अथवा जीवों के कर्मों का फल वह स्वयं नहीं देता किन्तु यह सब स्वभाव से होता है। स्वभाव से अर्थात् अपनी शक्ति से या अपनी प्रकृति से अर्थात् जीव की शक्ति से अथवा जीव और कर्म की प्रकृति से।

२. मन्मनत्वं काहलत्वं मूकत्वं मुखरोगिताम्।
वीक्ष्याऽसत्यफलं कन्यालीकाद्यसत्यमुत्सृजेत्॥ ५३॥
—हेमचन्द्र योगशास्त्र २ रा प्रकाश।

मनुष्य अपने इस वाणी-पाप के कारण मूँगा-गूँगा होता है। मानसिक शक्ति का दुरुपयोग करनेवाला पागल होता है। हाथ का दुरुपयोग करनेवाला लूला होता है। पग का दुरुपयोग करनेवाला लंगड़ा होता है। व्यभिचारी पुरुष नपुंसक[1] होता है। अतः सर्वाङ्ग-सुखी होने की इच्छा-वाले को मनसा, वाचा, कर्मणा सत्कार्य करते रहना चाहिए।

दान में यदि कीर्ति की कामना हो तो दान का आनन्द उड़ जाता है। सार्वजनिक उपयोग के लिये अपने बँगले का दान देनेवाला उस बँगले पर ख़ास अपने नाम का शिला-लेख लगाए तो इस कीर्ति-मोह के परिणामस्वरूप ऐसा भी हो सकता है कि वह दाता बाद के किसी जन्म में

अर्थात्–मृषावाद के पाप क कारण मूँगापन, गूँगापन तथा मुख के रोग प्राप्त होते हैं।

इसी श्लोक की वृत्ति में आचार्य हेमचन्द्र ने नीचे का श्लोक उद्धृत किया है—

मूका जडाश्च विकला वाग्हीना वाग्जुगुप्सिताः।
पूतिगन्धमुखाश्चैव जायन्तेऽनृतभाषिणः ॥

१ नपुंसकत्वं तिर्यक्त्वं दौर्भाग्यं च भवे भवे।
भवेन्नराणां स्त्रीणां चाऽन्यकान्तासक्तचेतसाम् ॥ १०२ ॥

—हेमचन्द्र, योगशास्त्र २ रा प्रकाश।

अर्थात्—व्यभिचार के पाप से भवान्तर में नपुंसकत्व, तिर्यग्योनि में जन्म और दौर्भाग्य प्राप्त होता है।

बँगलेवाले किसी धनिक के घर जन्म ले, परन्तु कार्य की चिन्ता का भार उसके मन पर इतना अधिक रहे कि उस बंगले में रहने का आनन्द ही उसे न मिल सके।

कभी कभी देखा जाता है कि मनुष्य निरपराध होने पर भी किसी भयंकर आपत्ति में फँस जाता है और साथ ही उसमें से बाल बाल बच भी जाता है। इसका कारण यह है कि जिस मनुष्य ने इस जन्म में या पूर्वजन्म में जिस तरह का अपराध किया ही नहीं उसका उसे दण्ड देने के लिये कोई भी व्यक्ति या सरकार समर्थ नहीं है, क्योंकि कर्म का समर्थ सिद्धान्त उसका रक्षण करता है।

नहीं किए हुए अपराध के लिये जब किसी को अपराधी प्रमाणित कर के दण्ड दिया जाता है तब ऐसे दण्ड का कारण यह हो सकता है कि उस मनुष्य ने उस प्रकार का अपराध इसी जन्म में पहले कभी किया होगा अथवा पिछले किसी जन्म में वैसा अपराध किया होगा, परन्तु युक्ति-प्रयुक्ति द्वारा अपने अपराध को उसने छुपा रखा होगा। परन्तु कर्म के नियम ने तो उसकी खबर ली। इस लिये वह कर्म दूर से ही नहीं, किन्तु इस तरह अपना फल उसे चखाने के लिये तैयार हुआ।

कर्म का नियम क्रिया प्रतिक्रिया (क्रिया की प्रतिक्रिया) का नियम है। दूसरे को किया गया अन्याय

किसी-न-किसी रूप में वापस मिलता ही है। अच्छी क्रिया का अच्छा और ख़राब क्रिया का ख़राब परिणाम अचूक मिलता है।

हिंसक, विश्वासघातक, पापी, अधर्मी मनुष्य सुखी तथा अच्छा और धर्मी मनुष्य दुःखी दिखाई देता है इसके बारे में हमें यह समझना चाहिए कि एक मनुष्य के पास पहले के उपार्जित-इकट्ठे किए हुए गेहूँ पड़े हैं जिससे वह वर्तमान में कोदों का धान बोने पर भी वर्तमान में पूर्वोपार्जित गेहूँ का उपभोग कर सकता है। परन्तु बाद में जब गेहूँ समाप्त हो जाएँगे तब वर्तमान में बोया हुआ कोदों का धान ही खाने का उसके नसीब में आयगा। इसी प्रकार आज का पापाचरण करनेवाला मनुष्य पूर्व के विचित्र पुण्य-कर्म से उपार्जित धन अथवा सुख-सुविधा का वर्तमान में उपभोग कर सकता है, परन्तु बाद में (उपभोग का समय पूर्ण होने पर) उसके वर्तमान के पापाचरण ख़राब फल लिए हुए उसके सम्मुख खड़े होंगे ही। इसी प्रकार दूसरे किसी के पास पूर्व के उपार्जित-संगृहीत कोदों का धान पड़ा हो और इस समय वह गेहूँ बो रहा हो, तो वर्तमान में कोदों के धान से वह चला लेगा, परन्तु बाद में [वह समाप्त होने पर] वर्तमान में बोए हुए गेहूँ उसे मिलेंगे ही। इसी तरह आज का पुण्याचरणवाला मनुष्य भी पूर्व दुष्कृत से

उपार्जित दुःख वर्तमान में भले ही सहे, परन्तु उसका कठिन काल समाप्त होते ही उसके वर्तमानकालीन पुण्याचरण अपने मीठे फल के साथ उसके सम्मुख उपस्थित होंगे ही।

मनुष्य का वर्तमान जीवन पुण्याचरणयुक्त अथवा पापाचरणयुक्त भले हो, परन्तु पहले की उसकी खेती का फल उसे मिले बिना कैसे रह सकता है!

यदि वर्तमान जीवन पुण्याचरणमय हो और पूर्व की बुरी खेती के ख़राब फल उसके साथ युक्त हों तब, तथा वर्तमान जीवन पापाचारयुक्त हो और पहले की अच्छी खेती के मीठे फल उसके साथ जुड़ जायँ तब सामान्य जनता को यह आश्चर्यरूप प्रतीत होता है, परन्तु इसमें आश्चर्य जैसा कुछ भी नहीं है। कर्म का नियम अटल और व्यवस्थित है। अच्छे का अच्छा और बुरे का बुरा—यह उसका अबाधित शासन है। यह एक प्राकृतिक नियम है। यह क्रिया प्रतिक्रिया का स्वाभाविक सिद्धान्त है।

अमुक संयोग अथवा अमुक परिस्थिति का अमुक परिणाम अवश्यम्भावी है और उसमें किसी तरह अन्यथा होता ही नहीं, इसका नाम प्राकृतिक नियम है। जैसी परिस्थिति वैसा परिणाम – इसी को प्राकृतिक नियम कहते हैं। यह नियम हमें अमुक करने की या अमुक न करने की आज्ञा नहीं करता, परन्तु यदि तुम्हें अमुक परिणाम चाहिए

तो अमुक कार्य करो ऐसा कहता है। गेहूँ बोने से गेहूँ मिलते हैं और काँटे बोने से काँटे मिलते हैं—इस प्रकार प्रकृति हमें कहती है। परन्तु इन दोनों में से क्या बोना इसकी आज्ञा हमें प्रकृति नहीं करती। हमें जो पसन्द हो वह हम बो सकते हैं, क्योंकि चुनाव करने का स्वातन्त्र्य प्रकृति ने हमें पहले से दे रखा है। परन्तु बोने के बाद एक के बदले दूसरा मिले ऐसी आशा रखना व्यर्थ है, क्योंकि प्रकृति का नियम अटल है। गेहूँ बोए हों तो गेहूँ और काँटे बोए हों तो काँटे मिलेंगे। इसमें दूसरी बात ही नहीं हो सकती। इस तरह सत्कृत्य के सुख शान्ति, अभ्युदय, विकास जैसे अच्छे फल मिलते हैं और दुष्कृत्य के अशान्ति, दुःख, अवनति, पराभव, शोक-सन्ताप जैसे ख़राब फल मिलते हैं। कर्म का यह अचल नियम है। पोषक, हानिकर अथवा प्राणहारक जैसा आहार लें उसका वैसा प्रभाव लेनेवाले पर पड़ेगा ही। इसी प्रकार जिस तरह का आचरण हम करेंगे उस तरह का सूक्ष्म प्रभाव अवश्य हम पर पड़ेगा।

जो मनुष्य अपने बालकों की ओर लापरवाह रहता है वह भविष्य के लिये वन्ध्यत्व का कर्म बाँधता है। जो अपने को मिले हुए धन का बिना विचार किए दुरुपयोग करता है अथवा फ़िज़ुलखर्ची करता है वह भविष्य के लिये दरिद्रता को आमंत्रित करता है। जो स्त्री-पुरुष अपने पति अथवा

पत्नी के प्रेम की अवगणना करते हैं वे भविष्य के लिये वैधव्य अथवा वैधुर्य के बीज बोते हैं। जो मनुष्य अपने सत्ताधिकार का दुरुपयोग करता है वह भविष्य के लिये किसी के दास होने की तैयारी करता है। जो मनुष्य अपने अवकाश का दुरुपयोग करता है वह भविष्य के लिये संकटाकीर्ण जीवन की सृष्टि करता है। जो अपने को मिली हुई परिस्थिति और साधनों का सदुपयोग करता है उसे भविष्य में अधिक अच्छी परिस्थिति तथा अधिक अच्छे साधन उपलब्ध होते हैं। जो अपने साधन और परिस्थिति के अनुसार यथाशक्य लोकसेवा करता है उसे भविष्य में अधिक अच्छे साधन और अधिक अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होती है। जो अपने को मिले हुए अधिकार का सदुपयोग करता है वह भविष्य में विशेष अधिक अधिकार प्राप्त करता है। जो ईर्ष्याभाव रखे बिना तथा स्वामित्व का अधिकार अथवा किसी भी प्रकार की शर्त रखे बिना दूसरे को चाहता है वह भविष्य में अनेक लोगों का प्रेमभाजन बनता है। जो अपने धन का उपयोग जनता की गरीबी कम करने में करता है वह भविष्य में सेवाभावी धनाढ्य होता है। अप्रामाणिक रूप से व्यवहार करनेवाला, छलप्रपंच से, विश्वासघात से, दूसरे का कलेजा चीरकर पैसा इकट्ठा करनेवाला मनुष्य भविष्य के लिए विनाश को आमंत्रित करता है। अपने ही लिये जीनेवाले मनुष्य का भविष्य में सब कोई त्याग करते

हैं। सारांश यह है कि मिले हुए साधन और परिस्थिति का दुरुपयोग न हो और उसका सदुपयोग ही हो ऐसी सावधानी प्रत्येक मनुष्य को सर्वदा रखनी चाहिए—स्वपर के हित के लिये, इहलोक-परलोक के सुख के लिये।

जिस प्रकार वैयक्तिक कर्मों में से कुटुम्ब-कुटुम्ब के बीच के अच्छा-बुरे कौटुम्बिक कर्म का प्रारम्भ होता है, उसी प्रकार जब एक गाँव अपने आसपास के गाँवों के लिये दुःखरूप होता है, आसपास के गाँवों की खेती को नुकसान पहुँचाता है, उनके पशुओं की चोरी करता है और दूसरे गाँवों के खर्च पर अपना स्वार्थ साधता है तब वह गाँव दूसरे गाँवों के साथ का खराब कर्म बाँधता है। इसी प्रकार एक देश में बसनेवाली विभिन्न जातियों, सम्प्रदायों तथा वर्गों आदि के अच्छे-बुरे रीतरिवाज, अच्छी बुरी मान्यताएँ, अच्छे-बुरे धन्धे तथा स्वार्थी अथवा परमार्थी जीवन से समग्र देश के कर्म का निर्माण होता है और उसकी पापमात्रा के आधिक्य के परिणामस्वरूप भूकम्प, अवृष्टि, अतिवृष्टि, अकाल तथा महामारी, विषूचिका जैसे रोग देश में बार बार फैलते हैं अथवा आन्तरिक संघर्ष पैदा होता है। इसी प्रकार एक देश दूसरे देश के साथ जब अच्छा या बुरा सम्बन्ध रखता है तब उसके परिणाम-स्वरूप वह अच्छा या बुरा कर्मसम्बन्ध बाँधता है। इसे

अन्तर्राष्ट्रीय कर्मबन्ध करते हैं, और इस कर्मबन्ध के अनुसार फल भोगे जाते हैं।

सामुदायिक दुष्कर्म के कटु फल समुदायव्यापी बनते हैं। ऐसे समय में भी जो विशिष्ट पुण्यशाली होता है वह बाल बाल बच जाता है।

किसी भी समाज में सभी मनुष्य अन्यायी, विश्वासघाती अथवा अत्याचारी नहीं होते; फिर भी जो थोड़े बहुत होते हैं उनके किए हुए दुष्कृत्यों के परिणामस्वरूप कभी कभी सारे समाज को हैरान होना पड़ता है – इसका क्या कारण है? इसके बारे में विचार करने पर मालूम होता है कि जिस समाज में अन्यायी अथवा अत्याचारी मनुष्य, समाज अथवा राज्य की ओर से किसी भी प्रकार की रोकथाम के बिना निरंकुशरूप से अपना दुष्कृत्य जारी रख सकते हैं और जिस समाज के समझदार और अगुए माने जानेवाले लोग नैतिक हिम्मत दिखला कर समाज अथवा राज्य के सामने उनका भण्डाफोड़ करने के बदले अथवा उनकी रोकथाम का प्रयत्न करने के बदले नीचा मुँह कर के उन्हें निबाह लेते हैं और इस तरह परोक्षरूप से उनका अनुमोदन जैसा करते हैं उस समाज को अपने ऐसे दोषों के कारण दुःख सहन करना पड़े यह स्पष्ट है।

सामुदायिक कर्म व्यक्तियों के कर्मों में से उत्पन्न होते हैं; अतः समग्र सुधारों की कुंजी व्यक्ति की सुधारणा में रही हुई है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को कर्म के नियम-बल का विचार कर के मनसा, वचसा, कर्मणा अच्छे होने के लिये और अच्छा कार्य करने के लिये प्रयत्नशील होने की आवश्यकता है। इसी में व्यक्ति की और समुदाय की, समाज की और देश की समृद्धि और सुख-शान्ति रही हुई है। मनुष्यों में यदि नैतिकता और बन्धुभाव हो तो व्यक्ति, समाज तथा देश अनेकविध तकलीफों से बच जाएँ और उनकी जीवनयात्रा सुखी तथा विकासगामी बने।

उद्यम से उदय में आए कर्मों में भी परिवर्तन अथवा शैथिल्य लाया जा सकता है। यह बात अन्धे, लूले लंगड़े, मूँगे-बहरों के लिये शालाएँ स्थापित कर के उन्हें जो स्वाश्रयी बनाया जाता है उस पर से देखी जा सकती है। इस प्रकार अनेक देशों ने महान् पुरुषार्थ कर के अपनी प्रजा के कठिन प्रारब्ध की कठोरता को कम किया है। व्यक्ति भी सच्चा और उत्तरदायित्वपूर्ण जीवन जी कर के अपने 'प्रारब्ध' को सुधार सकता है। वैयक्तिक विकास और समूहगत सार्वजनिक विकास भी 'प्रारब्ध' कर्म को शिथिल कर सकता हैं, उसकी कठोरता को कम कर सकता है और उस कर्म के उस पार हो कर आगे बढ़ सकता है।

'Fate is the friend of the good the guide of the wise the tyrant of the foolish the enemy of the bad '-W R Alger

यह सूक्ति कहती है कि नसीब सज्जनों का मित्र है, विवेकबुद्धिवालों का मार्गदर्शक है, मूर्खों का अत्याचारी स्वामी है और दुर्जनों का दुश्मन है।

[१५]

– परलोक की विशिष्ट विवेचना –

सामान्यतः 'परलोक' शब्द से 'मृत्यु के बाद प्राप्त होनेवाली गति' ऐसा अर्थ समझा जाता है, और उसे सुधारने के लिये हमें कहा जाता है। परन्तु जिस गति में हमें भविष्य में जन्म लेने का है उस गति का समाज यदि सुधरा हुआ न हो तो उस समाज में भविष्य में जन्म लेकर, हम चाहे जैसे हों फिर भी सुखी नहीं हो सकते।

देवगति और नरकगति के लोगों के साथ हम तनिक भी सम्पर्क इस जन्म में स्थापित नहीं कर सकते। अतः यदि हम कुछ सुधार का कार्य करना चाहें तो मनुष्यसमाज तथा पशु-समाज के बीच रहकर उनके बारे में ही कर सकते हैं। इस सुधारणा का लाभ हमें इस जन्म में तो मिलेगा ही, परन्तु साथ ही भविष्य के जन्म के समय (मनुष्य अथवा पशुलोक में पुनर्जन्म होने पर) भी मिल

सकता है। अतः जहाँ तक हमारा अपना सम्बन्ध है वहाँ तक 'परलोक' शब्द का ऐसा विशिष्ट अर्थ भी करना चाहिए जिससे मनुष्यसमाज तथा पशुसमाज के साथ के हमारे कर्त्तव्यों का हमें भान हो और वैसे कर्त्तव्यों का पालन कर के हम इस लोक के साथ साथ हमारे परलोक (मृत्यु के बाद के जीवन) को भी सुधार सकें। इस दृष्टि को सम्मुख रखकर नीचे की विचारणा प्रस्तुत की जाती है।

परलोक अर्थात् दूसरे लोग—हमारे खुद के सिवाय के दूसरे लोग। परलोक का सुधार अर्थात् दूसरे लोगों का सुधार। हमारे अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख परिचित और नित्य सम्पर्क में आनेवाले दो लोक तो स्पष्ट हैं: मनुष्यसमाज और पशुसमाज। इन दो समाजों को सुधारने के प्रयत्न को परलोक की सुधारणा का प्रयत्न कह सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य यदि दृढ़रूप से ऐसा समझने लगे कि हमारा दृश्यमान परलोक यह मनुष्यसमाज और पशुसमाज है और परलोक की सुधारणा का अर्थ इस मानवसमाज और पशुसमाज को सुधारने का होता है, तो मानवसमाज का चित्र ही बदल जाय और पशुसमाज की ओर भी सद्भावना जाग्रत् हो उठे जिससे उनके लिये खाने-पीने, रहने आदिका सुयोग्य प्रबन्ध किया जा सके। मानवसमाज के सुख-

'Fate is the friend of the good the guide of the wise the tyrant of the foolish the enemy of the bad."-W R Alger

यह उक्ति कहती है कि नसीब सज्जनों का मित्र है, विवेकबुद्धिवालों का मार्गदर्शक है, मूर्खों का अत्याचारी स्वामी है और दुर्जनों का दुश्मन है।

[१५]

– परलोक की विशिष्ट विवेचना –

सामान्यतः 'परलोक' शब्द से 'मृत्यु के बाद प्राप्त होनेवाली गति' ऐसा अर्थ समझा जाता है, और उसे सुधारने के लिये हमें कहा जाता है। परन्तु जिस गति में हमें भविष्य में जन्म लेने का है उस गति का समाज यदि सुधरा हुआ न हो तो उस समाज में भविष्य में जन्म लेकर, हम चाहे जैसे हों फिर भी सुखी नहीं हो सकते।

देवगति और नरकगति के लोगों के साथ हम तनिक भी सम्पर्क इस जन्म में स्थापित नहीं कर सकते। अतः यदि हम कुछ सुधार का कार्य करना चाहें तो मनुष्यसमाज तथा पशु-समाज के बीच रहकर उनके बारे में ही कर सकते हैं। इस सुधारणा का लाभ हमें इस जन्म में तो मिलेगा ही, परन्तु साथ ही भविष्य के जन्म के समय (मनुष्य अथवा पशुलोक में पुनर्जन्म होने पर) भी मिल

संस्कार रक्तवीर्य द्वारा उसकी सन्तति में आते हैं। मनुष्य में यदि कोढ़, क्षय, प्रमेह, केन्सर जैसे संक्रामक रोग हों तो उसका फल उसकी सन्तति को भुगतना पड़ता है। मनुष्य के अनाचार, शराबखोरी आदि दुर्व्यसनों के कारण होने-वाले पापसंस्कार रक्तवीर्य द्वारा उसकी सन्तति में आएँगे और वे मानवजाति की घोर दुर्दशा करेंगे। अतः परलोक को सुधारने का अर्थ है संतति को सुधारना, और सन्तति को सुधारने का अर्थ है अपने आप को सुधारना।

जिस प्रकार मनुष्य का पुनर्जन्म रक्तवीर्य द्वारा उसकी सन्तति में होता है उसी प्रकार विचारों द्वारा मनुष्य का पुनर्जन्म उसके शिष्यों में तथा आसपास के मनुष्यों में होता है। हमारे जैसे आचार-विचार होंगे उनका वैसा ही प्रभाव शिष्यों तथा निकटवर्ती लोगों पर पड़ेगा। मनुष्य एक ऐसा सामाजिक प्राणी है कि जान में अथवा अनजान में उसका प्रभाव दूसरों पर और दूसरों का प्रभाव उस पर पड़ने का ही। मनुष्य के ऊपर अपने आप को सुधारने का अथवा बिगाड़ने का उत्तरदायित्व तो है ही, परन्तु साथ ही साथ मानवसमाज के उत्थान अथवा पतन में भी उसका हिस्सा साक्षात् अथवा परम्परया रहता ही है। रक्तवीर्यजन्य सन्तति अपने पुरुषार्थ द्वारा पितृजन्य कुसंस्कारों से शायद मुक्त हो सके, परन्तु यदि विचारसन्तति में विष का

साधन में पशुसमाज का हिस्सा क्या कम है ? अमेरिका आदि देशों की गोशालाएँ कितनी स्वच्छ और व्यवस्थित होती हैं !

मनुष्य मरकर कहाँ जन्म लेगा यह निश्चित नहीं है। अतः उसे यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यदि मानवसमाज और पशुसमाज नानाविध बुराइयों और बीमारियों के कारण दुर्गतिरूप होगा तो मरकर उसमें जन्म लेनेवाला वह (मनुष्य) भी दुर्गति में ही पड़ेगा। इसलिये लोकहित और स्वहित दोनों दृष्टियों से अपना आचरण और व्यवहार इतने अच्छे रखने की आवश्यकता उपस्थित होती है जिससे कि इन दोनों समाजों के ऊपर बुरा प्रभाव पड़ने के बदले अच्छा प्रभाव पड़ता रहे। नगरपालिका (Municipality) जिस प्रकार नगर के सब नागरिकों के लिये सुख की वस्तु बनती है उसी प्रकार हमारे मनुष्य तथा पशु संसाररूपी नगर की म्युनिसिपैलिटी उस नगर के सब नागरिकों के सुख की वस्तु बन सकती है। अतः इन दोनों वर्गों को सुधारने के लिये यदि प्रयत्न किया जाय—व्यवस्था रखी जाय तो यह वस्तुतः हमारे अपने परलोक को सुधारने का प्रयत्न होगा।

दूसरा एक परलोक है मनुष्यों की प्रजा-सन्तति। मानव-शरीर द्वारा होनेवाले सत्कर्म अथवा दुष्कर्म के जीवित

पंचम खण्ड

न्यायपरिभाषा

प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्—जिसके द्वारा वस्तु का यथार्थ बोध होता हो उसे 'प्रमाण' कहते हैं। सत्य ज्ञान होने पर सन्देह, भ्रम व मूढ़ता दूर होते हैं और वस्तु का स्वरूप यथार्थ रूप से ज्ञात होता है, अतः वह (ज्ञान) प्रमाण समझा जाता है। 'प्रमाण' के आधार पर वस्तु का यथार्थ ज्ञान होने पर यदि वह वस्तु इष्ट हो तो उसे प्राप्त करने के लिये और अनिष्ट हो तो उसे छोड़ने के लिये मनुष्य तत्पर बनता है।

प्रमाण के दो भेद हैं: प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष के दो भेद सांव्यवहारिक (लौकिक) और पारमार्थिक का विवेचन तृतीय खण्ड के १५वें लेख में आ गया है।

इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होने में वस्तु के साथ इन्द्रियों का संयोग होता है या नहीं इस विषय में जानने योग्य बात इस प्रकार है—

जीभ से रस चखा जाता है; यहाँ जीभ और रस का संयोग बराबर होता है। त्वचा से स्पर्श किया जाता है;

संचार हो तो उसे पुनः स्वस्थ करना प्रायः दुष्कर ही हो जाता है। आज के प्रत्येक व्यक्ति की नजर इस नई पीढ़ी पर लगी हुई है। कोई इसे मजहब की शराब पिला रहा है तो कोई हिन्दुत्व की, कोई जाति की तो कोई कुल परम्परा की। न मालूम कित-कितने प्रकार की विचार-धाराओं की चित्र-विचित्र शराब मनुष्य की दुर्बुद्धि ने तैयार की है ? और अपने वर्ग की उच्चता, अपने अधिकार के स्थायित्व तथा स्थिर स्वार्थों की रक्षा के लिये धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और राष्ट्रीय आदि अनेकविध सुन्दर व मोहक पात्रों में भर भर कर भोलीभाली नूतन पीढ़ी को पिला कर उसे स्वरूपच्युत किया जाता है। वे इसके नशे में चूर हो कर और मनुष्य की समानता के अधिकार को भूलकर अपने भाइयों के साथ क्रूरता एव नृशंसतापूर्ण व्यवहार करने में झिझकते नहीं हैं। आज के ऐसे विचित्र और कलुषित युग में जहाँ मनुष्यों की यह दशा है वहाँ पशुरक्षा तथा पशुसुधार की बात ही क्या करना ?

जीवनशक्ति के वास्तविक तत्त्व का यथार्थ ज्ञान ही ऐसी उज्ज्वल ज्योति है जो इस सारे कालुष्य-अन्धकार को दूर कर पवित्र प्रकाश फैला सकती है। निःसन्देह, यह प्रकाश उसके धारक को सर्वमङ्गलरूप मार्ग पर चढ़ा देता है।

——卐——

पंचम खण्ड

न्यायपरिभाषा

प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्—जिसके द्वारा वस्तु का यथार्थ बोध होता हो उसे 'प्रमाण' कहते हैं। सत्य ज्ञान होने पर सन्देह, भ्रम व मूढ़ता दूर होते हैं और वस्तु का स्वरूप यथार्थ रूप से ज्ञात होता है, अतः वह (ज्ञान) प्रमाण समझा जाता है। 'प्रमाण' के आधार पर वस्तु का यथार्थ ज्ञान होने पर यदि वह वस्तु इष्ट हो तो उसे प्राप्त करने के लिये और अनिष्ट हो तो उसे छोड़ने के लिये मनुष्य तत्पर बनता है।

प्रमाण के दो भेद हैं: प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष के दो भेद सांव्यवहारिक (लौकिक) और पारमार्थिक का विवेचन तृतीय खण्ड के १५वें लेख में आ गया है।

इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होने में वस्तु के साथ इन्द्रियों का संयोग होता है या नहीं इस विषय में जानने योग्य बात इस प्रकार है—

जीभ से रस चखा जाता है; यहाँ जीभ और रस का संयोग बराबर होता है। त्वचा से स्पर्श किया जाता है;

यहाँ त्वचा और स्पृश्य वस्तु का संयोग स्पष्ट है। नाक से गन्ध ग्रहण की जाती है; यहाँ गन्धयुक्त द्रव्य का नाक के साथ अवश्य सम्बन्ध होता है। दूर से गन्ध आने में भी दूर से आनेवाले गन्धयुक्त सूक्ष्म द्रव्य नाक के साथ अवश्य संयुक्त होते हैं। और दूर से अथवा समीप से आनेवाले शब्द जब कान के साथ टकराते हैं तभी कान से सुना जाता है। जैनों के मन्तव्य के अनुसार शब्द भाषा-वर्गणा के पुद्गलस्कन्ध हैं, अर्थात् शब्द द्रव्य हैं।

इस प्रकार जीभ, त्वचा, नाक और कान—ये चार इन्द्रियाँ वस्तु के साथ संयुक्त होकर अपने विषय को ग्रहण करती हैं। परन्तु चक्षु से दीखनेवाली समीपस्थ अथवा दूरस्थ वस्तु चक्षु के पास नहीं आती यह स्पष्ट है, वह तो अपने स्थान पर ही रहती है, अतः चक्षु इन्द्रिय के साथ संयुक्त हुए बिना ही उस वस्तु का प्रत्यक्ष होता है। इसीलिये जैन-न्यायशास्त्र में उस (चक्षु को) 'अप्राप्यकारी' कहा है। 'अप्राप्य' अर्थात् प्राप्ति (संयोग) किए बिना ही 'कारी' अर्थात् विषय को ग्रहण करनेवाली। अवशिष्ट चार इन्द्रियाँ 'प्राप्यकारी' कहलाती हैं। मन भी चक्षु की भाँति 'अप्राप्यकारी' है।

---

१ वस्तु पर पड़नेवाले प्रकाश की किरणें जब आँख पर गिरती हैं तब वस्तु का दर्शन होता है ऐसा वैज्ञानिक मन्तव्य है। तो भी यह तो स्पष्ट है कि चक्षु-इन्द्रिय और वस्तु का परस्पर साक्षात् संयोग नहीं होता।

परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद किए गए हैं : स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम।

स्मरण और प्रत्यभिज्ञान

अनुभूत वस्तु की याद आने को 'स्मरण' कहते हैं। गुम हुई वस्तु जब हाथ में आती है तब 'यह वही है' इस प्रकार का जो ज्ञान होता है वह 'प्रत्यभिज्ञान' है। पहले देखा हुआ मनुष्य जब पुनः मिलता है तब 'यह वही चन्द्रकान्त है' ऐसा जो प्रतिभान होता है वह प्रत्यभिज्ञान है।

स्मरण होने में पहले का अनुभव ही कारण है, जबकि प्रत्यभिज्ञान होने में अनुभव और स्मरण दोनों अपेक्षित हैं। स्मरण में 'वह घड़ी' ऐसी स्फुरणा होती है, जबकि प्रत्यभिज्ञान में 'यह वही घड़ी' ऐसा प्रतिभास होता है। इस पर से इन दोनों की भिन्नता समझी जा सकती है। गुम हुई वस्तु को देखने से अथवा पहले देखे हुए मनुष्य को पुनः देखने से 'यह वही' ऐसा जो प्रत्यभिज्ञान होता है उसमें 'वही' भाग स्मरणरूप है और 'यह' भाग उपस्थित वस्तु अथवा मनुष्य का दर्शनरूप अनुभव है। इस तरह अनुभव और स्मरण इन दोनों के सहयोग से उत्पन्न 'यह वही' इस प्रकार का संकलित ज्ञान प्रत्यभिज्ञान है।

इस प्रकार के प्रत्यभिज्ञान को एकत्व-प्रत्यभिज्ञान

करते हैं। 'रोझ गाय के जैसा होता है' ऐसा जानने के बाद रोझ को देखने पर और 'रोझ गाय के जैसा होता है' ऐसा जाना हुआ याद आने पर 'गाय के जैसा रोझ है' इस प्रकार इन दोनों का (गाय और रोझ का) जो सादृश्य प्रतीत होता है वह सादृश्य-प्रत्यभिज्ञान है। इसी प्रकार 'गाय से भैंस विलक्षण है' इस तरह इन दोनों का (गाय और भैंस का) जो वैलक्षण्य—वैसदृश्य प्रतीत होता है वह वैसदृश्य प्रत्यभिज्ञान है। इसी प्रकार भिन्न भिन्न प्रकार के प्रत्यभिज्ञान के दूसरे उदाहरण भी दिए जा सकते हैं।

तर्क और अनुमान

अनुमान में व्याप्तिज्ञान की आवश्यकता है। 'व्याप्ति' अर्थात् अविनाभावसम्बन्ध अथवा नियत-साहचर्य। जिसके बिना जो न रहता हो उसके साथ का उसका उस प्रकार का सम्बन्ध अविनाभाव सम्बन्ध है। अग्नि के बिना धूम नहीं रहता, इस प्रकार का अग्नि के साथ का धूम का सम्बन्ध है। अतः यह [1]सम्बन्ध अविनाभाव सम्बन्ध है—धूम का अग्नि के साथ का। यह, अविनाभावसम्बन्धरूप

१ अविनाभाव शब्द का पदच्छेद इस प्रकार है: अ+विना+भाव अर्थात् 'विना' यानी साध्य के बिना और 'अ' तथा 'भाव' यानी अभाव अर्थात् न होना—साधन का। मतलब कि साध्य के बिना साधन का न होना। इस तरह अविनाभाव सम्बन्ध साधन का अथवा हेतु का एकमात्र असाधारण लक्षण बनता है।

'व्याप्ति' धूम में होने से धूम व्याप्य (अग्नि का व्याप्य) कहलाता है, क्योंकि अग्नि द्वारा धूम व्याप्त है, और अग्नि धूम को व्याप्त कर के रहती है अतः वह व्यापक (धूम की व्यापक) कहलाती है। इस प्रकार व्यापक के साथ का व्याप्य का सम्बन्ध अर्थात् व्यापक की ओर से व्याप्य में जो व्याप्तता होती है उसे व्याप्ति कहते हैं। व्याप्य से व्यापक की सिद्धि (अनुमान) होने से व्यापक को 'साध्य' कहते हैं और यह सिद्धि (अनुमान) व्याप्य द्वारा होती है अतः उसे (व्याप्य को) 'साधन' अथवा 'हेतु' कहते हैं। व्याप्ति का निर्णय करने में अन्वय-व्यतिरेक की योजना उपयोगी होती है। 'अन्वय' अर्थात् साध्य के होने पर ही साधन का होना (अर्थात् साधन के होने पर साध्य का अवश्य होना) और 'व्यतिरेक' अर्थात् साध्य के न होने पर साधन का अवश्य न होना। अग्नि होने पर ही धूम का होना (अर्थात् धूम होने पर अग्नि का अवश्य होना)-यह हुआ धूम में अन्वय, और अग्नि न होने पर धूम होता ही नहीं-यह हुआ धूम में व्यतिरेक। इस प्रकार अग्नि की तरफ का अन्वय और व्यतिरेक दोनों धूम में होने से धूप में अग्नि की तरफ की व्याप्ति रही हुई समझी जा सकती है; क्योंकि धूम अग्नि का पूर्णरूप से अनुगामी है।

धूम अग्नि से व्याप्य है, परन्तु अग्नि धूम से व्याप्य

नहीं है; क्योंकि जहाँ धूम होता है वहाँ पर निरपवादरूप से अग्नि होती ही है, परन्तु जहाँ अग्नि होती है वहाँ सर्वत्र धूम हो ही ऐसा नहीं है। धूम वहाँ पर हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। अतः धूम से अग्नि का अनुमान हो सकता है, परन्तु अग्नि से धूम का अनुमान नहीं हो सकता। जहाँ साध्य और साधन दोनों एक-दूसरे को समानरूप से व्याप्त हो कर रहते हों वहाँ की व्याप्ति सम व्याप्ति कहलाती है। जैसे कि रूप से रस का और रस से रूप का अनुमान किया जा सकता है।

उपर्युक्त व्याप्ति का निर्णय तर्क द्वारा होता है। उदाहरणार्थ, धूम अग्नि के बिना नहीं होता, जहाँ जहाँ धूम है वहाँ वहाँ सर्वत्र अग्नि है, ऐसा कोई धूमवान् प्रदेश नहीं है जहाँ अग्नि न हो—इस प्रकार का धूम का अग्नि के साथ का नियत साहचर्य, जिसे व्याप्ति कहते हैं, तर्क द्वारा सिद्ध होता है। दो वस्तुएँ अनेक स्थानों पर साथ ही दिखाई दें अथवा क्रमभावी दिखाई दें इससे उनका परस्पर व्याप्ति-नियम (सहभाव अथवा क्रमभावरूप अविना भाव सम्बन्ध) सिद्ध नहीं हो सकता। किन्तु इन दोनों को अलग होने में अथवा नियतरूप से क्रमभावी न मानने में क्या विरोध है?—इसका पर्यालोचन करने पर विरोध सिद्ध होता हो तो—अर्थात् उक्त प्रकार का सम्बन्ध निःशङ्क एवं निरपवाद प्रतीत होता हो तभी—इन दोनों का व्याप्तिनियम

सिद्ध हो सकता है। इस तरह इस नियम की परीक्षा करने का जो अध्यवसाय है उसे तर्क कहते हैं। जैसे कि, धूम तथा अग्नि के बारे में ऐसा तर्क किया जा सकता है कि 'यदि अग्नि के बिना भी धूम होता हो तो वह अग्नि का कार्य नहीं हो सकेगा, अतः इन दोनों की जो पारस्परिक कार्यकारणता है वह टिक नहीं सकेगी और ऐसा होने पर धूम की अपेक्षावाला अग्नि की जो अवश्य खोज करता है वह नहीं करेगा।' इस प्रकार के तर्क-व्यापार से इन दोनों की व्याप्ति निश्चित होती है, और व्याप्ति के ज्ञान से अनुमान का निर्माण होता है। धूमगत उस व्याप्ति-नियम का जबतक ज्ञान न हो तबतक धूम देखने पर भी अग्नि का अनुमान नहीं हो सकता यह स्पष्ट है। जिस मनुष्य को धूमगत उस व्याप्तिनियम का ज्ञान है वही धूम देख कर उस स्थान पर अग्नि का अनुमान कर सकता है। इस पर से स्पष्ट होता है कि अनुमान के लिये व्याप्ति-निश्चय की आवश्यकता है और व्याप्तिनिश्चय तर्काधीन है।

साधनात् साध्यज्ञानमनुमानम्—अर्थात् साधन से –हेतु से साध्य के (परोक्ष साध्य के) ज्ञान होने को अनुमान कहते हैं। मतलब कि साधन की उपलब्धि होने पर तथा साध्य के साथ की साधनगत व्याप्ति का स्मरण होने पर साध्य का अनुमान होता है। दृष्टान्त के तौर पर, जिसने धूम और अग्नि का विशिष्ट सम्बन्ध जान लिया

है अर्थात् अग्नि के साथ की व्याप्ति धूम में है यह जो समझा है वह मनुष्य किसी स्थान पर धूम देखकर और उस (धूमगत) व्याप्ति का (अग्नि के साथ की व्याप्ति का) स्मरण कर के उस स्थान पर अग्नि होने का अनुमान करता है। इस तरह, अनुमान होने में साधन की (हेतु की) उपलब्धि और साधन में रही हुई साध्य के साथ की व्याप्ति का स्मरण ये दोनों अपेक्षित हैं।

यहाँ पर अनुमानप्रयोग के थोड़े उदाहरण भी देख लें।

(१) अमुक प्रदेश अग्निवाला है, धूम होने से। (२) शब्द अनित्य है, उत्पन्न होने से। (३) यह वृक्ष है, नीम होने से। (४) रोहिणी का उदय होगा, कृत्तिका का उदय हुआ है इसलिये। (५) भरणी का उदय हो चुका है, कृत्तिका का उदय होने से। (६) अमुक फल रूपवान् है, रसवान् होने से; अथवा रसवान् है, रूपवान् होने से।

इनमें पहला हेतु कार्यरूप है, क्योंकि धूम अग्नि का कार्य है। दूसरा और तीसरा स्वभावरूप है। चौथा हेतु पूर्वचर है, क्योंकि कृत्तिका नक्षत्र रोहिणी का पूर्ववर्ती है। पाँचवाँ उत्तरचर है, क्योंकि कृत्तिका भरणी से उत्तरवर्ती है। और छठा सहचर हेतु है, क्योंकि रूप और रस का साहचर्य है।

इस पर से देखा जा सकता है कि हेतु किस किस प्रकार

के हो सकते हैं और यह भी देखा जा सकता है कि हेतु साध्य की उपस्थिति के समय उपस्थित होना ही चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है। उगी हुई कृत्तिका उगनेवाली रोहिणी का तथा उग चुकी भरणी का अनुमान करा सकती है। अतः कहने का अभिप्राय यह है कि हेतु और साध्य चाहे एकसमयवर्ती हों या भिन्नसमयवर्ती हों तथा एक-स्थानवर्ती हों या भिन्नस्थानवर्ती हों, सिर्फ़ उनका विशिष्ट सम्बन्ध ही अपेक्षित है और यह सम्बन्ध निश्चित एवं व्यव स्थित होना चाहिए। हेतु होने के लिये समसमयवर्ती अथवा समस्थानवर्ती होने का नियम नहीं है। एकमात्र अविना-भाव का तत्त्व ही उसमें अपेक्षित है। उदित कृत्तिका उगने-वाली रोहिणी का अथवा उग चुकी भरणी का अनुमापक बनती है वह उन दोनों के परस्पर के नियत सम्बन्ध के कारण ही—क्रमभाविता के नियत सम्बन्ध के कारण ही और यह सम्बन्ध अविनाभावरूप है।

यह तो स्पष्ट है कि हेतु जिसका विरोधी हो उसके अभाव का वह अनुमान कराए। किसी मनुष्य के विशिष्ट प्रकार के मुखविकार पर से उसमें क्रोधोपशम न होने का अनुमान हो सकता है। यहाँ पर मुखविकाररूप हेतु क्रोधोपशमन का विरोधी होने से अथवा क्रोधोपशम के विरोधी ऐसे क्रोध का परिणाम होने से क्रोधोपशमन के

अभाव का अनुमापक होता है। किसी मनुष्य में आरोग्य के अनुरूप चेष्टा दिखाई न देने से उसके शरीर में किसी व्याधि के अस्तित्व का अनुमान होता है। आरोग्य के अनुरूप चेष्टा जहाँ दिखाई न दे वहाँ आरोग्य के अभाव का अर्थात् व्याधि के अस्तित्व का ही अनुमान हो सकता है। नमूने के तौर पर इतना लिखना यहाँ पर बस होगा।

दूसरे के समझाए बिना ही अपनी बुद्धि से हेतु द्वारा जो अनुमान किया जाता है उसे 'स्वार्थानुमान' कहते हैं। दूसरे को समझाने के लिये अनुमानप्रयोग किया जाता है। जैसे कि, यहाँ अग्नि है। क्योंकि धूम दिखाई देता है। जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि नियमेन होती है, जैसेकि रसोईघर में। यहाँ पर भी धूम दिखाई दे रहा है। अतः यहाँ पर अग्नि अवश्य है। इस प्रकार दूसरे को समझाने के लिये जो वाक्यप्रयोग किया जाता है उसे 'परार्थानुमान' कहते हैं। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन—ये पाँच प्रकार के शब्दप्रयोग प्रायः परार्थानुमान में किए जाते हैं। 'यह प्रदेश अग्निवाला है' यह 'प्रतिज्ञा' वाक्य है। 'क्योंकि धूम दिखाई देता है' यह 'हेतु'वाक्य है। व्याप्तिपूर्वक रसोईघर का दृष्टान्त देना 'उदाहरण' वाक्य है। 'उस तरह यहाँ पर भी धूम दिखाई दे रहा है' इस प्रकार उपनय का अवतरण 'उपनय' वाक्य है। और अन्त में

'अतः यहाँ पर अग्नि अवश्य है' ऐसा निर्णय करना 'निगमन' वाक्य है। इस तरह की अनुमानप्रणाली होती है।

जो हेतु मिथ्या हो अर्थात् जिसमें साध्य के साथ का अविनाभावसम्बन्ध घटित न होता हो उसे 'हेत्वाभास' कहते हैं। हेत्वाभास निर्णयात्मक अनुमान करने में मिथ्या प्रमाणित होता है।

आगम

आप्त (प्रामाणिक) मनुष्य के वचनादि से जो ज्ञान होता है वह 'आगम' अथवा 'शब्द' प्रमाण कहा जाता है।

जो प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से विरुद्ध न हो, जो आत्मविकास और उसके मार्ग पर सच्चा प्रकाश डालता हो-ऐसा जो शुद्धतत्त्वप्ररूपक वचन होता है वही वस्तुतः 'आगम' शास्त्र है।

सद्बुद्धि से यथार्थ उपदेश देनेवाले को आप्त कहते हैं। ऐसे 'आप्त' के कथन को 'आगम' कहते हैं। सर्वोत्कृष्ट आप्त तो वह है जिसके राग-द्वेष आदि दोष क्षीण हो गए हैं और जिसने अपने पूर्ण निर्मल ज्ञान से उच्च और पवित्र उपदेश दिया है।

आगम-शास्त्र में प्रकाशित गम्भीर तत्त्वज्ञान पर मध्यस्थ एवं सूक्ष्म बुद्धि से विचार न किया जाय तो अर्थ का अनर्थ

होने की पूर्ण सम्भावना रहती है। दुराग्रह का त्याग, मध्यस्थवृत्ति, स्थिर-सूक्ष्म दृष्टि तथा शुद्ध जिज्ञासाभाव-इतने साधन प्राप्त हुए हों तो आगमिक तत्त्वों की गहराई में भी निर्भीकता से सफलतापूर्वक विचरण किया जा सकता है।

कभी कभी ऊपर ऊपर स विचार करने पर बहुत से महर्षियों के विचारों में विरोध मालूम पड़ता है। परन्तु उन विचारों पर सुयोग्य समन्वयदृष्टि रखकर भिन्न भिन्न दृष्टि कोणों से विचार किया जाय तो उन भिन्न भिन्न प्रतीत होनेवाले विचारों में भी रहा हुआ साम्य देखा जा सकता है।

प्रमाण का विवेचन संक्षेप में हो गया। वस्तु का स्वरूप समझने में यदि भूल या भ्रम हो अर्थात् उसका यथा स्थित स्वरूप समझने के बदले उलटा स्वरूप समझ लिया जाय तो उस वस्तु क बारे में जो प्रवृत्ति होती है वह न तो उपयुक्त ही होती है और न सफल ही होती है। रस्सी को यदि सर्प समझ लिया जाय तो इस भ्रम से, कोई भी वास्त विक कारण न होने पर भी, भयवश शरीर कांपने लगता है। मृगजल को सचा जल मानकर प्यास बुझाने की इच्छा से उसके पीछे दौड़ा जाय तो ऐसा प्रयत्न निष्फल ही जायगा और अन्त में निराशा ही मिलेगी। भ्रमवश मित्र को शत्रु अथवा शत्रु को मित्र मान लिया जाय तो उनके साथ जो प्रवृत्ति होती है वह उपयुक्त न होकर विपरीत ही

होती है। ये सब भ्रमजन्य प्रवृत्ति के उदाहरण हैं। भ्रम अर्थात् उलटी समझ, अतः इसका ज्ञान में-यथार्थ ज्ञान में समावेश नहीं होता।

तृतीय खण्ड के १५ वें लेख में यह बताया गया है कि मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल इन पाँच ज्ञानों में से अन्तिम तीन ज्ञान प्रत्यक्ष (पारमार्थिक प्रत्यक्ष) हैं, जबकि मति और श्रुत ज्ञान परोक्ष हैं। श्रुतज्ञान, परोक्ष प्रमाण के एक भेद 'आगम' का निर्देशक है। मतिज्ञान का एक विभाग, जो इन्द्रिय द्वारा होनेवाले रूपदर्शनादि ज्ञानों का है, वह (इन्द्रियरूप परनिमित्त से उत्पन्न होता है, अतः वस्तुतः परोक्ष होने पर भी) 'सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष' कहलाता है। और स्मरण, तर्क, अनुमान आदिरूप मतिज्ञान का दूसरा विभाग तो 'परोक्ष प्रमाण' में ही अन्तर्भूत है। इस प्रकार मति-श्रुतादिरूप ज्ञानपंचक के प्राचीन विभाग के साथ प्रत्यक्ष-परोक्षरूप दो प्रकार के प्रमाणोंवाले विभाग का सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है[१]।

---

१ अनुयोगद्वार सूत्र (पत्र २११) में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम इस प्रकार चार प्रमाणों का उल्लेख है। वहाँ इन प्रमाणों की विचारणा न्याय(गौतम)दर्शन की प्रमाण विचारणा जैसी देखने में आती है।

स्थानाङ्गसूत्र के ४थे स्थान के ३रे उद्देश में उपर्युक्त चार प्रमाणों का उल्लेख है, किन्तु इसी सूत्र के दूसरे स्थान के प्रथम उद्देश में प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो प्रमाणों का भी उल्लेख है, जो नन्दी सूत्र में तो है ही।

अब हम जैन शास्त्रों में प्रतिपादित एक विश्वव्यापी और विश्वोपयोगी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को लें—

भगवतीसूत्र (शतक ५, उद्देश ३) में उक्त चार प्रमाणों का संकेत अनुयोगद्वार की भलामण देकर किया गया है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ऐसा प्रत्यक्ष का विविध प्रकार सब से पहले भी जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के विशेषावश्यकभाष्य में देखा जाता है, परन्तु यह नन्दीसूत्र के आधार पर किया गया मालूम होता है; क्योंकि नन्दीसूत्र में इन्द्रियसापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों में रखा है।

इस सब पर से यही निष्कर्ष निकलता है कि ज्ञानपंचक की विवेचना आगमकाल की विवेचना है और प्रत्यक्षादिरूप से प्रमाणविभाग की विवेचना बाद के तार्किक युग के संस्कारवाली विवेचना है। आगमों की संकलना* के समय प्रमाणद्वय और प्रमाणचतुष्टयवाले दोनों विभाग ऊपर कहा उस तरह स्थानांग एवं भगवतीसूत्र में प्रविष्ट हो गए। फिर भी जैनाचार्यों का खास झुकाव तो प्रमाणद्वय के विभाग की ओर ही रहा है। इसका कारण यह है कि प्रमाणचतुष्टयवाला विभाग वस्तुतः न्यायदर्शन का ही है। इसीलिये उमास्वाति ने तत्त्वार्थभाष्य [१. ६] में उसे 'नयवादान्तरेण' कहा है जब कि प्रमाणद्वयवाला विभाग तो जैनाचार्यों का स्वोपज्ञ है और तत्त्वार्थसूत्र आदि में गृहीत होकर वह जैन-प्रक्रिया में प्रतिष्ठित हुआ है। यही विभाग नन्दीसूत्र में है, किन्तु नन्दी की विशेषता यह है कि उसमें प्रत्यक्ष प्रमाण में उसके एक विभागरूप अवधि आदि नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष के अतिरिक्त इन्द्रियप्रत्यक्ष को भी लिया है। परन्तु उसमें यह किया है अपने पूर्ववर्ती अनुयोगद्वार सूत्र के आधार

---

* भगवतीसूत्र में उसके बहुत पीछे के बने हुए सूत्र रायपसेणइय उववाइय पन्नवणा नन्दी जीवाभिगम और अनुयोगद्वार के नाम लेकर उनकी भलामण दी गई है वह आगमों की संकलना के समय की योजना है।

स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद

किसी वस्तु का भिन्न-भिन्न दृष्टिबिन्दु से अवलोकन करना अथवा कथन करना यह स्याद्वाद का अर्थ है। इसे अनेकान्तवाद भी कहते हैं। एक ही वस्तु में भिन्न-भिन्न दृष्टि-बिन्दुओं से संगत होनेवाले भिन्न-भिन्न और विरुद्ध दिखाई देनेवाले धर्मों के प्रामाणिक स्वीकार को स्याद्वाद कहते हैं। जिस प्रकार एक ही पुरुष में पिता-पुत्र, चचा-भतीजा, मामा-

---

पर। क्योंकि अनुयोगद्वार सूत्र में प्रत्यक्ष-अनुमान-उपमान-आगम इन चार प्रमाणों का निर्देश करके प्रत्यक्ष प्रमाण के इन्द्रियप्रत्यक्ष और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष ऐसे दो भेद बतलाए हैं। इसी (अनुयोगद्वार तथा नन्दी) के आधार पर इन्द्रियजन्य ज्ञान को, जिसे लोग प्रत्यक्ष कहते हैं और मानते हैं, 'साव्यवहारिक' प्रत्यक्ष नाम देनेवाले सब से पहले जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण हैं। उन्होंने ऐसा करके उक्त सूत्रों का संवाद भी स्थापित किया है और लोकमत का संग्रह भी किया है। इसके बाद अकलंकदेव ने इसी प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण के इन दो भेदों को प्रतिष्ठित किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने परोक्ष प्रमाण का स्मृति-प्रत्यभिज्ञा-तर्क-अनुमान-आगम रूप से जो विभागीकरण किया है यह उनका बुद्धिकौशल है, जो आज तक समग्र जैनाचार्यों से सादर स्वीकृत है।

सिद्धसेन दिवाकर का 'न्यायावतार' तार्किक संस्कार से बलाढ्य बनते जाते वातावरण की उपज है। 'न्यायावतार' में आया हुआ 'न्याय' शब्द मुख्यतः अनुमान का सूचक है, क्योंकि अनुमान के अवतरणने उस द्वात्रिंशिकात्मक छोटे से ग्रन्थ में बहुत अधिक जगह रोकी है। इस न्यायावतार में प्रत्यक्ष-अनुमान-आगम इन तीन प्रमाणों की चर्चा आती है।

भानजा, श्वसुर-दामाद आदि परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने-
वाले व्यवहार, भिन्न भिन्न सम्बन्ध की भिन्न भिन्न अपेक्षा
से संगत होने के कारण, माने जाते हैं, उसी प्रकार एक
ही वस्तु में, स्पष्टीकरण के लिये एक विशेष वस्तु को लेकर
कहें तो एक ही घट में, नित्यत्व और अनित्यत्व आदि विरुद्ध
रूप से भासित होनेवाले धर्म यदि भिन्न भिन्न अपेक्षादृष्टि से
संगत होते हों तो उनका स्वीकार किया जा सकता है। इस
तरह, एक वस्तु में भिन्न भिन्न दृष्टिबिन्दुओं से संगत हो
सकें ऐसे भिन्न-भिन्न धर्मों के समन्वय करने को स्याद्वाद
अथवा अनेकान्तवाद कहते हैं।

एक ही पुरुष अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र और अपने
पुत्र की अपेक्षा से पिता, अपने भतीजे और भानजे की
अपेक्षा से चाचा और मामा तथा अपने चाचा और मामा
की अपेक्षा से भतीजा और भानजा, अपने श्वसुर की
अपेक्षा से दामाद और अपने दामाद की अपेक्षा से श्वसुर
बनता है और इस प्रकार इन सब सम्बन्धों को एक ही
व्यक्ति में भिन्न भिन्न सम्बन्धों की भिन्न भिन्न अपेक्षाओं से
स्वीकार करने के लिये सब तैयार हैं, इसी प्रकार नित्यत्व
और अनित्यत्व आदि विरुद्ध दिखाई देनेवाले धर्म भी एक
वस्तु में, भिन्न भिन्न अपेक्षादृष्टि से विचार करने पर, यदि
सम्भव और संगत प्रतीत होते हों तो उन्हें क्यों न स्वीकार
किया जाय ?

हमें यह पहले जानना चाहिए कि 'घट' क्या वस्तु है ? एक ही मिट्टी में से घड़ा, कूंडा आदि अनेक पात्र बनते हैं। फिर भी घड़े को तोड़कर उसकी ही मिट्टी में से बनाए हुए कूंडे को कोई घड़ा कहेगा ? नहीं। क्यों नहीं ? मिट्टी तो वही है। परन्तु नहीं, आकार बदल जाने से उसे घड़ा नहीं कह सकते। अच्छा, तो फिर यही सिद्ध हुआ कि घड़ा मिट्टी का अमुक आकारविशेष (एक विशेष पर्याय) है। परन्तु इसके साथ ही हमें ध्यान रखना चाहिए कि वह आकारविशेष मिट्टी से सर्वथा भिन्न भी नहीं है। उस उस आकार में परिवर्तित मिट्टी ही जब घड़ा, कूंडा इत्यादि नामों से व्यवहृत होती है तो फिर घड़े के आकार और मिट्टी इन दोनों को भिन्न कैसे माना जा सकता है ? इस पर से तो यही सिद्ध होता है कि घड़े का आकार और मिट्टी ये दोनों घड़े के स्वरूप हैं। अब इन दोनों स्वरूपों में विनाशी स्वरूप कौनसा है और ध्रुव स्वरूप कौनसा, यह देखें। यह तो हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि घड़े का आकार (पर्याय) विनाशी है। अतः घड़े का एक स्वरूप तो, जो कि घड़े का आकारविशेष है, विनाशी ठहरा। घड़े का दूसरा स्वरूप जो मिट्टी है वह कैसा है ? वह विनाशी नहीं है। क्योंकि मिट्टी के वे वे आकार-परिणाम-पर्याय बदला करते हैं, परन्तु मिट्टी तो वही की वही रहती है, यह हमारी

अनुभवसिद्ध बात है। इस तरह घड़े का एक विनाशी और एक ध्रुव ऐसे दो स्वरूप देखे जा सकते हैं। इस पर से यही मानना पड़ेगा कि विनाशी स्वरूप से घड़ा अनित्य है और ध्रुव स्वरूप से घड़ा नित्य है। इस प्रकार एक ही वस्तु में भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से नित्यभाव और अनित्य-भाव के दर्शन को अनेकान्तदर्शन कहते हैं।

विशेष स्पष्टता के लिये इस पर कुछ अधिक दृष्टिपात करें। सब पदार्थों में उत्पत्ति, स्थिति और विनाश लगे हुए हैं[1]। दृष्टान्त के तौर पर सोने की एक कण्ठी को लें। सोने की कण्ठी को तोड़ कर कड़ा बनाया। उस समय कण्ठी का नाश हुआ और कड़े की उत्पत्ति हुई, यह हम स्पष्ट देखते हैं। परन्तु कण्ठी को तोड़कर, कण्ठी में जो सोना था उसी सोने का बनाया हुआ कड़ा सर्वथा नया ही उत्पन्न हुआ है ऐसा नहीं कहा जा सकता। कड़े को सर्वथा नवीन तो तभी माना जा सकता है जब उसमें कण्ठी की कोई भी वस्तु न आए। परन्तु जब कण्ठी का सभी का सभी सोना कड़े में आया है, सिर्फ कण्ठी का आकार ही बदला है, तो फिर कड़े को सर्वथा नवीन उत्पन्न कैसे माना जा सकता है? इसी प्रकार कण्ठी का सर्वथा विनाश भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि सर्वथा विनाश तो तभी माना जाय जब कण्ठी की कोई भी वस्तु विनाश से

1 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' —तत्त्वार्थसूत्र ५, २९

न बची हो। परन्तु जब कण्ठी का समूचा सोना जैसे का तैसा कड़े में आया है तो फिर कण्ठी को सर्वथा विनष्ट कैसे कहा जा सकता है? इस पर से यह बात अच्छी तरह से ध्यान में आ सकती है कि कण्ठी का नाश कण्ठी के आकार (कण्ठी के पर्याय) के नाश तक ही मर्यादित है, यही तो कण्ठी का नाश है और कड़े की उत्पत्ति कड़े के आकार (पर्याय) की उत्पत्ति तक ही सीमित है और यही तो कड़े की उत्पत्ति है, जबकि इन दोनों कण्ठी और कड़े का सुवर्ण तो एक ही है। अतः कण्ठी और कड़ा ये एक ही सुवर्ण के आकारभेदों के (पर्यायभेदों के) अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

इस पर से कोई भी कह सकता है कि कण्ठी को तोड़-कर बनाए हुए कड़े में, कड़े के आकार की उत्पत्ति, कण्ठी-रूप आकार का विनाश तथा सुवर्ण की स्थिति-इस प्रकार उत्पत्ति, विनाश और स्थिति (ध्रुवत्व) इन तीनों का बराबर अनुभव होता है। जहाँ दृष्टि डालो वहाँ ऐसे उदाहरण उपस्थित हैं ही। जब घर गिर पड़ता है तब वह घर जिन वस्तुओं का बना था वे वस्तुएँ सर्वथा नष्ट नहीं होतीं। वे सब पदार्थ रूपान्तर से-स्थूल अथवा सूक्ष्म रूप से, अन्ततः परमाणु रूप से तो अवश्य जगत् में रहते हैं। इस पर से तत्त्वदृष्ट्या उस घर का सर्वांशतः विनाश घट नहीं सकता। कोई भी स्थूल वस्तु जब बिखर जाती है

"तब उसके अणु अथवा अणुसंघात स्वतन्त्ररूप से अथवा दूसरी वस्तुओं के साथ मिल कर नया परिवर्तन खड़ा करते हैं। संसार के पदार्थ संसार में ही स्थूल अथवा सूक्ष्म रूप से इतस्ततः विचरण करते हैं और उनके नए नए रूपान्तर होते रहते हैं। दीपक बुझ गया इसका अर्थ यह नहीं समझने का कि दीपक का सर्वथा नाश हो गया। दीपक के परमाणुसमूह कायम हैं। जिस परमाणुसंघात से दीपक जला था वही परमाणुसंघात रूपान्तरित हो जाने से दीपक रूप से नहीं दीखता और इसीलिये अन्धकार का अनुभव होता है। सूर्य की गर्मी से पानी सूख जाता है, इससे पानी का अत्यन्त अभाव नहीं हो जाता। वह पानी रूपान्तर से बराबर कायम ही है। जब एक वस्तु के स्थूल रूप का नाश हो जाता है तब वह वस्तु सूक्ष्म अवस्था में अथवा अन्य रूप में परिणत हो जाती है, जिससे पहले दखे हुए उसके रूप में वह न दीखे यह सम्भव है। कोई मूल वस्तु नई उत्पन्न नहीं होती और किसी मूल वस्तु का सर्वथा नाश भी नहीं होता, यह एक अटल सिद्धान्त है। कहा है—

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ॥"

—भगवद्गीता २, १६

अर्थात्—असत् की उत्पत्ति नहीं होती और सत् का नाश नहीं होता।

उत्पत्ति और नाश पर्यायों का होता है। दूध का बना हुआ दहीं नया उत्पन्न नहीं हुआ है, दूध का ही परिणाम दहीं है। यह गोरस दूधरूप से नष्ट हो कर दहीं रूप से उत्पन्न हुआ है, अतः ये दोनों गोरस ही हैं[1]।

इस प्रकार सर्वत्र समझ लेने का है कि मूल तत्त्व तो वैसे के वैसे ही रहते हैं और उनमें जो अनेकानेक परिवर्तन-रूपान्तर होते रहते हैं अर्थात् पूर्व परिणाम का नाश और दूसरे परिणाम का प्रादुर्भाव होता रहता है वह विनाश और उत्पाद है। इस पर से सब पदार्थ उत्पाद, विनाश और स्थिति (ध्रुवत्व) स्वभाव के ठहरते हैं। जिस का उत्पाद और विनाश होता है उसे जैन शास्त्रों में 'पर्याय' कहते हैं और जो मूल वस्तु स्थायी रहती है उसे 'द्रव्य' कहते हैं। द्रव्य की अपेक्षा से (मूल वस्तुतत्त्व से) प्रत्येक पदार्थ नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य। इस तरह प्रत्येक वस्तु का एकान्त नित्य नहीं, एकान्त अनित्य नहीं किन्तु नित्यानित्य रूप से अवलोकन अथवा निरूपण करना 'स्याद्वाद' है।

---

१. पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्माद् वस्तु त्रयात्मकम् ॥ ६० ॥
—श्री समन्तभद्राचार्य, आप्तमीमांसा।

उत्पन्नं दधिभावेन नष्टं दुग्धतया पयः।
गोरसत्वात् स्थिरं जानन् स्याद्वादद्विड् जनोऽपि कः ?
—उपाध्याय यशोविजयजी, अध्यात्मोपनिषद्, १-४४.

हेमचन्द्राचार्य अपने 'वीतरागस्तोत्र' के आठवें प्रकाश में कहते हैं—

आत्मन्येकान्तनित्ये स्यान्न भोगः सुखदुःखयोः ।
एकान्तानित्यरूपेऽपि न भोगः सुखदुःखयोः ॥ २ ॥
पुण्यपापे बन्धमोक्षौ न नित्यैकान्तदर्शने ।
पुण्यपापे बन्धमोक्षौ नाऽनित्यैकान्तदर्शने ॥ ३ ॥

अर्थात्—आत्मा को एकान्त नित्य (नित्य नहीं, किन्तु एकान्त नित्य) मानें तो इसका अर्थ यह होगा कि आत्मा में किसी प्रकार का अवस्थान्तर अथवा स्थित्यन्तर नहीं होता, कोई परिणाम अथवा परिवर्तन नहीं होता; अर्थात् आत्मा सर्वथा कूटस्थनित्य है ऐसा मानना पड़ेगा। और यदि ऐसा मान लिया जाय तो सुख-दुःख आदि की भिन्नभिन्नसमयभावी भिन्न भिन्न अवस्थाएँ आत्मा में घटित नहीं होंगी। आत्मा को नित्य मान करके भी यदि परिणामी (भिन्न भिन्न परिणामों में परिणमन करनेवाला) माना जाय तभी, निरन्तर उत्पद्यमान और विनाशनशील समग्र पर्यायों (परिणामों) में वह स्थायी—स्थिर—स्थितिशील होने से, उसमें भिन्न भिन्न समय की भिन्न भिन्न अवस्थाएँ—भिन्न भिन्न समय के भिन्न भिन्न परिवर्तन घट सकते हैं और भिन्न भिन्न समय में उसके किए हुए सत्कर्म दुष्कर्म के अच्छे-बुरे फल, चाहे जितने समय के बाद अथवा

जन्मों के पश्चात् भी, उसे मिल सकते हैं। कूटस्थनित्य मानने पर तो किसी प्रकार का अवस्थान्तर, स्थित्यन्तर या भिन्न भिन्न परिणाम की शक्यता न होने से पुण्य-पाप की भिन्न भिन्न वृत्ति-प्रवृत्तियां और सुख-दुःख आदि की भिन्न भिन्न अवस्थाएँ घट ही नहीं सकतीं। चैतन्यस्वरूप आत्मा में ही नहीं, किन्तु प्रत्येक अचेतन जड़ पदार्थ में भी प्रतिक्षण होनेवाले अन्यान्य परिणामों का प्रवाह सतत चालू ही रहता है। वस्तुमात्र परिवर्तनशील है। क्षणे क्षणे उसके पर्याय बदला करते हैं।

जिस प्रकार आत्मा को एकान्त नित्य मानने में ऊपर की बातें संगत नहीं होतीं उसी प्रकार आत्मा को एकान्त

---

१ महात्मा बुद्ध के पैर में एक बार चलते चलते काँटा चुभ गया। उस समय उन्होंने अपने भिक्षुओं से कहा—

इत एकनवते कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः।
तेन कर्मविपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः! ॥ २६१ ॥

—आ० हरिभद्र का शास्त्रवार्त्तासमुच्चय.

अर्थात्—हे भिक्षुओ! इस भव से इकानवे भव में मैंने एक पुरुष का शक्ति द्वारा वध किया था। इस कर्म के फलस्वरूप मेरे पैर में काँटा चुभा है।

२. कूटस्थ अर्थात् कूट यानी पर्वत के शिखर की भाँति अथवा लोहे के घन की तरह स्थिर। किसी तत्त्व को सर्वथा अपरिणामी और निर्विकार बतलाने के लिये 'कूटस्थ' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

अनित्य [सर्वथा क्षणिक] मानने में भी ये ही आपत्तियाँ खड़ी होती हैं। वस्तु के सतत निरन्तर परिवर्तमान पर्यायों विपर्यों परिणामों-परिवर्तनों में अनुस्यूत एक स्थायी द्रव्य मानना न्यायप्राप्त है। आत्मा भिन्न भिन्न अवस्थाओं में-भिन्न भिन्न पर्यायों में निरन्तर परिणत होता रहता है, फिर भी उन सब अवस्थाओं में स्वयं आत्मरूप से नित्य अखण्ड रहता है। उदाहरणार्थ, कोई पुस्तक, वस्त्र या छाता मैला हो अथवा उस पर छींटे पड़े अथवा दाग लगे अथवा उसे रँगा जाय तो जिस प्रकार वह पुस्तक, वस्त्र या छाता-वह व्यक्ति-मिट नहीं जाता उसी प्रकार आत्मा की अवस्था में-उसके भावों में परिवर्तन होता है उससे वह आत्मा (वह व्यक्ति) मिट नहीं जाता। जिस प्रकार मनुष्य के अथवा हाथी, घोड़े के शरीर में परिवर्तन होन पर भी वह मनुष्य अथवा हाथी या घोड़ा (वह व्यक्ति) मिट नहीं जाता परन्तु वह मनुष्य ही अथवा हाथी, घोड़ा ही दुबला-मोटा हुआ है या दूसर रूप स उसमें परिवर्तन हुआ है ऐसा कहा जाता है, उसी प्रकार आत्मा में भिन्न भिन्न परिणाम होते रहने से आत्मा आत्मरूप से मिट नहीं जाता। य सब परिवर्तन, परिणाम अथवा पर्याय आत्मा क ही होने से उन सब में आत्मा आत्मरूप स अखण्ड बना रहता है। सुवर्ण का धुंधला पड़ना अथवा उजला होना-एस सामान्य परिवर्तन की बात तो दूर रही, परन्तु कुण्डल, कण्ठी, कड़ा, करधौनी

आदि उसके भिन्न भिन्न रूपान्तर भी उसी (सुवर्ण) के ही हैं। उसके इन सब रूपान्तरों में, उसके इन सब भिन्न-भिन्न आकाररूप पर्यायों में वह बराबर अनुस्यूत (अनुगत) रहता है। इसी प्रकार आत्मा के एक ही जन्म की नहीं, अपितु भिन्न भिन्न जन्मों की विविध अवस्थाओं में भी आत्मा व्यक्तिरूप से अखण्ड बना रहता है। और ऐसा होने पर ही उसके एक जन्म में किए हुए सुकृत-दुष्कृत के अच्छे-बुरे फल समय आने पर उसी जन्म में अथवा दूसरे जन्म में अथवा बहुत जन्मों के बाद किसी भी भव में उसे मिल सकते हैं, तभी उसके कृत्यों का उत्तरदायित्व स्थिर रह सकता है और तभी उसका क्रमिक (जन्म—जन्मान्तरों में क्रमशः होनेवाला) विकास संचित हो सकता है तथा उसकी अनेक जन्मों में क्रमशः होनेवाली साधना के बढ़ते जाते उत्कर्ष के संचय के समुचितपरिणामस्वरूप किसी जन्म में वह कल्याण की उन्नत भूमि पर आरूढ़ हो सकता है।

किन्तु आत्मा को सदा स्थायी, एक, नित्य, अखण्ड द्रव्य मानने के बदले केवल क्षणक्षण के पर्याय ही मानें तो ऐसा होगा कि एक क्षण के पर्याय ने जो कार्य किया था उसका फल दूसरे क्षण के पर्याय को ही मिलेगा, अर्थात् जिसने किया था उसे नहीं मिलने का और जिसने नहीं किया था उसे मिलने का! यह कितनी विसंगति है!

इन दोषों को 'कृतनाश' और 'अकृतागम' कहा जाता है। (कृतनाश का अर्थ है जिसने जो किया हो उसका फल उसे न मिलना और 'अकृतागम' का अर्थ है जिसने जो किया नहीं है उसका फल उसे मिलना।)

इस तरह एकान्त क्षणिकवाद में भी सुख दुःखभोग, पुण्य–पाप और बन्ध–मोक्ष की उपपत्ति अशक्य बन जाती है।

मतलब कि चेतन आत्मतत्त्व यद्यपि नित्य है फिर भी उसे एकान्त नित्य न मान कर, परिणामी होने से उसे उस रूप से अनित्य भी मानना चाहिए। इसी प्रकार घट जैसे स्पष्ट अनित्य दिखाई देनेवाले अचेतन जड़ पदार्थों के मृत्तिका आदि मूल द्रव्य स्थायी हैं इसलिये मूल द्रव्य की अपेक्षा से उन्हें नित्य भी मानना चाहिए। इस तरह नित्यानित्यवाद युक्तियुक्त है।

---

१ 'जीवा णं भंते! किं सासया, असासया? गोयमा! जीवा सिय सासया सिय असासया। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ × × ? गोयमा! दव्वट्ठयाए सासया भावट्ठयाए असासया।'

—भगवतीसूत्र शतक ७ उद्देश २.

इस पाठ में भिन्न भिन्न नय की अपेक्षा से जीव का शाश्वतत्व और अशाश्वतत्व दोनों बतलाया है।

स्यानानित्यममावोऽस्य कृतनाशाऽकृतागमौ।
न स्वपरव्यापारमात्रो लोकः पाकपुत्रादिवत् ॥ २१ ॥

इस बारे में श्री हेमचन्द्राचार्य उपर्युक्त श्लोकों के अनुसन्धान में व्यावहारिक दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि—

गुडो हि कफहेतुः स्यान्नागरं पित्तकारणम् ।
द्व्यात्मनि न दोषोऽस्ति गुडनागरभेषजे ॥ ६ ॥

अर्थात्—गुड़ कफ़ करनेवाला है और सोंठ पित्तजनक, परन्तु इन दोनों के योग्य मिश्रण में ये दोष नहीं रहते। (इसी प्रकार एकान्त-नित्यवाद अथवा एकान्त-अनित्यवाद सदोष हैं, परन्तु नित्यानित्यवाद निर्दोष है।)

सत् के स्वरूप के बारे में भिन्न भिन्न दर्शनों के भिन्न भिन्न मन्तव्य हैं। वेदान्तदर्शन पूर्ण सत्‌रूप ब्रह्म को केवल ध्रुव (नित्य) ही मानता है। बौद्धदर्शन सत् पदार्थ को सर्वथा (निरन्वय) क्षणिक (मात्र उत्पाद-विनाशशील) मानता है। सांख्यदर्शन चेतनतत्त्वरूप सत् को केवल ध्रुव (कूटस्थ नित्य) और प्रकृतितत्त्वरूप सत् को परिणामी-नित्य (नित्यानित्य) मानता है। नैयायिक-वैशेषिक सत् पदार्थों में से परमाणु, काल, आत्मा आदि कतिपय सत् पदार्थों को कूटस्थनित्य और घट, पट आदि सत् पदार्थों को मात्र

तस्मादुभयहानेन व्यावृत्त्यनुगमात्मकः ।
पुरुषोऽभ्युपगन्तव्य कुण्डलादिषु सर्पवत् ॥ २८ ॥

इत्यादि श्लोक महान् मीमांसक कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्तिक (आत्म०) में हैं और वे आत्मा का नित्यानित्यरूप से प्रतिपादन करते हैं।

अनित्य (मात्र उत्पाद–विनाशशील) मानते हैं। परन्तु जैन दर्शन का मन्तव्य ऐसा है कि चेतन या जड़, मूर्त या अमूर्त, स्थूल या सूक्ष्म सब सत् कहे जानेवाले पदार्थ उत्पाद, नाश और ध्रौव्य इस प्रकार त्रयात्मक हैं।

ऊपर हम कह चुके हैं कि प्रत्येक वस्तु में एक अंश ऐसा है जो सदा शाश्वत रहता है और दूसरा अंश अशाश्वत। शाश्वत अंश की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु ध्रौव्यात्मक (स्थिर) है और अशाश्वत अंश की अपेक्षा से प्रत्येक वस्तु उत्पाद व्ययात्मक (अस्थिर) कहलाती है। इन दो अंशों में से किसी एक ही अंश की ओर दृष्टि जाने से वस्तु केवल अस्थिररूप अथवा स्थिररूप प्रतीत होती है, परन्तु दोनों अंशो की ओर दृष्टि डालने से वस्तु का पूर्ण और यथार्थ स्वरूप ज्ञात हो सकता है। अतः इन दोनों दृष्टियों के अनुसार ही जैनदर्शन सत्-वस्तु को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इस प्रकार त्रयात्मक बतलाता है—एक (अस्थिरगोचर) दृष्टि के हिसाब से उत्पाद-नाशरूप और दूसरी (स्थिरगोचर) दृष्टि के हिसाब से ध्रौव्यरूप।

यदि सब पदार्थ केवल क्षणिक ही हों तो प्रत्येक क्षण में नया नया पदार्थ उत्पन्न और नष्ट होने से तथा उनका कोई स्थायी (अनुस्यूत) आधार न होने से उस क्षणिक परिणामपरम्परा में सजातीयताका अनुभव कभी

भी शक्य नहीं होगा। अर्थात् पहले कभी देखी हुई वस्तु को पुनः देखने पर 'यह वही वस्तु है' ऐसा जो प्रत्यभिज्ञान होता है वह किसी भी तरह शक्य नहीं होगा, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान के लिये उसकी विषयभूत वस्तु और द्रष्टा दोनों का स्थिरत्व आवश्यक है।

एकान्त क्षणिकवाद में स्मृति ही नहीं बन सकती, क्योंकि जिस क्षणपर्याय ने अनुभव किया वह तो निरन्वय नष्ट हो गया। अतः उसके द्वारा अनुभूत वस्तु का स्मरण दूसरा क्षणपर्याय किस तरह कर सकता है? अनुभव करनेवाला एक और स्मरण करनेवाला दूसरा ऐसा नहीं हो सकता। स्मृति और प्रत्यभिज्ञान अशक्य बनने से जगत् के परस्पर के लेन-देन के व्यवहारों की ही नहीं, जीवन के समग्र व्यवहारों की उपपत्ति दुर्घट हो जायगी।

इसी प्रकार जड़ अथवा चेतन तत्त्व सिर्फ़ निर्विकार हो तो इन दोनों तत्त्वों के मिश्रणरूप जगत् में प्रतिक्षण मालूम होती रहती विविधता, रूपान्तरदशा कभी भी उत्पन्न नहीं होगी। इसीलिये परिणामी-नित्यवाद को जैनदर्शन युक्ति-संगत मानता है।

वस्तु का सदसद्वाद भी स्याद्वाद है। वस्तु 'सत्' कहलाती है वह किस कारण?—यह विचारना चाहिए।

अपने ही गुणों से—अपने ही धर्मों से प्रत्येक वस्तु सत् हो सकती है, दूसरों के गुणों से नहीं। गुणी अपने गुणों से गुणी है, दूसरों के गुणों से नहीं। धनवान् अपने धन से धनी है, दूसरों के धन से नहीं। पिता अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता है, दूसरों के पुत्र की अपेक्षा से नहीं। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु अपने गुणों की अपेक्षा से—अपने धर्मों की अपेक्षा से सत् है, दूसरों के गुण धर्मों की अपेक्षा से नहीं। दूसरी वस्तु के गुणों से—धर्मों से (दूसरे के स्वरूप से) यदि वस्तु 'सत्' नहीं हो सकती तो फिर कैसी हो सकती है? असत्।

इस तरह अपेक्षादृष्टि से सत् को असत् भी समझा जा सकता है। लेखन अथवा वक्तृत्वशक्ति जिसके पास नहीं है वह ऐसा कहता है कि 'मैं लेखक नहीं हूं' अथवा 'मैं वक्ता नहीं हूँ,' अथवा कोई ऐसा कहता है कि 'मैं वक्ता तो हूँ, परन्तु लेखक नहीं हूं।' ऐसे शब्द प्रयोगों में 'मैं' भी कहा जाता है और साथ ही 'नहीं हूं' भी कहा जाता है; अथवा 'मैं अमुक हूं' भी कहा जाता है और साथ ही 'मैं अमुक नहीं हूं' भी कहा जाता है। और यह युक्त ही है। क्योंकि 'मैं' स्वयं सत् होने पर भी इसमें लेखन अथवा वक्तृत्वशक्ति न होने के कारण उस शक्तिरूप से 'मैं नहीं हूं' अर्थात् 'मैं लेखक अथवा वक्ता रूप में नहीं हूं'; अथवा 'मैं वक्ता हूं', किन्तु इसमें लेखनशक्ति न होने से उस शक्तिरूप से 'मैं नहीं हूं'

अर्थात् 'मैं लेखकरूप से नहीं हूँ'। इस प्रकार के सर्वसुगम उदाहरणों से समझा जा सकता है कि सत् भी अपने में जो सत् नहीं है उसकी अपेक्षा से असत् भी हो सकता है। इस तरह भिन्न भिन्न दृष्टिबिन्दुओं की अपेक्षा से एक ही वस्तु में सत्त्व और असत्त्व का स्याद्वाद घट सकता है।

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से विचार करने पर घट (और सब पदार्थ) अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से सत् है और दूसरों के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से असत् है। जैसे कि काशी में, शीतकाल में उत्पन्न मिट्टी का काला घड़ा द्रव्य से मिट्टी का है अर्थात् मृत्तिकारूप है, परन्तु जलादिरूप नहीं है; क्षेत्र से काशी में बना हुआ है, दूसरे क्षेत्र का नहीं है; काल की अपेक्षा से शीतकाल में बना हुआ है, परन्तु दूसरी ऋतु का नहीं है; भाव की अपेक्षा से श्याम वर्ण का है, अन्य वर्ण का नहीं है।

विशेषरूप से देखने पर स्व-द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल और स्व-भाव से द्रव्य सत् है और पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल और पर-भाव से असत् है। सो इस तरह—

ज्ञानादिगुणरूप जीव अपने जीवद्रव्यरूप से 'है' (अस्ति), जड़द्रव्य के रूप से 'नहीं है' (नास्ति)। इसी प्रकार घट अपने घटरूप से है, कपड़े के रूप से नहीं है। हरएक वस्तु स्वद्रव्यरूप से है, परद्रव्यरूप से नहीं है।

द्रव्य के प्रदेशों (परमाणुजैसे अंशों) को 'क्षेत्र' कहते हैं। घट के अवयव घट का क्षेत्र है। यद्यपि व्यवहार में आधार की जगह को क्षेत्र कहते हैं, किन्तु यह वास्तविक क्षेत्र नहीं है। जैसे 'दावात में स्याही है'। यहाँ पर व्यवहार से स्याही का क्षेत्र दावात कहा जाता है, लेकिन वास्तव में स्याही और दावात का क्षेत्र जुदा जुदा है। यदि दावात कांच की है तो जिस जगह कांच है उस जगह स्याही नहीं है और जिस जगह स्याही है उस जगह कांच नहीं है। यद्यपि कांच ने स्याही को चारों ओर से घेर रखा है, फिर भी दोनों अपनी अपनी जगह पर हैं। स्याही के प्रदेश–अवयव ही उसका [स्याही का] क्षेत्र है। जीव और आकाश एक ही जगह रहते हैं, परन्तु दोनों का क्षेत्र एक नहीं है। जीव के प्रदेश जीव का क्षेत्र है और आकाश के प्रदेश आकाश का क्षेत्र है।

वस्तु के परिणमन को 'काल' कहते हैं। जिस द्रव्य का जो परिणमन है वही उसका काल है। प्रातः, सन्ध्या आदि काल भी वस्तुओं के परिणमनरूप हैं। एक साथ अनेक वस्तुओं के अनेक परिणमन हो सकते हैं परन्तु उनका काल एक नहीं हो सकता, क्योंकि उनके परिणमन पृथक् पृथक् हैं। घड़ी, घण्टा, मिनट आदि में भी काल का व्यवहार होता है परन्तु यह स्व-काल नहीं है। व्यवहार चलाने के लिए घड़ी, घण्टा आदि की कल्पना की गई है।

वस्तु के गुण—शक्ति—परिणाम को 'भाव' कहते हैं। प्रत्येक वस्तु का 'भाव' ['स्व-भाव'] जुदा जुदा होता है। एकाधिक वस्तुएँ बिल्कुल समान हों तो उनके स्व-भाव परस्पर समान या सदृश कहे जा सकते हैं, किन्तु एक नहीं कहे जा सकते; क्योंकि एक द्रव्य की गुण-व्यक्ति दूसरे में नहीं होती।

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु स्व-द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल और स्व-भाव की अपेक्षा से 'सत्' (अस्ति) है और वही वस्तु पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल और पर-भाव की अपेक्षा से असत् (नास्ति) है। इस तरह वस्तु अथवा व्यक्ति की 'क्या है' और 'क्या नहीं है' इस प्रकार जब दोनों तरीकों से जाँच की जाती है तब उसका स्वरूप बराबर निर्णीत हो सकता है। अतः वस्तु सत्—असत् उभयात्मक सिद्ध होती है।

घट यदि स्व रूप (अपने रूप) से भी सत् न हो तो वह सर्वथा असत् बन जायगा और स्व-रूप (अपने स्वरूप) के अतिरिक्त दूसरे के (पट आदि चीज़ों के) स्वरूप से भी सत् हो तो घट-पटादि सब सर्वद्रव्यरूप बन जाएँगे। इसी प्रकार चेतन आत्मा अपने स्वरूप से सत् है, परन्तु यदि अचेतन द्रव्यरूप से भी सत् बनने लगे तो? तब तो चेतन आत्मा का विशिष्ट स्वरूप ही रहने न पाए। यहाँ पर यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि प्रत्येक वस्तु का—प्रत्येक

व्यक्ति का अपना निजी द्रव्यादि स्वरूप ही उसका विशिष्ट स्वरूप है। सर्वथा समान वस्तुओं में भी प्रत्येक वस्तु व्यक्ति का अपना अपना व्यक्तित्व, अपना अपना विशिष्ट स्वरूप भिन्न भिन्न ही होता है। इस प्रकार अपने विशिष्ट स्वरूप से ही प्रत्येक वस्तु सत् और पररूप से असत् है। इस तरह अमुक अपेक्षा से सत्त्व और अमुक अपेक्षा से असत्त्व ये दोनों धर्म चेतन-अचेतन प्रत्येक वस्तु में प्राप्त होते हैं।

स्याद्वाद का एक और उदाहरण देखें। वस्तुमात्र में समान धर्म और विशेष धर्म रहे हुए हैं। भिन्न भिन्न घोड़ों में 'घोड़ा' 'घोड़ा' ऐसी जो एकाकार (एक जैसी) बुद्धि उत्पन्न होती है वही सूचित करती है कि सब घोड़ों में समान धर्म-सामान्य तत्त्व-समानता-एकरूपता है। परन्तु अनेक घोड़ों में से अपना घोड़ा अथवा अमुक घोड़ा जो पहचान लिया जाता है इस पर से सभी घोड़े एक दूसरे से विशेषता-भिन्नता-पृथक्तावाले भी सिद्ध होते हैं। इस तरह सभी वस्तुएँ सामान्य विशेष स्वरूपवाली समझी जा सकती हैं। वस्तु का यह सामान्य विशेष स्वरूप परस्पर सापेक्ष है। इस तरह प्रत्येक वस्तु को सामान्य विशेष उभयरूप समझना अनेकान्तदर्शन है।

सामान्य दो प्रकार का है: तिर्यक्सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य। भिन्न भिन्न अश्वों में 'अश्व' 'अश्व' ऐसी जो एकाकार

प्रतीति होती है वह अश्वत्व रूप धर्म को लेकर। यह अश्वत्व, जोकि सब अश्वों का एक सामान्य स्वरूप है, 'तिर्यक्सामान्य' है। और एक ही व्यक्ति अथवा पदार्थ में निरन्तर परिवर्तमान पर्यायों में जो सामान्य तत्त्व अनुगत (अनुस्यूत) होता है वह 'ऊर्ध्वतासामान्य' है; जैसे कि सुवर्ण के बने हुए कटक, कुण्डल, कंकण आदि भिन्न भिन्न आकार के पदार्थों में अनुगत सुवर्ण 'ऊर्ध्वतासामान्य' है। इसी प्रकार एक ही मनुष्य-व्यक्ति बालक, कुमार, प्रौढ, वृद्ध आदि अवस्थाओंमें से गुजरता है, फिर भी हमें वह व्यक्ति वही का वही है ऐसा जो सामान्य तत्त्व का भान होता है वह ऊर्ध्वतासामान्य है।

विशेष दो प्रकार का है : गुण और पर्याय। इसके बारे में भी ज़रा विस्तार से देखें—

कोई पुद्गल रूप [रूप, रस, गन्ध, स्पर्श] के बिना कभी भी नहीं होता। रूप पुद्गल के साथ सदा सहभावी है। परन्तु सामान्यतः रूप पुद्गल के साथ सदा सहभावी होने पर भी नील, पीत आदि विशेष वर्ण आदि पुद्गल के साथ सदा सहभावी नहीं हैं। नील, पीत आदि पर्याय-परिणाम बदलते रहते हैं। अतः जो सहभावी है उन्हें 'गुण' और जो क्रमभावी (परिवर्तनशील) हैं उन्हें 'पर्याय' कहते हैं।

इसी प्रकार आत्मा का सदा सहभावी स्वरूप चेतना 'गुण' है और उसके 'ज्ञान' 'दर्शन' जैसे विविध उपयोग 'पर्याय' हैं, अथवा सामान्यतः ज्ञान 'गुण' है और उसके विशेष प्रकार 'पर्याय' हैं।

प्रत्येक द्रव्य में शक्तिरूप से अनन्त गुण हैं और वे आश्रयभूत द्रव्य से तथा परस्पर एक दूसरे से अविभाज्य हैं। प्रत्येक गुण शक्ति के भिन्न भिन्न समय में होनेवाले (त्रैकालिक) पर्याय अनन्त हैं। द्रव्य और उसकी अंशभूत शक्तियाँ उत्पन्न तथा नष्ट नहीं होतीं। अतः द्रव्य और उसकी शक्तियाँ नित्य अर्थात् अनादि-अनन्त हैं, जबकि उनके सब पर्याय प्रतिक्षण उत्पन्न तथा नष्ट होने के कारण अनित्य हैं—सादि सान्त हैं, परन्तु व्यक्तिशः, न कि प्रवाह की अपेक्षा से। प्रवाह की अपेक्षा से तो वे भी अनादि अनन्त हैं। द्रव्य में अनन्त शक्ति होने से तज्जन्य पर्याय-प्रवाह भी अनन्त ही एक साथ चालू रहता है। भिन्नभिन्न शक्तिजन्य भिन्नभिन्न पर्याय एक ही समय में एक द्रव्य में मिलते हैं, परन्तु एकशक्तिजन्य भिन्नभिन्नसमयभावी सजातीय पर्याय एक द्रव्य में एक ही समय में नहीं होते। इस तरह एक पुद्गल द्रव्य में रूप, गन्ध आदि भिन्न भिन्न शक्तियों के भिन्न भिन्न पर्याय एक ही समय में

१ 'गुणः सहभावी धर्मः × × पर्यायस्तु क्रमभावी।'
वादिदेवसूरिकृत प्रमाणनयतत्त्वालोक ५. ७-८

होते हैं, परन्तु एक रूप-शक्ति के नील, पीत आदि विविध पर्याय एक ही समय में नहीं होते। इसी प्रकार आत्मा में चेतना, सुख, वीर्य आदि शक्तियों के भिन्न भिन्न विविध पर्याय एक समय में होते हैं, परन्तु एक चेतनाशक्ति के विविध उपयोग-पर्याय तथा दूसरी शक्तियों के दूसरे विविध पर्याय एक समय में नहीं होते; क्योंकि प्रत्येक शक्ति का एक द्रव्य में एक समय में एक ही पर्याय व्यक्त होता है।

'स्याद्वाद' शब्द 'स्यात्' और 'वाद' इन दो से बना है। 'स्यात्' अर्थात् अमुक अपेक्षा से–अमुक दृष्टिकोण से। वह (स्यात्) यहाँ पर अव्यय है और अनेकान्त का सूचक है। अतः अनेकान्तरूप से कथन यह अर्थ स्याद्वाद का हुआ। इसीलिये 'स्याद्वाद' का दूसरा नाम 'अनेकान्त-वाद' भी है। 'अनेकान्त' शब्द में 'अनेक' और 'अन्त' ऐसे दो शब्द हैं। इनमें से 'अन्त' का अर्थ यहाँ पर धर्म, दृष्टि, दिशा, अपेक्षा—ऐसा करने का है।

---

१. 'स्याद्' इत्यव्ययमनेकान्तद्योतकम्। ततः 'स्याद्वादः'–अनेकान्तवादः, नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्त्वभ्युपगम इति यावत्।

—हेमचन्द्र, सिद्धहेमशब्दानुशासन, दूसरा सूत्र.

अर्थात्—'स्यात्' यह अव्यय है और वह अनेकान्त अर्थ का द्योतक है। अतः स्याद्वाद यानी अनेकान्तवाद अर्थात् नित्य–अनित्यादि-अनेकधर्मात्मक वस्तु का स्वीकार।

इस पर से अनेकान्तवाद का अर्थ अनेक दृष्टियों से, विविध दिशाओं से, भिन्न भिन्न अपेक्षा से (वस्तु का) अवलोकन अथवा कथन करना होता है। इस तरह 'स्याद्वाद' और 'अनेकान्तवाद' ये दोनों शब्द एकार्थक हैं। इस प्रकार अनेकान्तवाद का अर्थ अथवा उसका रहस्य उसके नाम पर से ही झलक रहा है। एक ही दृष्टि से, एक ही तरफ से वस्तु को देखना इस एकान्तदृष्टि कहते हैं और इसीलिये यह अपूर्ण दृष्टि है; जबकि अनेक दिशाओं से, भिन्न भिन्न दृष्टिबिन्दुओं से वस्तु का अवलोकन करनेवाली दृष्टि अनेकान्तदृष्टि है। अतः यह विशाल और व्यापक दृष्टि है। इससे वस्तु का यथार्थ स्वरूप ज्ञात होता है।

जिस प्रकार हाथी के सिर्फ एक एक अवयव का ही स्पर्श करने से हाथी का यथार्थ स्वरूप ज्ञात नहीं हो सकता, उसी प्रकार वस्तु के सिर्फ एक एक अंश का ही स्पर्श करने से उसका यथार्थ स्वरूप अवगत नहीं हो सकता। हाथी का स्वरूप जानने के लिये उसके मुख्य मुख्य सभी अंगों का स्पर्श करना आवश्यक है, उसी प्रकार वस्तु की यथार्थ पहचान के लिये उसके सम्भवित एवं यथार्थ सभी स्वरूप जानने चाहिए। एक ओर चाँदी और दूसरी ओर सोने से मढ़ी हुई ढाल को चाँदीवाली दिशा की ओर से देखनेवाला चाँदी की और सोनेवाली दिशा की ओर से देखनेवाला सोने की यदि कहे तो वह पूर्ण सत्य नहीं है,

किन्तु यथास्थित रूप से अंशतः चाँदी की और अंशतः सोने की कहने में ही पूर्ण सत्य है, उसी तरह वस्तु का स्वरूप जैसा हो वैसा समझना और कहना यह यथार्थ ज्ञान और यथार्थ कथन कहा जाता है। यह एक तरफ़ से देखनेवाली एकान्तदृष्टि से नहीं हो सकता, किन्तु अनेक तरफ़ से देखनेवाली अनेकान्तदृष्टि से ही हो सकता है। अनेकान्तदृष्टि वस्तु के अनेक धर्मों को देखती है, भिन्न भिन्न अपेक्षा से वस्तु के सम्भवित अनेक धर्मों का वह अवलोकन कर सकती है और इससे अर्थात् वस्तु को अनेक दिशाओं से जाँचने से वस्तु के स्वरूप की यथायोग्य स्पष्टता हो सकती है। ऐसी दृष्टिवाला मनुष्य दूसरे मनुष्य का दृष्टिबिन्दु और उसकी अपेक्षादृष्टि समझ सकता है, उसकी वह परीक्षा कर सकता है और यदि वह अबाधित हो तो उसका समन्वय करने का वह प्रयत्न कर सकता है। विविध दृष्टिबिन्दुओं द्वारा शक्य समन्वय करके भिन्न अथवा विरुद्ध दिखाई देनेवाले मतों का समुचित सामंजस्य स्थापित करना यह अनेकान्तदृष्टि का स्वरूप है। इस पर से इस दृष्टि की व्यापकता, महत्ता और उपयोगिता समझी जा सकती है। इस उदार दृष्टि के पवित्र बल से ही मतसंघर्षजन्य कोलाहल शान्त होकर मानवसमाज में परस्पर समभाव बढ़ता है। इस समभाव अथवा साम्य का प्रचार ही अनेकान्तवाद का उद्देश है। अतः इस सब का निष्कर्ष यही निकलता है कि

अनेकान्तवाद समन्वयवाद है और उसमें से उत्पन्न होनेवाला जो कल्याणमूल फल वह साम्यवाद अर्थात् समभाव है। इस समभाव में से व्यापक मैत्रीभाव फलित होने पर मनुष्यभूमि कल्याणभूमि बन सकती है।

स्याद्वाद के बारे में कुछ लोगों का ऐसा कहना है कि वह निश्चयवाद नहीं है, किन्तु संशयवाद है; अर्थात् एक ही वस्तु को नित्य भी मानना और अनित्य भी मानना, अथवा एक ही वस्तु को सत् भी मानना और असत् भी मानना संशयवाद नहीं तो और क्या है? परन्तु यह कथन अयुक्त है ऐसा अबतक के विवेचन पर से माना जा सकता है। जो संशय के स्वरूप को जानता है[1] वह इस स्याद्वाद को संशयवाद कहने का साहस कभी नहीं कर सकता। सच में

---

1 गुजरात के प्रसिद्ध विद्वान् श्री आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव स्याद्वाद सिद्धान्त के बारे में अपना अभिप्राय देते हुए कहते थे कि स्याद्वाद सिद्धान्तों का अवलोकन कर के उनका समन्वय करने के लिये स्थापित किया गया है। स्याद्वाद एकीकरण का दृष्टिबिन्दु हमारी समक्ष उपस्थित करता है। शंकराचार्य ने स्याद्वाद के ऊपर जो आक्षेप किया है उसका मूल रहस्य के साथ सम्बन्ध नहीं है। यह निश्चित है कि विविध दृष्टिबिन्दुओं द्वारा निरीक्षण किए बिना कोई भी वस्तु पूर्णरूप से समझमें नहीं आ सकती। इसलिये स्याद्वाद का सिद्धान्त उपयोगी एवं सार्थक है। महावीर के सिद्धान्त में बताए गये स्याद्वाद को कुछ लोग संशयवाद कहते हैं परन्तु मैं यह नहीं मानता। स्याद्वाद संशयवाद नहीं है यह तो वस्तुदर्शन की व्यापक कला हमें सिखाता है।

काली रस्सी पर दृष्टि पड़ने पर 'यह सर्प है या रस्सी' ऐसा सन्देह होता है। दूर से पेड़ के तनेको देखने पर 'यह पेड़ होगा या मनुष्य' ऐसा सन्देह पैदा होता है। इस प्रकार के सन्देह के अनेक उदाहरण प्रसिद्ध हैं। उक्त संशय में सर्प और रस्सी, अथवा तना या मनुष्य इन दोनों वस्तुओं में से एक भी वस्तु निश्चित नहीं होती। एक से अधिक वस्तुओं की ओर दोलायमान बुद्धि जब किसी एक वस्तु को निश्चयात्मक रूप से समझने में असमर्थ होती है तब संशय होता है। संशय का ऐसा स्वरूप स्याद्वाद में नहीं बतलाया जा सकता। स्याद्वाद तो एक ही वस्तु को भिन्न भिन्न अपेक्षादृष्टि से देखने को, अनेकांगी अवलोकन द्वारा निर्णय करने को कहता है। विभिन्न दृष्टिबिन्दुओं से देखने पर समझ में आता है कि एक ही वस्तु अमुक अपेक्षा से 'अस्ति' है यह निश्चित बात है और दूसरी दृष्टि द्वारा 'नास्ति' है यह भी निश्चित बात है। इसी भाँति एक ही वस्तु एक दृष्टि से नित्य रूप से भी निश्चित है और दूसरी दृष्टि से अनित्य रूप से भी निश्चित

[यह उल्लेख 'जैनेतर दृष्टिए जैन' नामक गुजराती पुस्तक में प्रगट हुआ है।]

काशी के स्वर्गत महामहोपाध्याय श्रीरामिश्र शास्त्री ने अपने 'सुजन-सम्मेलन' नामक व्याख्यान में स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद की युक्तियुक्तता और उपयोगिता उपपत्तिपुरस्सर बतलाई है। उनका यह व्याख्यान स्वतन्त्र पुस्तिका रूप से भी प्रगट हुआ है।

है। इस तरह एक ही पदार्थ में भिन्न भिन्न अपेक्षादृष्टि से भिन्न भिन्न धर्म (विरुद्ध जैसे प्रतीत होनेवाले धर्म भी) यदि संभव प्रतीत होते हों तो उनके प्रामाणिक स्वीकार को, जिसे स्याद्वाद कहते हैं, संशयवाद नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः स्याद्वाद संशयवाद नहीं, किन्तु सापेक्ष निश्चयवाद है।

'स्यादस्त्येव घटः', 'स्यान्नास्त्येव घटः'।

'स्यान्नित्य एव घटः', 'स्यादनित्य एव घटः'।

ऐसे स्याद्वाद के निश्चयद्योतक 'एव' कार से युक्त वाक्यों का—अमुक अपेक्षा से घट सत् ही है और अमुक अपेक्षा से घट असत् ही है, अमुक अपेक्षा से घट अनित्य ही है और अमुक अपेक्षा से घट नित्य ही है—ऐसा निश्चयात्मक अर्थ समझने का है। 'स्यात्' शब्द का अर्थ 'शायद' अथवा ऐसे ही किसी संशयदर्शक शब्द से करने का नहीं है। निश्चयरूप में संशयसूचक शब्द का काम ही क्या? घट को घटरूप से मानना जितना निश्चयरूप है उतना ही निश्चयरूप घट को भिन्न भिन्न अपेक्षादृष्टि से अनित्य और नित्य समझना भी है। इस पर से स्याद्वाद को अव्यवस्थित अथवा अस्थिर सिद्धान्त भी नहीं कह सकते[1]।

---

१ इस संबन्ध में विद्वान अभ्यासी को विदित है कि भारतीय प्राचीन अन्यान्य दर्शनोंने भी अनेकान्तदृष्टि का अनुसरण किया है। इसी को रामानुजाचार्य व मिश्र और वार्तिककार के अभिमत भाष्यकारों तथा इत्यादि

सप्तभङ्गी

हम ऊपर देख चुके हैं कि स्याद्वाद अथवा अनेकान्त-दर्शन एक ही वस्तु में भिन्न भिन्न दृष्टि से अस्तित्व-नास्तित्व,

---

पृथिवीत्व आदि धर्मों का सामान्य-विशेष रूप से स्वीकार करनेवाले नैयायिक तथा वैशेषिक दर्शन ने स्याद्वाददृष्टि ग्रहण की है। और

इच्छन् प्रधानं सत्त्वाद्यैर्विरुद्धैर्गुम्फितं गुणैः।
सांख्यः संख्यावतां मुख्यो नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥

—हेमचन्द्र, वीतरागस्तोत्र।

अर्थात्—सत्त्व, रज और तम इन परस्पर विरुद्ध तीन गुणों से युक्त प्रकृति के स्वीकार में सांख्यदर्शन ने स्याद्वाद को मान्य रखा है।

तथा

'एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः।'

पातजल योगदर्शन के तृतीय पाद के इस १३ वें सूत्र से एक ही वस्तु में भिन्न भिन्न धर्मों, लक्षणों और अवस्थाओं के परिणामों की सूचना करता हुआ योगदर्शन स्याद्वाद का ही चित्र उपस्थित करता है।

तथा

जातिव्यक्त्यात्मकं वस्तु वदन्ननुभवोचितम्।
भट्टो वाऽपि मुरारिर्वा नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥ ४९ ॥

—यशोविजयजीकृत अध्यात्मोपनिषद्, प्रथम अधिकार।

अर्थात्—जाति और व्यक्ति उभयरूप से वस्तु को अनुभवोचित कहनेवाले कुमारिल भट्ट अथवा मुरारि मिश्र स्याद्वाद का ही आदर करते हैं।

५२२-३ वें पन्ने में कुमारिल भट्ट का अनेकान्तदर्शन बतलाया है। तथा

अबद्धं परमार्थेन बद्धं च व्यवहारतः।
ब्रुवाणो ब्रह्म वेदान्ती नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥ ५० ॥

—यशोविजयजीकृत अध्यात्मोपनिषद्, प्रथम अधिकार।

नित्यत्व-अनित्यत्व आदि अनेक धर्मों का समन्वय करता है। इस परसे समझा जा सकता है कि वस्तुस्वरूप जिस

अर्थात्—आत्मा को व्यवहार से बद्ध और परमार्थ से अबद्ध माननेवाला जैनमती स्याद्वाद को मान्य रखता है।

सादे उदाहरण लेकर भी देखें—

कस्यचित् गुणकृत् दुग्धं दोषकारि च कस्यचित्।
एकस्यापि दशाभेदे, स्याद्वादोऽयं प्रकाशते॥

एकोऽर्थं उपयोगी चानुपयोगी च जायते।
अवस्थाभेदमाश्रित्य स्याद्वादोऽयं प्रकाशते॥

एकमेव भवेद् वस्तु हानिकृल्लाभकारि च।
अवस्थाभेदमाश्रित्य, स्याद्वादोऽयं प्रकाशते॥

—लेखक न्यायविजय

अर्थात्—दूध किसी को गुणकारी तो किसी को दोषकारी होता है। इतना ही नहीं, एक ही मनुष्य को एक समय या एक अवस्था में गुणकारी तो दूसरे समय या दूसरी अवस्था में दोषकारी होता है। एक ही पदार्थ एक ही मनुष्य को एक समय उपयोगी होता है और दूसरे समय अनुपयोगी होता है। एक ही वस्तु एक ही मनुष्य को एक अवस्था में लाभकर होती है तो दूसरी अवस्था में हानिकर होती है। स्याद्वाद के ये सब सरल निदर्शन हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि दूध गुणकर है अथवा हानिकर? किसी के ऐसे प्रश्न का उत्तर 'गुणकर है' ऐसा एकान्तरूप से कैसे दिया जा सकता है? और 'हानिकर है' ऐसा भी एकान्तरूप से नहीं दिया जा सकता। अतः अलग अलग अपेक्षाओं को ख्याल में रखकर 'गुणकारी भी है और हानिकर भी है' इस तरह कहना योग्य समझा जायगा। हाँ, विशिष्ट अवस्था अथवा अवसर को लक्ष्य में रखकर कहना हो तो वह अवस्था अथवा अवसर के अनुरूप जैसा हो वैसा कहना चाहिए।

प्रकार का हो उस तरह उसकी विवेचना करनी चाहिए। वस्तुस्वरूप की जिज्ञासावाले किसी ने प्रश्न पूछा कि 'घड़ा अनित्य है ?' तो इसके उत्तर में यदि ऐसा ही कहा जाय कि 'हाँ, घड़ा अनित्य ही है', तो यह कथन या तो यथार्थ नहीं है या फिर अपूर्ण है; क्योंकि यह कथन यदि सम्पूर्ण विचारदृष्टि के परिणामस्वरूप कहा गया हो तो वह यथार्थ नहीं है। क्योंकि घड़ा (कोई भी वस्तु) सम्पूर्ण दृष्टि से विचार करने पर अनित्य होने के साथ ही साथ नित्य भी सिद्ध होता है। और यदि यह कथन अमुक दृष्टि से कहा गया हो तो इस वाक्य में 'यह कथन अमुक दृष्टि से है' ऐसा सूचन करनेवाला कोई शब्द रखना चाहिए। इसके विना यह उत्तर अधूरा सा लगेगा। इस पर से समझा जा सकता है कि यदि वस्तु का कोई भी धर्म बतलाना हो तो इस तरह बतलाना चाहिए जिससे दूसरा धर्म अथवा उसका प्रतिपक्ष धर्म, जो उसमें सम्भव हो उसका अस्तित्व उस वस्तु में से हटने न पाए। मतलब कि किसी भी वस्तु को जब हम नित्य बतला रहे हों तब उसमें ऐसा कोई शब्द रखना चाहिए जिससे उस वस्तु में रहे हुए अनित्य धर्म का अभाव सूचित न होने पाए। इसी तरह किसी भी वस्तु को अनित्य बतलाते समय उसमें ऐसा कोई शब्द रखना चाहिए जिससे उस वस्तु में रहे हुए नित्यत्व धर्म का अभाव सूचित न हो। इसी तरह वस्तु को सत्, असत् आदि रूप से

बतलाते समय भी समझना। ऐसा शब्द संस्कृत भाषा में 'स्यात्' है। 'स्यात्' शब्द का अर्थ, ऊपर कहा उस तरह, 'अमुक अपेक्षा से' होता है। 'स्यात्' शब्द अथवा उसी अर्थवाला संस्कृत भाषा का 'कथंचित्' शब्द अथवा 'अमुक अपेक्षा से'—इस तरह की आयोजना कर के 'स्यात् अनित्य एव घटः' [अमुक अपेक्षा से घट अनित्य ही है] ऐसा कथन करने से घट में अपेक्षान्तर से प्राप्त होनेवाले नित्यत्व धर्म को बाध नहीं आता।

यह तात्त्विक निरूपण है। व्यवहार में इस शब्द का प्रयोग होता भी नहीं और किया भी नहीं जा सकता। व्यवहार तो 'नयवाद' है। वह तो जिस प्रकार होता हो उसी प्रकार होगा। जो बात विवक्षित हो उसी के निर्देश, उल्लेख अथवा वाणीप्रयोग से बात की जायगी। यह तो सिर्फ वस्तुस्वरूप की तात्त्विक दृष्टि व्युत्पन्न के ख्याल में लाई जाती है।

हम किसी भी प्रश्न के उत्तर में या तो 'हाँ' (हकारात्मक) कहते हैं या 'ना' (नकारात्मक) कहते हैं। अतः हम हाँ और ना को लेकर सप्तभंगी की योजना हुई है। उत्तर देने के जितने तरीके हैं उन्हें 'भंग' कहते हैं। ऐसे तरीके सात हो सकते हैं। अतः सात भंगों या प्रकारों के समूह को 'सप्तभंगी' कहते हैं। शास्त्रीय परिभाषा के

अनुसार कहना हो तो ऐसा कह सकते हैं कि प्रश्न के अनुरूप एक वस्तु में एकएकधर्मविषयक विधि और निषेध की विरोधरहित कल्पना सप्तभंगी है। प्रश्न सात प्रकार के हो सकते हैं। अतः सप्तभंगी कही गई है। सात प्रकार के प्रश्नों का कारण सात प्रकार की जिज्ञासा है, सात प्रकार की जिज्ञासा का कारण सात प्रकार का संशय है और सात प्रकार के संशय का कारण यह है कि उसके विषयभूत वस्तु के धर्म सात प्रकार के हैं।

इस पर से ज्ञात होता है कि सप्तभंगी के सात भंग केवल शाब्दिक कल्पना ही नहीं हैं, परन्तु वस्तु के धर्म पर वे अवलम्बित हैं। अतः प्रत्येक भंग का स्वरूप वस्तु के धर्म के साथ सम्बद्ध है यह ख्याल में रखना चाहिए।

सात भंग इस प्रकार हैं—

(१) अस्ति (है), (२) नास्ति (नहीं है), (३) अस्ति, नास्ति (है, नहीं है), (४) अवक्तव्य (कहा नहीं जा सकता), (५) अस्ति, अवक्तव्य (६) नास्ति, अवक्तव्य और (७) अस्ति, नास्ति, अवक्तव्य। इन सात भंगों के साथ 'कथंचित्' तो लगा ही है।

शास्त्रीय पद्धति के अनुसार सात भंग इस प्रकार हैं:

प्रथम भंग—प्रथम भंग से वस्तु 'क्या है' यह बतलाया जाता है। वह इस प्रकार है—

वस्तु अस्ति (भावात्मक) ही है, परन्तु कथंचित् अर्थात् अमुक अपेक्षा से, अर्थात् स्व-द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल और स्व भाव से।

द्वितीय भंग—दूसरे भंग से वस्तु 'क्या नहीं है' यह बतलाया जाता है। वह इस तरह—

वस्तु नास्ति (अभावात्मक) ही है, परन्तु कथंचित् अर्थात् अमुक अपेक्षा से, अर्थात् पर-द्रव्य, पर क्षेत्र, पर काल और पर भाव से।

हम पहले बतला चुके हैं कि वस्तु में यदि स्व-द्रव्यादि की अपेक्षा से अस्तित्व मानने में न आए तो वस्तु निःस्वरूप हो जायगी। इसी तरह यदि पर-द्रव्यादि की अपेक्षा से नास्तित्व मानने में न आए तो वस्तुसांकर्य हो जायगा; क्योंकि घट में पटरूप से यदि नास्तित्व न हो तो घट और पट एक ही हो जायँ—एक वस्तु सर्वात्मक बन जाय। ऊपर ऊपर से देखने पर ऐसा मालूम हो सकता है कि स्व सत्त्व ही पर असत्त्व है, परन्तु ऐसा नहीं है। ये दोनों भिन्न भिन्न हैं। जिस तरह स्व रूपेण सत्त्व की अनुभूति होती है उसी तरह पर-रूपेण असत्त्व भी स्वतन्त्ररूप से अनुभूत होता है। इन दोनों भंगों से भिन्न भिन्न प्रकार का ज्ञान होता है। इन दो भंगों में से एक भंग का प्रयोग करने पर दूसरे भंग से पैदा होनेवाला ज्ञान नहीं होता। जैसे कि 'अमुक

मनुष्य बाज़ार में नहीं है ' ऐसा कहने पर यह मालूम नहीं हो सकता कि वह मनुष्य अमुक स्थान पर है। बाज़ार में न होने पर भी वह कहाँ है इस बात की जिज्ञासा तो बनी ही रहती है। इसीलिये 'अस्ति' भंग की आवश्यकता है। व्यवहार में 'अस्ति' भंग का प्रयोग करने पर भी 'नास्ति' भंग के प्रयोग की आवश्यकता पड़ती ही है। 'मेरे हाथ में रुपया है' ऐसा कहना एक बात है और 'मेरे हाथ में अशरफ़ी नहीं है' ऐसा कहना दूसरी बात है। इस तरह दोनों भंगों का प्रयोग आवश्यक है।

तृतीय भंग—तीसरे भंग से वस्तु 'क्या है' और 'क्या नहीं है' यह क्रमशः बतलाया जाता है।

अर्थात् वस्तु में अस्ति एवं नास्ति दोनों सापेक्ष धर्मों का क्रमशः कथन करना तीसरा भंग है।

उपर्युक्त (अस्ति और नास्ति) दो भंग मिलकर तीसरा भंग होता है, फिर भी इसका कार्य उपर्युक्त दोनों भंगों से जुदा है। जो काम इस अस्ति-नास्ति उभयात्मक तीसरे भंग से होता है वह न तो केवल 'अस्ति' ही कर सकता और न केवल 'नास्ति' ही कर सकता है। असंयुक्त उत्तर दूसरी ही बात है। यद्यपि एक और दो मिलकर तीन

होते हैं, फिर भी तीन की संख्या एक और दो से भिन्न मानी गई है।

चतुर्थ भंग—वस्तु अवक्तव्य है।

यह तो सहज ही समझ में आ सके ऐसा है कि वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता की दृष्टि से तो वस्तु अवक्तव्य ही है। परन्तु सप्तभंगी—सातों भंग वस्तु के एक एक धर्म को लेकर चलनेवाले भंग हैं। अतः 'अवक्तव्य' भंग वस्तु के अस्तित्वादि एक एक धर्म को लेकर घटाने का है। सत्-असत् (अस्ति-नास्ति) ऐसे विरोधी धर्मयुगलों की विचारणा करने पर वस्तु सदसत् उभयात्मक है, नित्य अनित्य उभयात्मक है—ऐसा जब कह सकते हैं, इस प्रकार जब वस्तु वक्तव्य हो सकती है तब वह अवक्तव्य कैसे कही जा सकती है?

अस्तित्व-नास्तित्व आदि विरोधी धर्मयुगल एक साथ-युगपत् वचनद्वारा नहीं कहे जा सकते, इस कारण से वस्तु अवक्तव्य बतलाई जाय, परन्तु दो धर्मों की तो बात ही क्या? एक अस्तित्व शब्द भी एक साथ नहीं बोला जा सकता। वह भी 'अ', 'स्', 'त्', 'इ' इस प्रकार क्रम से ही वर्णोच्चार द्वारा बोला जाता है। तो इससे 'अस्तित्व' अथवा 'नास्तित्व' भी क्या अवक्तव्य बन जाय? और

इस तरह एक धर्म भी यदि अवक्तव्य बन जाय तो वस्तु सर्वथा अवक्तव्य ही बनी रहे!

जिस तरह वस्तु का केवल अस्तित्व धर्म बतलाया जा सकता है उसी तरह अस्तित्व–नास्तित्व दोनों धर्म भी यदि बतलाए जा सकते हों तो फिर वस्तु 'अवक्तव्य' कैसे हो सकती है?

वस्तु का अपना 'सत्त्व' इतना अधिक गहरा है, इतना अधिक बृहत्-महत् है तथा उसका 'असत्त्व' भी अन्य समग्र द्रव्यों से व्यावृत्तत्वरूप होने के कारण अतिगम्भीर, बृहत्–महत् है कि उनका यथावत् निरूपण अशक्य है। इसी प्रकार नित्यत्व–अनित्यत्व आदि के बारे में भी समझा जा सकता है। वस्तु का 'अवक्तव्य' प्रकार इस तरह विचारा जा सकता है।

बाकी तो वस्तु में जितने धर्म हैं उतने तो शब्द भी नहीं हैं, और वे सब धर्म हमें ज्ञात भी नहीं होते। परम-ज्ञानी[1] भी उनके ज्ञान में आनेवाले सब धर्म भाषा द्वारा व्यक्त

---

१. पन्नवणिज्जा भावा अणंतभागो उ अणभिलप्पाणं।
पन्नवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुअनिबद्धो॥

—बृहत्कल्पसूत्र, गा ९६२

अर्थात्—कहे जा सकें ऐसे पदार्थ, कहे न जा सकें ऐसे पदार्थों के अनन्तवें भाग जितने हैं, और उन कहे जा सकें ऐसे पदार्थों का अनन्तवाँ भाग श्रुतनिबद्ध है।

नहीं कर सकते। इसीलिये वस्तु कथंचित् अवक्तव्य ही रहती है। इसके बारे में तनिक विशेष देखें—

वस्तु में अपने आप में रहनेवाले धर्म वे 'अस्ति' धर्म और पर वस्तुओं में के धर्मों का अभाव वे 'नास्ति' धर्म। इस प्रकार अस्ति धर्म और नास्ति धर्म प्रत्येक वस्तु में हैं। इन दोनों प्रकारों के धर्म अनन्त हैं। इसीलिए प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक कही जाती है। हम जब वस्तु का वर्णन करने बैठते हैं तब उस वस्तु के कुछ अस्ति धर्मों का उल्लेख करके उसका वर्णन कर सकते हैं—[प्रथम भंग]। अथवा तो उस वस्तु के कुछ नास्ति धर्मों का कथन करके कर सकते हैं—[दूसरा भंग]। अथवा उस वस्तु के कुछ अस्ति धर्मों और कुछ नास्ति धर्मों का कथन करके कर सकते हैं—

मतलब यह है कि वक्तव्य और अवक्तव्य दोनों प्रकार के पदार्थ अनन्त हैं। अनन्तता वक्तव्यों की अपेक्षा अवक्तव्य अनन्तगुण अधिक हैं। वक्तव्य बातें भी सब नहीं कही जा सकतीं। मान लीजिए कि जो बातें बताने जैसी (बताई जा सके ऐसी) हैं, मगर उनमें से बहुत ही अल्प शास्त्र में निबद्ध की जा सकती हैं। बाकी की अकथनीय कोटि में ही पड़ी रहती हैं। तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञ स्वयं भी जितना जानते हैं, समझते हैं उतना सब भाषा में कहने के लिए समर्थ नहीं हो सकते। और जितना वे कहते हैं उतना सब कोई भी विज्ञ श्रोता अपने मन में यथावत् अवधारण नहीं कर सकता; और श्रोता ने अपने मन में जितना अवधारण किया होता है उतना सब दूसरे को न समझा सकता है, न कह सकता है और न बराबर शब्दों में उतार ही सकता है।

[तीसरा भंग]। परन्तु चाहे जिस तरीक़े से वर्णन क्यों न करें, वह वर्णन आंशिक ही होने का, सम्पूर्ण नहीं। क्योंकि अस्ति धर्म और नास्ति धर्म अनन्त होने से उनमें से जिन धर्मों का वर्णन अशक्य है वे तो वाणी द्वारा कहे ही नहीं जा सकते। अतः वे अवक्तव्य ही रहने के। इस तरह वस्तु अंशतः अवक्तव्य भी कही जा सकती है—[चतुर्थ भंग]। सारांश यह कि वस्तु का वर्णन यदि उसके केवल अस्ति-धर्मों को लेकर किया जाय तो भी थोड़े ही अस्ति धर्मों का कथन हो सकेगा और अवशिष्ट सब धर्म अवक्तव्य ही रहेंगे–[पंचम भंग]। वस्तु का वर्णन यदि उसके नास्ति-धर्मों को लेकर किया जाय तो भी वह अमुक ही नास्ति-धर्मों का हो सकेगा, बाक़ीके सब नास्ति धर्म अवक्तव्य ही रहने के–[षष्ठ भंग]। यदि वस्तु के अस्ति धर्म और नास्ति धर्म दोनों प्रकार के धर्मों को लेकर वस्तु का वर्णन किया जाय तो भी उसके कुछ ही अस्ति-धर्म और नास्ति-धर्म कहे जा सकेंगे, बाक़ी के सब अस्ति धर्म और नास्ति-धर्म अवक्तव्य ही रहेंगे—[सप्तम भंग]। इस प्रकार चाहे जिस तरीक़े से वस्तु का वर्णन क्यों न किया जाय, फिर भी वह कभी भी सम्पूर्ण नहीं हो सकेगा, सदा अपूर्ण ही रहने का।

वस्तुस्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार का दीखने से उपनिषदों ने

वस्तु को अनिर्वचनीय कह दिया है। अनिर्वचनीय कहो या अवक्तव्य एक ही बात है। ऋग्वेद का

'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।'

[१ १६४ ४६

यह सूत्र कहता है कि एक ही सत् का विद्वान् कई तरह से वर्णन करते हैं।

इस वैदिक वाक्य में मानवस्वभाव की उस विशेषता का हमें दर्शन मिलता है जो समन्वयशीलता कही जाती है। यही समन्वयशीलता जैनदर्शनसम्मत स्याद्वाद या अनेकान्तवाद है।

वस्तु के जो धर्म हमें अज्ञात हैं उन्हें तो भाषा में उतारने का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। वे तो अवक्तव्य ही रहने के। परन्तु कुछ धर्म ऐसे भी होते हैं जिनका हम अनुभव तो करते हैं, किन्तु भाषा की अपूर्णता के कारण योग्य शब्दों में उन्हें उतार नहीं कर सकते। उदाहरणार्थ, मीठा कैसा है?, घी का स्वाद कैसा है?, कैसी वेदना होती है?—इनका यथोचित उत्तर तो अनुभव करने से ही मिल सकता है, शब्द द्वारा नहीं बताया जा सकता। गुड़, शहद और शक्कर के मीठेपन में जो फ़र्क़ है वह क्या शब्दों से व्यक्त हो सकता है? इसीलिये भी वस्तु अवक्तव्य है।

चौथे भंग में, घट वक्तव्य होने पर भी किसी अपेक्षा से वह 'अवक्तव्य' भी बतलाया जाता है।[1]

इन चार भंगों पर से अवशिष्ट तीन भंग निष्पन्न होते हैं, और वे इस प्रकार हैं:—

वस्तु कथंचित् अवक्तव्य होने पर भी दूसरी दृष्टि से कथंचित् वक्तव्य भी है-[देखो १-२-३ भंग]। अतः जब हम वस्तु की अवक्तव्यता के साथ उसकी वक्तव्यता भी किसी रूप में कहना चाहते हैं तब वक्तव्यरूप तीनों भंग (अस्त, नास्ति और अस्ति-नास्ति) अवक्तव्य के साथ मिल जाते हैं।

अवक्तव्य के साथ 'अस्ति' के मिलने पर 'अस्ति अवक्तव्य' नाम का पंचम भंग बनता है; अर्थात् घट अमुक अपेक्षा से 'अवक्तव्य' होने के साथ 'अस्ति' है। यह हुआ पांचवाँ भंग।

अवक्तव्य के साथ 'नास्ति' लगाने से 'नास्ति अवक्तव्य' नाम का छठा भंग बनता है; अर्थात् घट अमुक अपेक्षा से 'अवक्तव्य' होने के साथ 'नास्ति' है। यह हुआ छठा भंग।

---

1 वस्तुगत अस्तित्व और नास्तित्व जैसे विरोधी धर्मयुगल मुख्यत. एकसाथ (युगपत्) नहीं कहे जा सकते, अत वस्तु अवक्तव्य है— इस तरह चतुर्थ अवक्तव्य भग न्याय-ग्रन्थों में बतलाया है।

अवक्तव्य के साथ 'अस्ति-नास्ति' मिलने पर 'अस्ति-नास्ति अवक्तव्य' नाम का सप्तम भंग बनता है, अर्थात् घट अमुक अपेक्षा से 'अवक्तव्य' होने के साथ 'अस्ति-नास्ति' है। यह हुआ सातवाँ भंग।

वस्तु में अनेक धर्म हैं, अतः वह अनेकान्त अर्थात् अनेकधर्मात्मक कहलाती है। किसी मकान की चारों दिशाओं से यदि उसके चार फोटो लिए जायँ तो वे सब एक-जैसे नहीं होंगे, फिर भी वे एक ही मकान के हैं और एक ही मकान के कहलाएँगे। इसी प्रकार वस्तु भी अनेक दृष्टियों से देखने पर अनेक प्रकार की मालूम होती है। यही कारण है कि वाक्यप्रयोग भी नानाविध बनते हैं। जब हम एक मनुष्य को किसी दूसरे समय उन्नत स्थिति में आया हुआ देखते हैं तब हम ऐसा कहते हैं कि 'यह अब वह नहीं रहा। बड़ा कलाकार अथवा विद्वान् हो गया है।' इस प्रकार भिन्न भिन्न भावों को (अवस्था अथवा धर्म को, उनकी विद्यमानता अथवा अविद्यमानता को) लक्ष्य में रखकर भिन्न भिन्न वाक्यप्रयोग किए जाते हैं और उनमें किसी को विरोध प्रतीत नहीं होता। आम का फल कद्दू की अपेक्षा छोटा और बेर की अपेक्षा बड़ा होता है। इस तरह एक ही वस्तु एक साथ ही छोटी और बड़ी – भिन्न-भिन्न अपेक्षादृष्टि से – कही जाती है और इसमें किसी को भी किसी प्रकार की बाधा अथवा विरोध मालूम नहीं

होता। ठीक यही बात अनेकान्त के बारे में भी है कि एक ही वस्तु को अपेक्षाभेद से 'है' और 'नहीं है' कहा जा सकता है। किन धर्मों में परस्पर विरोध है यह हम पहले से नहीं जान सकते। परन्तु जब हमें यह बात मालूम होती है कि अमुक दो धर्म एक समय में एक स्थान पर नहीं रह सकते तभी उनका परस्पर विरोध जानने में और मानने में आता है। परन्तु यदि दो धर्म एक वस्तु में साथ रह सकते हों तो फिर उनका विरोध कैसा? स्वरूप की अथवा स्व-द्रव्यादिचतुष्टय की अपेक्षा से 'अस्ति' और इसी अपेक्षा से 'नास्ति' यदि माना जाय तो निःसन्देह विरोध की बात होगी। परन्तु स्व-रूप से अथवा स्व-द्रव्यादि-चतुष्टय की अपेक्षा से 'अस्ति' और पर-रूप से अथवा पर-द्रव्यादिचतुष्टय की अपेक्षा से 'नास्ति' ऐसा यदि माना जाय तो फिर विरोध को अवकाश ही कहाँ है? इस तरह 'अस्ति', 'नास्ति' दोनों को एक वस्तु में अपेक्षा-भेद से मानने में विरोध है ही नहीं। और विरोध न होने से ही अनेकान्त के ऊपर किए गए विरोधमूलक आक्षेपों के लिये कोई अवकाश ही नहीं रहता।

विचार करने पर देखा जा सकता है कि सप्तभंगी में मूल भंग तो तीन ही हैं: अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य। अवशिष्ट चार भंग तो इन तीन के ही संयोग से बने हैं।

सप्तभंगी की विवेचना भगवतीसूत्र [१२. १०. ४६९] में भी पाई जाती है।

किसी भी प्रश्न का उत्तर देते समय इन सात भंगों में से किसी न किसी एक भंग का उपयोग करना पड़ता है। प्रस्तुत विषय को सुगमतापूर्वक समझने के लिये हम यहाँ पर एक स्थूल और व्यावहारिक उदाहरण लेकर देखें। किसी मरणासन्न रोगी के बारे में पूछा जाय कि उसकी हालत कैसी है ? तो उसके जवाब में वैद्य अधोलिखित सात उत्तरों में से कोई एक उत्तर देगा—

(१) अच्छी हालत है। (अस्ति)

(२) अच्छी हालत नहीं है। (नास्ति)

(३) कल से तो अच्छी है (अस्ति), परन्तु ऐसी अच्छी नहीं है कि आशा रखी जा सके (नास्ति)। (अस्ति-नास्ति)

(४) अच्छी या बुरी कुछ नहीं कहा जा सकता। (अवक्तव्य)

(५) कल से तो अच्छी है (अस्ति), फिर भी कुछ नहीं कहा जा सकता कि क्या होगा ? (अवक्तव्य)। (अस्ति-अवक्तव्य)

(६) कल से तो अच्छी नहीं है (नास्ति), फिर भी

कहा नहीं जा सकता कि क्या होगा ? (अवक्तव्य)। (नास्ति-अवक्तव्य)

(७) वैसे तो अच्छी नहीं है (नास्ति), परन्तु कल की अपेक्षा तो अच्छी है (अस्ति), तो भी कहा नहीं जा सकता कि क्या होगा ? (अवक्तव्य)। (अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य)

इस सामान्य व्यावहारिक उदाहरण पर से सप्तभंगी का विशद ख्याल आ सकता है। इस तरह सप्तभंगी व्यावहारिक बनती है और घटना, परिस्थिति एवं सिद्धान्त का समुचित विश्लेषण कर सकती है। इस पर से हम यह देख सके हैं कि ये सात भंग (वचनप्रयोग) भिन्न भिन्न अपेक्षा से भिन्न भिन्न बातें बतलाते हैं और इसीलिए इनमें एक-दूसरे से कुछ-न-कुछ विशेषता है।

धार्मिक अथवा आचारसम्बन्धी प्रश्नों के बारे में भी सप्तभंगी का उपयोग किया जा सकता है। जैसे कि—

(१) हिंसा पाप है [यदि प्रमत्तभाव से की हो तो]। (अस्ति)

(२) हिंसा पाप नहीं है। मनुष्यों के ऊपर—निरपराध जनता के ऊपर भयंकर क्रूरतापूर्ण व्यवहार करनेवाले

आततायी नराधम का वध यदि करना पड़े तो वह कर्तव्य रूप हिंसा होने से पाप नहीं है।' (नास्ति)

(२) बिना कारण निरपराधी की सांकल्पिक हिंसा पाप है, परन्तु यतनाचारपूर्वक की जानेवाली सत्प्रयोजन प्रवृत्ति में होनेवाली हिंसा (द्रव्यहिंसा) पापरूप नहीं है। नीतिभंगरूप—अन्याय्य हिंसा पाप है, परन्तु कर्तव्यरूप हो तो पाप नहीं है। (अस्ति–नास्ति)

---

१ शास्त्रों में ग्लान बीमार अशक्त साधु आदि की परिचर्या के निमित्त तथा उस उस प्रकार के देश-काल को ध्यान में रखकर अत्यन्त आपवादिक रूप से छहों काय के जीवों की जिसमें हिंसा हो वैसी वैद्यकीय चिकित्सा आदि के बारे में विधान है।

मुनि के लिये नदी को पार करने जैसी जीवविराधनाकर अनेक बातों की आज्ञा है।

श्री हरिभद्राचार्य दशवैकालिक सूत्र के पहले अध्ययन की ४५ वीं निर्युक्ति-गाथा की टीका में नीचे की गाथाएँ उद्धृत करते हैं—

उच्चालियम्मि पाए इरियासमियस्स संकमट्ठाए।
वावज्जेज्ज कुलिंगी मरिज्ज तं जोगमासज्ज॥
न य तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिओ समये।
जम्हा सो अपमत्तो सा य पमाओ त्ति निद्दिट्ठा॥

अर्थात्—अप्रमत्तभावपूर्वक चलनेवाले से यदि किसी द्वीन्द्रियादि जीव की हिंसा हो जाय तो उससे सूक्ष्म भी कर्मबन्ध नहीं होता ऐसा शास्त्र में कहा है, क्योंकि वह अप्रमत्त है और प्रमादभाव को ही हिंसा कहा है।

(४) परिस्थिति का विचार किए बिना यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि हिंसा पाप है या नहीं। (अवक्तव्य)

(५) हिंसा पाप है, परन्तु सदा और सर्वत्र के लिये कोई एक बात नहीं कही जा सकती। (अस्ति-अवक्तव्य)

(६) ऊपर कहा उस तरह आपवादिकप्रसंगरूप हिंसा पाप नहीं है, परन्तु सदा और सर्वत्र के लिये कोई एक बात नहीं कही जा सकती। (नास्ति-अवक्तव्य)

(७) हिंसा पाप है, परन्तु ऐसे भी प्रसंग उपस्थित होते हैं जबकि हिंसा पाप नहीं समझी जाती। ऐसा होने पर भी सदा और सर्वत्र के लिये कोई एक बात नहीं कही जा सकती। (अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य)

सत्य के बारे में देखें—

(१) सत्य धर्म है। (अस्ति)

(२) सत्य धर्म नहीं है; क्योंकि पशु के पीछे पड़े हुए पशुघातक शिकारी के आगे अथवा युवति के पीछे पड़े हुए गुण्डे के आगे यदि सच्ची बात कह दी जाय तो ऐसा सत्य बोलना पाप है।[1] (नास्ति)

---

1 इस बारे में १७९ वें पृष्ठ के टिप्पण में 'आचाराग' सूत्र का पाठ दिया है। महाभारत के कर्णपर्व के ७२ वें अध्याय में ३३ वाँ श्लोक है—

भवेत् सत्यमवक्तव्यं वक्तव्यमनृतं भवेत्।
यत्राऽनृतं भवेत् सत्यं सत्य चाऽप्यनृतं भवेत्॥

(३) कल्याणसाधक सत्य धर्म है और ऊपर कहा उस तरह कल्याणसाधक सत्य धर्म नहीं है। (अस्ति नास्ति)

(४) परिस्थिति का विचार किए बिना सत्यवचन धर्म है या नहीं यह कहा नहीं जा सकता। (अवक्तव्य)

(५) सत्य वचन धर्म है, परन्तु सदा और सर्वत्र के लिये कोई एक बात नहीं कही जा सकती। (अस्ति अवक्तव्य)

(६) सत्यवचन धर्म नहीं है (ऊपर जो टिप्पण लिखा है उसके अनुसार), फिर भी सार्वत्रिक और सार्वकालिक दृष्टि से कोई एक बात नहीं कही जा सकती। (नास्ति अवक्तव्य)

(७) सत्यवचन धर्म तो है ही, परन्तु ऐसे भी अवसर आते हैं जबकि सत्यवचन धर्म नहीं होता; ऐसा

अर्थात्—कभी कभी सत्य बोलने जैसा नहीं होता और झूठ बोलने योग्य होता है। इस तरह झूठ सत्य बनता है और सत्य झूठ बनता है।

इस श्लोक के अनुसन्धान में कौशिक तापस की कथा दी गई है। उसके सच सच कह देने पर मनुष्यों की क्रूर हत्या हुई थी और तथाकथित उस सत्य के परिणामस्वरूप उसे नरक में जाना पड़ा था।

हेमचन्द्राचार्य योगशास्त्र के द्वितीय प्रकाश के—

न सत्यमपि भाषेत परपीडाकरं वचः।
लोकेऽपि श्रूयते यस्मात् कौशिको नरकं गतः॥

इस ६१ वें श्लोक में सत्य भी परपीड़ाकर हो तो न बोलना चाहिए इस विचार की पुष्टि में उसी महाभारत के कौशिक तापस का उदाहरण देते हैं।

होने पर भी सदा और सर्वत्र के लिये कोई एक बात नहीं कही जा सकती। (अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य)

इस तरह यदि आचारशास्त्र के नियम सप्तभंगी के रूप में विश्व के सम्मुख उपस्थित किए जायँ तो सब सम्प्रदायों को एक-दूसरे के समीप आने में कितनी सहायता मिल सकती है ! कौनसा नियम किस परिस्थिति में अस्तिरूप और किस परिस्थिति में नास्तिरूप है इसका पता लग जाने से हम वर्तमान परिस्थिति के अनुरूप नियमों का चुनाव कर सकते हैं। यह बात वैयक्तिक जीवन और सामाजिक दृष्टि से कितनी हितकर है ! अवश्य, विवेकदृष्टि के बिना सप्तभंगी की आयोजना अशक्य है और यदि हो तो उसमें कुछ भी सार नहीं होगा, प्रत्युत विषमिश्रित जैसी भयंकर वह आयोजना हो जायगी।

घटत्व-पटत्वादि में तो सप्तभंगी का उपयोग बहुत हुआ है, परन्तु ऊपर के विवेचन से देखा जा सकता है कि सप्तभंगी के मूल में जीवन को अमृतमय बनाने का उद्देश होना चाहिए। वह यदि आचारव्यापी हो तभी 'जीवित अनेकान्त' कहा जा सकता है।

नय

अब नय के बारे में देखें। 'प्रमाण' अर्थात् ज्ञान और 'नय' भी ज्ञान (विचारात्मक ज्ञान) ही है।

अनेकान्तात्मकं वस्तु गोचरः सर्वसंविदाम् ।
एकदेशविशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः ॥ २९ ॥

—सिद्धसेन न्यायावतार

अर्थात्—अनेकधर्मात्मक वस्तु प्रमाण का विषय है और एकअंशसहित वस्तु नय का विषय है ।

वस्तु जब अखण्डितरूप से भासित होती है तब वह अनेकधर्मात्मक विषय कहलाती है, परन्तु उसी वस्तु में से जब एक अंश अलग होकर प्रधानरूप से भासित होता है तब वह एकअंशविशिष्ट विषय कहलाती है । इस बात को एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करें । जब आँख के सामने कोई एक घोड़ा आता है तब अमुक आकार, अमुक रंग और अमुक कद आदि उसकी विशेषताएँ प्रधानरूप से भासित होती हैं, परन्तु उस समय इन विशेषताओं की प्रधानता होने पर भी अभिन्नरूप से अन्य विशेषताओं के साथ समूचा घोड़ा ही चाक्षुष ज्ञान का विषय बनता है । उस समय उसकी अमुक विशेषताएँ दूसरी विशेषताओं से अलग होकर भासित नहीं होतीं तथा घोड़ेरूप अखण्ड पदार्थ में से, आकार आदि उसकी विशेषताएँ भी सर्वथा भिन्न भासित नहीं होतीं । सिर्फ अमुक विशेषताओं द्वारा वह समूचा घोड़ा ही अखण्डरूप से भासित होता है—आँख का विषय बनता है । यही प्रमाण का विषय होने की रीति है । प्रमाण

के विषयभूत घोड़े का ज्ञान जब दूसरे को शब्द द्वारा कराना होता है तब उस घोड़े की अमुक विशेषताओं को दूसरी विशेषताओं से बुद्धिद्वारा अलग करके वक्ता कहता है कि 'यह घोड़ा लाल है, ऊँचा है अथवा अमुक आकार-प्रकार का है।' उस समय वक्ता के बौद्धिक व्यापार में अथवा श्रोता की ज्ञानक्रिया में घोड़ा भासमान होने पर भी वह गौण होता है और उसकी विशेषताएँ, जो इतर विशेषताओं से अलग कर के कही जाती हैं, वे ही मुख्य होती हैं। इसीलिये उस समय ज्ञान का विषय बननेवाला घोड़ा अमुकअंशविशिष्ट विषय बनता है। यही नय का विषय होने की पद्धति है।

इन्द्रियों की सहायता से अथवा सहायता के बिना उत्पन्न ज्ञान जब किसी वस्तु को यथार्थरूप से प्रकाशित करता है तब उसे प्रमाण कहते हैं; और प्रमाण द्वारा प्रकाशित वस्तु को शब्द द्वारा दूसरे को बतलानेके लिये उस वस्तु के बारे में अंश अंश का स्पर्श करनेवाली जो मानसिक विचारक्रिया होती है वह 'नय' है। अर्थात् शब्द में उतरनेवाली अथवा उतारने योग्य जो ज्ञानक्रिया वह 'नय' और उसका पुरोगामी चेतनाव्यापार वह 'प्रमाण'।

नय प्रमाणभूत ज्ञान का अंशभूत ज्ञान है। प्रमाण के व्यापार में से ही नय के व्यापार के प्रवाह प्रकट होते हैं।

ऊपर कहा उस तरह, प्रमाणदृष्टि वस्तु को अखण्डरूप से ग्रहण करती है और वस्तु के भिन्न भिन्न धर्म को विषय करनेवाली मुख्य दृष्टि नयदृष्टि है। एक वस्तु को कोई व्यक्ति एक दृष्टि से देखता अथवा समझता है तो उसी वस्तु को दूसरा व्यक्ति दूसरी दृष्टि से देखता अथवा समझता है। इससे एक वस्तु के बारे में अलग अलग मनुष्यों का अलग अलग अभिप्राय बँधता है। 'क' एक वस्तु को जिस तरह से समझा हो उसकी खबर उसी वस्तु को दूसरी तरह से समझनेवाले 'ख' को न भी हो और इसी प्रकार 'ख' की समझ का ज्ञान 'क' को बिलकुल न हो। परन्तु यदि इन दोनों को एक-दूसरे की भिन्न भिन्न प्रकार की समझ मालूम पड़े तो उनकी (उन दोनों की) अधूरी समझ पूर्ण हो सकती है—यदि वे वस्तुतः जिज्ञासु हों तो। ज्ञान और क्रिया इन दोनों में से किसी एक की ही उपयोगिता की समझ जिसे हो अथवा द्वैत अद्वैत जैसे विरोधी दिखाई देनेवाले सिद्धान्तों में से किसी एक ही सिद्धान्त की जिसे समझ हो, वह यदि दूसरी बात की ओर भी अपनी विचारदृष्टि लगावे और उसके दृष्टिबिन्दु को भी योग्य रूप से समझे तो दूसरी बात को भी वह मानने लगेगा ही।

जिस तरह 'प्रमाण' शुद्ध ज्ञान है उसी तरह 'नय' भी शुद्ध ज्ञान है। फिर भी इन दोनों में अन्तर इतना ही है कि एक शुद्ध ज्ञान अखण्डवस्तुस्पर्शी है, जबकि दूसरा

वस्तु के अंश को ग्रहण करता है। परन्तु मर्यादा का तारतम्य होने पर भी ये दोनों ज्ञान हैं शुद्ध। प्रमाणरूप शुद्ध ज्ञान का उपयोग 'नय' द्वारा होता है, क्योंकि प्रमाणरूप शुद्ध ज्ञान को जब हम दूसरे के आगे प्रकट करते हैं तब वह एक ख़ास मर्यादा में आ जाने से 'नय' बन जाता है। वस्तु के एक अंश का स्पर्श करनेवाली एक नयदृष्टि को उसी वस्तु के दूसरे अंश का ज्ञान हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। यदि हो तो भी अपने विषय का स्पर्श करने की—अपने ही विषय को ग्रहण करने की उसकी मर्यादा है। और व्यवहार-मार्ग ऐसा ही होता है। ज्ञान की महत्ता और उपयोगिता जब बतलानी हो तब ज्ञान के महत्त्व का अथवा उसकी उपयोगिता का जो वर्णन किया जाता है वह ज्ञानदृष्टिरूप ज्ञाननय के कारण है। उस समय क्रिया के औचित्य का ज्ञान होने पर भी ज्ञाननय प्रसंग के अनुरूप ज्ञान की ही महत्ता बतलाता है। और ऐसा करने में वह कुछ अनुचित कार्य नहीं करता। हाँ, वह अनुचित करता हुआ तभी कहा जायगा जब अपनी बात कहने की धुन में क्रिया की उपयोगिता का अपलाप करने लगे।

वस्तुतः अनेकान्तदृष्टि (स्याद्वाद की न्यायदृष्टि) का विकास करना आवश्यक है। इसी के बल पर वस्तु की भिन्न भिन्न बातें—वस्तु के भिन्न भिन्न धर्म अथवा अंश

अवगत हो सकते हैं। और ऐसा होना आवश्यक भी है, क्योंकि तभी [दूसरी तरफ का ज्ञान हो तभी] व्यवहार में वस्तु के किसी अंश अथवा धर्म का यथासमय उचित उपयोग शक्य हो सकता है और तभी दूसरे के इस प्रकार के उचित उपयोग का सम्मान किया जा सकता है। इससे दूसरी तरफ के विचार के साथ जो अज्ञानमूलक संघर्षण होता है वह न होने पाएगा। समन्वयदृष्टि द्वारा सम्भवित अन्य पहलुओं का योग्य सामञ्जस्य स्थापित करने का कौशल प्राप्त होने से भिन्न भिन्न प्रकार के अथवा भिन्न भिन्न पहलुओं के विचार रखनेवालों के बीच समझपूर्वक ऐकमत्य स्थापित करना प्रायः शक्य होता है। इसके परिणाम स्वरूप सौमनस्य सधने का मार्ग सुगम बनता है। इस तरह अनेकान्तवाद का प्रस्थान भिन्न भिन्न दृष्टियों के सुसंगत समन्वय की दिशा में है, न कि अप्रामाणिक विरोध में।

एक ही वस्तु के बारे में भिन्न भिन्न दृष्टि के कारण उत्पन्न होनेवाले भिन्न भिन्न यथार्थ अभिप्राय या विचार 'नय' कहे जाते हैं। एक ही मनुष्य को भिन्न भिन्न अपेक्षा से चाचा-भतीजा, मामा-भानजा, पुत्र-पिता, श्वशुर-जामाता आदि जो माना जाता है इससे-इस सादे व्यावहारिक दृष्टान्त से ' नय ' का ख्याल आ सकता है। वस्तु में एक धर्म नहीं है, अनेक धर्म हैं। अतएव वस्तुगत भिन्न भिन्न धर्मों के बारे में जितने-जितने अभिप्राय उतने ' नय ' हैं।

जगत् के विचारों के आदान-प्रदान का सब व्यवहार 'नय' है।

अनेकान्तदृष्टि से वस्तु उसके व्यापक स्वरूप में है यानी वह कैसे धर्मों का भाण्डार है यह समझ में आता है और व्यवहार के समय उनमें से किसी एक समयोचित धर्म का उपयोग किया जाता है। यही नय का प्रदेश है।

अब नयदृष्टि के कुछ उदाहरण देखें।

एक ही घट वस्तु मूल द्रव्य अर्थात् मिट्टी की अपेक्षा से विनाशी नहीं है अर्थात् नित्य है, किन्तु उसके आकारादि पर्याय (परिणाम) की दृष्टि से विनाशी है। इस तरह एक दृष्टि से घट को नित्य मानना और दूसरी दृष्टि से अनित्य मानना—ये दोनों नय हैं।[1]

इसमें सन्देह नहीं है कि आत्मा नित्य है, क्योंकि उसका नाश नहीं होता। परन्तु उसके संसारी जीवन में सर्वदा और सतत परिवर्तन हुआ करता है। आत्मा किसी समय पशुजीवन प्राप्त करता है, किसी समय मनुष्य अवस्था में

---

1 "Nothing extinguishes, and even those things which seem to us to perish, are, in truth, but changed"

अर्थात्—किसी पदार्थ का नाश नहीं होता। जो पदार्थ नष्ट होते हुए हमें दीखते हैं वे भी वस्तुत सिर्फ परिवर्तित होते हैं।

आता है सो किसी समय देवभूमि का भोक्ता बनता है और कभी नरक आदि दुर्गति में जा गिरता है, यह कितना परिवर्तन ! एक ही आत्मा की ये कैसी विलक्षण अवस्थाएँ ! यह सब क्या सूचित करता है ? निःसन्देह आत्मा की परिवर्तनशीलता ही। उसके एक ही शरीर की यात्रा भी क्या कुछ कम परिवर्तनशाली है ? विचार, वेदना, भावना आदि और हर्ष, विषाद आदि अवस्थाओं के उसके आन्तरिक परिवर्तन भी सतत चालू ही हैं। इस तरह देहधारी आत्मा सतत परिवर्तन के चक्र में घूमता रहता है। इस परिवर्तनशीलता के कारण नित्यद्रव्यरूप आत्मा को कथंचित् अनित्य भी माना जा सकता है। अतएव आत्मा को एकान्त नित्य नहीं, एकान्त अनित्य नहीं, किन्तु नित्यानित्य मानना प्राप्त होता है। ऐसी दशा में, जिस दृष्टि से आत्मा नित्य है वह और जिस दृष्टि से आत्मा अनित्य है वह दोनों दृष्टियाँ नय कहलाती हैं।

यहाँ पर एक बात ध्यान देने योग्य है कि आत्मा कहने पर मुख्यतः द्रव्य ध्वनित होता है और घट कहने पर मुख्यतः पर्याय ध्वनित होता है। अतः आत्मा कहने से मुख्य रूप से नित्य तत्त्व का बोध होता है और घट कहने पर, इससे विपरीत, मुख्य रूप से अनित्य अर्थ का बोध होता है। आत्मा मूल द्रव्य होने से नित्य ही है और घट पुद्गल का पर्याय होनेसे अनित्य ही है।

शरीर से आत्मा भिन्न ही है यह बात स्पष्ट और निःसन्देह है। परन्तु इसमें इतना ध्यान रखना चाहिए कि दही में जिस प्रकार मक्खन व्याप्त होकर रहा है उसी प्रकार शरीर में आत्मा व्याप्त होकर रहा है। इस परसे यह स्पष्ट है कि मटके और उसमें रहे हुए लड्डू की भाँति शरीर और आत्मा भिन्न सिद्ध नहीं होते और इसीलिये शरीर के किसी भाग में चोट लगने पर तुरंत ही आत्मा को दुःख होने लगता है। शरीर एवं आत्मा का ऐसा गाढ़—अत्यन्त गाढ़ सम्बन्ध होने से जैनशास्त्रकार कहते हैं कि आत्मा शरीर से वस्तुतः भिन्न होने पर भी उसे शरीर से सर्वथा भिन्न न मानना चाहिए, क्योंकि यदि वैसा माना जाय तो सर्वथा भिन्न दो मनुष्यों के शरीर में से किसी एक के शरीर पर आघात लगने से जिस प्रकार दूसरे को दुःख नहीं होता उसी प्रकार शरीर पर आघात लगने पर आत्मा को दुःख का अनुभव नहीं होगा। परन्तु वह होता है सही। अतः आत्मा और शरीर का किसी अंश में अभेद भी मानना चाहिए। अर्थात् शरीर एवं आत्मा वस्तुतः सर्वथा भिन्न होने पर भी इन दोनों का संयोग इतना घनिष्ठ है कि इस संयोग की दृष्टि से उन्हें कथंचित् अभिन्न भी कह सकते हैं। इस स्थिति में जिस दृष्टि से आत्मा और शरीर भिन्न हैं वह और जिस दृष्टि से आत्मा और शरीर का अभेद माना जाता है वह दोनों दृष्टियाँ नय कहलाती हैं।

जो अभिप्राय ज्ञान से सिद्धि बतलाता है वह 'ज्ञान नय' और जो अभिप्राय क्रिया से सिद्धि बतलाता है वह 'क्रियानय'। ये दोनों अभिप्राय नय हैं।

अभिप्राय बतानेवाले शब्द, वाक्य, शास्त्र अथवा सिद्धान्त इन सबको नय कह सकते हैं। अपनी अपनी मर्यादा में रहनेवाले ये नय माननीय हैं और यदि ये एक-दूसरे को झूठा सिद्ध करने का प्रयत्न करें तो वे अमान्य हैं। उदाहरण के तौर पर ज्ञान से भी सिद्धि बतलाई जाती है और क्रिया से भी सिद्धि बतलाई जाती है। ये दोनों अभिप्राय अथवा विचार अपनी अपनी सीमा में सच्चे हैं। परन्तु यदि एक-दूसरे को झूठा सिद्ध करने का प्रयत्न करें तो ये दोनों मिथ्या सिद्ध होंगे। भिन्न भिन्न दृष्टिबिन्दु पर निर्मित भिन्न भिन्न अभिप्राय, जिसे नय कहते हैं, अपने प्रदेश अथवा विषय की सीमा तक सत्य हैं। 'नय' वस्तु के अंश का ग्राहक होने से आंशिक ज्ञान है। अतएव वह आंशिक अथवा आपेक्षिक सत्य है। एक अपेक्षा पर अवलम्बित अपने आंशिक ज्ञान को सम्पूर्ण सत्य मानकर दूसरी अपेक्षा पर अवलम्बित दूसरे के आंशिक ज्ञान को, दूसरी ओर का विचार किए बिना, असत्य कहना वस्तुतः दुराग्रह है। इस प्रकार का दुराग्रह मानवसमाज के लिये हानिकर है, फिर वह दुराग्रह चाहे आर्थिक, सामाजिक, राजकीय अथवा धार्मिक बाबत का क्यों न हो। किसी विषय में किसी एक

दृष्टिबिन्दु से होनेवाले सापेक्ष ज्ञान को पूर्ण ज्ञान न मानकर उस विषय का यथाशक्य अन्यान्य दृष्टिबिन्दुओं से अवलोकन किये जाने पर उन सब दृष्टिबिन्दुओं के समन्वय से जो बोध होता है वह पूर्ण सत्य ज्ञान समझना चाहिए।

एक-दूसरे की विचारदृष्टि को यथास्थित रूप से समझने का यत्न न करने के कारण और अभिमान एवं घमण्ड के कारण सामान्य मनुष्य तथा तार्किक पण्डित भी चिरकाल से एक-दूसरे के साथ लड़ते आए हैं। धर्माचार्योंने भी यदि एक-दूसरे के दृष्टिबिन्दुओं को शान्तभाव से समझने का प्रयत्न किया होता तो अवश्य ही एक-दूसरे के दृष्टिबिन्दुओं का तथा तत्सापेक्ष समझ का सीधा और उपयोगी अर्थ ग्रहण करके वे जनता में सुन्दर और सुरभि वातावरण उत्पन्न कर सके होते और इसके परिणामस्वरूप समग्र जनसमूह के बीच मधुर मैत्रीभाव आज हमें देखने को मिलता। परन्तु दुनिया का भाग्य इतना सीधा नहीं होगा!

एक ही वस्तु के बारे में भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों का अवलम्बन लेकर भिन्न भिन्न विचारसरणियों का निर्माण होता है। ये विचारसरणियाँ नय हैं। संस्कारी अथवा व्यापक (अनेकान्त) दृष्टि इन भिन्न भिन्न विचारों के पीछे रहे हुए उनके आधारभूत जो भिन्न भिन्न दृष्टिबिन्दु हैं उनकी जाँच करती है और ऐसा करके न्याय्य सामंजस्य

स्थापित करती है। अतः नयवाद की विशाल विचारसरणी समन्वय करने का मार्ग है।

जिस प्रकार समुद्र का बिन्दु समुद्र भी नहीं कहा जाता और असमुद्र (समुद्रबाह्य) भी नहीं कहा जाता, किन्तु समुद्र का एक अंश कहा जाता है; अंगुली का एक पोर अंगुली भी नहीं कहा जाता और अंगुली नहीं है ऐसा भी नहीं कहा जाता, फिर भी अंगुली का अंश तो है ही, उसी प्रकार 'नय' भी प्रमाण का अंश है।

किसी भी विषय के बारे में अंश अंश से विचार उत्पन्न होता है और ऐसा होकर के ही अन्ततः वह विशालता अथवा समग्रता में परिणत होता है। किसी विषय के सम्पूर्ण ज्ञान का उपयोग व्यवहार में तो अंश अंश से ही होता है। इसलिये भी समग्रविचारात्मक श्रुत से अंशविचारात्मक नय का निरूपण पृथक्‌रूप से करना प्राप्त होता है।

नयवाद अर्थात् अनेकान्तगामी विचारबुद्धि विरोधी दिखाई देनेवाले विचारों के वास्तविक अविरोध का मूल खोजती है और ऐसा करके उन विचारों का समन्वय करती है। उदाहरणार्थ, आत्मा एक है और अनेक है—इस प्रकार उभयथा उपलब्ध होनेवाले विरुद्धाभास कथनों की संगति किस तरह हो सकती है, इसकी खोज करके नयवाद ने इस तरह समन्वय किया है कि व्यक्तिरूप से आत्मा अनेक है

और शुद्ध चैतन्यरूप से एक है। ऐसा समन्वय करके नय-वाद परस्पर विरोधी दिखाई देनेवाले वाक्यों का अविरोध [एकवाक्यता] सिद्ध करता है।

इस तरह आत्मा आदि तत्त्वों के विषय में अपने अपने दर्शन-सम्प्रदाय के अनुसार जब भिन्न भिन्न विचारों का [आत्मा नित्य है या अनित्य इत्यादि प्रकार के] संघर्षण होता है और वे विवाद एवं वैषम्य उपस्थित करते हैं तब ऐसी दशा में युक्तिपूर्ण समन्वयवाद ही अनेक दृष्टिबिन्दुओं को समझाकर इस संघर्ष को दूर कर सकता है और पारस्परिक विवाद एवं विरोध को मिटाकर समाधान करा सकता है। इस समन्वयवाद का नाम ही नयवाद है, जो विविध विचारों की संगमन-कला है। यह सापेक्ष विचारदृष्टि होने से अपेक्षावाद भी कहा जा सकता है।

सिद्धसेन दिवाकर कहते हैं कि जितने प्रकार के वचन हैं उतने प्रकार के नय हैं[१]। इस पर से दो बातें मालूम होती हैं। एक तो यह कि नय अनगिनत हैं और दूसरी यह कि नय का वचन के साथ बहुत अधिक सम्बन्ध है। प्रत्येक नय वचनद्वारा प्रकट किया जा सकता है, अतः

---

१ जावइया वयणपहा तावइया चेव होंति णयवाया।
जावइया णयवाया तावइया चेव परसमया॥
—सन्मतितर्क ३–४७.

अर्थात्—जितने वचनमार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं उतने परसमय (मतान्तर) हैं।

नय को उपचार से वचनात्मक भी कह सकते हैं। इस तरह नय दो प्रकार का कहा जा सकता है : भावनय और द्रव्यनय। ज्ञानात्मक नय भावनय है और वचनात्मक नय द्रव्यनय है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में श्रीविद्यानन्दिस्वामी कहते हैं कि–

सर्वे शब्दनयास्तेन परार्थप्रतिपादने।
स्वार्थप्रकाशने मातुरिमे ज्ञाननयाः स्थिताः॥[1]

अर्थात्—सब नय अपने को बोधरूप होने पर ज्ञान नय हैं और दूसरे को बोधरूप होने पर शब्दनय हैं।

नयों का निरूपण अर्थात् विचारों का वर्गीकरण। नयवाद यानी विचारों की मीमांसा। नय सैकड़ों हैं। अभिप्राय अथवा वचन प्रयोग जब गिनती से बाहर हैं तब उनसे भिन्न न होने के कारण नयों की भी गणना नहीं की जा सकती। फिर भी मौलिक रूप से नयों के दो भेद किए गए हैं: द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। मूल पदार्थ को 'द्रव्य' कहते हैं, जैसे कि घड़े की मिट्टी। मूल द्रव्य के परिणाम को 'पर्याय' कहते हैं। मिट्टी अथवा किसी भी मूल द्रव्य के ऊपर जो परिवर्तन होते रहते हैं उन सबको पर्याय समझना। वस्तु के स्थूल परिवर्तनरूप स्थूल पर्याय तो मालूम होते हैं, परन्तु

---

१ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में तत्त्वार्थसूत्र के प्रथमाध्याय के ३३ वें सूत्र के वार्तिक में ९६ वाँ श्लोक।

प्रतिक्षण सूक्ष्म–सुसूक्ष्म–परमसूक्ष्म परिवर्तन होते रहते हैं। वे सूक्ष्म पर्याय तो अगम्य ही हैं, तथापि निश्चितरूप से प्रतीतिगोचर हो सकते हैं।

'द्रव्यार्थिक नय' अर्थात् मूल द्रव्य पर (सामान्य स्थिर तत्त्व पर) लक्ष देनेवाला अभिप्राय, और 'पर्यायार्थिक नय' अर्थात् वस्तु के पर्याय–परिवर्तन की ओर लक्ष्य देनेवाला अभिप्राय। द्रव्यार्थिक नय समग्र पदार्थों को नित्य मानता है, जैसेकि घड़ा मूल द्रव्य–मृत्तिकारूप से नित्य है। पर्यायार्थिक नय सम्पूर्ण पदार्थों को अनित्य मानता है। क्योंकि सब पदार्थों में परिवर्तन (रूपान्तर) होता रहता है। अतः इस दृष्टि से वह वस्तुमात्र की अनित्यता का द्योतक है। सामान्यतत्त्वगामिनी विचारदृष्टि 'द्रव्यार्थिक नय' और विशेषांशगामिनी विचारदृष्टि 'पर्यायार्थिक नय' है।

मनुष्य की बुद्धि जब सामान्य अंशगामी होती है तब उसका वह विचार 'द्रव्यार्थिक नय' है और जब विशेष-अंशगामी होती है तब उसका वह विचार 'पर्यायार्थिक नय' है। द्रव्यदृष्टि में विशेष अथवा पर्यायदृष्टि में द्रव्य न आता हो ऐसा तो नहीं है, परन्तु यह दृष्टि-विभाग गौण-मुख्यभाव की अपेक्षा से समझना चाहिए।

इन दो दृष्टियों का कुछ ख्याल नीचे के दृष्टान्त से आ सकेगा।

समुद्र की ओर दृष्टिपात करने पर जब पानी का रंग, गहराई, विस्तार अथवा सीमा आदि उसकी किसी विशेषता की ओर ध्यान न जाकर केवल पानी की ओर ही ध्यान जाता है तब उसे पानी का सामान्य विचार कह सकते हैं। यही है पानी के बारे में 'द्रव्यार्थिक नय'। इसके विपरीत जब उपर्युक्त विशेषताओं की ओर ध्यान जाता है तब वह विचार पानी की विशेषताओं का होने से उसे पानीविषयक 'पर्यायार्थिक नय' कह सकते हैं।

इस उदाहरण से ज्ञात हो सकता है कि सब भौतिक पदार्थों के बारे में सामान्यगामी और विशेषगामी विचार उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीनों काल के अपार विस्तार पर फैले हुए किसी एक ही आत्मा आदि वस्तु के बारे में भी सामान्यगामी और विशेषगामी विचार उत्पन्न हो सकते हैं। काल एवं अवस्था-भेद के चित्रों की ओर लक्ष न देकर यदि केवल शुद्ध चेतना की ओर लक्ष दिया जाय तो वह आत्मा का द्रव्यार्थिक नय कहा जायगा और उस चेतना की देश-कालादिकृत विविध दशाओं की ओर यदि लक्ष दिया जाय तो वह आत्मा का पर्यायार्थिक नय कहा जायगा।

पर्याय के बिना द्रव्य नहीं होता और द्रव्य के बिना पर्याय नहीं होता। द्रव्य-पर्याय का सम्बन्ध भिन्नाभिन्न है।

द्रव्य का पर्यायव्यक्ति के साथ का सम्बन्ध भिन्न होने पर भी पर्यायप्रवाह की अपेक्षा से अभिन्न भी है।

अब अधिक विवेचना के लिये नय के सात प्रकार बतलाए जाते हैं। वे ये हैं: नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत।

(१) नैगम–निगम अर्थात् कल्पना। इससे होनेवाला व्यवहार 'नैगम' कहलाता है। इसके मुख्य तीन भेद हैं: संकल्पनैगम, अंशनैगम और आरोपनैगम।

(क) संकल्पनैगम–एक मनुष्य बम्बई जाने के लिये तैयार होकर खड़ा है। उस समय उसका कोई मित्र वहाँ आकर पूछता है कि 'क्या करते हो?' तब वह उत्तर देता है कि 'बम्बई जाता हूँ।'

अथवा एक मनुष्य ने चोरी करने का संकल्प किया, तो उसने चोरी की है ऐसा धर्मशास्त्र कहेगा। इस नय के हिसाब से 'क्रियमाणं कृतम्'–किया जाता काम किया हुआ कहलाता है।

(ख) अंशनैगम–एक पुरुष की धोती अथवा एक स्त्री की साड़ी पर एकाध चिनगारी पड़ने से वह किञ्चित् जल जाने पर वह पुरुष अथवा स्त्री एकदम चौंककर बोल उठते हैं कि 'मेरी धोती जल गई', 'मेरी साड़ी जल

गई'। इसी प्रकार कुर्सी का एक पैर टूट जाने पर कुर्सी टूट गई ऐसा कहा जाता है।

(ग) आरोप नैगम—'आज दीवाली के दिन महावीर स्वामी का निर्वाण हुआ' अथवा 'आज चैत्र शुक्लत्रयोदशी के दिन महावीर स्वामी ने जन्म लिया'—इस प्रकार कहने में वर्तमान के ऊपर भूतकाल का आरोप किया जाता है।

चावल पकने आए हों तब चावल पक गए अथवा बिस्तरा बिछाया जा रहा हो तब बिछा दिया—ऐसा कहा जाता है। इसमें भूतकाल के ऊपर भविष्य का आरोप है। यह कालारोप है। दूसरे भी अनकविध आरोप हैं। आरोपनैगम में अन्तर्भूत होनेवाला उपचार नैगम इस तरह है—

'महाकवि कालिदास भारत का शेक्सपियर है।' सुखदुःख में सहायक होनेवाले मित्र के बारे में कहना कि 'यह तो मेरा दाँया हाथ है।' अपनी प्रिय पुत्री के बारे में कहना कि 'यह तो मेरी आँख की पुतली है।' सुन्दर स्त्री के बारे में कहना कि 'यह तो मूर्तिमान् सौन्दर्य है।'

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे।'

[तू मेरा जीवन है, मेरा दूसरा हृदय है, मेरे नेत्रों की चन्द्रिका है, मेरे अंग में अमृतरूप है।]

ये सब उपचार-नैगम के उदाहरण हैं।

इस प्रकार विविध लोकरूढि एवं लौकिक संस्कार के अनुसरण में से उत्पन्न होनेवाले विचार तथा वाग्व्यापार नैगमनय की कोटि में रखे जाते हैं।

नैगमनय धर्म तथा धर्मी में से किसी एक को गौण रूप से और दूसरे को मुख्यरूप से ग्रहण करता है। जैसे कि, जीव के स्वरूप का निरूपण करते समय उसके ज्ञानादि गुण गौण होते है और ज्ञानादि गुणों के निरूपण के समय जीव गौण होता है। गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, अवयव-अवयवी तथा जाति-जातिमान् के बीचके तादात्म्य (अभेद) को यह नय ग्रहण नहीं करता। इन सब के बीच अर्थात् गुण और गुणी आदि के बीच यह तो भेद ही देखता है। इन गुण-गुणी आदि में से एक को मुख्य रूप से तो दूसरे को गौण रूप से कल्पना करने की इस नय की सरणी है।

(२) संग्रह-सामान्य तत्त्व का अवलम्बन लेकर अनेक वस्तुओं को समुच्चयरूप से-एकरूप से ग्रहण करना यह संग्रहनय कहलाता है। जड़ एवं चेतनरूप अनेक व्यक्तियों में रहे हुए सत्रूप 'सामान्य' तत्त्व के ऊपर दृष्टि रखकर और दूसरे विशेषों को लक्ष में न लेते हुए इन सब विविध व्यक्तियों को एकरूप समझकर ऐसा कहना कि 'सत् रूप

विश्व एक है' [क्योंकि सत्तारहित एक भी वस्तु नहीं है] संग्रहनय की दृष्टि है। 'एक आत्मा है' इस प्रकार के कथन से वस्तुतः सब का एक आत्मा सिद्ध नहीं होता। प्रत्येक शरीर में आत्मा भिन्न भिन्न है।[1] फिर भी सब आत्माओं में रहे हुए सामान्य चैतन्य-तत्त्व का आश्रय लेकर 'एक आत्मा है'[2] ऐसा कथन होता है। यह संग्रह नय की दृष्टि है। इसका लौकिक उदाहरण भी लिया जा सकता है कि कपड़े के विविध प्रकार और व्यक्तियों को लक्ष्य में न रखकर और केवल कपड़ेपन के सामान्य तत्त्व को दृष्टिसमक्ष रखकर विचार करना कि यहाँ एकमात्र वस्त्र ही है—यह संग्रहनय का उदाहरण है।

संग्रहनय सामान्य तत्त्व का अवलम्बन लेता है, अतः सामान्य जितना विशाल होगा उतना ही संग्रहनय भी विशाल होगा और सामान्य जितना अल्प उतना ही संग्रह नय भी अल्प होगा। परन्तु जो जो विचार सामान्य तत्त्व का आश्रय लेकर विविध वस्तुओं के एकीकरण की ओर प्रवृत्त होते हैं वे सब संग्रहनय की श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

(३) व्यवहार—सामान्यरूप से निर्दिष्ट वस्तु ब्योरे से

---

१ 'व्यवस्थातो नाना' यह वैशेषिकदर्शन के तृतीय अध्याय का उपान्त्य सूत्र अनेक जीववाद का सिद्धान्त उपस्थित करता है।

२ ठाणंग का प्रथम सूत्र।

नहीं समझी जा सकती। अतः उसकी विशेष समझ देने के लिये विशेषरूप से उसके भेद-प्रभेद करके उसका पृथक्करण करनेवाला विचार 'व्यवहारनय' कहलाता है। सामान्यरूप से 'कपड़ा' कह देने मात्र से उसकी विशेष जातों की ख़बर नहीं पड़ती। अतः उसकी विशेष जातों को बतलाने के लिये उसके जो भेद किए जाते हैं वे 'व्यवहार' नय में आते हैं। इस दृष्टान्त परसे समझा जा सकता है कि सत्‌रूप वस्तु का जड़ और चेतन रूप से दो भेद करना और इन दो भेदों का भी भेदबहुल विस्तृत विवेचन करना यह व्यवहारनय की प्रवृत्ति है। 'आत्मा एक है' ऐसा संग्रहनय ने कहा, परन्तु उसके भेद तथा अवान्तर भेद करके इन सब का विशेष विवेचन करना यह व्यवहार-नय की पद्धति है। संक्षेप में, एकीकरणरूप बुद्धिव्यापार 'संग्रह' और पृथक्करणरूप बुद्धिव्यापार 'व्यवहार' है।

(४) ऋजुसूत्र—वस्तु के सिर्फ़ वर्तमान पर्याय की ओर यह नय ध्यान आकर्षित करता है। जो विचार भूत और भविष्य काल को एक ओर रखकर केवल वर्तमान का स्पर्श करता है वह 'ऋजुसूत्र' नय है। इस नय की दृष्टि से वर्तमान समृद्धि सुख का साधन होने से उसे समृद्धि कह सकते हैं, परन्तु भूतकालीन समृद्धि का स्मरण अथवा भावी समृद्धि की कल्पना वर्तमानकाल में सुख-सुविधा देनेवाली न होने के कारण उसे समृद्धि नहीं कहा जा सकता।

जो पुत्र वर्तमान में उपयोगी हो वही इस नय की अपेक्षा से पुत्र है। बाकी भूतकाल का अथवा भविष्य में होनेवाला पुत्र, जो इस समय नहीं है, इस नय की दृष्टि से पुत्र नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार सुख-दुःख की वर्तमान अवस्था ही इसे मान्य है। वर्तमान में जो उपस्थित हो वही सही, ऐसा यह नय मानता है। कोई गृहस्थ यदि साधुधर्म की शुभ मनोवृत्तिवाला हो तो उसे यह नय साधु कहता है और यदि कोई साधु के वेष में होने पर भी असंयमी वृत्तिवाला हो तो उसे यह नय साधु न कहकर असंयती ही कहेगा। सामायिक में बैठा हुआ मनुष्य यदि बुरे विचार करता हो तो इस नय के हिसाब से वह खड्डे में गिरा कहा जायगा। सूक्ष्म ऋजुसूत्र और स्थूल ऋजुसूत्र इस तरह ऋजुसूत्र के दो भेद किए गए हैं। एक 'समय' मात्र के वर्तमान पर्याय को ग्रहण करनेवाला सूक्ष्म-ऋजुसूत्र और अनेक समय के वर्तमान पर्याय को ग्रहण करनेवाला स्थूल-ऋजुसूत्र कहलाता है। सौ वर्ष का मनुष्यपर्याय स्थूल-ऋजुसूत्र का उदाहरण है।

ये चार अर्थनय कहलाते हैं, क्योंकि ये वस्तु का विचार करते हैं।

अब अर्थ के अनुरूप उचित शब्दप्रयोग को माननेवाले अवशिष्ट तीन शब्दनयों को देखें—

(५) शब्द—यह नय पर्यायवाची शब्दों को एकार्थ

वाची मानता है; परन्तु काल, लिंग आदि का यदि उनमें भेद हो तो इस भेद के कारण एकार्थवाची शब्दों में भी यह अर्थभेद मानता है। लेखक के समय में 'राजगृह' नगर विद्यमान होने पर भी प्राचीन समय का राजगृह भिन्न प्रकार का होने से और उसी का वर्णन उसे अभीष्ट होने से वह 'राजगृह नगर था' ऐसा प्रयोग करता है। इस प्रकार कालभेद से अर्थभेद का व्यवहार इस नय के कारण होता है।

इसकी तनिक ब्योरे से विवेचना करें—

जो शब्द जिस अर्थ (वस्तु) का वाचक अथवा सूचक होता है उस अर्थ को—वस्तु को सूचित करने के लिये उसी शब्द का प्रयोग करने का 'शब्द' नय ध्यान रखता है, फिर वह वस्तु चाहे कोई व्यक्ति (प्राणी अथवा पदार्थ) हो, गुण हो, क्रिया हो अथवा सम्बन्ध हो। प्राणियों में यदि नर अथवा नारी का भेद (लिंगभेद) हो तो उसे दिखलाने के लिये प्रस्तुत नय भिन्न भिन्न शब्दों का प्रयोग करेगा—जैसे कि पुरुष-स्त्री, गर्दभ-गर्दभी, कुत्ता-कुत्ती, मोर-मोरनी, पुत्र-पुत्री आदि। एक दूसरे की तुलना में यदि एक बड़ा हो और एक छोटा हो तो इस परिमाणभेद को सूचित करने के लिये यह नय भिन्न भिन्न शब्दों का प्रयोग करेगा—जैसे कि लोटा-लोटी, कूआँ-कूई, पहाड़-पहाड़ी, प्याला-प्याली आदि। एक ही मनुष्य भिन्न भिन्न मनुष्यों

के सम्बन्ध से यदि भिन्न भिन्न प्रकार का नाता रखता हो तो उस मनुष्य के सम्बन्ध में बोलते समय प्रत्येक नाता जुदा जुदा दिखलाने के लिये भिन्न भिन्न शब्दों का प्रयोग किया जायगा—जैसे कि चचा, भतीजा, पिता, पुत्र, श्वसुर, दामाद आदि। (ये सब सापेक्ष सम्बन्ध के उदाहरण हैं।) यदि कोई क्रिया भूतकाल में हुई हो तो भूतकाल का, वर्तमान में होती हो तो वर्तमानकाल का और भविष्य में होनेवाली हो तो भविष्यकाल का प्रयोग करने की यह नय सावधानता रखता है। यह नय वस्तु यदि एक होगी तो एकवचन का और अनेक होगी तो बहुवचन का प्रयोग करेगा। [संस्कृत भाषा में दो के लिये द्विवचन का और दो से अधिक के लिये बहुवचन का प्रयोग करेगा।] वस्तु का क्रिया के साथ जिस प्रकार का (कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणरूप) कारक-सम्बन्ध होगा उसी के अनुरूप विभक्तियुक्त शब्द का प्रयोग करेगा। 'राजा का पुत्र' इसमें राजा के साथ पुत्र का स्वजन सम्बन्ध, 'राजा का महल' इसमें राजा का महल के साथ स्वामित्व का सम्बन्ध, 'मिट्टी का घड़ा' इसमें उपादान के साथ का कार्य का सम्बन्ध, 'मेरा हाथ' आदि में तथा 'कुर्सी का पैर' आदि में अवयव अवयवी का सम्बन्ध दिखलाया जाता है। ये सब सम्बन्ध छठी विभक्ति द्वारा बतलाए जाते हैं।

यहाँ पर प्रसंगवश यह सूचित कर देना उपयुक्त होगा कि जिस समय जो नय उपयोगी हो उस समय उस नय का प्राधान्य स्वीकार करना ही चाहिए। व्यवहारनय के समय यदि संग्रहनय का प्रयोग करें तो पत्नी, माता, बहन; सेठ, नौकर आदि के बीच भेद ही नहीं रहेगा और अनेक प्रकार का घोटाला होने लगेगा। संग्रहनय के स्थान पर केवल व्यवहारनय का उपयोग किया जाय तो सर्वत्र भिन्नता ही भिन्नता प्रतीत होगी और प्रेमभावना का नाश होकर छीनाझपटी को उत्तेजन मिलेगा. जहाँ शब्द नय की उपयोगिता है वहाँ पर नैगम नय का प्रयोग करने पर, जिसमें साधुत्व के लक्षण नहीं हैं और जो केवल बाह्य साधु-वेषधारी है उसे नैगमनयवाला साधु कहेगा और वेष के अतिरिक्त बाह्य क्रिया करनेवाले को व्यवहारनयवाला साधु कहेगा, परन्तु शब्दनयवाला इन दोनों को दम्भी मानकर असाधु ही कहेगा और जिसमें सच्ची साधुता होगी उसी को साधु कहेगा। ऐसे अवसर पर मुख्यता शब्द नय की है। अतः किस अवसर पर किस नय का उपयोग उचित होगा इसका विवेकपूर्वक विचार करने की आवश्यकता प्रत्येक अवसर पर रहेगी ही।

किसी बदसूरत पुरुष का नाम सुन्दरलाल और किसी दरिद्र स्त्री का नाम लक्ष्मी रखा गया हो तो भी नैगमनय-वाला स्वाभाविकतया उनको उन्हीं नामों से बुलाएगा और

शब्दनयवाले को उस तरह बुलाना भले ही अच्छा न लगता हो तो भी ऐसे अवसर पर नैगमनय की मुख्यता होने से नैगमनय का अनुसरण करके उन्हें उनके रखे हुए नामों से बुलाए बिना दूसरा चारा ही नहीं है।

'शब्द' नय एक अर्थ (वस्तु) को कहनेवाले अनेक भिन्न भिन्न शब्दों (पर्यायवाची शब्दों) में से किसी भी शब्द का, उस अर्थ को बतलाने के लिये प्रयोग करना अयोग्य नहीं मानता; परन्तु ऊपर कहा उस तरह काल, लिंग आदि के भेद से अर्थभेद मानता है।

(६) समभिरूढ—इस नय की दृष्टि में प्रत्येक शब्द का अर्थ भिन्न भिन्न है। 'शब्द' नय ने काल, लिंग आदि के भेद से अर्थ का भेद तो माना, परन्तु काल आदि का भेद न होने पर पर्यायवाची शब्दों में [इन्द्र, शक्र, पुरन्दर आदि अनेक पर्यायवाची शब्दों में] अर्थभेद मान्य नहीं रखा है, तब यह नय (समभिरूढ नय) शब्द के भेद से ही अर्थभेद मानता है। शब्द भिन्न तो अर्थ भिन्न ऐसा इसका मत है। इससे राजा, नृप, भूपति आदि एकार्थवाची माने जानेवाले पर्यायशब्दों का भी उनकी व्युत्पत्ति के अनुसार भिन्न भिन्न अर्थ है ऐसा यह नय मानता है। यह कहता है कि राजचिह्नों से जो शोभित हो वह 'राजा', मनुष्यों का जो रक्षण करे वह 'नृप' और पृथ्वी का

पालन-पोषण करे वह 'भूपति'। राजचिह्नों से शोभित होना, मनुष्यों का रक्षण करना और पृथ्वी का पालन-पोषण करना—इन सब का आधार एक ही व्यक्ति होने से इन अर्थों के सूचक राजा, नृप और भूपति शब्द पर्यायवाची हो गए हैं, परन्तु वस्तुतः उनका अर्थ भिन्न भिन्न है ऐसे मन्तव्य का यह नय, ऊपर कहा उस तरह, भिन्न भिन्न पर्यायवाची शब्दों के भी उनकी भिन्न भिन्न व्युत्पत्ति के अनुसार भिन्न भिन्न अर्थ मानता है। प्रत्येक शब्द असल में तो पृथक् अर्थ बतलानेवाला होता है, परन्तु कालान्तर में व्यक्ति और समूह में प्रयुक्त होते रहने से पर्यायवाची बन गए हैं। 'समभिरूढ' नय उनके पर्यायवाचित्व को मान्य न रखकर प्रत्येक शब्द का मूल अर्थ पकड़ता है—ऊपर देखा उस तरह।

(७) एवंभूत—यह नय कहता है कि यदि व्युत्पत्ति-भेद से अर्थभेद माना जाय तो ऐसा भी मानना चाहिए कि जिस समय व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ घटित होता हो तभी उस शब्द का वह अर्थ मानना चाहिए और तभी उस शब्द द्वारा उस अर्थ का कथन करना चाहिए, दूसरे समय नहीं। इस कल्पना के अनुसार राजचिह्नों से शोभित होने की योग्यता होना अथवा मनुष्य-रक्षण का उत्तर-दायित्व रखना—इतना ही राजा अथवा नृप कहलानेके लिये पर्याप्त नहीं है, किन्तु इससे आगे बढ़कर जब वस्तुतः राजचिह्नों से शोभित हो तभी और तब तक ही 'राजा'

कहा जा सकता है। इसी प्रकार वस्तुतः मनुष्यों का जब रक्षण करता हो तभी और तब तक के लिये ही 'नृप' कहा जा सकता है; अर्थात् तभी उस व्यक्ति के बारे में 'राजा' अथवा 'नृप' शब्द का प्रयोग वास्तविक है। इसी प्रकार जब कोई वस्तुतः सेवाकार्य में लगा हो तभी और तब तक के लिये ही वह 'सेवक' नाम से व्यवहृत हो सकता है। इस प्रकार जब वास्तविक कार्य हो रहा हो तभी उसके योग्य विशेषण अथवा विशेष्य नाम का प्रयोग किया जा सकता है ऐसा इस नय का अभिप्राय है।

'समभिरूढ नय' शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ बतलाता है, परन्तु जब एक योद्धा युद्ध न कर रहा हो अर्थात् युद्ध कार्य में प्रवर्तमान न हो, लड़ाई का प्रसंग न होने से अपने घर में निश्चिन्ततापूर्वक रहता हो तब उसके लिये 'योद्धा' शब्द का प्रयोग करने के सामने उसे विरोध नहीं है; परन्तु 'एवम्भूत नय' उसका विरोध करेगा। वह कहेगा कि जब योद्धा युद्ध की प्रवृत्ति में प्रवर्तमान हो—लड़ाई लड़ रहा हो तभी उसे 'योद्धा' कह सकते हैं। इसी प्रकार जब पुजारी पूजा की क्रिया में प्रवर्तमान हो तभी और उस समय तक के लिये ही उसे पुजारी कहा जा सकता है। कोई भी शब्द क्रिया का अर्थ बतलाता ही है। अतः जिस शब्द की व्युत्पत्ति में से जिस क्रिया का भाव प्रगट होता हो उस क्रिया में उस शब्द का अर्थ (उस शब्द का वाच्य

पदार्थ) जब प्रवर्तमान हो तभी उसे उस शब्द द्वारा कह सकते हैं। प्रत्येक शब्द किसी-न-किसी धातु पर से निष्पन्न हुआ है, अतः उसका किसी-न-किसी क्रिया के साथ सम्बन्ध है ही। शब्द में से सूचित होनेवाली क्रिया उसके वाच्यार्थ-भूत पदार्थ में कभी किसी समय देखने के बाद 'समभिरूढ़ नय' चाहे जब उस अर्थ (वस्तु) में उस शब्द का प्रयोग करेगा, फिर भले ही वह क्रिया उस वस्तु में उस समय वर्तमान न भी हो; परन्तु 'एवम्भूत' नय वह क्रिया उस पदार्थ में जब प्रवर्तमान हो और जब तक प्रवर्तमान रहे तभी और तब तक ही उस शब्द का उस अर्थ में प्रयोग करेगा। शब्द-सूचित क्रिया के अभाव में उस शब्द को उस पदार्थ के लिये अप्रयोज्य कहेगा। इस नय के मन्तव्य के अनुसार प्रत्येक शब्द क्रिया-शब्द है।

सातों नयों को हमने संक्षेप में देख लिया। नैगम का विषय सत्-असत् दोनों हैं, क्योंकि ये दोनों संकल्प—कल्पना के

१ व्यवहार में भी देखा जाता है कि कोई सरकारी कर्मचारी जबतक अपने कर्तव्य (Duty) पर होता है तबतक उसके साथ यदि कोई दुर्व्यवहार करे तो सरकार उसका पक्ष लेती है, परन्तु दूसरे समय साधारण प्रजा की तरह उसका विचार किया जाता है। सरकार इस तरह का अपने कर्मचारी के साथ जो व्यवहार करती है वह 'एवम्भूत' नय की विचारसरणी है। 'मैं गवर्नर से नहीं मिला था, किन्तु अपने मित्र से मिला था', 'मैं राजा नहीं हूँ, केवल अतिथि हूँ' आदि वचनप्रयोगों में 'एवम्भूत' नय की झलक मिलती है।

विषय है। इसकी अपेक्षा केवल सत् को ही विषय करने वाला संग्रहनय अल्पविषयवाला है। संग्रह के विशेष ही व्यवहार के विषय हैं। व्यवहार की अपेक्षा ऋजुसूत्र सूक्ष्म है और ऋजुसूत्र की अपेक्षा तीनों शब्द-नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषयग्राही होते जाते हैं। इस तरह नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते जाते हैं। प्रारम्भ के तीन 'स्थूल' होने से अधिक सामान्य ग्राही हैं और ऋजुसूत्र भूत भविष्य का इनकार करके मात्र वर्तमान का ग्राहक होने से स्पष्टरूप से विशेषगामी है। इस के बाद के तीन नय भी सूक्ष्म होते जाते हैं, अतः वे अधिक विशेषगामी हैं। सामान्य और विशेष दोनों एक वस्तु के अविभाज्य अंश हैं और परस्पर सुसम्बद्ध हैं, अतः सभी नय सामान्य विशेषउभयगामी कहे जा सकते हैं। फिर भी विशेषगामी की अपेक्षा जो जितना अधिक सामान्यगामी होता है वह 'द्रव्यार्थिक नय' में गिना जाता है और सामान्यगामी की अपेक्षा जो जितना अधिक विशेषगामी होता है वह 'पर्यायार्थिक' गिना जाता है; क्योंकि 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति।' अर्थात् प्राधान्य को—मुख्यता को लक्ष्य में रखकर कथन किया जाता है।

नय प्रमाणसिद्ध द्रव्य पर्यायरूप अनेकधर्मात्मक

---

१ काल आदि के भेद के कारण अर्थ का भेद मानने से शब्द नय ऋजुसूत्र की अपेक्षा सूक्ष्म है और शब्द नय की अपेक्षा उसके बाद के दो नयों में उत्तरोत्तर अधिकाधिक सूक्ष्मता रहती है।

पदार्थ को विभक्त कर के प्रवृत्त होते हैं। नय के द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो मुख्य भेद हैं जिन में सात नय अन्तर्भूत होते हैं—प्रथम के तीन द्रव्यार्थिक में और अवशिष्ट चार पर्यायार्थिक में।

द्रव्यार्थिक नय पर्यायार्थिक नय के विषयभूत भेद को गौण कर के अपने विषयभूत अभेद का ही व्यवहार करता है। जैसे कि, द्रव्यार्थिक नय से (द्रव्य-सामान्य के अभि-प्राय से) यदि ऐसा कहा जाय कि 'सुवर्ण लाओ' तो लानेवाला सुवर्ण के कटक, कुण्डल, कड़ा आदिमें से कोई भी गहना मँगानेवाले के सम्मुख उपस्थित करे तो सुवर्ण मँगानेवाले की आज्ञा का उसने पालन किया समझा जायगा; क्योंकि कटक, कुण्डल, कड़ा आदिमें से कोई भी आभूषण सुवर्ण ही है। उनमें से किसी एक को उपस्थित करने से आज्ञानुसार सुवर्ण ही लाया गया है ऐसा समझा जायगा।

पर्यायार्थिक नय द्रव्यार्थिक नय के विषयभूत अभेद को गौण कर के अपने विषयभूत भेद का ही व्यवहार करता है। जैसे कि, पर्यायार्थिक नय से (पर्याय के अभिप्राय से) यदि ऐसा कहा गया हो कि 'कुण्डल लाओ' तो लाने-वाला कटक, कड़ा आदि दूसरा कोई आभूषण न लाकर केवल कुण्डल ही लाएगा; क्योंकि कटक, कुण्डल, कड़ा, कण्ठी आदि सब सुवर्ण के आभूषणों में सुवर्ण एक होने पर

भी सुवर्ण के ये सब पर्याय एक दूसरे से भिन्न हैं। अतः यदि सुवर्ण का कोई खास पर्याय मँगाया हो तो उसी को उपस्थित करने से आज्ञा का पालन किया गया समझा जाएगा।

इस पर से ज्ञात होगा कि द्रव्यार्थिक नय के अभिप्राय से सुवर्ण एक है और पर्यायार्थिक नय के अभिप्राय से अनेक। सुवर्ण के भिन्न भिन्न पर्यायों में सुवर्ण सामान्य एक है, परन्तु उसके पर्याय भिन्न भिन्न हैं। इस प्रकार के एक अनेक को लेकर सप्तभंगी बनती है। इस तरह एकत्व अनेकत्व अन्यत्र सब जगह पर घटा सकते हैं।

वस्तुतः से देखें तो मुख्यतः दो प्रकार की ही दृष्टियाँ काम करती हैं: अभेददृष्टि और भेददृष्टि। द्रव्यार्थिक नय अभेददृष्टि पर और पर्यायार्थिक नय भेददृष्टि पर अवलम्बित हैं। नैगम आदि नय इन दो मूलभूत अभेदग्राही और भेदग्राही नयों का ही विस्तार है। सिद्धसेन दिवाकर ने अभेदसंकल्पी नैगम को संग्रह में और भेदसंकल्पी नैगम को व्यवहार में समाविष्ट करके नैगम को पृथक् नय नहीं माना है। उनके अभिप्राय के अनुसार संग्रहादि छः नय हैं।

अब नयाभास (दुर्नय) भी देख लें—

धर्म धर्मी, गुण-गुणी आदि का एकान्त भेद माननेवाला मत—केवल भेद का स्वीकार करके अभेद का तिरस्कार

करनेवाला मत नैगमाभास है। इसके उदाहरण में नैयायिक-वैशेषिक दर्शन रखे जाते हैं।

संग्रहनय के परसंग्रह और अपरसंग्रह दो भेद हैं। समग्र विश्व सत्‌रूप से एक है—इस तरह मात्र सत् को ही शुद्ध द्रव्य माननेवाला परसंग्रह सब विशेषों की ओर उदासीन रहता है। परन्तु उदासीन न रहकर यदि विशेषों का इनकार करे तो वह परसंग्रहाभास बन जाता है।

जीव, पुद्गल, काल आदि द्रव्यों को द्रव्यस्वरूप से एक माननेवाला अपरसंग्रह उनके विशेषों की ओर उपेक्षा-भाव रखता है। परन्तु ऐसा न कर के यदि वह उन विशेषों का इनकार करे तो वह अपरसंग्रहाभास बन जाता है। इस संग्रहाभास के उदाहरण के तौर पर सांख्यदर्शन तथा अद्वैत वेदान्तदर्शन रखे जाते हैं।

संग्रह के विषयभूत सत् तत्त्व का—जो सत् वह द्रव्य अथवा पर्याय, जो द्रव्य वह जीवादि अनेक प्रकार, जो जीव वह संसारी और मुक्त इत्यादि रूप से विभजन-विश्लेषण (विभागशः विवेचन) करनेवाला व्यवहार नय है। परन्तु जब वह द्रव्य-पर्याय की व्यवस्था को अपारमार्थिक कह डाले-केवल भेदगामी बनकर अभेद का तिरस्कार करे तब वह व्यवहाराभास बनता है। इस व्यवहाराभास का उदाहरण चार्वाक दर्शन है।

ऋजुसूत्र केवल वर्तमानकालीन पर्याय को मान्य रखता है, परन्तु जब यह द्रव्य-पर्याय के सम्बन्ध का—स्थायी द्रव्य का सर्वथा अपलाप करे तब ऋजुसूत्रनयाभास बन जाता है। बौद्धदर्शन प्रतिक्षण विनश्वर पदार्थों को ही वास्तविक माननेवाला दर्शन है। उसके मत में इन पर्यायों के आधार भूत त्रिकालस्थायी द्रव्य का अस्तित्व ही नहीं है। अतः ऐसा दर्शन ऋजुसूत्रनयाभास के उदाहरण के रूप में दिया जाता है।

काल, लिंग आदि के भेद से शब्द के अर्थभेद का एकान्तरूप से समर्थन करनेवाला नय शब्दाभास है। भूत काल में प्रयुक्त और वर्तमानकाल में प्रयुक्त राजगृह शब्द एकान्तरूप से सर्वथा भिन्न राजगृह को सूचित करते हैं—ऐसा मानना यह शब्दाभास का उदाहरण है।

पर्यायवाची शब्दों का सर्वथा भिन्न भिन्न ही अर्थ मानने का एकान्त आग्रह रखना समभिरूढनयाभास है।

एवंभूत नय का मन्तव्य ऐसा है कि शब्द में से सूचित होनेवाली क्रिया में उस शब्द से वाच्य पदार्थ जब परिणत हो तब वह शब्द उस अर्थ का वाचक है, परन्तु इस मन्तव्य को एकान्तरूप से पकड़े रखे, राजा सोया हो तब राजा अथवा नृप कहा ही नहीं जा सकता—ऐसा यदि एकान्त विधान करे तो वह एवम्भूतनयाभास है।

अबतक के विवेचन पर से हम जान सके हैं कि अनेकान्तदृष्टि एक वस्तु में विविध धर्मों का समूह देखता है और स्याद्वाद उनका निरूपण करता है; जबकि नय, उन धर्मों में से किसी एक धर्म का विचाररूप है और उस धर्म का मुख्यरूप से कथन अथवा व्यवहार करता है। स्याद्वाद सकलादेश कहलाता है, क्योंकि वह एक धर्म द्वारा समूची एक वस्तु को 'सकल' (अखण्ड) रूप से ग्रहण करता है, जबकि नय विकलादेश है, क्योंकि वह वस्तु का विकलरूप से अर्थात् अंशतः [वस्तु के एक देश का—एक धर्म का] कथन करता है। स्याद्वाद अर्थात् सकलादेश अथवा प्रमाणवाक्य अनेकान्तात्मक (अनेकधर्मात्मक) वस्तु का निर्देश करता है। जैसे कि, जीव कहने से ज्ञान-दर्शनादि असाधारण गुणयुक्त, सत्त्व-प्रमेयत्वादि साधारण गुणयुक्त और अमूर्तत्व, असंख्येयप्रदेशित्व आदि साधारण-असाधारण धर्मयुक्त जीव का अखण्डरूप से बोध होता है। इसमें जीव के सब धर्म एक (अभिन्न) रूपसे गृहीत होते हैं, अतः गौणमुख्यभाव की विवक्षा इसमें अन्तर्लीन हो जाती है। विकलादेश (नयवाक्य) वस्तु के एक धर्म का मुख्यतया कथन करता है। जैसे कि, 'चेतन जीव' अथवा 'ज्ञाता जीव' कहने से जीव के चैतन्य अथवा ज्ञान गुण का मुख्य रूप से बोध होता है और शेष धर्म गौणभाव से उसमें अन्तर्गत रहते हैं।

इस तरह देखा गया कि वाक्य के दो भेद होते हैं : प्रमाणवाक्य और नयवाक्य। वस्तु को सामान्यतः पूर्ण रूप से विषय करनेवाले 'प्रमाण' के वाक्य को प्रमाण वाक्य कहते हैं और वस्तु को अंशरूप से ग्रहण करनेवाले 'नय' के वाक्य को नयवाक्य कहते हैं। इन दो वाक्यों के बीच का अन्तर शब्दों से नहीं, किन्तु भावों से मालूम होता है। जब हम किसी शब्द द्वारा सामान्यतः पूर्ण वस्तु का कथन करते हैं तब उसे प्रमाणवाक्य कहते हैं और जब हम शब्द द्वारा वस्तु के किसी एक धर्म को कहते हैं अथवा किसी एक धर्म मुखेन वस्तु का उल्लेख करते हैं तब उसे नयवाक्य कहते हैं। नयवाक्य अर्थात् विकलादेश वस्तु का उसके किसी एक धर्म द्वारा कथन करता है और प्रमाणवाक्य अर्थात् सकलादेश वस्तु को उसके किसी एक धर्म द्वारा उपस्थित न करके सामान्यतः समुच्चय रूप से—समूची वस्तु को उपस्थित करता है।

इसे ज़रा उदाहरण के साथ देखें। 'संसार के वैभव अथवा सांसारिक पदार्थ विद्युत् की भाँति क्षणिक हैं'—इस वाक्य में विद्युत् शब्द का निर्देश, विद्युत् शब्द का अर्थ 'खूब चमकदार' ऐसा होने पर भी उस चमकीलेपन की दृष्टि से नहीं है, किन्तु चमकनेवाली उस समूची वस्तु का यहाँ निर्देश है। इस उदाहरण से 'सकलादेश' का खयाल आ सकता है। किसी लड़की की चमकदार कान्ति अथवा उसकी

अतिचपलता के कारण हम उसके बारे में ऐसा कहते हैं कि 'यह लड़की क्या है ? मानो बिजली है।' यहाँ पर बिजली शब्द का निर्देश उस (बिजली) वस्तु के सौन्दर्य-सहित चपलतारूप धर्म द्वारा किया गया है। इस पर से 'विकलादेश' का भी ख्याल आ सकता है। इसी प्रकार 'जीव' शब्द से जानना, देखना आदि धर्मयुक्त सामान्य जीव पदार्थ का बोध होना 'सकलादेश' है और जब उससे केवल 'जीवन' धर्म ही अभिप्रेत हो तो वह 'विकलादेश' है।

प्रमाण-ज्ञान का उल्लेख 'स्यात् (कथंचित्) सत्' अथवा 'स्यात् सदेव'—इस प्रकार से होता है। इसमें 'स्यात्' का प्रयोग इसलिये किया जाता है कि दूसरे भी धर्म सापेक्षरूप से ध्वनित अथवा सूचित हों। 'स्यात्' शब्द जोड़ देने से वह कथन स्याद्वाद बनता है। नय का उल्लेख 'सत्'–इस प्रकार से होता है[1]; क्योंकि वह स्वाभिमत धर्म का ही कथन करता है। स्वाभिमत धर्म से भिन्न धर्म की चर्चा में वह नहीं पड़ता। परन्तु यदि वह स्वाभिमत धर्म के निवेदन के साथ ही साथ इतर धर्म अथवा धर्मों का निषेध करे तो वह नय नहीं, किन्तु दुर्नय है। इसका उल्लेख

१. सदेव, सत्, स्यात् सदिति त्रिधाऽर्थो
मीयेत दुर्नीति-नय-प्रमाणै.।
—हेमचन्द्र, अन्ययोगव्यवच्छेदिका श्लोक २८

'सत् ही है' ऐसा एकान्त (निरपेक्ष एकान्त) निर्धारणरूप है। नय और दुर्नय इन दोनों के बीच यही भेद है। यद्यपि इन दोनों के वाक्य में फ़र्क़ नहीं होता, फिर भी अभिप्राय में अवश्य फ़र्क़ होता है।

जिस प्रकार धर्मका अवधारणरहित निर्देश नय है, जैसे कि सत्, उसी प्रकार एकान्त का अवधारण यदि सापेक्ष हो तो भी वह 'नय' है, जैसे कि 'स्यात् सदेव', अर्थात् अमुक अपेक्षा से सत् ही है। इस वाक्य में 'ही' का प्रयोग किया गया है, अतः सत्त्व (अस्तित्व) सावधारण है, परन्तु वह सापेक्ष है। यह सापेक्षता 'स्यात्' के प्रयोग से अथवा अध्याहार से जानी जा सकती है, अर्थात् उसके पीछे इस प्रकार का अभिप्राय होता है। इसी प्रकार 'घट अनित्य है'—यह अवधारणरहित धर्म-निर्देश जिस प्रकार नय है उसी प्रकार 'घट कथंचित् अनित्य ही है' ऐसा सावधारण निर्देश भी सापेक्ष होने से नय है—'नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे'—स्वामी समन्तभद्र।

स्वामी समन्तभद्र कहते हैं कि—

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्॥

—स्वयम्भूस्तोत्र १०३

—अनेकान्त भी एकान्त नहीं है अर्थात् वह अनेकान्त

भी है और एकान्त भी है। प्रमाणगोचर अनेकान्त है और नयगोचर एकान्त है।

इस परसे देखा जा सकता है कि नयवाद जब सापेक्ष एकान्तवाद होता है तब वह सम्यक् एकान्तवाद है। ऐसे एकान्तवादों का सुयोजित हार ही अनेकान्तवाद है।

श्री सिद्धसेन दिवाकर के सन्मतितर्क के तृतीयकाण्ड की

भद्दं मिच्छादंसणसमूहमइअस्स अमयसारस्स।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स॥

इस ६९ वीं गाथा में जिनवचन को मिथ्यादर्शनों का समूहरूप बतलाया है। अर्थात् अनेकान्तपूत जिनवाणी, समन्वित बने हुए मिथ्यादर्शनों का समुच्चय है। मतलब कि जिसे मिथ्यादर्शन कहा जाता है उसके आंशिक ज्ञान में आंशिक सत्य समाविष्ट है। 'षड्दर्शन जिन अंग भणीजे' आनन्दघनका यह उद्गार भी इसी बात को सूचित करता है। अंशज्ञान को अंश सत्य मानने के बदले सम्पूर्ण सत्य मान लेना ही मिथ्यादर्शन है।

हाथी के सुप्रसिद्ध उदाहरण[1] पर विचार करने से देखा जा सकता है कि समूचे हाथी का ज्ञान होने पर ही एक हाथी पदार्थ पूर्ण रूप से ज्ञात हो सकता है, परन्तु यदि

[1] यह उदाहरण तित्थियसुत्त, उदान०वग्ग ६ में भी है।

उसके एक एक अवयव को ही हाथी समझ लिया जाय तो उससे समूचा हाथी समझ लिया ऐसा नहीं कहा जायगा, परन्तु हाथी के एक एक अंश का ही ज्ञान हुआ है ऐसा कहा जायगा। हाथी के एक एक अवयव को हाथी मानने वाले वे अन्धे कैसे पागल थे! और इसीलिये हाथी के एक एक अवयव को हाथी मानकर परस्पर झगड़ने लगे। एक ही तरफ की अधूरी बात को पकड़कर और उसे पूर्ण सत्य मानकर दूसरे के दृष्टिबिन्दु एवं तत्सापेक्ष समझ को समझने का प्रयत्न नहीं करनेवाले तथा पूरा समझे बिना उसकी अवगणना करनेवाले आपस आपस में कितना विरोध और झगड़ा टण्टा मचाते हैं यह हमारी आँखों के सामने हम प्रतिदिन देखते हैं। अज्ञान का (दुराग्रहयुक्त अधूरे ज्ञान का) काम ही लड़ाने का है!

जिस प्रकार हाथी उसके एक एक अवयव में नहीं, किन्तु उसके सभी अवयवों में समाविष्ट है, उसी प्रकार वस्तु उसके एक अंश में नहीं, किन्तु उसके सभी अंशों के समुदाय में रही हुई है। अतः उसके सभी अंशों का ज्ञान होने पर ही वह पूर्ण रूप से ज्ञात समझी जायगी। इसका अर्थ यह हुआ कि हाथी के स्वरूप स्वरूप सभी अवयवों में हाथी को समझना जिस तरह हाथी के बारे में पूर्ण ज्ञान कहा जाता है उसी तरह वस्तु को उसके भिन्न भिन्न स्वरूपों में जानना उस वस्तु के बारे में पूरी समझ कही जाती है। कहने का

अभिप्राय यह है कि वस्तु के एक एक नहीं, किन्तु शक्य सभी अंशों के ज्ञान में वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान सन्निहित है। जड़ अथवा चेतन तत्त्व के अनेक अंशों को यदि बराबर समझा जाय तो दार्शनिकों में, हाथी के एक एक अंग को पकड़कर लड़नेवाले उन लोगों की भाँति, क्या लड़ाई हो सकती है ?

व्यवहार में तो समय एवं परिस्थिति के अनुसार कोई एक विचारमार्ग ग्रहण करना पड़ता है। व्यवहार में तो ऐसा ही होता है। नयदृष्टि व्यावहारिक उपयोग की वस्तु होने से जिस समय जो विचारदृष्टि योग्य अथवा अनुकूल प्रतीत होती हो उस समय वह दृष्टि (नयदृष्टि) अनेकान्त-रत्न-कोष में से ग्रहण करने की होती है।

'स्याद्वाद' अथवा ' 'अनेकान्तवाद' एक ऐसी विशाल दृष्टि का वाद है, जो वस्तु का भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से–भिन्न भिन्न दिशाओं से अवलोकन करता है। इस विशाल एवं व्यापक दृष्टि के अवलोकन से एकांगी दृष्टि के विचार संकुचित और अपूर्ण सिद्ध होते हैं, जबकि भिन्न भिन्न दृष्टिबिन्दुओं से संगत भिन्न भिन्न (विरुद्ध दिखाई देनेवाले) विचार भी माला में मौक्तिकों की भाँति समन्वित हो जाते हैं। इसीलिये अनेकान्तवाद वस्तुतः समन्वयकला होने से समन्वयवाद है और इसका परिणाम अपूर्ण दृष्टिओं से

निपजनेवाले कलह को शान्त कर के साम्यवाद (समवाद समभाव) के सर्जन में आता है; क्योंकि एक दृष्टि के आधार पर एक तरफी अभिप्राय रखनेवाले को जब दूसरी दृष्टि का ख्याल आता है तब उसकी एकतरफी जिद और अभिनिवेश दूर हो जाते हैं। अवश्य ही, एक-दूसरे के मानस को समाहित बनाकर परस्पर माधुर्यपूर्ण बनाने में व्यापक ज्ञान की आवश्यकता है और यह तभी सम्भव है जब हमारी दृष्टि व्यापक हो। इसी व्यापक दृष्टि को जैन दर्शन में 'अनेकान्तदृष्टि' कहते हैं और यह वस्तुतः संस्कारी जीवन का एक समर्थ अंग है। यह दृष्टि व्यावहारिक भी है और आध्यात्मिक भी है। इसे व्यवहार-जगत् का विचक्षण पुरुष भी समझ सकता है और आध्यात्मिक मार्ग का प्रवासी भी समझ सकता है। इस विशाल दृष्टि के निर्मल जल से अन्तर्दृष्टि का प्रक्षालन होने पर राग-द्वेष शान्त होने लगते हैं और इसके परिणामस्वरूप चित्त की अहिंसात्मक शुद्धि होने पर आत्म-समाधि का मार्ग सुलभ बनता है।

विशाल दृष्टि के योग से उदारभाव प्रकट होता है। यह एक-दो उदाहरण के साथ तनिक देखें।

एक सम्प्रदाय कहता है कि जगत्कर्ता ईश्वर है तो दूसरा कहता है कि जगत्कर्ता ईश्वर नहीं है अथवा ईश्वर जगत्कर्ता नहीं है। निस्सन्देह इन दोनों में से कोई एक

असत्य है। परन्तु समझने की बात तो यह है कि इन दोनों वादों का लक्ष्य क्या है ? ईश्वरकर्तृत्ववादी कहता है कि यदि तुम पाप करोगे तो ईश्वर तुम्हें दण्ड देगा, नरक में भेजेगा और यदि पुण्य करोगे तो वह खुश होगा, तुम्हें सुख देगा, स्वर्ग में भेजेगा। ईश्वरकर्तृत्व का विरोध करनेवाले जैन आदि कहते हैं कि यदि तुम पाप करोगे तो अशुभ कर्म का बन्ध होगा, खाए हुए अपथ्य भोजन की भाँति इसका (अशुभ कर्म का) दुःखरूप फल तुम्हें मिलेगा, तुम्हें दुर्गति में जाना पड़ेगा; परन्तु यदि तुम पुण्य करोगे तो तुम्हें शुभ कर्म का उपार्जन होगा, खाए हुए पथ्य भोजन की तरह यह (शुभ कर्म) तुम्हें सुखदायी होगा। एक धर्म-सम्प्रदाय मनुष्यों को ईश्वरकर्तृत्ववादी बनाकर जो काम कराना चाहता है वही काम दूसरा धर्म-सम्प्रदाय उन्हें ईश्वरकर्तृत्वमत का विरोधी बनाकर कराना चाहता है। इसमें देखना तो यह चाहिए कि धर्म में (धर्म के मुद्दे में) भिन्नता आई ? नहीं। अच्छे काम का अच्छा और बुरे का बुरा परिणाम मिलने के बारे में सभी का ऐकमत्य ही है। तब भिन्नता फल की मार्गसरणी की विचारणा में आई। यह भिन्नता ऐसे विशेष महत्त्व की क्यों गिनी जानी चाहिये कि विरोधजनक के रूप में परिणत हो ? विरोध तो वहाँ हो सकता है जहाँ दोनों के उद्देश एक-दूसरे से विरुद्ध हों, परन्तु यहाँ पर तो दोनों का उद्देश एक ही है। ईश्वरकर्तृत्व-

वाद को यदि वैज्ञानिक दृष्टि से असत्य मानें तो भी वह अधर्म (अधर्मप्रेरक) तो नहीं कहा जा सकता। बुद्धि की अपेक्षा जिनकी भावुकता सविशेष है उन्हें ईश्वरकर्तृत्व वाद अधिक प्रिय और उपयोगी लगता है। वे ऐसा विचारने लगते हैं कि ईश्वर के भरोसे सब कुछ छोड़ देने से निश्चिन्त हुआ जा सकता है। इसके फलस्वरूप कर्तृत्व का अहंकार उत्पन्न नहीं होता और पुण्य-पाप का विचार सतत बना रहता है। अधिक बुद्धिमान् गिन जानेवाले लोग ईश्वरकर्तृत्व तर्कसिद्ध न होने से उसे नहीं मानते हैं। वे ऐसा मानते हैं कि ईश्वर को कर्ता न मानकर स्वावलम्बी बनना-आत्म बल एवं निज पुरुषार्थ को विकसित करने में जागरित रहना आवश्यक है। ईश्वर को प्रसन्न करने की भोली भक्ति और कोशिश करने के बदले कर्तव्यसाधना में प्रगतिशील बनने के लिये प्रयत्नशील होना ही अधिक श्रेयस्कर है। उनका ऐसा मन्तव्य है कि हमारे पापों को क्षमा करने वाला कोई नहीं है। अतः हमें स्वयं पापाचरण से डरते रहना चाहिए।

इस पर से हम यह स्पष्ट देख सकते हैं कि जो ईश्वर कर्तृत्व को मानते है वे भी उसे इसीलिये मानते हैं कि मनुष्य पाप न करे; और जो ईश्वरकतृत्व नहीं मानते उनकी मान्यता का सार भी यही है कि मनुष्य पाप न

करे। दोनों का लक्ष्य एक है। प्राणी सदाचारी बनकर सुखी हों यही दोनों का उद्देश है।

इसी प्रकार अद्वैतवाद, जिसका सिद्धान्त यह है कि जगत् का मूल तत्त्व एक ही है, कहता है कि द्वैतभावना संसार का कारण है। अद्वैतभावनावाला 'यह मेरा स्वार्थ और यह दूसरे का स्वार्थ' ऐसा संकुचित विचार नहीं रखता। वह तो जगत् के हित में अपना हित समझता है। जिस वैयक्तिक स्वार्थ के लिये मनुष्य नानाविध पाप करते हैं वह वैयक्तिक स्वार्थ ही उसकी दृष्टि में नहीं रहेगा और इस तरह वह निष्पाप बनेगा। द्वैतवादी कहता है कि मूल तत्त्व दो हैः मैं आत्मा हूँ और मेरे साथ लगा हुआ परतत्त्व-जड़ तत्त्व-पुद्गल तत्त्व मुझ से भिन्न है। 'मैं' चेतनतत्त्व होने पर भी परतत्त्व-जड़ तत्त्व के सम्बन्ध के कारण दुर्वासनावश मूर्ख बनकर, अपने साधर्मिक (समानधर्मी) अन्य चेतन तत्त्वों (जीवों) के साथ के व्यवहार में प्रामाणिक न रहकर अनीति-अन्यायमय बरताव रखता हूँ, यह मेरे लिये योग्य नहीं है। मैं जड़ तत्त्व के कलुषित मोहात्मक बन्धन में गिरकर और उसकी गुलामी स्वीकार करके दुःखी होता हूँ और दूसरों को दुःखी करता हूँ। अतः मोह के इस दुःखद बन्धन को मुझे तोड़ना चाहिए।

इस तरह अद्वैत, द्वैत दोनों वादों में से एक-जैसा ही कल्याणरूप फलितार्थ निकलता है।

अनेकान्त के बारे में अपनी 'अनेकान्तविभूति' नाम की द्वात्रिंशिका में से कुछ श्लोक मैं यहाँ पर प्रस्तुत करता हूँ—

द्वैताद्वैतवाद—

द्वैतं यथार्थं जडचेतनाभ्यामद्वैतमभ्यासविकासहेतोः ।
इत्थं द्वयं तत् प्रभु संगमय्य शान्तस्त्वया तारक! तद्विरोधः ॥ ९ ॥

—जगत् जड और चेतन इस प्रकार दो तत्त्वरूप होने से द्वैतवाद यथार्थ है। इसी प्रकार आत्मरूप तत्त्व एक मात्र आत्मतत्त्व होने से उसके (आत्मा के) विकास-साधन की दृष्टि से [उसकी विकास साधना पर भार देने के लिये] अद्वैतवाद का निर्देश भी यथार्थ है। इस तरह इन दोनों की कुशल सङ्गति कर के हे तारक प्रभो! तुमने इनका विरोध शान्त कर दिया है।

एकानेकात्मवाद—

एकात्मवादो हि समात्मवादः स सर्वभूतैः समभावनायाः ।
इत्थं सुधीभिर्गमयति भिन्नोऽपि नानात्मवादं परमार्थसिद्धम् ॥१०॥

—एकात्मवाद का हमें तनिक भी विरोध नहीं है, परन्तु आत्मा व्यक्तिशः नाना होने से 'एकात्मवाद' का अर्थ समानात्मवाद करना उचित है। [समानात्मवाद यानी सब आत्मा मूलरूप से एक ही-एक ही सरीखे

स्वरूप के हैं ऐसा सिद्धान्त ।] यह वाद सब प्राणियों के साथ समभाव स्थापित करने का पाठ सिखाता है । बुद्धि-शाली पुरुष अनेकात्मवाद का (जीव भिन्न भिन्न हैं इस तत्त्व का) सिद्धान्त, जो कि यथार्थ है, उसका अनुगामी होने पर भी, ऊपर कहा उस तरह, एकात्मवाद की भावना को पुष्ट करता है ।

अवतारवाद—

मुक्तस्य भूयो न भवावतारो मुक्तिव्यवस्था न भवावतारे ।
उत्कृष्टजन्मान उदारकार्यैर्महावतारा उदिता महान्तः ॥ ११ ॥

—मुक्ति की प्राप्ति के पश्चात् मुक्त आत्मा का पुनः संसार में अवतरण नहीं होता । संसार में उसका पुनः अवतरण यदि माना जाय तो मुक्ति की व्यवस्था ही नहीं रहेगी । अतः इस तरह का 'अवतारवाद' युक्तियुक्त नहीं है । महान् पुरुषों का जन्म महान् कार्य करने से महान् समझा जाता है । और इसीलिये, 'अवतार' का अर्थ जन्म होने से वे 'अवतारी' अथवा महान् अवतारी समझे जाते हैं ।

कर्तृत्ववाद—

सोपाधिरात्मा जगति प्रवृत्तोऽनुपाधिरात्मा न वहेदुपाधिम् ।
एवं हि कर्तृत्वमकर्तृतां चाश्रित्योद्भवन्तः कलहा व्यपेयुः ॥१२॥

। है और

उपाधिमुक्त शुद्ध (सच्चिदानन्दमय) आत्मा को—परम आत्मा को उपाधि उठानी नहीं पड़ती। इस तरह कर्तृत्व और अकर्तृत्ववाद के कारण होनेवाले कलह शान्त हो जाते हैं।

साकार–निराकारवाद—

> साकारभावे सशरीरतायां निराकृतित्वे च विदेहतायाम् ।
> सम्भाव्यमाने परमेश्वरस्य विरोधभावोऽनवकाश एव ॥१३॥

—परमात्मा की शरीरधारी अवस्था में साकारता और विदेह दशा में निराकारता—इस तरह दोनों संभव होने से इनमें विरोध के लिये अवकाश नहीं है।

आत्मविभुत्ववाद—

> शरीरमानोऽस्ति शरीरधारी विभुः पुमान् ज्ञानविभुत्वयोगात् ।
> इत्थं विभोऽवैभव-वैभवस्य समन्वयं सत्कुरुते सुधीमान् ॥१४॥

—शरीरधारी आत्मा स्वशरीरप्रमाण है और जब वह व्यापक ज्ञानशक्ति के प्रकाश से प्रकाशित होता है तब इस ज्ञान की विभुता की दृष्टि से वह विभु भी है। इस तरह, ऊपर बताए हुए विभुत्व एवं अविभुत्व के समन्वय का बुद्धिमान् पुरुष आदर-सत्कार करते हैं। [जैन दृष्टि से आत्मा असंख्येयप्रदेशी होने से उसके प्रदेश किसी समयविशेष में सुविस्तृत होने पर सकललोकव्यापी बनते हैं। इस तरह भी आत्मा विभु (विभुत्वशक्ति का धारक) है।]

शून्य और क्षणिकवाद—

जगत् समग्रं खलु सारहीनमिति प्रबुद्धो निजगाद शून्यम् ।
विनश्वरं च क्षणिकं तदेवं ज्ञात्वाऽऽशयं कः कुरुतां विरोधम् ? ॥ १५ ॥

—'समग्र जगत् असार है' ऐसा समझनेवाले ने उसे 'शून्य' कहा और उसे विनश्वर (क्षणभंगुर) समझनेवाले ने 'क्षणिक' कहा। इस दृष्टि से 'शून्यवाद' और 'क्षणिकवाद' यदि समझे जायँ तो इनका विरोध कौन कर सकता है ?

दिगम्बर-श्वेताम्बरवाद—

श्वेताम्बरा दिग्वसनाश्च हन्त ! कथं मिथः स्युः कलहायमानाः ?
आश्रित्य नग्नेतरभावभूमिं भवत्यनेकान्तधुरन्धरत्वे ॥ १६ ॥

—श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों अनेकान्तवाद के धुरन्धर हैं—अनेकान्तवाद का ज़ोरदार प्रचार करनेवाले हैं, तो फिर नग्नता और अनग्नता के बारे में परस्पर कलह क्यों करते हैं ?

कषायमुक्तावबगत्य मुक्तिं बुद्ध्वाऽप्यनासक्तिसमर्थयोगम् ।
ज्ञात्वा क्रमं साधनसश्रयं च मुनेः सचेलत्वमपि प्रतीयात् ॥ १७ ॥

—कषाय (काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह) से मुक्त होने में ही मुक्ति है ऐसा जाने, 'अनासक्ति' योग के सामर्थ्य का ख्याल आए और साधन-विधि की क्रमिकता समझे तो मुनि की सचेलकता भी समझ में आ सकती है।

किं मुक्तिसंसाधनयोगमार्गो यस्य विनाऽऽविष्करुते न मुक्तिम् ?
येद् वीतरागत्वमुपैति पूर्णं नग्नोऽप्यनग्नोऽपि लभेत मुक्तिम् ॥१८॥

—मुक्तिलाभ में परम साधनभूत योगमार्ग वस्त्र न होने पर क्या मुक्ति प्रकट नहीं करता ? वस्त्र न होने पर मुक्ति को प्रकट होने से क्या वह रोकता है ? नहीं। मुख्य मुद्दे की बात तो यह है कि वीतरागता पूर्णरूप से प्रकट होने पर, नग्नावस्था में अथवा अनग्नावस्था में, अवश्य मुक्ति प्राप्त होती है।

मूर्तिवाद—

सद्भावना जागृति मूर्तियोगाद्, उपासकास्तां तत आश्रयन्ति।
योगाप्रमत्त-स्थिरमानसानामावश्यकः स्यान्नहि मूर्तियोग ॥२२॥

—भगवान् की मूर्ति का आश्रय लेने से सद्भावना जागरित होती है। अतः उपासक उसका अवलम्बन लेते हैं। योग की अप्रमत्त अवस्था में स्थिरमना मनुष्यों के लिये मूर्तियोग आवश्यक नहीं है।

सद्भावनोज्जागरसाधनानां मूर्त्यालम्बं साधनमेक एकम्।
श्रयेद् यथाशक्ति विवेकपूर्वं करोति नैवानुचित स किञ्चित् ॥२३॥

—सद्भावना को जागरित करने के साधनों में एक अधिक साधन मूर्तियोग भी है। उसका जो व्यक्ति यथा शक्ति विवेकपूर्वक आश्रय लेता है वह क्या कुछ अनुचित करता है ? नहीं।

कषायरोधाय हि मूर्तियोगः समाश्रयस्तं तमनाश्रयद्भिः ।
सार्धं विरोधाचरणं धरेच्चेत् कुतस्तदा तस्य स सार्थकः स्यात् ?॥२४॥

—मूर्तियोग कषायों के उपशमन के लिये है, अतः उसका आश्रय लेनेवाला उसका अवलम्बन न लेनेवाले के साथ (उसका अवलम्बन न लेने के कारण) यदि विरोधभाव धारण करे तो उसका मूर्तियोग कैसे सार्थक हो सकता है ?

क्रियावाद—

न कर्मकाण्डाश्रयदुर्ग्रहस्याऽनेकान्तदर्शी ददतेऽवकाशम् ।
सर्वाः क्रियाः शुद्धिभृतः सुयोगाः शुभावहाः,कोऽत्र सतां विरोधः?२५

—अनेकान्तदर्शी क्रियाकाण्ड के बारे में दुराग्रह अथवा हठ नहीं करता । कोई भी क्रिया यदि शुद्ध हो, उसमें मन-वचन काय के योग यदि शुद्ध एवं शुभ रहते हों तो वह कल्याणकारक है । इसमें किस समझदार व्यक्ति का विरोध होगा ?

दार्शनिक मत-मतान्तरों का विस्तार अत्यन्त विशाल एवं गम्भीर है । कोई आत्मवादी है तो कोई अनात्मवादी है । आत्मवादी में भी कोई एकात्मवादी है तो कोई नानात्मवादी है । इसी प्रकार ईश्वरवाद के मत में भी अनेक विभिन्नताएँ हैं । ये सब मन्तव्य एक-दूसरे के साथ टकराते रहते हैं–वादविवाद के विषय बने रहते हैं । ऐसा होने पर भी

विश्व की दृष्टि के आगे एक तत्त्व सुनिश्चित है और वह है सब प्राणधारियों में—समग्र सजीव शरीरों में होनेवाला 'मैं' का संवेदन। इस सर्वानुभवसिद्ध और सर्वमान्य तत्त्व के आधार पर 'जीओ और जीने दो' का उपदेश सर्वग्राह्य बना है। कट्टर से कट्टर कही जानेवाली नास्तिक संस्था भी इस उपदेश को मान्य रखती है और इसे अपना कर्तव्य समझती है। इस उपदेश का विस्तार मानवसमाज में इतना फैला हुआ है कि दूसरे के हित का बलिदान कर के अपना हित साधना अनीति है, दोष है, पाप है ऐसा मनुष्य समझता है। वह यह बात भी समझता है कि 'मैं' का संवेदन सब प्राणियों में एक-जैसा होने से सब को परस्पर सद्भाव एवं मैत्रीपूर्वक रहना और बरतना चाहिए। इस तरह का बरताव रखने में ही सब का हित और सुख रहा हुआ है। संक्षेप में, 'मैं' के सर्वसामान्य तत्त्व के आधार पर समूचा नैतिक पोरख और सदाचार-नीति व्यवस्थित हुई है। जो मनुष्य 'मसा कहे अन्धेरा कुआँ' के अनुसार दार्शनिक चर्चाओं तथा कल्पनाओं से घबराकर विषम झझावात व अतीव होनेवाले वादों से विरक्त हो गया है वह भी उपर्युक्त सर्वग्राह्य 'मैं' के तत्त्व पर प्रतिष्ठित सदाचार-नीति की (सत्य शील-सदाचार की) उपासना द्वारा अपना कल्याण कर सकता है। वस्तुतः ऐसी उपासना के बल पर चित्तशुद्धि अधिकाधिक सधती और विकसित होती

जाती है और विकसित होते होते ऐसी उज्ज्वल बन जाती है कि अगोचर सत्य भी, जैसे होते हैं वैसे, उस महामानव की दृष्टि के सम्मुख स्पष्ट हो जाते हैं।

इस पर से समझा जा सकता है कि अनात्मवादी भी यदि शुद्ध सदाचरणपरायण होगा तो उसकी ऐसी साधना आत्मतत्त्व की साधनारूप ही समझी जायगी। उसकी यह साधना अनजान में भी (आत्मतत्त्व के स्वतंत्र अस्तित्व से अज्ञात होने पर भी) उसके आत्मा के शुद्धीकरण में ही पर्यवसित होने की। इसलिये ऐसा मनुष्य मान्यता की दृष्टि से अनात्मवादी कहलाने पर भी आचरण की दृष्टि से आत्मवादी है। इसके विपरीत, आत्मवादी का आचरण यदि आत्मा के लिये हितावह न हो—सदाचारपूत न हो तो वह भले ही मान्यता से आत्मवादी कहलाए, परन्तु वस्तुतः वह अनात्मवादी ही है। बोलने जितना ही वह आस्तिक है, बाकी वह स्व-पर दोनों के लिये भयरूप ऐसा नास्तिक ही है। इसी प्रकार ईश्वरवाद के बारे में समझना चाहिए। ईश्वर अथवा परमात्मा सदाचारी बनने का, विचार-वाणी-व्यवहार को विशुद्ध रखने का आदेश देता है। अब, जो मनुष्य ईश्वरवाद में नहीं मानता, फिर भी ईश्वर की इस आज्ञा का पालन करता है अर्थात् सदाचार के शुभ मार्ग पर चलता है वह क्या ईश्वरभक्त नहीं है? वह मान्यता की दृष्टि से भले ही निरीश्वरवादी हो, परन्तु

विश्व की दृष्टि के आगे एक तथ्य सुनिश्चित है और वह है सब प्राणधारियों में — समग्र सजीव शरीरों में होनेवाला 'मैं' का संवेदन। इस सर्वानुभवसिद्ध और सर्वमान्य तथ्य के आधार पर 'जीओ और जीने दो' का उपदेश सर्वग्राह्य बना है। कट्टर से कट्टर कही जानेवाली नास्तिक संस्था भी इस उपदेश को मान्य रखती है और इसे अपना कर्तव्य समझती है। इस उपदेश का विस्तार मानवसमाज में इतना फैला हुआ है कि दूसरे के हित का बलिदान करके अपना हित साधना अनीति है, दोष है, पाप है ऐसा मनुष्य समझता है। वह यह बात भी समझता है कि 'मैं' का संवेदन सब प्राणियों में एक जैसा होने से सब को परस्पर सद्भाव एवं मैत्रीपूर्वक रहना और बरतना चाहिए। इस तरह का बरताव रखने में ही सब का हित और सुख रहा हुआ है। संक्षेप में, 'मैं' के सर्वसामान्य तथ्य के आधार पर समूचा नैतिक पौरुष और सदाचार-नीति व्यवस्थित हुई है। जो मनुष्य 'मता कहे अंधेरा हुआ' के अनुसार दार्शनिक चर्चाओं तथा कल्पनाओं से घबराकर विषम संशयवाद से प्रतीत होनेवाले वादों से विरक्त हो गया है वह भी उपर्युक्त सर्वग्राह्य 'मैं' के तथ्य पर प्रतिष्ठित सदाचार-नीति की (सत्य शील-सदाचार की) उपासना द्वारा अपना कल्याण कर सकता है। वस्तुतः ऐसी उपासना के बल पर चित्तशुद्धि अधिकाधिक सधती और विकसित होती

जाती है और विकसित होते होते ऐसी उज्ज्वल बन जाती है कि अगोचर सत्य भी, जैसे होते हैं वैसे, उस महामानव की दृष्टि के सम्मुख स्पष्ट हो जाते हैं।

इस पर से समझा जा सकता है कि अनात्मवादी भी यदि शुद्ध सदाचरणपरायण होगा तो उसकी ऐसी साधना आत्मतत्त्व की साधनारूप ही समझी जायगी। उसकी यह साधना अनजान में भी (आत्मतत्त्व के स्वतंत्र अस्तित्व से अज्ञात होने पर भी) उसके आत्मा के शुद्धीकरण में ही पर्यवसित होने की। इसलिये ऐसा मनुष्य मान्यता की दृष्टि से अनात्मवादी कहलाने पर भी आचरण की दृष्टि से आत्मवादी है। इसके विपरीत, आत्मवादी का आचरण यदि आत्मा के लिये हितावह न हो—सदाचारपूत न हो तो वह भले ही मान्यता से आत्मवादी कहलाए, परन्तु वस्तुतः वह अनात्मवादी ही है। बोलने जितना ही वह आस्तिक है, बाक़ी वह स्व-पर दोनों के लिये भयरूप ऐसा नास्तिक ही है। इसी प्रकार ईश्वरवाद के बारे में समझना चाहिए। ईश्वर अथवा परमात्मा सदाचारी बनने का, विचार-वाणी-व्यवहार को विशुद्ध रखने का आदेश देता है। अब, जो मनुष्य ईश्वरवाद में नहीं मानता, फिर भी ईश्वर की इस आज्ञा का पालन करता है अर्थात् सदाचार के शुभ मार्ग पर चलता है वह क्या ईश्वरभक्त नहीं है? वह मान्यता की दृष्टि से भले ही निरीश्वरवादी हो, परन्तु

सम्भवतः ईश्वरवादी है, ईश्वरभक्त है; क्योंकि उसे ईश्वर के अस्तित्व की कल्पना न होने पर भी जिस मार्ग पर चलने का ईश्वर का आदेश है उसी मार्ग पर वह चलता है। विश्वम्भर भगवान् को पूजक के पास से क्या चाहिए ? कुछ नहीं; और यदि उसे कुछ चाहिए तो वह इतना ही कि मनुष्य मनुष्य बने। वह यदि पूजक को आज्ञा करे तो वह इतनी ही कि तू मनुष्य बन। जीवन में से दोषों एवं बुराइयों को दूर कर के सद्गुणी बन। सदाचारी और सत्कर्मा बन। मनुष्य ऐसा जीवन जीए इसीलिये अद्वैतवाद ने जड़ तत्त्व के ऊपर का मोह झाड़कर और आत्मदृष्टि को जागरित कर के ब्रह्मनिष्ठ अर्थात् आत्मनिष्ठ – आत्माराधक बनने का उपदेश दिया है। द्वैतवाद ने चेतन-तत्त्व के साथ ओतप्रोत हुए अचेतन तत्त्व (जड़ तत्त्व) को पहचानकर उसे अपने चित् स्वरूप में से हटाने का उपदेश दिया है, अर्थात निर्मोह-दशा प्राप्त करके अपना शुद्ध चैतन्य स्वरूप को प्रगट करना समझाया है। क्षणिकवाद ने समूचे सांसारिक विस्तार को क्षणिक (क्षण भंगुर) बताकर और 'क्षणिक वस्तु के ऊपर मोह कैसा !' ऐसा समझाकर मोहवासना को हटाने के सदुपदेश में अपना योग प्रदान किया है। शून्यवाद ने विनश्वनशील जगत् का चित्र उपस्थित कर के 'अन्ततः सब सूना सूना हो जाता है' ऐसे सर्वस्पर्शी अनुभव के आधार पर, संसार की असारता के अर्थ में, वैराग्य-प्रेरक शुल्क मोह को दूर करने के इरादे से

शून्यवाद बतलाया है। ज्ञानवाद ने लाभप्रद वस्तु को हानिकर और हानिकर वस्तु को लाभप्रद, हित को अहित और अहित को हित, प्रिय को अप्रिय और अप्रिय को प्रिय समझ लेनेवाला मन किसे अज्ञात है?—ऐसा सूचित करके अर्थात् वस्तुस्थिति चाहे जैसी हो परन्तु उसकी नानारंगी कल्पना ही चित्त को आवृत कर के उसे नानारंगी बनाती है ऐसी लोकप्रतीति को उपस्थित कर के सत्य-शील-सदाचार से साध्य चित्तशुद्धि में से प्रगट होनेवाली विशुद्ध अनुभूति और प्रमिति पर जीवन-स्वास्थ्य का अवलम्बित होना प्रतिप्रादित किया है। जगत्कर्तृत्ववाद ने ईश्वर के ऐश्वर्य का वर्णन कर के और उसकी ओर भक्तिभाव प्रगट करने का उपदेश देकर उस भक्ति के अनुसन्धान में उसके सच्चे फलस्वरूप सच्चारित्रशील बनने की उद्घोषणा की है। इस उद्घोषणा के पीछे अभिप्राय यही है कि सच्चारित्र के बिना भक्ति नहीं और भक्ति के बिना सच्चारित्र का विकास नहीं। ईश्वर को जगत्कर्ता न माननेवाले वाद ने स्वयं आत्मा को स्वयम्भू शक्तिशाली बताकर उस पर के कार्मिक आवरणों के आक्रमणों को दूर हटाने में अपने समर्थ आत्मबल का उपयोग करने की प्ररूपणा की है। इस तरह परस्पर विरुद्ध दिखाई देनेवाले पौराणिक वादों के पुरस्कर्ताओं ने अपने अपने वाद के पुरस्करण के मूल में जीवन को सद्गुणी, सदाचारी, सत्कर्मा बनाने का ही एकमात्र

मुख्य ध्येय रहा है। इस ध्येय को कोई भी मतावलम्बी दार्शनिक अथवा वादी साध सकता है और ऐसा करके अपनी कल्याणसाधना के साथ ही साथ इस प्रत्यक्ष दृश्यमान विश्व को सुन्दर बनाने में अपना भरसक प्रशंसनीय सहयोग दे सकता है। और इससे अधिक सुन्दर दूसरा हो ही क्या सकता है?

अनेकान्तदृष्टि का एक और विषय प्रदेश यहाँ उपस्थित किया जाता है—

१ काल—

किए हुए शुभाशुभ कर्म तत्काल उदय में नहीं आते, किन्तु परिपक्व होने के पश्चात् उदय में आते हैं। अतः कर्म को भी अपना फल दिखाने में काल की अपेक्षा रहती है। कार्यसिद्धि के लिये अनुकूल उद्यम भी सफल होने के लिये थोड़ा बहुत समय लेता ही है। आम बोने पर तुरन्त ही फल उत्पन्न नहीं होता। स्टीमर अथवा मोटर चलते ही, अथवा वायुयान उड़ते ही फौरन गन्तव्य स्थान पर नहीं पहुँच जाता। आम की गुठली में आम के पेड़ को उत्पन्न करने का स्वभाव है और उद्यम आदि की अनुकूलता भी है, फिर भी काल की मर्यादा जब तक प्राप्त नहीं होती तब तक गुठली आम नहीं बन सकती। अतः स्वभाव को भी काल की अपेक्षा तो रहती ही है। शीतकाल में सर्दी पड़े, ग्रीष्म

काल में गर्मी पड़े, वर्षा ऋतु में बरसात गिरे, वसन्त ऋतु में वृक्ष नवपल्लवित हों, युवावस्था आने पर पुरुष को दाढ़ी-मूँछ उगे – इस तरह अनेकानेक बातों पर से काल की निमित्तकारणता का सामर्थ्य हम जान सकते हैं। काल जीवन की घटनाओं में महत्त्वपूर्ण हाथ बँटाता है, यह कहे बिना हम रह नहीं सकते।

२. स्वभाव—

चावल बोया हो तो चावल और गेहूँ बोया हो तो गेहूँ ही उत्पन्न होता है, यह महिमा स्वभाव की ही है। इसमें काल की मर्यादा को स्थान अवश्य है, परन्तु बीज के स्वभाव के अनुसार ही फल की सिद्धि होने की। आम की गुठली में आम बनने का स्वभाव है, इसीलिये आम की गुठली बोने पर उद्यम द्वारा कालमर्यादा के अनुसार भाग्यशाली आम प्राप्त कर सकता है। काल, उद्यम आदि होने पर भी स्वभावविरुद्ध कोई कार्य नहीं हो सकता। चेतन-अचेतन के स्वभाव के अनुसार कार्य बना करता है। निःसन्देह स्वभाव का एक ज़बरदस्त स्थान है।

३. पूर्वकर्म—

सुख-दुःख और उनसे सम्बद्ध विविध दशाएँ कर्म की विचित्रता पर अवलम्बित हैं। करने जायँ सीधा और हो उलटा अथवा करें उलटा और पड़े सीधा—इन सब के पीछे कर्म का सामर्थ्य है। आकस्मिक लाभ अथवा आकस्मिक

प्राणि कार्मिक मत के अद्भुत निदर्शन हैं। संसारवर्ती सब जीव कर्म के बन्धनों से बद्ध होने के कारण तदनुसार भिन्न भिन्न परिस्थितियों का अनुभव उन्हें करना पड़ता है, भिन्न भिन्न अवस्थाओं में से उन्हें गुजरना पड़ता है। कर्म के प्राबल्य से सब कोई परिचित हैं।

क्ष्माभृद्रङ्कयोर्मनीषिजडयोः सद्रूपनीरूपयोः
श्रीमद्दुर्गतयोर्बलाबलवतोर्नीरोगरोगार्तयोः।
सौभाग्यासुभगत्वसंगमजुषोस्तुल्येऽपि नृत्वेऽन्तरं
यत्तत्कर्मनिबन्धनं तदपि नो जीवं विना युक्तिमत्॥

—देवेन्द्रसूरिकृत प्रथम कर्मग्रन्थ की स्वोपज्ञ टीका में उद्धृत।

अर्थात्—राजा और रंक, मेधावी और मूर्ख, खूबसूरत और बदसूरत, धनी और दरिद्र, बलवान् और निर्बल, स्वस्थ और रोगी तथा सौभाग्यवान् और दौर्भाग्यवान् में मनुष्यत्व समान होने पर भी इस तरह का जो नानाविध भेद देखा जाता है वह कर्म के कारण है। और जीव के बिना कर्म क्या? इसलिये कर्म की सिद्धि के साथ ही आत्मा भी सिद्ध हो जाता है।

इस पुस्तक के सम्पूर्ण चतुर्थ खण्ड में कर्मविषयक विवेचन किया गया है। पुण्य-पापरूपकर्मसम्बन्धी विचार धारा का यहाँ पर निरूपण किया गया है।

मनुष्य स्वाभाविक रूप से अपूर्ण है। वह चाहे जितनी कुशलता अथवा सावधानी क्यों न रखे, परन्तु प्राकृतिक

असावधानता और शरीरसुलभ चपलता थोड़ी बहुत उसमें रहने की ही। अतः वह अपनी अपूर्णता अथवा दुर्बलता का भोग कभी कभी हो ही जाता है। अपनी ही अंगुली से अपनी आँख, अपने ही दाँतों से अपनी जीभ किसी समय अकस्मात् ऐसी दब जाती है अथवा काटी जाती है कि उससे दुःख उठाना पड़ता है। असावधान रहने का दोष कोई न दिखला सके ऐसी हालत में भी अकस्मात् का शिकार वह हो जाता है। अमुक स्थान पर जाना अथवा होना और अनिष्ट दुर्घटना का शिकार बनना, अथवा समझदार होने पर भी उससे उलटी प्रवृत्ति का हो जाना—ऐसा बहुत बार होता है। वैयक्तिक अथवा सामूहिक चित्र-विचित्र घटनाएँ घटित होती हैं, जिन्हें हम 'दैवाधीन' कहते हैं। उन पर से कर्म के अस्तित्व का ख्याल आ सकता है।

४. उद्यम—

उद्यम का महत्त्व स्वीकार किए बिना चल नहीं सकता। केवल कर्म को ही प्रधान माननेवाले को भी जानना चाहिए कि कर्म को उत्पन्न करनेवाला कौन है ? जीव स्वयं। स्वयं जीव ही अपने व्यापार से कर्म बाँधता है, कर्मों के साथ वह बँधता है। कर्म के उदय में भी प्रवृत्ति-संयोग का सहयोग है। शुभ कर्म अशुभ कर्म के रूप में और अशुभ कर्म शुभ कर्म के रूप में परिवर्तित होता है—यह

परिवर्तन जीव के प्रयत्न से ही होता है। जहाँ कर्म की गति नहीं है वहाँ पर उद्यम की विजयपताका फहराती है। कर्म का (अदृष्ट का) कार्य जीव को भवचक्र में घुमाने का है, जबकि उद्यम-प्रयत्न-पुरुषार्थ कर्मों के विरुद्ध युद्ध करके और कर्म-सैन्य को ध्वस्त करके आत्मा को मुक्तिधाम पर ले जाता है। कैवल्य को प्रगट करने में कर्म का बल कारण नहीं है, परन्तु कर्मों का क्षय ही—कर्मक्षय का साधक प्रयत्न ही एकमात्र मुख्य कारण है। इस प्रकार की उद्यम की-प्रयत्न की—आत्मबल की असाधारण विशेषताओं को ध्यान में लेने पर 'कर्म' के महत्त्व की ओर एकान्त पक्षपात रखना अनुपयुक्त है। कर्म ('अदृष्ट' के अर्थ में) कर्म (क्रिया के अर्थ में) पर अवलम्बित है। अतः अच्छी-शुभ प्रशस्त क्रिया (सत्कर्म) करने में, मनोवाकाय-व्यापार को शुद्ध अथवा शुभ रखने में दृढ़संकल्पी बने रहना ही कर्म तन्त्र को सुधारने का और उसे विनष्ट करने का उपाय है—ऐसा ज्ञानी सन्तपुरुषों का उपदेश है। केवल कर्मवादी मनुष्य निरुत्साही निरुद्यमी बनने के कारण सफलता से वंचित रहता है, अपने दारिद्र्य को झाड़ने में असमर्थ बनता है। लक्ष्मी उद्योगी पुरुषसिंह का वरण करती है।

१ आरभेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः।
कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते ॥

—मनुस्मृति ९-३००

यद्यपि पुरुषार्थ को काल, स्वभाव आदि की अपेक्षा रहती ही है, तो भी विजय दिलाने में वह अद्वितीय है।

अर्थात्—मनुष्य पुन पुन कार्यपरायण बने। श्री कर्मवीर की ही सेवा करती है।

जर्मन विद्वान् शोपनहावर कहता है कि—

'Our happiness depends in a great degree upon what we are, upon our individuality.'

अर्थात्—हमारा सुख अधिकाशत हम जैसे हैं उस पर, हमारे व्यक्तित्व के ऊपर अवलम्बित है।

'It is a prerogative of man to be, in a great degree, the creature of his own making.'

—*Burke.*

अर्थात्—अधिकाशत अपने प्रयत्न के अनुसार बनने का विशेष अधिकार मनुष्य को मिला है।

'The poorest have sometimes taken the highest places; nor have difficulties apparently the most insuperable proved obstacles in their way. Those very difficulties, in many instances, would even seem to have been their best helpers by evoking their powers of labour and endurance, and stimulating into life faculties which might otherwise have lain dormant'

S Smile's Self-Help.

अर्थात्—अतिदरिद्र मनुष्यों ने भी कभी कभी सर्वोत्तम स्थान प्राप्त किए हैं। अत्यन्त कठिन दिखाई देनेवाले सकट भी उनके मार्ग में बाधक नहीं हो सके हैं। अनेक उदाहरणों में तो कठिन सकट उनके

वर्तमान युग में रेलगाड़ी, मोटर, टेलिग्राफ, टेलिफोन, वायरलेस यंत्र, रेडियो, टेलिविजन, एरोप्लेन, अणुशक्ति, हाइड्रोजन शक्ति आदि नए नए आविष्कार हुए हैं और दूसरे हो रहे हैं ये सब पुरुषार्थ के ज्वलन्त उदाहरण हैं। पुरुषार्थ दिखलानेवाली प्रजा अथवा व्यक्ति आगे बढ़ता है और उत्कर्ष तथा अभ्युदय को प्राप्त करता है। अकर्मण्य व्यक्ति अथवा प्रजा अपनी निःसत्त्वता के कारण पीछे रह जाती है और दूसरों की पराधीनता स्वीकार कर के उसे पददलित होना पड़ता है। यहाँ पर यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि उद्यम द्वारा प्राप्त सिद्धि का यदि दुरुपयोग किया जाय तो इसमें उद्यम अथवा सिद्धि का अपराध नहीं है; अपराध तो उनका दुरुपयोग करनेवाले का है।

५. नियति

नियति अर्थात् भाविभाव अथवा भवितव्यता। जो अवश्य भवितव्य है—भविष्य में जो अवश्य होनेवाला है वह

श्रम एवं आत्मशक्ति को जागरित कर के तथा शक्तियों को जो अन्यथा उनके भीतर प्रसुप्त ही पड़ी रहतीं उद्बोधित कर के उनके भेद बताए भी गये हैं।

Slumber not in the tents of your fathers. The world is advancing. Advance with it.

—*Mazzini*

—तेरे पूर्वजों के डेरे में पड़ा पड़ा मत सो। विश्व आगे बढ़ रहा है। इसके साथ तू भी आगे बढ़।

अवश्य होता है, इस प्रकार नियति का अर्थ किया जा सकता है। अनुकूल परिस्थिति होने पर खेती पककर तैयार हुई, परन्तु पाला गिरने से अथवा टिड्डियों के आक्रमण से अथवा आकस्मिक उपद्रव से यदि खेती नष्ट हो जाय तो यह भवितव्यता (नियति) का उदाहरण है। फलसिद्धि प्राप्त होने के समय ही बीमारी आ जाय अथवा दूसरा कोई आकस्मिक प्रबल विघ्न उपस्थित हो जिससे फलसिद्धि रुक जाय तो यह 'नियति' का प्रभाव माना जाता है। सट्टा, लोटरी आदि में बिना परिश्रम के धनी बन जाने का कारण 'नियति' ही माना जाता है।

जीव को ले कर विचार करें तो 'नियति' को एक प्रकार का अनिवार्य कर्म कह सकते हैं। इसे जैन परिभाषा में 'निकाचित' कर्म कहते हैं। जो कर्म प्रायः अभेद्य होने के कारण अवश्य (विपाकोदय रूप से) सुख अथवा दुःख रूप से भुगतना पड़ता है उसे निकाचित कर्म कहते हैं। इस प्रकार के कर्म का फल नियत [अवश्य भुगतना पड़े ऐसा] होने से वह नियति अथवा भवितव्यता के नाम से पहचाना जाता है।

इस तरह पाँचों कारणों की सत्ता हमने देखी। ये पाँचों ही अपने अपने स्थान पर उपयोगी हैं। एक कारण को सर्वथा प्राधान्य देकर दूसरे को उड़ाया नहीं जा सकता

अथवा सर्वथा गौण स्थान पर उसे हम रख नहीं सकते। यदि कालवादी काल को ही प्राधान्य देकर दूसरों का यथायोग्य मूल्याङ्कन न करे तो उसकी यह भ्रान्ति है। इसी प्रकार स्वभाववादी, कर्मवादी, उद्यमवादी के बारे में भी समझ लेना चाहिए। पाँचों ही कारणों को यथोचित गौण-मुख्य भाव से मानने में ही सम्यग्दृष्टि रही हुई है। इसके विपरीत, केवल एकान्तवाद की ओर जाना मिथ्यादृष्टि है।

इन पाँचों कारणों के सहयोग के दृष्टान्त भी हमारे सम्मुख विद्यमान हैं। स्त्री से बालक उत्पन्न होने में ये पाँचों ही कारण देखे जाते हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि काल (गर्भकाल) पूर्ण हुए बिना बालक उत्पन्न ही नहीं हो सकता। प्रसवस्वभाववाली स्त्री से ही बालक उत्पन्न होता है, अतः यहाँ पर स्वभाव भी कारणरूप से उपस्थित है। उद्यम तो वहाँ होता ही है। पूर्व कर्म की अथवा नियति की अनुकूलता होने पर ही यह वस्तु शक्य है। इस प्रकार प्रवृत्ति में इन पाँचों ही कारणों का समवाय देखा जाता है। विद्याभ्यास में आगे बढ़कर उच्च श्रेणी का अभ्यास पूर्ण करने में भी इस कारण-सामग्री का साविध्य देखा जाता है। वहाँ काल की मर्यादा है, विकासगामी उद्यम है, विकसनयोग्य स्वभाव भी है और कर्म की अथवा नियति की अनुकूलता भी है। इन पाँचों कारणों की सर्वत्र प्रधानता हो ऐसा नहीं समझना चाहिए, परन्तु गौणरूप से अथवा मुख्यरूप से—किसी भी

कार्य की उत्पत्ति में—ये पाँच कारण अवश्य विद्यमान होते हैं।

काल की मर्यादा उद्यम आदि से बदली जा सकती है। अन्न, फलादि के पकने में अमुक समय की मर्यादा खास निश्चित नहीं है। वृक्ष के फल पकने का समय भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न होता है। दूसरे देशों में यन्त्र द्वारा खेती की उपज भारत की अपेक्षा जल्दी तैयार की जाती है। हाथ से बनाई जानेवाली वस्तु में अधिक समय लगता है, जबकि यंत्र द्वारा वही वस्तु थोड़े ही समय में तैयार की जा सकती है। पहले के ज़माने में जब रेलगाड़ी नहीं थी तब अहमदाबाद से काशी पहुँचने में महीनों के महीने लग जाते थे; जबकि इस समय रेलगाड़ी से तीसरे दिन वहाँ पहुँचा जा सकता है, और वायुयान से तो सुदूर प्रदेश में भी कितनी जल्दी पहुँचा जा सकता है यह किसी से अज्ञात नहीं है। इस तरह काल की मर्यादा में भी उद्यम आदि द्वारा परिवर्तन की शक्यता प्रत्यक्ष देखी जा सकती है। फिर भी सामान्यतः काल की थोड़ी-बहुत मर्यादा तो प्रत्येक कार्य की सिद्धि में अवश्य रहती है। अतः काल स्वतन्त्र नहीं किन्तु उद्यम, स्वभाव आदि का अवलम्बन लेकर जहाँ तक वह कार्यसाधक (कार्यसाधन में उपयोगी) होता है वहाँ तक उसकी महत्ता मानना न्याय्य है। काल की सहकारिता यदि ध्यान में ली जाय तो कार्य के

आरम्भ से लेकर जबतक वह पूर्ण न हो तबतक मनुष्य धैर्य रखना सीखता है। यदि ऐसा न हो तो कार्य का प्रारम्भ कर के तुरन्त ही अथवा आवश्यक समय से पूर्व-असमय में फल की इच्छा रखने से और फल की प्राप्ति दिखाई न देने पर मनुष्य निराश हो जाय और कार्य-साधन के उद्यम में ढीला पड़ जाय तो वह फल से वञ्चित ही रह जाय। काल की सहकारिता बराबर ध्यान में आ जाय तो मनुष्य ऐसा समझने लगता है कि समय पकने पर फल मिलेगा अर्थात् कालानुक्रम से कार्य सिद्ध होगा। इसका परिणाम यह आता है कि मनुष्य कार्य में उद्यम शील रहता है।

जिस प्रकार काल की मर्यादा उल्लंघनीय है उस प्रकार स्वभाव की मर्यादा उल्लंघनीय नहीं है, फिर भी व्यवहार दृष्टि से स्वभाव का भी अतिक्रमण देखा जाता है। (व्यवहार में जिसे मनुष्य का स्वभाव कहते हैं वह वस्तुतः स्वभाव नहीं, परन्तु विभाव है, और इसीलिये उसमें परिवर्तन की शक्यता होती है।) क्रोधी मनुष्य का क्रोधी स्वभाव शान्तात्मा सन्त के सत्संग से कम हो जा सकता है और सत्संग द्वारा प्राप्त उत्तम भावनाओं के सुदृढ़ संस्कारबल से वह नष्ट भी हो जाता है। सत्संग के प्रभाव से दुर्जन-प्रकृति भी सज्जन-प्रकृति में परिवर्तित हो जाती है। संसर्ग के अनुसार अच्छे खराब और खराब अच्छे हो जाते हैं।

इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न वस्तुओं का मिश्रण करने से उन वस्तुओं के मूल स्वभाव में परिवर्तन हो जाता है और दूसरा ही स्वभाव उत्पन्न होता है। जैसेकि, पित्तस्वभाव-वाली सोंठ और कफस्वभाववाले गुड़ का मिश्रण करने पर उसमें कफ और पित्त के स्वभाव का दोष नहीं रहता।

कर्म में—पूर्वोपार्जित कर्म में भी परिवर्तन होता है और हो सकता है। उसके स्थिति एवं रस में भी परिवर्तन शक्य है। कोई कर्म जल्दी भी उदय में आता है। कर्म के

---

१ कर्म की उपशमना यदि देश-उपशमना (आंशिक उपशमना) हो तो संक्रमण तथा उद्वर्तन-अपवर्तन क्रियाएँ (ऐसे उपशान्त कर्म पर) हो सकती हैं, किन्तु कर्म के निबिडीकरणरूप 'निधत्ति' एवं 'निकाचित' क्रिया की प्रवृत्ति वहाँ शक्य नहीं है। परन्तु जब उदय-उदीरणा, संक्रमण, उद्वर्तन-अपवर्तन तथा निधत्ति निकाचित रूप किसी भी क्रिया से प्रभावित न हो सके ऐसी भी कर्म की पूर्ण उपशमना (सर्व-उपशमना) होती है तब भी ऐसी 'उपशान्त' अवस्था अधिक समय तक नहीं टिकती। थोड़े ही समय में उपशान्त कर्म पुन उदय में आता है जिससे वह उपशान्त आत्मा जैसे ऊपर चढ़ा था वैसे ही नीचे गिरने लगता है।

अन्तत कर्म का क्षय ही पूर्ण श्रेय साधक होता है। अकामनिर्जरा से—कर्म के विपाक का उपभोग होने पर जो क्षय होता है उससे कर्म के क्षय के साथ ही साथ अन्यान्य कर्मों का बन्ध भी होता है। अत इस प्रकार का क्षय (निर्जरा) दूर तक नहीं ले जा सकता; किन्तु पवित्र चारित्र-तप के साधन से कर्मों को बलपूर्वक उदय में लाकर उनके विपाक-फल का अनुभव किये बिना ही उनको जो झाड़ दिया जाता है, इस

उपशमन, उद्वर्तन, अपवर्तन और संक्रमण हो सकते हैं। आत्मबल के उत्कर्ष से कर्म को विपाकोदय से भुगते बिना ही नष्ट किया जा सकता है। कर्मद्वारा उपलब्ध शरीर, इन्द्रिय आदि का यदि योग्य रूपसे विकास न किया जाय तो वे अविकसित एवं अशक्त रह जाएँगे। अतः कर्मद्वारा प्राप्त वस्तुओं के विकास का लाभ उद्यम पर अवलम्बित है। जो उद्यम शिक्षण प्राप्त करके अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, हृदय का योग्य विकास साधते हैं वे अपने इस प्रकार के प्रशस्त उद्यम एवं प्रयत्न से अपने जीवन के हित साधन के साथ ही साथ अपने आप को सुखसम्पन्न बनाते हैं।

तरह उनकी जो निर्जरा (सकामनिर्जरा) की जाती है वही कैवल्यसाधक बनती है। आत्म-साधना का बल जितना उन्नत होता है उतने विशाल परिमाण में कर्मों की निर्जरा (क्षय) होती है।

इस तरह कर्मों का क्षय विपाकोदय से भी होता है और साधन प्रयत्न से भी होता है। साधन प्रयत्न से होनेवाली निर्जरा में केवल नीरस कर्मदलिकों का वेदन होता है। इसे प्रदेशोदय कहते हैं। संक्रमण नाम की क्रिया पहले बतलाई है। उस क्रिया द्वारा उदय में न आये हुए कर्मों को उदय में आई हुई कर्म प्रकृतियों के साथ संक्रमण करके उनमें मिश्रित करके उदय में आई हुई कर्म प्रकृतियों के फलविपाकरूप से उनका भोग किया जाता है। मुक्तिगामी आत्मा अपने आयुष्य के अन्तिम भाग में इस तरह संक्रमण से भी कर्मों का वेदन करके तथा उन्हें क्षय कर विदेह-मुक्ति प्राप्त करते हैं। इस तरह कर्म-निवारण में संक्रमण विधि भी एक है।

जिस प्रकार केवल भाग्य के ऊपर आधार रखनेवाला मनुष्य पुरुषार्थ के अभाव में अपने जीवन का विकास नहीं कर सकता और अकर्मण्यता के कारण निःसत्त्व बनकर अपनी ज़िन्दगी को किसी काम की नहीं रखता उसी प्रकार जो लोग कर्म को—पूर्व कर्म को नहीं मानते वे भयंकर भ्रान्ति में ग़ोते लगाते हैं। कर्मवाद की सिद्धि और उपयोगिता के बारे में पहले विवेचन किया जा चुका है। कर्मवाद की अवगणना करनेवाले मनुष्य को आत्मा जैसे विशिष्ट तत्त्व की प्रतीति न होने से विपत्ति के समय उसे सहने में वह समभाव नहीं रख सकता। प्राणि-वात्सल्य का विशद भाव उसके लिये दुर्लभ हो जाने से सामान्य विरोध के समय भी वह आकुल-व्याकुल हो जाता है। ऐसे लोगों के लिये उदात्त शान्तभाव तथा प्रसन्नभाव दुर्लभ हो जाते हैं। कल्याण-साधन की मूल भूमिका—सच्ची भूमिका से वह अज्ञात होने से अपना सच्चा जीवनविकास साधना उसके लिये अशक्य और दुर्घट बन जाता है।

'नियति' का बल अदम्य है। आगे कहा उस तरह, अचानक लाभ देनेवाले अथवा अन्तराय डालनेवाले कर्म को 'नियति' कह सकते हैं। वह पुरुषार्थ द्वारा निवार्य नहीं है। उसकी इस विशेषता—नियतता के कारण उसका पूर्वकर्म से पृथक् निर्देश किया गया होगा; क्योंकि दूसरे पूर्वकर्म तो पुरुषार्थ द्वारा हटाए भी जा सकते हैं।

तृतीय खण्ड में बतलाया गया है उस तरह, हमें यह मान लेना चाहिए कि 'कर्म' के इस सुगूढ़, अगम्य और अगोचर कारखाने में अनेक प्रकार के कर्म तैयार होते हैं। सभी कर्म 'निकाचित' (अनिवार्य) प्रकार के नहीं होते। ऐसे कर्म तो खजाने में बहुत थोड़े होते हैं। बहुत से कर्म और तज्जन्य विघ्न ऐसे होते हैं कि यदि सुयोग्य प्रयत्न किया जाय तो उनका छेदन भेदन हो सकता है। अतः यदि कोई कार्य सिद्ध न हो तो इससे ऐसा न मान लेना चाहिए कि यह कार्य मेरे नसीब में है ही नहीं। हमें हमारे कर्मों के आवरण और उनके प्रकारों की तनिक भी खबर नहीं है। इसलिये उद्यम करने पर भी यदि कार्य सिद्ध न होता हो तो उसे अनिवार्य कर्म से आवृत क्यों मान लिया जाय? और ऐसा मानकर तथा हताश होकर कार्य-प्रवृत्ति क्यों छोड़ दी जाय? दृढ़ संकल्प के साथ यदि प्रामाणिक प्रयत्न हो तो वह सिद्धि को निकट लाता है। तेजस्वी तप के बल से अपना संकल्प पूर्ण होता है, अपनी आकांक्षा सफल होती है।

ये काल आदि परस्पर सापेक्षरूप से एकत्रित होकर कार्य करते हैं, अतः इन्हें 'समवायी कारण' कहते हैं। आत्मा का मूल स्वभाव सच्चिदानन्दरूप होने से, कर्मों के बल पर प्राप्त मनुष्यत्वादि विशिष्ट सामग्री के सहयोग से, उपस्थित कर्मों के फलों को समभावपूर्वक सुगठन के साथ

भवचक्र के मूलरूप तृष्णा के विदारण में प्रयत्नशील होने पर परम कल्याणरूप सिद्धि प्राप्त होती है। काल तो जब हम उत्साहित होकर प्रयत्नशील होंगे तब हमें 'ना' नहीं कहेगा। इस प्रकार आत्मकल्याण-साधन में इन कारणों का योग देखा जा सकता है।

वादभूमि के बखेड़ों की निन्दा करके उसके सौष्ठव पर प्रकाश डालनेवाला नीचे का उल्लेख कितना सुन्दर है—

'Disagreement is refreshing when two men lovingly desire to compare their views to find out truth Controversy is wretched when it is only an attempt to prove another wrong'

—F W Roberston.

अर्थात्—मतभेद अथवा वादचर्चा उस समय सुन्दर लगती है जब सत्य की गवेषणा के लिये दो मनुष्य परस्पर मैत्रीभाव से अपने विचारों की तुलनात्मक आलोचना करना चाहते हैं; परन्तु मतभिन्नता या चर्चा जब दूसरे को झूठा सिद्ध करने के प्रयत्नरूप होती है तब वह धिक्कारने योग्य होती है।

अब ज्ञान-क्रिया का समन्वय देखें।

किसी भी कार्य की, मोक्ष की भी, सिद्धि ज्ञान और क्रिया इन दोनों पर अवलम्बित है। अकेला ज्ञान पंगु है

और अकेली क्रिया अन्ध है। अतः क्रिया बिना के अकेले ज्ञान से अथवा ज्ञानरहित अकेली क्रिया से अभीष्ट परिणाम नहीं आता। उदाहरण के तौर पर किनाइन मलेरिया के बुखार का रामबाण औषध है ऐसा ज्ञान होने पर भी यदि वह औषधरूप से यथोचित मात्रा में न ली जाय अर्थात् उस औषध-ज्ञान को आचरण में न रखा जाय तो बुखार नहीं जा सकता। इसी प्रकार बुखार किससे जाता है इसका ज्ञान न होने पर कोई ऐसी-वैसी चीज दवाई के तौर पर ली जाय तो उससे भी बुखार नहीं जाता। इसी प्रकार आचरण में अनीति, अन्याय, दम्भ का जब तक त्याग नहीं किया जाता तब तक मोक्ष की दिशा में प्रगति नहीं हो सकती—ऐसा ज्ञान होने के बावजूद यदि तदनुसार आचरण न किया जाय तो मोक्ष की ओर प्रगति असम्भव है। उलटा, जिस ओर जाना है उससे विपरीत दिशा की ओर ही गति होगी। कहने का अभिप्राय यह है कि ज्ञान को क्रिया में—आचरण में रखे बिना अकेला ज्ञान वन्ध्य है अर्थात् फल दायक नहीं होता। इसी प्रकार ज्ञान के सच्चे नक्शे के बिना अकेली क्रिया भी निष्फल हो जाती है अथवा उसका परिणाम विपरीत आता है।

भोजन को देखने और उसकी प्रशंसा करने से भूखे मनुष्य की भूख दूर नहीं होती। उसे अपना हाथ चलाना पड़ेगा—उसे खाने की क्रिया करनी होगी। इसी

प्रकार महापुरुषों का उपदेश सुन लेने मात्र से काम नहीं चल सकता; उनके उपदेश को बराबर समझकर उसे आचरण में रखना पड़ेगा। ईप्सित स्थान के मार्ग की जानकारी हो, परन्तु उस मार्ग पर चले नहीं तो उस स्थान पर कैसे पहुँचा जा सकता है? और अज्ञानवश उलटे रास्ते पर चलने लगे तो? गन्तव्य स्थान तो दूर ही रहेगा, ऊपर से इधर-उधर भटकने की तकलीफ पल्ले पड़ेगी।

ज्ञान-क्रिया की सुसंगति के बारे में विशेषावश्यकभाष्य में कहा है कि—

हयं नाणं कियाहीणं हया अन्नाणओ किया।
पासतो पंगुलो दड्ढो धावमाणो अ अंधओ ॥ ११५९ ॥

—विशेषावश्यकभाष्यगत आवश्यकनिर्युक्ति

अर्थात्—क्रिया बिना का ज्ञान मरा हुआ समझना। इसी प्रकार ज्ञानहीन क्रिया भी मृतप्राय ही समझना। उदाहरणार्थ, देखने पर भी लंगडा और दौड़ने पर भी अन्धा दोनों जलकर मर गये।

इसी उदाहरण को नीचे की गाथा स्पष्ट करती है—

सजोगसिद्धीइ फलं वयंति न हु एगचक्केण रहो पयाइ।
अंधो य पंगू य वणे समिच्चा ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा ॥११६५॥

—विशेषावश्यकभाष्यगत आवश्यकनिर्युक्ति

अर्थात्—ज्ञान और क्रिया इन दोनों के संयोग से ही फलसिद्धि होती है। एक पहिए से रथ नहीं चलता। वन में दावानल लगने पर अन्धे और लंगड़े दोनों ने एक दूसरे का सहयोग किया तो वे दोनों बचकर नगर में पहुँच सके। [अन्धे के कन्धे पर लंगड़ा बैठा और लंगड़े के कहने के अनुसार अन्धा चला। इस तरह एक-दूसरे का सहयोग करने से वे दोनों बच गए। यदि उन दोनों ने एक दूसरे के साथ सहयोग न किया होता तो वे दोनों आग में भस्मीभूत हो जाते। इस तरह पंगुसदृश ज्ञान और अन्ध समान क्रिया ये दोनों परस्पर मिलें—सुसंगत बनें तो सफलता प्राप्त की जा सकती है। परन्तु यदि ये दोनों अलग अलग रहें—संयुक्त न हों तो ये दोनों हतभाग हैं, सिद्धिदायक नहीं हो सकते।]

अब निश्चय-व्यवहारदृष्टि को देखें।

जीव एवं पुद्गल उनके व्यावहारिक स्वरूप में दृष्टिगम्य हो सकते हैं। पुद्गल मूलस्वरूप में परमाणुरूप है, फिर भी जब अनन्तानन्त परमाणु एकत्रित होकर स्कन्धरूप बनते हैं तब वे हमारे अनुभव में आते हैं। जीव भी अपने शुद्ध स्वरूप में इन्द्रियातीत होने से हमारे अनुभव में नहीं आ सकता, किन्तु व्यावहारिक रूप में विद्यमान जीव पुद्गल के साथ संयुक्त होने से हमारे अनुभव में आ सकता है।

जीव अपने वर्तमान अशुद्ध (कार्मिकपुद्गलमिश्रित) रूप में से अशुद्धि को दूर कर के शुद्ध स्वरूप प्राप्त करे—यही जीव का अन्तिम ध्येय माना गया है। यहाँ पर हम देख सकते हैं कि जो दृष्टि वस्तु के मूल स्वरूप का, वस्तु की तात्त्विक अथवा शुद्ध स्थिति का स्पर्श करती है उसे निश्चय-दृष्टि अथवा निश्चयनय कहते हैं और जो दृष्टि वस्तु की व्यावहारिक अवस्था का अर्थात् अपनी मूलभूत नहीं ऐसी बाह्य अवस्था का स्पर्श करनेवाली है वह व्यवहारदृष्टि अथवा व्यवहार नय है। जो दृष्टि जीव को उसके तात्त्विक शुद्ध-बुद्ध-निरंजन-निराकार-सच्चिदानन्दरूप से जानती है वह निश्चयदृष्टि है और जो दृष्टि जीव को मोहवान्, अविद्यावान्, क्रोध-लोभादिरूपकालुष्यवान्, देहाध्यासी रूप से जानती है वह व्यवहारदृष्टि है। संक्षेप में, व्यवहारगामी (अर्थात् उपाधिविषयिणी) दृष्टि वह व्यवहारदृष्टि और मूलतत्त्व-स्पर्शी दृष्टि वह निश्चयदृष्टि। यह निश्चयदृष्टि सर्व प्राणियों में परम चैतन्य को देखती है, अतः यह विश्वप्रेमी है।

निश्चयदृष्टि को हृदय में धारण करके अर्थात् प्राणि-मात्र के प्रति विशुद्ध मैत्रीभाव रखकर व्यवहार का—व्याव-हारिक जीवन का हमें पालन करने का है। इसी को ज्ञानी लोग कल्याण-विहार कहते हैं।

निश्चयदृष्टि [तत्त्वस्पर्शी पवित्र ज्ञानदृष्टि] व्यवहार को

उसमें आई हुई या आया करती अशुद्धियों को दूर करके शुद्ध बनाती है। जिस प्रकार समुद्र के बीच रात्रि के अन्धकार में मुसाफरी करनेवाले जहाज को दीपस्तम्भ के प्रकाश की सहायता से कप्तान चट्टान के साथ टकराने से बचाकर निर्भय रास्ते से ले जाता है, उसी प्रकार निश्चय दृष्टि मोहान्धकार को दूर करके और विवेकज्ञान को प्रकट करके स्वयं अपने आप के तथा दूसरे के साथ के निज व्यवहार को अशुद्ध या मलिन होने से बचाकर और शुद्ध मार्ग पर ले जाकर मोक्ष मार्ग को सीधा, सरल व निष्कण्टक बनाती है। संसारी अवस्था में स्व-परहित (भौतिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक हित) के लिये किए जानेवाले व्यवहार-आचरण में से छुटकारा नहीं मिल सकता। ये कर्तव्य रूप से बजाने के होते हैं। शरीर है वहाँ तक व्यवहार भी है, किन्तु यदि वह निर्दोष, पवित्र और विशुद्ध प्रेमयुक्त हो तो मोक्षप्राप्ति में बाधक नहीं होता।

यह पवित्र आत्मदृष्टिरूप निश्चयदृष्टि जिसके मनो मन्दिर में निरन्तर प्रकाशमान है उसके बाह्य जीवन पर-उसके मानसिक, वाचिक एवं कायिक व्यवहार पर इस दृष्टि का प्रकाश कैसा चमकता है, इसकी तो कल्पना ही हो सकती है। ऐसा सज्जन अपनी पत्नी अथवा अपने पति, अपने नौकर-चाकर अथवा अपने सेठ, अपने ग्राहक अथवा अपने सगे सम्बन्धी अथवा अपने सम्पर्क में आनेवाले किसी

भी मनुष्य के साथ नीति और वात्सल्य से सुवासित व्यवहार रखेगा। यहाँ पर हम खुद ही सोच सकते हैं कि ऐसा उमदा व्यवहार चित्त की उच्चता तथा उदात्तता कितनी सधी हो तब मूर्तिमन्त बन सकता है ! वस्तुतः यही ..ची कल्याणयात्रा है।

निश्चय एवं व्यवहार दोनों को समुचित तथा सुसंगत रखने का ज्ञानी महात्माओं का सदुपदेश यही आदेश करता है कि मनुष्य को अपना आन्तर एवं बाह्य दोनों प्रकार का जीवन उच्च तथा विशुद्ध रखना चाहिए।

जैन 'आचारांग' के चतुर्थ अध्ययन के दूसरे उद्देश के प्रारम्भ में अनेकान्तदृष्टि का उद्बोधन करनेवाला सूत्र है कि—

'जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा।'

अर्थात्–जो कर्मबन्ध के स्थान हैं वे कर्मनिर्जरा के स्थान बनते हैं और जो कर्मनिर्जरा के स्थान हैं वे कर्मबन्ध के स्थान बनते हैं।

मतलब कि जो कार्य (प्रवृत्ति) अज्ञानी, अविवेकी के लिये कर्मबन्धक होता है वही कार्य (प्रवृत्ति) ज्ञानी के लिये कर्मनिर्जरारूप होता है। इसके विपरीत, जो कार्य ज्ञानी के लिये कर्मनिर्जरा का कारण होता है वही अज्ञानी एवं अविवेकी के लिये कर्मबन्धक होता है।

ज्ञानी जो कुछ प्रवृत्ति करता है वह प्राणिवर्ग के हित के लिये तथा उनके हित की बुद्धि से करता है। उसमें न तो अहंकारवृत्ति होती है और न उपकारबुद्धि अथवा यश या अन्य प्रकार के बदले की लालसा। वह खाता है, पीता है, सुख-सुविधा का उपभोग भी करता है तथा अपने आरोग्य की सुरक्षा भी करता है और यह सब वह इसलिये करता है कि उनसे उसकी अपनी आत्मसमाधि स्वस्थ रहे और साथ ही साथ अन्य प्राणियों का हित अधिक से अधिक साधा जा सके ऐसी अपनी मानसिक एवं शारीरिक कार्यक्षमता भी बनी रहे। परार्थ-साधना उसका स्वभाव बन जाता है और मनुष्य जब अपने स्वभाव के अनुसार बरताव करता है तब उसे किसी प्रकार की कठिनाई महसूस नहीं होती। इतना ही नहीं, मैंने खूब खूब किया है—ऐसा 'अहोभाव' भी उसके मन में नहीं आता। इसका परिणाम यह होता है कि ज्ञानी की कोई भी प्रवृत्ति उसके लिये बन्धनकारक नहीं होती।

अज्ञानी की प्रवृत्ति प्राणिवर्ग के हित में ही क्यों न परिणत होती हो, फिर भी वैसी हितबुद्धि उसके मन में नहीं होती। उसकी प्रवृत्ति का पर्यवसान अपनी स्वार्थ साधना में ही होता है। खाना—पीना, सुख—विलास का उपभोग करना और बड़े बड़े बंगले बनवाकर उनमें हर तरह के ऐशोआराम लूटना और इसके लिये अच्छे-बुरे

किसी भी उपाय से धन के ढेर के ढेर लगा देना—ऐसी उसकी बुद्धि और वृत्ति होती है। उसकी किसी प्रवृत्ति से यदि दूसरे का हित होता हो तो भी उस समय उसमें अहङ्कारवृत्ति, उपकारबुद्धि अथवा यश या दूसरे किसी बदले की लालसा बनी ही रहती है। अज्ञानी मनुष्य जप, तप, ध्यान, स्वाध्याय, सेवा, सामायिक, प्रतिक्रमण, देवपूजन अथवा गुरुसेवा आदि धार्मिक समझी जानेवाली प्रवृत्तियाँ करता है, फिर भी ऐसी प्रवृत्तियों में उसकी अहंवृत्ति (गर्व) सतत जागरित रहती है और मैंने खूब अच्छा किया है ऐसे 'अहोभाव' से वह फूला नहीं समाता। इसीलिये अज्ञानी की प्रवृत्तियाँ और धार्मिक समझे जानेवाले आचरण भी उसके लिये बन्धनकारक होते हैं। ज्ञानी में परार्थसाधक बुद्धि और निरभिमानता मुख्यरूप से होती है, जबकि अज्ञानी में स्वार्थबुद्धि और अहंकारभाव मुख्यरूप से होता है।

इस पर से प्रस्तुत विषय के बारे में समझा जा सकता है कि जो कार्य अथवा प्रवृत्ति उसके पीछे रहे हुए अज्ञान, मोह एवं कषाय के कारण दुष्कर्मबन्धक होती है, वही कार्य अथवा प्रवृत्ति उसके पीछे रही हुई विवेकदृष्टि तथा शुद्ध भावना के कारण श्रेयस्कर भी होती है। चीरफाड़ के पीछे हत्या करनेवाले का आशय भिन्न होता है और कर्तव्यपालक डाक्टर का आशय भिन्न होता है। पहले का आशय क्रूर और हिंस्र होता है, जबकि दूसरे का आशय

अन्य का भला करने का होता है। इस प्रकार एक ही क्रिया एक के लिये घोर पापरूप बनती है तो दूसरे के लिये पुण्यरूप। स्त्री के अंग का स्पर्श भक्ति, वात्सल्य अथवा अनुकम्पा से यदि किया जाय तो वह निर्दोष है और कामवासना से किया जाय तो सदोष है।

मिष्टान्न खानेवाले दो मनुष्यों में से एक विषयासक्ति से खाता है और दूसरा जीवनसाधन के उदात्त हेतु को सम्मुख रखकर खाता है। इन दो मनुष्यों की भोजन की प्रवृत्ति एक जैसी होने पर भी पहला अविवेकी है, अतः वह मोहराग के कारण कर्मबन्ध करता है, जबकि दूसरा विवेकी होने से अनासक्ति के तेजोबल के कारण खाते खाते भी अपने आन्तरिक जीवन को ऊर्ध्वगामी रखता है। इसी प्रकार, दो मनुष्य पवित्र तीर्थभूमि की यात्रा के लिये जाते हैं। इनमें से एक सावधानी के साथ (उपयोग-यतनापूर्वक) तथा सद्विचार में विचरता है, जबकि दूसरा उपयोग रखे बिना प्रमत्तभाव से तथा मोहमाया के विचारों में घूमता फिरता है। इस तरह तीर्थयात्रा एक के लिये कर्मबन्धक होती है, जबकि दूसरे के लिये श्रेयस्कर सिद्ध होती है। देवमन्दिर में देवदर्शन करनेवाले सब के मनोभाव एक-से नहीं होते। अतः जो पवित्र भावना से दर्शन करते हैं वे पुण्य का उपार्जन करते हैं और मोहमायायुक्त विचार करनेवाले अथवा मलिनवृत्ति रखनेवाले पाप की

गठरी बाँधकर देवमन्दिर में से निकलते हैं। इस प्रकार देवदर्शन एक के लिये श्रेयस्कर और दूसरे के लिये पाप-बन्धक बनता है।

इस तरह, उपर्युक्त 'आचारांग' सूत्र के वचन का मर्म समझा जा सकता है।

दूसरी तरह देखने पर ज्ञानी विवेकी मनुष्य सामान्य नियमरूप से विहित विधानों के साथ उपयुक्त विचार किए बिना चिपका नहीं रहता। वह तो किसी भी अवसर पर देश-कालादि की परिस्थिति का विचार करके अपने लिये क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है इसका निर्णय करके उसके अनुसार व्यवहार करता है। इसके विपरीत अज्ञानी अविवेकी मनुष्य समय-स्थिति का विचार किए बिना सामान्य नियमरूप से जो कर्तव्य-अकर्तव्य ठहराए गए हैं उनसे आँखें मूंद कर चिपका रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि धर्म का आचरण करने की इच्छा होने पर भी वह अधर्म का आचरण कर बैठता है।

अन्न-जल के त्यागी तपस्वी को पानी की सख्त प्यास लगी और पानी की पुकार करता हुआ बुरी तरह तड़पने लगा। उस समय उसे पानी न पिलाकर मरने देना यह कैसी धर्मबुद्धि !

रात्रि में चतुर्विध आहार [खान-पान, पानी] का

त्याग करनेवाले मनुष्य के शरीर में किसी कारणवश प्राणान्तक सख्त गर्मी अथवा अन्य रोग व्याप्त हो जाय और उसकी बेहोश जैसी हालत हो जाय तब भी – ऐसी हालत में भी घृतादि खिलानेरूप योग्य औषधोपचार न करके उसे मरने देना यह कैसी धर्मबुद्धि !

इस प्रसंग पर एक किस्सा याद आता है।

एक भले भोले ग्रामीण ने शहर में से आए हुए एक सज्जन सेठ का खूब आतिथ्य किया : सर्दी की मौसम, पोस महीना, जमीन पर पानी छाँटकर सेठ को खाने के लिये बिठाया। खाने में श्रीखण्ड पूरी तथा बरफ़ का ठण्डा पानी और ऊपर से पंखे का मन्द मन्द शीतल पवन ! ग्रामीण सेठ से कहता है कि, आप के जैसे बड़े आदमी की सेवा-टहल मेरे जैसा क्या कर सकता है ! इस पर सेठ कहता है : भाई, तेरी भक्ति तो बहुत है, परन्तु मेरा जीव बहुत कठोर है कि किसी तरह निकलता ही नहीं ! [इस उदाहरण पर से जाना जा सकता है कि अविवेकी भक्ति अकल्याणरूप होती है।]

अब उत्सर्ग अपवाद के बारे में भी तनिक देख।

उत्सर्ग–अपवाद की बात द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव की ही दृष्टि है। यह दृष्टि वस्तु का सामयिक यथायोग्य दर्शन करने में जितनी उपयोगी है उतनी ही कल्प्य, अकल्प्य और उनके

परिणाम की विचार करने में—कार्य को कर्तव्यता अथवा अकर्तव्यता का निर्णय करने में भी उपयोगी है।

सामान्य स्थिति-संयोगों में वर्तनसम्बन्धी जो सर्व-साधारण नियम स्थापित किए गए हैं उन्हें उत्सर्गमार्ग कहते हैं और परिवर्तित स्थिति–संयोगों में जो मार्ग ग्रहण किया जाता है उसे अपवादमार्ग कहते हैं।

अमुक अवसर पर उत्सर्गमार्ग ग्रहण करना चाहिए अथवा अपवादमार्ग का अवलम्बन लेना चाहिए इसका निर्णय करने में उस उस समय के द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव की विचारणा आवश्यक बनती है। 'द्रव्य' अर्थात् पात्र, 'क्षेत्र' अर्थात् उस समय की स्थानविषयक अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता, 'काल' अर्थात् उस समय की ऋतु अथवा वातावरण की अनुकूलता वा प्रतिकूलता और 'भाव' अर्थात् पात्र की वर्तमान कार्यक्षम स्थिति। इस द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में समाए हुए अर्थ को संक्षेप में व्यक्त करने के लिये स्थिति-संयोग अथवा परिस्थिति आदि जैसे दूसरे शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि नीतिशास्त्र अथवा धर्म-शास्त्र ने सामान्य नियम के रूप से—उत्सर्गमार्ग के रूप से एक ओर, अमुक वस्तु करनी चाहिए अथवा अमुक तरह

का बरताव रखना चाहिए और दूसरी ओर अमुक वस्तु न करनी चाहिए अथवा अमुक प्रकार का व्यवहार न करना चाहिए—ऐसा ठहराया हो, फिर भी ऐसा विधि अथवा निषेध वाक्य सर्वदा के लिए और सब परिस्थितियों में लागू पड़ता है ऐसा समझना एकान्त है, अनुचित एवं भ्रान्त है। अमुक अवसर पर, अमुक स्थान में अमुक बात करनी चाहिए या नहीं, यह योग्य है अथवा अयोग्य है इसका निर्णय तत्कालीन परिस्थिति [उस समय के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव] देखकर करना चाहिए। देश-कालादि की परिस्थिति बदलने पर, जो बात सामान्य नियम रूप से कर्तव्य बतलाई गई हो वह परिवर्तित परिस्थिति में अकर्तव्य बन जाती है और जो बात अकर्तव्य बतलाई हो वह परिवर्तित परिस्थिति में कर्तव्यरूप बन जाती है। इसी का नाम अपवादमार्ग है। इसमें नियम का भंग नहीं होता, परन्तु नियम से जो उद्देश सिद्ध करने का होता है वही उद्देश अथवा तत्सदृश दूसरा कोई उच उद्देश, परिवर्तित परिस्थिति में अपवादमार्ग का अवलम्बन लेकर, पूर्ण किया जाता है। अवश्य ही, नियम का मार्ग ग्रहण न करके अपवाद का आश्रय लेते समय अत्यन्त सतर्कता रखने की आवश्यकता है। जहाँ सचाई है और साथ ही सतर्कता है वहाँ अपवाद का आश्रय अघटितरूप से नहीं लिया जाता।

—

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव या उत्सर्ग-अपवाद के बारे में नीचे का श्लोक द्रष्टव्य है—

उत्पद्यते हि सावस्था देशकालामयान् प्रति।
यस्यामकार्यं कार्यं स्यात् कर्म कार्यं च वर्जयेत्[1]॥

—चरकसहिता, अन्तिम सिद्धिस्थान, दूसरा अध्याय, श्लो २६.

अर्थात्—देश, काल और रोग के कारण ऐसी अवस्था उपस्थित होती है जबकि अकार्य कार्य बन जाता है और कार्य अकार्य बन जाने से त्याज्य हो जाता है।

अपवाद औत्सर्गिक मार्ग का पोषक ही होता है, घातक नहीं। आपवादिक विधान की सहायता से ही औत्सर्गिक मार्ग विकास कर सकता है। ये दोनों मिल करके ही मूल

१ आ हरिभद्र के सत्ताईसवें अष्टक के पाँचवें श्लोक की वृत्ति में जिनेश्वरसूरिने यह श्लोक उद्धृत किया है और बृहत्कल्पसूत्र की टीका में चौथे भाग के ९३६ वें पृष्ठ में मलयगिरिने उद्धृत किया है। हेमचन्द्राचार्य की द्वात्रिंशिका के ११ वें श्लोक पर की मल्लिषेणसूरि की 'स्याद्वादमञ्जरी' टीका में इस श्लोक को उद्धृत करके उसके आधार पर कहा गया है कि आयुर्वेद के अनुसार जिस रोग में जिस परिस्थिति के अनुसार जो वस्तु अपथ्य होती है वही वस्तु उसी रोग में दूसरी अवस्था के समय पथ्यरूप होती है। लङ्घन अमुक ज्वर में उपयोगी होता है, परन्तु क्षीण धातु की अवस्था में ज्वरार्तके लिये वह अयोग्य है। देश-कालादि की अपेक्षा से ज्वरग्रस्त के लिये भी दधिपान आदि सेव्य बनते हैं। अत कहने का अभिप्राय यह है कि जिस अपथ्य का त्याग एक अवस्था में जिस रोग का शामक होता है वही अपथ्य भिन्न अवस्था में उसी रोग के शमन में अनुकूल हो सकता है।

ध्येय को सिद्ध कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, भोजन-पान जीवन की रक्षा एवं पुष्टि के लिये ही है, परन्तु यह भी देखा जाता है कि कभी कभी तो भोजन-पान का त्याग ही जीवन को बचा लेता है। इस तरह, ऊपर ऊपर से परस्पर विरुद्ध दिखाई देनेवाले भी जीवनव्यवहार जब एकलक्ष्यगामी होते हैं तब वे उत्सर्ग-अपवाद की कोटि में आते हैं। उत्सर्ग को यदि आत्मा कहें तो अपवाद को देह कहना चाहिए। इन दोनों का सम्मिलित उद्देश संवादी जीवन जीना है।

उत्सर्ग एवं अपवाद इन दोनों मार्गों का लक्ष्य एक ही होता है। जिस कार्य के लिये उत्सर्ग का निर्देश किया जाता है उसी कार्य के लिये अपवाद का भी निर्देश किया जाता है; अर्थात् जिस हेतु को लक्ष में रखकर उत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है उसी हेतु को लक्ष में रखकर अपवाद भी प्रवृत्त होता है। दृष्टान्त के तौर पर, जिस तरह मुनि के लिये विशुद्ध आहार ग्रहण करने का उत्सर्ग विधान संयम के परिपालन के लिये है उसी प्रकार अन्यविध प्रसंग उपस्थित होन पर अर्थात् बीमारी आदि के समय दूसरा उपाय न हो तो अनेषणीय (मुनि के लिये बनाया हुआ होने से उपयोग में न आ सके ऐसा) आहार ग्रहण करने के अपवाद का विधान भी संयम के परिपालन के लिये ही है। इस तरह इन दोनों (उत्सर्ग एवं अपवाद) का हेतु एक ही है।

श्रीहेमचन्द्राचार्य अपने योगशास्त्र के तृतीय प्रकाश के ८७ वें श्लोक की वृत्ति में लिखते हैं कि—

'कम्बलस्य च वर्षासु बहिर्निर्गतानां तात्कालिकवृष्टावप्-कायरक्षणमुपयोगः। बाल वृद्ध-ग्लाननिमित्तं वर्षत्यपि जलधरे भिक्षार्थे निःसरतां कम्बलावृतदेहानां न तथाविधाप्काय-विराधना। उच्चार प्रस्रवणादिपीडितानां कम्बलावृतदेहानां गच्छता-मपि न तथाविधा विराधना।'

अर्थात्—वर्षा ऋतु में बाहर निकले हुए मुनियों के लिये तात्कालिक वृष्टि होने पर जलकाय के जीवों के रक्षण में कम्बल का उपयोग है। बरसते हुए बरसाद में भी बाल, वृद्ध और ग्लान के लिये भिक्षार्थ निकले हुए मुनियों को, यदि उन्होंने अपने शरीर को कम्बल से बराबर लपेट रखा हो तो जलकाय के जीवों की उतनी विराधना नहीं होती। बारिश में पेशाब अथवा शौच आदि के लिये बाहर जाने पर यदि उनके शरीर कम्बल से आच्छादित हों तो उन्हें उतनी विराधना नहीं होती।

[पेशाब अथवा शौच की हाजत रोकने का सख्त निषेध है : 'वच्च-मुत्तं न धारये'—दशवैकालिक, ५–१९]

इस तरह जहाँ एक ओर कच्चे पानी का स्पर्श भी मुनि के लिये निषिद्ध है वहाँ बरसते बरसात में उपर्युक्त

प्रयोजन से बाहर जाने का विधान भी है—अपवाद-रूप से। [कम्बल का सिर्फ यही उपयोग मुनि के लिये श्रीहेमचन्द्राचार्य ने ऊपर के पाठ में बतलाया है। इसके अतिरिक्त दूसरे उपयोग का उन्होंने कोई उल्लेख नहीं किया है।]

धर्म का अनुशासन सत्यवादी बनने का है। परन्तु किसी पशु की हिंसा के लिये उसके पीछे कोई शिकारी पड़ा हो और उसके पूछने पर जानकारी होने पर भी पशु की रक्षा के लिये निरुपाय होकर यदि अवश्य बोलना पड़े तो वैसा बोलने का आपवादिक विधान भी उत्सर्ग विधान की भाँति अहिंसा की भावना के लिये होने से कर्तव्यरूप हो जाता है। इस तरह उत्सर्ग और अपवाद इन दोनों का एक ही लक्ष्य है।

इसी तरह स्त्री का स्पर्श साधु के लिये निषिद्ध होने पर भी यदि कोई स्त्री नदी, आग अथवा ऐसी कोई विकट आपत्ति में फँस गई हो तो उस समय उसे, उसका स्पर्श करके भी, बचाने का धर्म साधु को भी प्राप्त होता है। साधु के लिये विहित स्त्रीस्पर्श-निषेध के पीछे ब्रह्मचर्य सुरक्षित रहे

---

१ यस्तु संयमगुप्त्यर्थं न मया मृगा उपलब्धा इत्यादिका स न दोषाय।

— सूत्रकृतांग के ८ वें अध्ययन की १९ वीं गाथा की वृत्ति में।

यह दृष्टि है, जो कि अहिंसा की एक प्रदेशभूमि है। इसी तरह ऐसा आपवादिक स्पर्श भी ब्रह्मचर्य की विशालभूमिरूप अहिंसा के पोषण के लिये है। इस तरह स्पर्शनिषेध और स्पर्श दोनों का लक्ष्य एक ही है।

जं दव्वखेत्तकालाइसंगयं भगवया अणुट्ठाण।
भणिय भावविसुद्धं निप्फज्जइ जह फलं तह उ ॥७७८॥

—हरिभद्रसूरि, उवएसपय

न वि किंचि अणुण्णाय पडिसिद्धं वा वि जिणवरिंदेहिं।
एसा तेसिं आणा कज्जे सच्चेण होअव्वं ॥ ३३३० ॥

—बृहत्कल्प पृ ९३६.

अर्थात्—भगवान् ने मनोभाव को शुद्ध रखकर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुकूल कृत्य करने का आदेश दिया है। जिस तरह स्व-परकल्याणरूप फल निष्पन्न हो उसी तरह व्यवहार करने की उनकी आज्ञा है।

जिनेन्द्र भगवान् ने कोई कृत्य करने का एकान्तरूप से आदेश नहीं दिया है और न किसी बात का निषेध भी एकान्तरूप से किया है भगवान् की आज्ञा तो इतनी ही है कि कार्य-प्रवृत्ति में सच्चाई से बरतना चाहिए।

अनेकान्तवाद के बारे में अन्त में एक चेतावनी भी दे देनी उपयुक्त होगी—

वस्तु को एक नहीं किन्तु अनेक पहलुओं से देखना, उसकी जाँच करना और संगत होनेवाले सब पहलुओं का परस्पर सामञ्जस्य स्थापित करना—यह अनेकान्तवाद का अर्थ है। परन्तु जो बात घटित न होती हो, असंगत हो ऐसी बात को घटित अथवा संगत सिद्ध करना यह तो बाल चेष्टा ही कही जायगी। इस तरह तो अनेकान्तवाद 'अन्धाधुन्धवाद' बन जाय।

जिस समय जिस प्रवृत्ति के औचित्य के लिये विवेक दृष्टि का सहारा न हो और जिसे विवेक अयोग्य प्रमाणित करता हो उसके लिये अनेकान्त का अवलम्बन लेना अथवा उसे स्याद्वाद से संगत बनाने का प्रयत्न करना—स्याद्वाद की आड़ में उसे उचित और आदरणीय ठहराना यह अनेकान्तवाद का दुरुपयोग करना है, उसका मजाक उड़ाने जैसा है। अनेकान्तवाद बिना पैंदे का मुरादाबादी लोटा नहीं है कि जिस तरफ चाहो उस लुढ़का दो। यह तो असन्दिग्धरूप से न्याय्य समन्वयवाद है, यह हमें खयाल में रखना चाहिए।

निक्षेप—

ज्ञान का वाहन भाषा है। अमूर्त ज्ञान भाषा में अवतीर्ण होकर और इस तरह मूर्त बनकर व्यवहार्य होता है। भाषा शब्दात्मक है और शब्द का सामान्य अर्थ

प्रयोग चार प्रकार का देखा जाता है। ये चार प्रकार हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। उदाहरणार्थ 'राजा' शब्द को लें। किसी का नाम यदि राजा हो तो उसका इस नाम से व्यवहार होता है। वह नाममात्र से राजा होने के कारण 'नाम-राजा' है। अतः 'राजा' शब्द का यह अर्थ नामनिक्षेप कहलाता है। राजा की मूर्ति, चित्र अथवा फ़ोटो को भी राजा कहा जाता है—जिस तरह भगवान् की मूर्ति को भगवान् कहते हैं उस तरह। यह स्थापना (फ़ोटो, चित्र, मूर्ति) के रूप में राजा होने से 'स्थापना-राजा' है। 'राजा' शब्द का यह अर्थ स्थापना-निक्षेप कहलाता है। मूल वस्तु का चित्र, मूर्ति आदि में आरोप करने को 'स्थापना—निक्षेप' कहते हैं। जो भूतकाल में राजा था अथवा जो भविष्य में राजा होनेवाला है उसे भी 'राजा' कहा जाता है। यह 'द्रव्य' से अर्थात् पात्रता की अपेक्षा से राजा होने से 'द्रव्य-राजा' है। 'राजा' शब्द का यह अर्थ द्रव्य—निक्षेप कहलाता है। द्रव्य का अर्थ यहाँ पर 'पात्र' करना चाहिए। इसका मतलब यह है कि जो भूतकाल में राजा था अथवा जो भविष्य में राजा होनेवाला है वह राजत्व का 'पात्र' है; अर्थात् जिसमें वर्तमानकाल में राजत्व नहीं है, परन्तु भूतकाल में था अथवा भविष्य में आनेवाला है। जो राजत्व से राजमान (शोभित) हो वह राजा कहलाता

है—यह तो स्पष्ट और सर्वविदित ही है। यह भाव से अर्थात् यथार्थरूप से राजा होने से 'भाव-राजा' है। 'राजा' शब्द का यह अर्थ भाव-निक्षेप कहलाता है। इस तरह नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव से शब्द का अर्थविभाग किया जाता है।

भगवान् की भक्ति उसके नामस्मरण से, उसकी मूर्ति द्वारा अथवा गुरुभक्ति द्वारा की जाती है, क्योंकि सच्चे गुरु को द्रव्य-भगवान् कहा जा सकता है। इस प्रकार नाम, स्थापना और द्रव्य ये तीनों निक्षेप भावनिक्षेप की ओर ले जाते हैं, साधक को प्रत्यक्ष भगवान् के सान्निध्य में उपस्थित करते हैं।

———

षष्ठ खण्ड

जैनदर्शन की असाम्प्रदायिकता और उदारता

जैनधर्म के सिद्धान्तों को स्फुट करने के लिये प्राचीन महान् जैन आचार्यों ने विशाल ग्रन्थराशि का निर्माण किया है। इसमें उन महापुरुषों ने मध्यस्थभाव से तत्त्व का निरूपण करते समय लोककल्याण की ओर मुख्य दृष्टि रखी है। मूल आगमों में तो समभाव के निर्मल एवं विशाल झरने बहते हुए हम देख सकते हैं, परन्तु पश्चात्कालीन समभावी महान् आचार्यों के रचे हुए महान् ग्रन्थ भी कम महत्त्व के नहीं हैं। इसके निदर्शन रूप से आचार्य हरिभद्र का 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' ग्रन्थ ले सकते हैं। इस तत्त्वपूर्ण सुन्दर ग्रन्थ में महान् ग्रन्थकार इन साधुपुरुष के उमदा समभाव एवं वात्सल्य का जो दर्शन होता है उसका विशद आलोकन करने का यह उपयुक्त स्थान नहीं है, फिर भी नमूने के तौर पर कुछ देख लें।

उक्त ग्रन्थ के तृतीय स्तबक में जैनदर्शनसम्मत 'ईश्वर जगत्कर्ता नहीं है' इस सिद्धान्त का युक्तिपुरस्सर

समर्थन करने के बाद यह समभावसाधक और गुणपूजक आचार्य लिखते हैं कि—

> तदेवमीश्वरकर्तृत्ववादोऽयं युज्यते परम् ।
> सम्यग्न्यायाविरोधेन यथाऽऽहुः शुद्धबुद्धयः ॥ १० ॥
> ईश्वरः परमात्मैव तदुक्तव्रतसेवनात् ।
> यतो मुक्तिस्ततस्तस्याः कर्ता स्याद् गुणभावतः ॥ ११ ॥
> तदनासेवनादेव यत् संसारोऽपि तत्त्वतः ।
> तेन तस्यापि कर्तृत्वं कल्प्यमानं न दुष्यति ॥ १२ ॥

अर्थात्—ईश्वरकर्तृत्व का मत इस प्रकार की युक्ति से घटा भी सकते हैं कि राग-द्वेष-मोहरहित पूर्ण वीतराग, पूर्णज्ञानी परमात्मा ही ईश्वर है और उसके कहे हुए कल्याण मार्ग का आराधन करने से मुक्ति प्राप्त होती है, अतः मुक्ति को देनेवाला ईश्वर है ऐसा उपचार से कहा जा सकता है। और उस परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट सद्धर्म मार्ग का आराधन न करने से जो भवभ्रमण करना पड़ता है वह भी ईश्वर का उपदेश न मानने का परिणाम है।

---

१ जिसके परामर्श से हमें लाभ मिले उसे हमारे लाभरूपी उपकार का कर्ता हम कह सकते हैं परन्तु जिसके परामर्शानुसार न चलने से अर्थात् उसके विरुद्ध चलने से यदि नुकसान हो तो उसे हम उस नुकसान का कर्ता नहीं कहते और न कह सकते हैं। व्यवहार में भी ऐसा नहीं कहा जाता। इसी प्रकार परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट धर्मार्ग पर चलने से मुक्ति का लाभ मिलता है अतः इस लाभरूपी उपकार के

'ईश्वर कर्ता है' ऐसे वाक्य में कुछ लोगों का आदर-भाव है, अतः उन्हें लक्ष में रखकर इस प्रकार की ईश्वर-कर्तृत्व की देशना दी गई है, ऐसा आचार्य महाराज नीचे के श्लोक से कहते हैं—

कर्ताऽयमिति तद्वाक्ये यतः केषाञ्चिदादरः ।
अतस्तदानुगुण्येन तस्य कर्तृत्वदेशना ॥ १३ ॥

कर्ता रूप से अथवा मुक्ति के दाता रूप से परमात्मा को माना जा सकता है। [अलबत्ता ऐसा मानना वस्तुत औपचारिक व्यवहार है, फिर भी यह युक्तियुक्त एवं रम्य है।] परन्तु उसके (परमात्मा के) बताए हुए मार्ग पर न चलकर उससे विरुद्ध चलने से यदि भवभ्रमण का कष्ट उठाना पड़े तो उसका कर्ता उसे (परमात्मा को) मानना यह औपचारिक रूप से भी अघटित है। औपचारिक रूप मे भी ऐसा वाणी-व्यवहार कुछ जँचता नहीं। इसीलिये उपाध्याय श्री यशोविजयजी को इस बारे में उपर्युक्त १२ वें श्लोक की टीका में कहना पड़ा है कि—

"'अङ्गुल्यग्रे करिशतम्' इत्यादिवद् यथाकथञ्चिद् उपचारेण व्यवहारनिर्वाहात्।"

अर्थात्—'अगुली के अग्र भाग पर सौ हाथी हैं' ऐसे लौकिक कथन के जैसे इस कथन को जिस किसी तरह औपचारिक रूप से निबाह लेना।

जैनदृष्टि के अनुसार भवस्थ और भवातीत इस प्रकार दो श्रेणी के परमात्मा हैं। भवस्थ परमात्मा मन–वाणी–शरीर के धारक होने से चलना, फिरना, बोलना आदि प्रवृत्तियाँ करते हैं। वे कल्याणमार्ग के—मुक्तिमार्ग के योजक, उपदेशक और प्रचारक हैं तथा मुमुक्षु संघ के संगठनकर्ता हैं। भवातीत (सिद्ध) परमात्मा सम्पूर्णरूप से विदेह होने के कारण अपनी ज्ञान-ज्योति में ही रममाण रहते हैं।

समर्थन करने के बाद यह समभावसाधक और गुणग्राहक आचार्य लिखते हैं कि—

ततश्चेश्वरकर्तृत्ववादोऽयं युज्यते परम्।
सम्यग्न्यायाविरोधेन यथाऽऽहुः शुद्धबुद्धयः॥१०॥
ईश्वरः परमात्मैव तदुक्तव्रतसेवनात्।
यतो मुक्तिस्ततस्तस्याः कर्ता स्याद् गुणभावतः॥११॥
तदनासेवनादेव यत् संसारोऽपि तत्त्वतः।
तेन तस्याऽपि कर्तृत्वं कल्प्यमानं न दुष्यति॥१२॥

अर्थात्—ईश्वरकर्तृत्व का मत इस प्रकार की युक्ति से घटा भी सकते हैं कि राग-द्वेष-मोहरहित पूर्ण वीतराग, पूर्णज्ञानी परमात्मा ही ईश्वर है और उसके कहे हुए कल्याण मार्ग का आराधन करने से मुक्ति प्राप्त होती है, अतः मुक्ति को देनेवाला ईश्वर है ऐसा उपचार से कहा जा सकता है। और उस परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट सद्धर्म मार्ग का आराधन न करने से जो भवभ्रमण करना पड़ता है वह भी ईश्वर का उपदेश न मानने का परिणाम है।

१ जिसके परामर्श से हमें लाभ मिले उसे हमारे लाभकी उपकार का कर्त्ता हम कह सकते हैं, परन्तु जिसके परामर्शानुसार न चलने से अर्थात् उससे विरुद्ध चलने से यदि नुकसान हो तो उसे हम उस नुकसान का कर्त्ता नहीं कहते और न कह सकते हैं। व्यवहार में भी ऐसा नहीं कहा जाता। इसी प्रकार परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट सन्मार्ग पर चलने से मुक्ति का लाभ मिलता है अतः हम लाभकी उपकार के

जो विवेचना की है उसमें आनेवाले दोषों का उद्घाटन करके और प्रकृतिवाद का तात्पर्य बतलाकर अन्त में आचार्य महाराज कहते हैं कि—

एव प्रकृतिवादोऽपि विज्ञेयः सत्य एव हि।
कपिलोक्तत्वतश्चैव दिव्यो हि स महामुनिः ॥ ४४ ॥

अर्थात्—इस तरह (प्रकृतिवाद का जो रहस्य बतलाया है उस तरह) प्रकृतिवाद भी यथार्थ समझना। और, वह कपिल का उपदेश है, अतः सत्य है; क्योंकि वह दिव्य महामुनि थे।

इसके बाद छठे स्तबक में क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद की कड़ी आलोचना करके और इन वादों में आनेवाले अनेक दोषों को दिखलाकर अन्त में आचार्य महाराज वस्तुस्थिति का निर्देश करते हैं कि—

अन्ये त्वभिदधत्येवमेतदास्थानिवृत्तये।
क्षणिक सर्वमेवेति बुद्धेनोक्त न तत्त्वतः ॥ ५१ ॥
विज्ञानमात्रमप्येवं बाह्यसङ्गनिवृत्तये।
विनेयान् कांश्चिदाश्रित्य यद्वा तद्देशनार्हतः ॥ ५२ ॥
एवं च शून्यवादोऽपि सद्विनेयानुगुण्यतः।
अभिप्रायत इत्युक्तो लक्ष्यते तत्त्ववेदिना ॥ ५३ ॥

अर्थात्—मध्यस्थ पुरुषों का ऐसा कहना है कि 'सब

अब दूसरी तरह, उपचार के बिना ही ईश्वर को कर्ता बतलाते हैं—

परमैश्वर्ययुक्तत्वान्मत आत्मैव वेश्वरः ।
स च कर्तेति निर्दोषः कर्तृवादो व्यवस्थितः ॥ १४ ॥

अर्थात्—अथवा आत्मा ही ईश्वर है—ऐसा माना गया है, क्योंकि प्रत्येक आत्मा (जीव) अपने सच्चे स्वरूप में परमैश्वर्ययुक्त है और आत्मा तो स्पष्ट रूप से कर्ता है ही। इस तरह ईश्वरकर्तृत्ववाद व्यवस्थित हो सकता है।

उपर्युक्त पाँच श्लोकों के बाद इसी बात के अनुसन्धान में उपसंहार करते हुए आचार्य महाराज कहते हैं कि—

शास्त्रकारा महात्मानः प्रायो वीतस्पृहा भवे ।
सत्त्वार्थसम्प्रवृत्ताश्च कथं तेऽयुक्तभाषिणः ? ॥ १५ ॥

अभिप्रायस्ततस्तेषां सम्यग् मृग्यो हितैषिणा ।
न्यायशास्त्राविरोधेन यथाऽऽह मनुरप्यदः ॥ १६ ॥

अर्थात्—शास्त्र बनानेवाले ऋषि महात्मा प्रायः निःस्पृह और लोकोपकारक वृत्तिवाले होते हैं, अतः वे अयुक्त भाषण कैसे कर सकते हैं ? इसलिये उनका अभिप्राय न्यायसंगत हो इस तरह खोजना चाहिए।

इसके बाद इसी स्तबक में कपिल के प्रकृतिवाद की समीक्षा आती है। सांख्यमत के विद्वानों ने प्रकृतिवाद की

अर्थात्—अन्य महर्षि ऐसा कहते हैं कि अद्वैत का जो उपदेश दिया गया है वह अद्वैत की वास्तविकता बतलाने के लिये नहीं, किन्तु समभाव की प्राप्ति के उद्देश से दिया गया है।

मतलब कि जगत् में जीव मोहाधीन होकर जो राग-द्वेष करते है वह सब अविद्या का ही विलास है ऐसा सूचित करके इन दोषों को रोकने के लिये, शत्रु-मित्र को एक दृष्टि से देखने के लिये—इस प्रकार की समभाव की सिद्धि के लिये 'आत्मैवेदं सर्वम्,' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' [सब कुछ आत्मा ही है। सब ब्रह्म ही है।] इत्यादि अद्वैत-उपदेश दिया गया है। अद्वैत-शास्त्र का उपदेश संसार-प्रपच को असार मानकर सबको आत्मदृष्टि से देखने को कहता है। [इन वादों का तात्पर्य पृष्ठ ६११ में देखो।]

इस तरह अन्यान्य दर्शनों के सिद्धान्तों की तटस्थ दृष्टि से परीक्षा करने के साथ साथ शुद्ध दृष्टि से उनका समन्वय करने का भी प्रयत्न करना वस्तुतः चित्तशुद्धि एवं निसर्ग-वत्सल प्रकृति का प्रशंसनीय निदर्शन है। अन्य दर्शनों के धुरन्धरों का महर्षि, महामुनि, ज्ञानी, महामति और ऐसे ही दूसरे ऊँचे शब्दों द्वारा सम्मानपूर्वक अपने ग्रन्थों में उल्लेख करना, दूषित सिद्धान्तवालों के मत का खण्डन

क्षणिक है'' ऐसा बुद्ध ने वास्तविकता की दृष्टि से नहीं कहा, किन्तु रागोत्पादक विषयवासना को दूर करने के तथा वैराग्योत्पादक अनित्य भावना को जागरित करने के उद्देश से कहा है। विज्ञानवाद भी बाह्य विषयासक्ति को दूर करने के उद्देश से योग्य शिष्यों अथवा श्रोताओं को लक्ष्य में रख कर कहा गया है। शून्यवाद भी योग्य शिष्यों को लक्ष्य में रखकर वैराग्य की पुष्टि के आशय से कहा गया प्रतीत होता है।

आगे जाकर वेदान्त के अद्वैतवाद की वेदान्तानुयायी विद्वानों ने जो विवेचना की है उसके अनुसार उस पर जो दोष आते हैं वे बतलाकर आठवें स्तबक में आचार्य महाराज कहते हैं कि—

> अन्ये व्याख्यानयन्त्येवं समभावप्रसिद्धये।
> अद्वैतदेशना शास्त्रे निर्दिष्टा न तु तत्त्वतः॥ ८ ॥

---

१ द्रव्यरहित पर्याय नहीं है और पर्यायरहित द्रव्य नहीं है। प्रतिक्षण प्रत्येक वस्तु परिवर्तित होती रहती है तथापि द्रव्य प्रतिक्षण तदवस्थ रहता है यह बात किसी को और करीब करीब दूसरे सब को मान्य है और यह प्रतीतिगोचर भी है। अत एव इसी को सम्मुख रखकर महर्षि बुद्ध ने वस्तु को (समग्र जगत् को) क्षणिक कहा हो यह बहुत सम्भव है। समग्र जगत् जहाँ नजर डालो वहाँ तदवस्थ ही दृष्टिगोचर होता है। अतः किसी भी तत्त्ववेत्ता द्रष्टा अथवा ऋषि-मुनि के मुख से ऐसा अभिप्राय [पर्याय रूप से भी] प्रकट होना अत्यन्त स्वाभाविक है।

मूर्ति हमारे वीतरागता के उच्चतम आदर्श परमात्मा की वीतरागता का प्रतिभासक—प्रतीक है। इस प्रतीक द्वारा आदर्श (परमात्मा) की पूजा-भक्ति हो सकती है। जब द्रोणाचार्य ने भील एकलव्य को धनुर्विद्या सिखलाने का इनकार कर दिया तब उस एकलव्य ने, जैसा आया वैसा, द्रोणाचार्य का प्रतीक स्थापित करके और उसमें गुरुरूप से द्रोणाचार्य का आरोप करके श्रद्धापूर्वक धनुर्विद्या सीखनी शुरू की और अन्त में द्रोणाचार्य के अन्यतम एवं प्रियतम शिष्य अर्जुन से भी आगे बढ़ जाय ऐसी धनुर्विद्या उसने प्राप्त की। यह उदाहरण कितना सूचक है!

आदर्श को किस नाम से पूजना इस बारे में भी प्रस्तुत श्लोक स्पष्ट प्रकाश डालता है। आदर्श का पूजन और भक्ति अमुक ही नाम से हो ऐसा कुछ नहीं है। चाहे जो नाम देकर और चाहे जिस नाम का उच्चारण करके आदर्श की पूजा हो सकती है। श्री यशोविजयजी महाराज भी परमात्म-पच्चीसी में कहते हैं कि—

बुद्धो जिनो हृषीकेशः शम्भुर्ब्रह्मादिपूरुषः।
इत्यादिनामभेदेऽपि नार्थतः स विभिद्यते ॥

अर्थात्—बुद्ध, जिन, हृषीकेश, शंभु, ब्रह्मा, आदिपुरुष आदि भिन्न भिन्न नाम होने पर भी इन सबका अर्थ एक

करते समय भी उनके लिये हलके शब्दों का व्यवहार न करना और सम्पूर्ण सभ्यता एवं शिष्टता के साथ प्रसन्न शैली से विरोधी को प्रबुद्ध करने की अपनी स्नेहार्द्र वृत्ति को पुण्यतोया भागीरथी के निर्मल प्रवाह की भाँति सतत बहती रखना – यह जैन महर्षियों का महान् औदार्य है। धार्मिक अथवा दार्शनिक वादयुद्ध चलाते समय भी विरोधी दार्शनिकों के साथ अपना आत्मीयभाव (समभाव) स्वस्थ रहे यह कितना सात्त्विक हृदय !

और भी इसी उदारता के मनोहर उद्गार—

श्रीमान् हेमचन्द्राचार्य का

भवबीजाङ्कुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य ।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

यह श्लोक उन्होंने प्रभासपाटन में सोमनाथ महादेवकी मूर्ति के सम्मुख स्तुति करते समय कहा था ऐसी परम्परागत आख्यायिका है।

यह स्तुतिश्लोक कहता है कि—

भव संसार के कारणभूत राग द्वेष आदि समग्र दोष जिसके क्षीण हो गये हैं वह चाहे ब्रह्मा, विष्णु, शंकर अथवा जिन हो उसे मेरा नमस्कार है।

मूर्ति हमारे वीतरागता के उच्चतम आदर्श परमात्मा की वीतरागता का प्रतिभासक–प्रतीक है। इस प्रतीक द्वारा आदर्श (परमात्मा) की पूजा-भक्ति हो सकती है। जब द्रोणाचार्य ने भील एकलव्य को धनुर्विद्या सिखलाने का इनकार कर दिया तब उस एकलव्य ने, जैसा आया वैसा, द्रोणाचार्य का प्रतीक स्थापित करके और उसमें गुरुरूप से द्रोणाचार्य का आरोप करके श्रद्धापूर्वक धनुर्विद्या सीखनी शुरू की और अन्त में द्रोणाचार्य के अन्यतम एवं प्रियतम शिष्य अर्जुन से भी आगे बढ़ जाय ऐसी धनुर्विद्या उसने प्राप्त की। यह उदाहरण कितना सूचक है!

आदर्श को किस नाम से पूजना इस बारे में भी प्रस्तुत श्लोक स्पष्ट प्रकाश डालता है। आदर्श का पूजन और भक्ति अमुक ही नाम से हो ऐसा कुछ नहीं है। चाहे जो नाम देकर और चाहे जिस नाम का उच्चारण करके आदर्श की पूजा हो सकती है। श्री यशोविजयजी महाराज भी परमात्म-पच्चीसी में कहते हैं कि—

बुद्धो जिनो हृषीकेश' शम्भुर्ब्रह्मादिपूरुषः।
इत्यादिनामभेदेऽपि नार्थतः स विभिद्यते ॥

अर्थात्—बुद्ध, जिन, हृषीकेश, शंभु, ब्रह्मा, आदिपुरुष आदि भिन्न भिन्न नाम होने पर भी इन सबका अर्थ एक

ही है। एक ही परमात्मा इन सब नामों से अभिहित होता है'।

कहने का तात्पर्य यह है कि तुम चाहे जिस मूर्ति का और चाहे जिस नाम का अवलम्बन लो, किन्तु जिनकी पूजनीय मूर्ति का आकारप्रकार अथवा रचनाप्रकार भिन्न हो अथवा जो अपने आदर्श की पहचान के लिये भिन्न नाम

---

१ 'बुद्ध' अर्थात् जिसकी बुद्धि पूर्ण एवं शुद्ध हो अथवा परम तत्त्व का पूर्ण ज्ञाता। जिन अर्थात् रागादि सब दोषों को जीतनेवाला। हृषीकेश अर्थात् [हृषीक का अर्थ है इन्द्रिय और ईश यानी स्वामी इस तरह] इन्द्रियों का स्वामी अर्थात् पूर्ण जितेन्द्रिय। शम्भु अर्थात् परम सुख का उद्भवस्थान। ब्रह्म अर्थात् पवित्र ज्ञानमूर्ति। आदिपुरुष अर्थात् सर्वोत्तम पुरुष। इसी प्रकार विष्णु का अर्थ है अपने ज्ञान बल से विश्व को व्याप्त करनेवाला आत्मा। शङ्कर अर्थात् सुखकारक अथवा सुखकारक मार्ग दिखलानेवाला। हरि और हर अर्थात् प्राणियों के दुःखों का हरनेवाला। महादेव अर्थात् पूर्ण प्रकाश से देदीप्यमान और ईश्वर अर्थात् पूर्णता का परम धाम।

रागादिजेता भगवन्! जिनोऽसि
बुद्धोऽसि बुद्धिं परमामुपेतः।
कैवल्यविद्व्याप्तितयाऽसि विष्णुः
शिवोऽसि कल्याणविभूतिपूर्णः॥

—लेखक की अनेकान्तविभूति-द्वात्रिंशिका

अर्थात्—हे प्रभो! तू रागादि दोषों का जेता होने से जिन है, परम बुद्धि को प्राप्त होने से बुद्ध है, केवलज्ञान द्वारा व्यापक होने से विष्णु है और कल्याणविभूति से पूर्ण होने से शिव है।

का उपयोग करते हों उनके साथ आकार-प्रकार की अथवा नाम की भिन्नता की वजह से विरोध करने का अथवा झगड़ने का कोई कारण नहीं है। इतना ही नहीं, इन बातों को लेकर उनके साथ के हमारे मैत्रीपूर्ण व्यवहार में तनिक भी फ़र्क नहीं आना चाहिए।

वीतरागता प्रत्येक मनुष्य का अन्तिम साध्य होना चाहिए—इस मुख्य मुद्दे को भूले बिना जैनधर्म अन्य सम्प्रदायों की तात्त्विक मान्यता एवं आचारपद्धति अथवा क्रियाकाण्ड की ओर आदरभाव रखता है। यह बात नीचे के श्लोक पर से स्पष्ट होती है—

जितेन्द्रिया जितक्रोधा दान्तात्मानः शुभाशयाः।
परमात्मगतिं यान्ति विभिन्नैरपि वर्त्मभिः॥

—यशोविजयजी, परमात्मपच्चीसी

अर्थात्—जितेन्द्रिय, क्रोधादिकषायरहित, शान्तमना, शुभ आशयवाले सज्जन भिन्न भिन्न मार्गों से भी परमात्म-दशा पर पहुँच सकते हैं।

इस परम आदर्श का अनुयायी, फिर वह चाहे किसी भी सम्प्रदाय का क्यों न हो, किसी भी नाम से पहचाना क्यों न जाता हो, तो भी यदि उसका आत्मा समभाव से भावित है तो वह अवश्य मुक्ति प्राप्त करता है। इसमें किसी

प्रकार का सन्देह नहीं है। इस बात को नीचे का श्लोक भी उपस्थित करता है—

सेयम्बरो य आसंबरो य बुद्धो य अहव अन्नो वा।
समभावभावियप्पा लहए मुक्खं न सन्देहो ॥ २ ॥
—संबोधसत्तरि

अर्थात्—श्वेताम्बर, दिगम्बर, बौद्ध अथवा अन्य कोई भी व्यक्ति यदि समभाव से भावित हो तो वह अवश्य मुक्ति प्राप्त करता है।

कोई भी मनुष्य चाहे जिस नाम से पहचाना जाय इसमें कोई हर्ज नहीं है, परन्तु यदि वह ऐसा मान बैठे कि दिगम्बरत्व में (नग्न रहने में) ही मुक्ति है अथवा श्वेताम्बरत्व में (श्वेत वस्त्र धारण करने में अथवा वस्त्रधारण में) ही मुक्ति है, अथवा तत्त्ववाद या तर्कवाद में मुक्ति है, अथवा अपने पक्ष की सेवा करने में (साम्प्रदायिक चौका पन्थी में) मुक्ति है तो इस प्रकार की मान्यता भ्रामक और मिथ्या है। कषाय (राग-द्वेष-मोह) से मुक्ति ही सच्ची (आध्यात्मिक) मुक्ति है। इस प्रकार का उपदेश नीचे के श्लोक से मिलता है—

नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे न तर्कवादे न च तत्त्ववादे।
न पक्षसेवाऽऽश्रयणेन मुक्तिः कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव ॥
—उपदेशतरंगिणी में उद्धृत

देशना (ज्ञानोपदेश अथवा धर्मोपदेश) कैसी देनी चाहिए इसके बारे में श्री हरिभद्रसूरि कहते हैं कि—

चित्रा तु देशना तेषां स्याद् विनेयानुगुण्यतः ।
यस्मादेते महात्मानो भवव्याधिभिषग्वराः ॥

—योगदृष्टिसमुच्चय, १३२.

अर्थात्—इन (कपिल, बुद्ध आदि) महात्माओं की देशना (ज्ञानोपदेश अथवा धर्मोपदेश) भिन्न भिन्न श्रेणी के शिष्यों की योग्यता के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार की होती है, क्योंकि ये भवरोग के महान् वैद्य हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि श्रोताजनों के अधिकार के अनुसार, वे पचा सकें या आचार में रख सकें वैसी, देशना भिन्न भिन्न मनुष्यों के लिये भिन्न भिन्न प्रकार की होती है, क्योंकि आध्यात्मिक उन्नति एकदम प्राप्त नहीं होती। वह तो क्रमिक ही होती हैं अर्थात् एक के बाद दूसरे सोपान पर चढ़कर आगे बढ़ा जा सकता है। कुदान लगाने पर तो पैर टूट जाने का भय रहता है और बहुतों के पैर टूटे भी हैं। जिस प्रकार एक कुशल वैद्य अपने बीमारों के भिन्न भिन्न रोगों की परीक्षा करके उस उस रोग के अनुसार अलग अलग दवाई देता है और भिन्न भिन्न अनुपानों का तथा पथ्यापथ्य के बारे में सूचन करता है उसी प्रकार भव-रोग के महान् वैद्य भी अपने श्रोताओं की परीक्षा करके

उनकी योग्यता और अधिकार के अनुसार उनके लिये उचित भिन्न भिन्न प्रकार की देशना देते हैं।

इस श्लोक पर की स्वोपज्ञ टीका में हरिभद्राचार्य कहते हैं कि 'सर्वज्ञ कपिल, सुगत (बुद्ध) आदि की जो भिन्न भिन्न प्रकार की देशना है वह भिन्न भिन्न प्रकार के शिष्यों अथवा श्रोताओं को लक्ष्य में रखकर दी गई है, क्योंकि ये (कपिल, सुगत आदि) सर्वज्ञ महात्मा भवरोग के महान् वैद्य हैं।'

यही कारण है कि इन महात्माओं के बीच जो दार्शनिक तत्त्वभेद दिखाई देता है वह भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों के कारण है। उनके बीच वास्तविक भेद कुछ भी नहीं है; क्योंकि भव व्याधि के इन महान् वैद्यों ने प्राणियों का भवरोग जिससे दूर हो वैसा उपदेश दिया है[1]। इस श्लोक के आगे पीछे का हरिभद्र का वाणीप्रवाह द्रष्टव्य है।

---

१ हेय हेयहेतु हान और हानोपाय — यह योगदर्शन का वर्गीकरण है। हेय दुःख है उसका कारण [हेयहेतु] अविद्या है दुःख का समूल नाश हान है और उसका उपाय [हानोपाय] विवेकख्याति है। दुःख दुःखसमुदय दुःखनिरोध और मार्ग — यह बुद्ध का चतुर्व्यूह है। दुःख का कारण तृष्णा है। इसे दुःखसमुदय भी कहते हैं। दुःखनिरोध अर्थात् दुःख के नाश का मार्ग तृष्णा का नाश है। जिस मार्ग से तृष्णा का नाश हो सकता है उस मार्ग को भी दुःखनाश का मार्ग कह सकते हैं। न्याय-वैशेषिक दर्शन में संसार, मिथ्याज्ञान तत्त्वज्ञान और अपवर्ग इस तरह तथा वेदान्तदर्शन में संसार अविद्या ब्रह्मभावना और ब्रह्मसाक्षात्कार इस प्रकार चतुर्व्यूह का निरूपण किया गया है। जैन-परिभाषा में बन्ध

जैनधर्म की प्रकृति का परिचय करने पर मालूम हो सकता है कि वह वस्तुतः एक साम्प्रदायिक चौका नहीं है, वह तो जीवन है—जीवनविधि अथवा जीवनचर्या है। यद्यपि तीर्थङ्करदेव ने चतुर्विध (साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकारूप) संघ की स्थापना की है और आचार-क्रियाकी पद्धति भी प्रदर्शित की है, और व्यवहारमार्ग के लिये जन-समुदाय को मार्गदर्शन मिले इस कल्याणरूप हेतु से संघ का आयोजन तथा आचार-क्रिया की प्रणाली जनता के सम्मुख रखनी ही पड़ती है, फिर भी इसका अर्थ यह नहीं है कि जो इस संघ में हो अथवा इस प्रकार की आचार-क्रिया की प्रणाली का अनुपालन करता हो वही जैन कहलाए। जो इस संघ का सदस्य न हो और तथोक्त क्रिया आदि का पालन न करता हो वह भी (वह चाहे जिस देश, जाति, कुल, वंश, सम्प्रदाय का क्यों न हो) यदि सत्य-अहिंसा के सन्मार्ग पर चलता हो तो जैन है—अवश्य ही जैन है और वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है ऐसा जैनधर्म का कथन है, तीर्थङ्कर देव और उनके शासन का कथन है। इस बात का विशद निरूपण इस पुस्तक में अन्यत्र हो गया है।

हेय है। इस हेय का हेतु 'आस्रव' है। 'संवर', 'निर्जरा' और 'मोक्ष' ये हान हैं और मनोवाक्कायगुप्ति, सत्य, संयम, तप, त्याग आदि इस हान के उपाय हैं।

जीवन के दो अंश हैं: विचार और आचार। इन दोनों को सुधारने के लिये दो औषधियाँ जिनेन्द्र भगवान् महावीर देव ने विश्व को प्रदान की हैं: अनेकान्तदृष्टि और अहिंसा। पहली [अनेकान्तदृष्टि] विचारदृष्टि को शुद्ध करके उसे सम्यग्दृष्टि बनाती है और दूसरी [अहिंसा] आचार को शुद्ध एवं मैत्रीपूर्ण बनाती है।

श्री महावीर देव के शासन की विशेष ध्यान आकर्षित करनेवाली तीन विशेषताएँ हैं: अनेकान्त, अहिंसा और अपरिग्रह। अनेकान्तदृष्टि का विवेचन पहले किया जा

---

१ तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चातुर्याम (चातुर्याम) धर्म था। इसका उल्लेख बौद्ध त्रिपिटक ग्रन्थों में तथा उत्तराध्ययनसूत्र के २३ वें अध्ययन की २३ वीं गाथा में आता है। इस चातुर्याम का अर्थ है चार याम या यम अर्थात् अहिंसा सत्य अस्तेय और अपरिग्रह। इसका अर्थ यह हुआ कि जिनेन्द्र भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा द्वारा स्वीकृत महाव्रतों में ब्रह्मचर्य का अलग स्थान नहीं था। इसके बारे में ऐसा बतलाया जाता है कि यह (ब्रह्मचर्य) अपरिग्रह में अन्तर्गत था—

नो अपरिग्गहियाए इत्थीए जेण होइ परिभोगो।
ता तव्विरईए च्चिय अबंभविरइ त्ति पण्णाणं॥

अर्थात्—अपरिगृहीत स्त्री का भोग नहीं होता अर्थात् स्त्री के भोग में स्त्री भी परिगृहीत हो जाती है। अतः परिग्रह की विरति में अब्रह्मचर्य की विरति आ जाती है।

इस बारे में उचित अधिक विचार करने पर देखा जा सकता है कि प्राचीन समय में परिग्रह शब्द का इतना विशाल अर्थ होता था अथवा यह शब्द ऐसा अनेकार्थक था कि इसमें पत्नी का समावेश भी हो जाता था।

इतना ही नहीं, संस्कृत शब्दकोष तथा महाकवियों के काव्यों में भी 'परिग्रह' शब्द पत्नी के वाचकरूप से प्रयुक्त हुआ है। जैसे कि—

अमरकोष के नानार्थ वर्ग में—

'पत्नीपरिजनादानमूलशापाः परिग्रहाः' ॥ २३७ ॥

'परिग्रह. कलत्रे च × ×' — अजय

हैम अभिधानचिन्तामणि के तृतीय काण्ड में—

'× × जाया परिग्रहः' ॥ २७६ ॥

हैम अनेकार्थसङ्ग्रह के चतुर्थ काण्ड में—

'परिग्रहः परिजने पत्न्याम्' ॥ ३५३ ॥

कालिदास के रघुवंश में—

"का त्वं शुभे ! कस्य परिग्रहो वा ?"—सर्ग १६ श्लोक ८

[तू कौन है? किसकी पत्नी है?]

इस पर से देखा जा सकता है कि प्रभु पार्श्वनाथ की संस्था में स्वीकृत चार याम (महाव्रत) में से 'परिग्रहविरति' से द्रव्यादि और पत्नी (मैथुन) उभय का त्याग जो गृहीत होता था वह परिग्रह शब्द के द्रव्यादि और पत्नी ये दो अर्थ सीधे तौर पर होने से सीधे तौर पर गृहीत होता था।

'ठाणांग' सूत्र के चतुर्थ स्थान के प्रथम उद्देश में (पत्र २०१ में) भगवान् महावीर से पहले के समय में प्रचलित चार महाव्रतों का उल्लेख आता है। उसमें चौथे महाव्रत का निर्देश 'बहिद्धादाणाओ वेरमणं' शब्द से किया गया है। इस शब्द में आये हुए 'बहिद्धादाण' का अर्थ टीकाकार अभयदेवसूरि ने दो तरह का किया है (१) 'बहिद्धा' (बहिर्धा) अर्थात् मैथुन और 'आदाण' (आदान) अर्थात् परिग्रह। इस प्रकार ये दोनों 'बहिद्धादाण' शब्द से लिए हैं, और (२) दूसरी तरह के अर्थ में इस समूचे शब्द का अर्थ 'परिग्रह' बतलाया है।

योग से सरल बनता है। अहिंसामें से अनेकान्तदृष्टि स्फुरित होती है और अनेकान्तदृष्टि के योग से अहिंसा जागरित होती है। इस तरह इन दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। हिंसा में असत्य, चोरी आदि सब दोषों और सब बुराइयों का समावेश हो जाता है। हिंसा, झूठ, चोरी, शाठ्य, धूर्तता आदि सब दोष परिग्रह के आवेशमें से ही उत्पन्न होते हैं। यही समाज में विषमता पैदा करता है और वर्गविग्रह जगाकर दंग-फिसाद मचाता है। समग्र पापों, सब प्रकार की स्वच्छन्दता और विलासोन्मादों का मूल यही है। अहिंसा की साधना परिग्रह के समुचित नियन्त्रण के बिना अशक्य होने से परिग्रह का नियमन जीवन हित की तथा समाज हित की प्रथम भूमिका बनता है। इसीलिये गृहस्थवर्ग तथा समग्र समाज के कल्याण के लिये इस महात्मा ने परिग्रहपरिमाण पर खास भार दिया है। इसके बिना वैयक्तिक तथा सामाजिक सुख शान्ति एवं मैत्रीभाव स्थापित नहीं हो सकता। इस तरह लोगों का व्यावहारिक जीवन उज्ज्वल तथा सुखशान्तिमय बने इस दिशा में इस सन्तपुरुष के उपदेश का प्रचार व्यापक बना है। आजकल साम्यवाद और समाजवाद का आन्दोलन विश्वव्यापी हो गया है, परन्तु साम्यवाद के विशुद्ध स्वरूप का प्रचार परिग्रहपरिमाण और लोकमैत्री की समुन्नत उद्घोषणा करके आज से ढाई

हज़ार वर्ष पूर्व सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ रूप से महावीर ने किया था, यह एक ऐतिहासिक सत्य है।

इस तपोनिधि मुनीश्वर ने अपने समय में फैली हुई दास-दासी की कुप्रथा को दूर करनेके लिये कठोर तपश्चर्या करके लोगों को समानता का पाठ सिखलाया है। धर्म के नाम पर और स्वर्गादि के प्रलोभन पर फैले हुए अज्ञान कर्म-काण्ड, शास्त्रव्यामोह तथा ईश्वरविषयक भ्रामक विचारों के सामने सुसंगत तत्त्वज्ञान उपस्थित करके लोगों की विचार-बुद्धि को परिष्कृत किया है। इस अहिंसामूर्ति धर्माचार्य ने यागादि कर्मों में धर्म के नाम पर फैली हुई भयंकर पशु-हिंसा का सामना अपने तप एवं चारित्र के असाधारण बल द्वारा तथा वात्सल्यपूर्ण प्रवचन और उपदेश द्वारा करके ज़बरदस्त क्रान्ति की है। इसके परिणामस्वरूप हिंसारूप रोग के फैलावे पर प्रबल प्रहार हुआ है और अहिंसा की भावना का प्रचार हुआ है[1]। इस दिशा में उनके समकालीन महर्षि बुद्ध का प्रचारकार्य भी अत्यन्त प्रशंसनीय है।

---

१. वीरो यदाजायत, भारतस्य
स्थितिर्विचित्रा समभूत् तदानीम्।
मूढक्रियाकाण्डविमोहजाले
निबध्यमाना जनता यदाऽऽसीत् ॥ २८ ॥

—महावीर का जन्म हुआ उस समय भारतवर्ष की स्थिति विचित्र थी। उस समय जनता अज्ञान कर्मकाण्ड के मोहजाल में फँसाई जा रही थी।

अर्थात्—कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से शूद्र होता है।

इस तरह महावीर (और बुद्ध) ने 'कर्मणा वर्णः' के सिद्धान्त पर ही ज़ोर दिया है और यही सिद्धान्त उत्तम व्यवस्थापक है। इसे न मानने से और इसके स्थान पर 'जन्मना वर्णः' के अपसिद्धान्त को स्थापित कर देने से भारतीय जनता की दुर्दशा हुई है।

उस समय उच्चनीचभाव की संकुचित वृत्ति इतनी कट्टर और कठोर रूप से फैली हुई थी कि बेचारे नीच और हलके गिने जानेवाले मनुष्यों पर अतिनिर्घृण अत्याचार किए जाते थे[1]। उनके लिये धर्म के द्वार बन्ध कर दिए गए थे। इसके विरुद्ध इस महात्मा ने—

---

१ 'अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्, उदाहरणे जिह्वाच्छेदो, धारणे शरीरभेद ।' —गौतमधर्मसूत्र

अर्थात्—वेद सुननेवाले शूद्र के कानों में सीसा और लाख भर देना, वह यदि वेद का उच्चारण करे तो जीभ काट डालना और याद कर ले तो उसका शरीर काट डालना।

'न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्।
न चास्योपदिशेद् धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत् ॥'

—वसिष्ठधर्मसूत्र

अर्थात्—शूद्र को ज्ञान न देना, यज्ञ का बचा-खुचा न देना, यज्ञ का प्रसाद न देना और उसे धर्म का उपदेश तथा व्रत का आदेश न देना।

उच्चो गुणे कर्मणि यः स उच्चो
नीचो गुणे कर्मणि यः स नीचः ।
शूद्रोऽपि चेत् सच्चरितः स उच्चो
द्विजोऽपि चेद् दुश्चरितः स नीचः ॥

—जो गुण कर्म में उच्च है वह उच्च है और जो गुण कर्म में नीच है वह नीच है। तथाकथित शूद्र भी यदि सच्चरित हो तो वह उच्च है और ब्राह्मण यदि दुश्चरित हो तो वह नीच है।

इस प्रकार उद्बोधन करके विचार एवं वर्तन के सुसंस्कार पर ही उच्चत्व की प्रतिष्ठा है ऐसा लोगों को समझाया। केवल वचन से ही न समझाकर दलित एवं अस्पृश्य समझे जानेवाले लोगों के लिये भी अपनी धर्मसंस्था के द्वार उन्होंने खोल दिए। जैन-दीक्षा लेकर ऋषि महर्षि महात्मा बने हुए ऐसे मनुष्यों के चरित उत्तराध्ययन सूत्र के १२ वें, १३ वें अध्ययन में आते हैं। उस समय स्त्री का स्थान कितना नीचा था और वैदिक धर्म की तत्कालीन प्रणालिका ने स्त्री का कितना तिरस्कार किया था यह हम उस समय के वैदिक धर्मशास्त्रों पर से जान सकते हैं। ऐसी हालत में अर्हन् महावीर ने विश्व के समक्ष स्त्री को पुरुष की समकक्ष उद्घोषित किया और धार्मिक क्षेत्र में पुरुष के समकक्ष

रखकर उसे संन्यास-दीक्षा लेने का अधिकार प्रदान किया।[1] श्रमण भगवान् महावीर का धर्मचक्र उस समय व्यापक रूप से क्रान्तिकारक बना था। उन्होंने जिस धर्ममार्ग का प्रकाशन अथवा विकास किया था उसे सच्चे रूप में हम मानवधर्म कह सकते हैं। यह मानवधर्म जगत् के सब प्राणियों के साथ न्याय एवं समदृष्टि रखता है। अतः विश्व का कोई भी मनुष्य अपने स्थिति-संयोगों के अनुसार इसका अनुसरण कर सकता है—इसका पालन कर सकता है। यह मार्ग जिन द्वारा[2] प्रकाशित अथवा प्रचारित होने से ही 'जैन' धर्म कहलाता है। बाक़ी, इसकी वास्तविकता तथा व्यापकता को देखते हुए यह सर्वजनस्पर्शी और सर्वजनहितावह मार्गदर्शक धर्म होने के कारण इसे 'जनधर्म' कह सकते हैं।

विश्वबन्धु महावीर ने नामधारी अथवा ढीलेढाले श्रमण, ब्राह्मण, मुनि और तापस इन सबकी ख़बर ली है। उत्तराध्ययनसूत्र के २५ वें अध्ययन में कहा है कि—

---

१ महावीर ने दासी बनी हुई राजकुमारी चन्दनबाला को संन्यासिनी बनाकर (सर्वविरति चारित्र की दीक्षा देकर) इस आर्य महिला से साध्वी-संस्था का प्रारम्भ किया था।

२. और 'जिन' किसी व्यक्तिविशेष का नाम नहीं है, परन्तु किसी भी पूर्णद्रष्टा वीतराग ज्ञानी का नाम है।

न वि मुण्डिएण समणो न ओंकारेण बम्भणो ।
न मुणी रण्णवासेण कुसचीरेण न तावसो ॥ १० ॥

अर्थात्–सिर मुँडाने मात्र से कोई श्रमण नहीं होता, ॐकार के जाप अथवा आलाप मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता, निर्जन वनमें रहने से कोई मुनि नहीं होता और कुशका चीवर अथवा वल्कल धारण करने से कोई तापस नहीं बनता ।

किसी भी मनुष्य के आन्तरिक जीवन का योग्य परिचय प्राप्त किए बिना केवल बाह्य वेष, बाह्य दिखावा, बाह्य क्रिया अथवा बाह्य चेष्टाओं से आकृष्ट होकर उस मनुष्य में इन वेष आदि से सूचित गुण भी अवश्य हैं ऐसा बिना विचारे मान लेने में ठगाए जानेका जो भय है उसके सामने यह श्लोक लालबत्ती धरता है । इसके बाद का श्लोक, जो इस बारे में विशद प्रकाश डालता है, यह है—

समयाए समणो होइ बम्भचेरेण बम्भणो ।
नाणेण य मुणी होइ तवेण होइ तावसो ॥ ११ ॥

अर्थात्—समता से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण होता है, ज्ञान (विवेकज्ञान) से मुनि होता है और तप से (विवेकपूर्वक, निष्काम तथा स्वपरहितसाधक तप से) तापस होता है ।

[समताका अर्थ है सब प्राणियों की ओर समानता का

भाव रखकर आत्मीयता धारण करना तथा सुख दुःख, हानि लाभ, जय पराजय के प्रसंग उपस्थित होने पर मन की समतुला न खोकर उसे स्थिर रखना। और, ब्रह्मचर्य का अर्थ है पौद्गलिकसुखोपभोग में लुब्ध न होकर और मन का निरोध करके ब्रह्म में (परमात्मा में अथवा परमात्मपद पर पहुँचानेवाले कल्याणमार्ग में) विचरण करना-विहरण करना-रममाण होना।]

अनुभव से ज्ञात होता है कि जैनदर्शन आध्यात्मिक दर्शन है। इसके दार्शनिक तत्त्वज्ञान का भी झुकाव सम्पूर्णतया आध्यात्मिक श्रेयश्चर्या की ओर है। इसके विविध-विषयक समग्र वाङ्मय का एकमात्र उद्देश वीतरागता की प्राप्ति के मार्ग पर चढ़ाने का है; क्योंकि इसका स्पष्ट, भार-पूर्वक तथा पुनः पुनः यही कहना है कि यथार्थ कल्याण की पूर्णता वीतरागता पर अवलम्बित है। इसकी मुख्य सीख यही है कि—

जिस किसी तरह राग-द्वेष कम हों, नष्ट हों, उसी तरह बरतो! उसी तरह प्रवृत्ति करो! उसी तरह आचरण रखो![1]

इसके समग्र वाङ्मय का चरम और परम सार सूचित

---

१. किं बहुणा? इह जह जह रागदोसा लहुं विलिज्जन्ति।
तह तह पयट्टिअव्वं एसा आणा जिणिंदाणं॥
—यशोविजयजीकृत अध्यात्ममतपरीक्षा की अन्तिम गाथा।

करनेवाली यह सीख स्पष्टरूप से कहती है कि जिस किसी वाद से [द्वैत अथवा अद्वैत, ईश्वरकर्तृत्व अथवा प्राकृतिक कर्तृत्व आदि विभिन्न वादों में से जिस किसी एक वाद का अवलम्बन लेने से] और जिस किसी क्रियापद्धति अथवा आचारमार्ग से सच्चारित्र की साधना होती हो, सच्चारित्र की साधना में अनुकूलता प्रतीत होती हो और वीतरागता की ओर प्रगति हो सकती हो उस रीति से चारित्र की साधना करो और वीतरागता की दिशा में प्रगति करो—'मित्ती मे सव्वभूएसु' को जीवनमन्त्र बनाकर, अर्थात् सर्वभूतमैत्री के सद्गुण का विकास करते रह कर।

उपसंहार

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, बन्ध, निर्जरा और मोक्ष इन नौ तत्त्वों का; जीवास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल

दोसा जेण निरुज्झंति जेण खिज्जंति पुव्वकम्माइं।
सो सो मोक्खोवाओ रोगावत्थासु समणं व॥
—बृहत्कल्प भू ३३१ गा ३३३१

अर्थात्—जैसे रोगावस्था में भिन्न भिन्न उपचार से शमन हो सके वे सभी उपचार रोग की शान्ति में उपादेय हैं, उसी तरह मोक्षसाधना में भिन्न भिन्न साधन से दोषों का रोका जा सकता हो और भिन्न भिन्न साधन से पहले के कर्मों का क्षय किया जा सकता हो वे सभी साधन मोक्ष के उपाय हैं।

इन छह द्रव्यों का तथा सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र के सहयोगरूप मोक्षमार्ग, गुणस्थान, अध्यात्म, गृहस्थधर्म, न्याय, स्याद्वाद और नय इतनी मुख्य बातों का यथाशक्ति विवेचन इस पुस्तक में किया गया है। तृतीय खण्ड 'प्रकीर्णक' में और चतुर्थ खण्ड 'कर्मविचार' में विविध विचारधारा पाठकों के सम्मुख रखी गई है। अब मेरा कथन समाप्त होता है। अन्त में मेरी एकमात्र अभिलाषा यही है कि इस पुस्तक के पठन के परिणामस्वरूप पाठकों के मन में धर्म एवं तत्त्वज्ञान के बारे में अनेकानेक जिज्ञासाएँ जागरित हों जिससे वे महान् पुरुषों के महान् ग्रन्थों का अवलोकन करने के लिये उत्सुक बनें।

न्या. न्या. मुनि श्रीन्यायविजयजी की रचनाएँ

संस्कृत

		गुजराती	श्लोकसख्या
(१)	अध्यात्मतत्त्वालोकः	अर्थयुक्त	पाच सौ से अधिक
(२)	महात्मविभूतिः	,,	१०८
(३)	जीवनामृतम्	,,	३२
(४)	जीवनहितम्	,,	,,
(५)	जीवनभूमि·	,,	,,
(६)	अनेकान्तविभूति·	,,	,,
(७)	दीनाक्रन्दनम्	,,	,,
(८)	भक्तगीतम्	,,	,,
(९)	विजयधर्मसूरिश्लोकाञ्जलिः	,,	,,
(१०)	महामानव-महावीरः	,,	११३
(११)	कल्याणभावना		३२
(१२)	कल्याणमार्गमीमासा	,,	,,
(१३)	वीरविभूति·	,,	१००
(१४)	जीवनपाठोपनिषद्	,,	,,
(१५)	भक्तभारती	,,	५०
(१६)	विद्यार्थिजीवनरश्मिः	,,	१६
(१७)	आश्वासनम्	,,	,,
(१८)	आत्महितोपदेशः	,,	,,
(१९)	उपदेशसारः	,,	,,
(२०)	न्यायकुसुमाञ्जलिः	..	१८५
(२१)	आत्मतत्त्वप्रकाशः	केवल गद्य संस्कृत	

प्राकृत

(२२) अज्झप्पतत्तालोओ — पाँच सौ से अधिक श्लोक

गुजराती

(२३) जैनदर्शन — पृष्ठ ६००

(२४) कल्याणसाधनदिशा

(२५) धर्मनी समज

(२६) श्रीकृष्ण

(२७) गीताना धर्म पर एक समीक्षमाण दृष्टि

(२८) गीतानु निष्काम कर्म

(२९) प्रकाशनी दृष्टिमां अ-प्रकार

(३०) तपोवनविहार

(३१) सौजीवननी विकासदिशा

(३२) वाणीविहार

हिन्दी

(३३) धर्मशिक्षा

(३४) न्यायशिक्षा

(३५) जैनसिद्धान्तदिग्दर्शन

(३६) कल्याणभावना

(३७) कल्याणमार्गमीमांसा

(३८) विद्यार्थिजीवनरश्मि

अंग्रेजी

(३९-४०) जीवनामृतम्, जीवनहितम्, भक्तगीतम्, कल्याणमार्गमीमांसा, विद्यार्थिरश्मि और श्रीविजयधर्मसूरिश्लोकाञ्जलि का अंग्रेजी अनुवाद